।। श्री गुरु परमात्मने नमः ।।

अखण्डवचनामृतम्

अनन्त श्री विभूषित

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य त्यागमूर्ति योगिराज बालब्रह्मचारी

१९०८ श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज

की

अमृतमय वाणी

प्रकाशक

स्वामी ब्रह्मानन्द परमहंस

पुस्तक मिलने का पता :—

७/१३४ स्वरूपनगर, कानपुर तथा चित्रकूट अखण्ड आश्रम,

जागेश्वर मन्दिर के निकट, नवाबगंज, कानपुर

१९६१

प्रथम बार १०००

मूल्य १. २५ नये पैसे सवा रुपया

❋ श्री गुरु परमात्मने नमः ❋

अखण्डवचनामृतम्

अनन्त श्री विभूषित
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य त्यागमूर्ति योगिराज बालब्रह्मचारी
१ १ ० ८ श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज
की
अमृतमय वाणी

प्रकाशक
स्वामी ब्रह्मानन्द परमहंस

पुस्तक मिलने का पता :—
७।१३४ स्वरूपनगर, कानपुर तथा चित्रकूट अखण्ड आश्रम,
जागेश्वर मन्दिर के निकट, नवाबगंज, कानपुर

प्रथम बार १०००

मूल्य १. २५ नये पैसे
सवा रुपया

वाणी संग्रहकर्ता :—
स्वामी ब्रह्मानन्द परमहंस
७/१३४ स्वरूपनगर, कानपुर

आर० के० माथुर द्वारा
शुभकामना प्रेस, तिलकनगर, कानपुर से मुद्रित

जिस करके सब है

जो सब में होकर देख रहा है—जान रहा है

जिसमें सब है

सोऽहम

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य त्यागमूर्ति योगिराज

बालब्रह्मचारी अवधूत सद्गुरुदेव

११०८ श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज

प्रस्तावना

जिन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था से ही तपोमय जीवन बिताकर अपने साथ ही अपने प्रभु से रात भर खेल किया; जिन्होंने बारह-बारह घण्टे जल में खड़े होकर अपनी ब्रह्मचर्यावस्था में ही शिव, राम, हनुमान, सूर्यादिक अपने आराध्य इष्टों के दर्शन किये; जिन्होंने अपनी कठोर ब्रह्मचर्य साधना से युक्त हुए ही अपने गुरुदेव (श्री १००८ अविनाशी भगवान) की अनन्य भाव से भक्ति करके सम्पूर्ण योग सिद्ध करते हुए समस्त सिद्धियाँ पाकर स्वरूप निष्ठा को प्राप्त किया। अपनी तीव्र इच्छा एवं जिज्ञासा के फलस्वरूप भरतपुर में जिन्होंने विराट रूप का भी दर्शन किया; जिन्होंने तप, संयम, गुरु भक्ति की मस्ती में वनों में वर्षों बिताकर अपनी आत्मानुभूति का आनन्द लिया; जिन्होंने अपनी अकारण दयालुता के कारण सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड प्रान्त में धर्म, सस्कृति, भक्ति, सन्त और गुरु कृपा एवं तत्फल ब्रह्मात्मनिष्ठा का दिग्दर्शन कराकर धूम मचा दी एवं तप द्वारा उस प्रांत को ब्रह्मात्मानुभवियों से परिपूर्ण करके स्वर्गभूमि ब्रह्मलोक बना दिया। जहाँ एक भी ब्रह्मनिष्ठ का दर्शन दुर्लभ था, वहाँ आज हजारों ब्रह्मनिष्ठों के द्वारा उस भूमि को पवित्र करा दिया। इस प्रकार अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को सम्पूर्ण देश (भारत) के पर्यटन द्वारा करोड़ों नर नारियों के हृदय में सतत प्रसन्नता से सैकड़ों वर्षों से लुप्तप्राय भारतीय संस्कृति की प्राणरूप इस अध्यात्मनिष्ठा को पुनर्जीवित करने का अविरल सफल प्रयत्न किया। जिन्होंने अपने तन का कभी भी ध्यान न कर असंख्य जिज्ञासुओं का उद्धार किया है एवं अब भी जो अहर्निश, सुमन सदृश, भक्त, जिज्ञासु एवं सभी सन्त महन्तादि को समान रूप से हृदय से लगाकर अपनी आत्मानुभूति का रसास्वादन करा रहे हैं एवं इस प्रकार सबको कृतकृत्य करने में तत्पर हैं। जिन यतियों का वास्तविक कर्तव्य त्याग, संयम, असंगता एवं आत्मनिष्ठा है उसका प्रत्यक्ष सक्रिय आदर्श उपस्थित करके लाखों सन्त जिज्ञासु साधकों को आत्मनिष्ठा से पूर्ण करके सूक्ष्म प्रचारक बनाया, उन लगभग ११६ वर्षीय इन वयोवृद्ध, तपोमूर्ति, युगपुरुष के, जिनको आज के सभी धार्मिक सन्त, महन्त, राष्ट्रीय नेतागण, सामाजिक विचार प्रचारक एवं भारतीय बहुसंख्यक जन समाज (हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी आदि) एवं यहाँ तक कि सैद्धान्तिक विरोधी भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हीं श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य त्यागमूर्ति योगिराज बालब्रह्मचारी अवधूत सन्त शिरोमणि अनन्त श्री विभूषित प्रातः स्मरणीय श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज सद्गुरुदेव के ये प्रत्यक्ष अनुभूति के उद्गार हैं जो कि उज्जैन महाकुम्भ सन् १६५७

के नित्य के उपदेश हैं जिन्हें संक्षिप्त एवं उपयोगी रूप में स्वामी ब्रह्मानन्द ने प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

श्री गुरुदेव के उपदेश यद्यपि विद्वता के परिचायक नहीं हैं, परन्तु विद्वानों की विद्वता के आगे भी जो 'विज्ञान' आवश्यक रहता है वह इसमें है। जीवन का रहस्य इसी में है। गुरुदेव के जीवन के परिचायक ये हैं वे शब्द जिन्हें गुरुदेव के साकार विग्रह में 'पचे हुए' पाया जाता है। ये व्याख्यान नहीं हैं। ये हैं अन्तस्थ लौटाई हुई वृत्ति से आत्मसागर में डूबकर निकाले हुए निखरे मोती अनुभूत शब्द "Experimented words practically and fully digested."

श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने जो यह प्रयास किया है वह स्तुत्य है, क्योंकि कई वर्षों से भक्तजनों के हृदयों में तीव्र लालसा लगी हुई थी कि गुरुदेव के 'जैसे के तैसे' शब्द ग्रथित होकर कहीं प्रकाशित हो जायँ। वही संकल्प ब्रह्मानन्द जी के द्वारा मूर्तरूप हुआ है। इन शब्दों का क्या प्रभाव है यह तो वे ही जान सकते हैं जो इन्हें पढ़ेंगे या जिन्होंने गुरुदेव के साथ एक बार भी भेंट की है। ब्रह्मानन्द जी पर इसका जो आश्चर्यमय प्रभाव पड़ा है, वे ही बतला सकते हैं। ब्रह्मानन्द जी ने इस शुभ प्रयत्न से भक्तजनों पर महान उपकार किया है।

गुरुदेव की महिमा क्या कही जाय? अन्धकार विनाशक सूर्य को कौन नहीं जानता? इसी प्रकार अज्ञानान्धकार विनाशक सद्गुरुदेव को कौन नहीं जानता? श्री स्वामी रामतीर्थ एवं स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदांत का प्रचार विदेशों में करके पाश्चिमात्य राष्ट्रोंको भारताभिमुख बनाया; परन्तु भारत, जिसकी यह जन्मसिद्ध अधिकार की चीज थी, जिसे वह भूला था, गुरुदेव ने अथक परिश्रम कर अपने समकाल में ही भारत की इस ज्ञान शक्ति को गहरी सुषुप्ति से जगाने का अखण्ड प्रयत्न कर आज भारत के कोने-कोने में एवं चतुर्वर्णाश्रम के जनमनों में 'अपने आपकी' अर्थात् आत्मा की पहचान करा दी है, जो आत्मज्ञान, धर्मनीति, ज्ञान ध्यान, वर्णाश्रम, राज्यशासन, समाजव्यवस्था एवं व्यवहार परमार्थ के प्रत्येक अङ्ग की भूमिका के सदृश आवश्यक है। आज उसी का परिणाम है कि प्रत्येक जनगण के मन में मत मजहब के झगड़ों से रहित शुद्ध ईश्वर की खोज की धुन लगी है। यह केवल सिद्ध महापुरुषों की कृपा का ही फल है।

मत मजहब जनता को अनेक ईश्वरों में फाँसते हैं और न उनसे ईश्वर की पहचान होती है। 'मानो' यह शब्द मजहबियों का होता है एवं 'जानो' यह शब्द भारतीय सनातन संस्कृति के आदर्श वेद उपनिषदों का एवं विशुद्ध सन्त सद्गुरुदेव का है। 'मानने' ही से करोड़ों निर्मम हत्यायें होती हैं, हो रही हैं, हो सकेंगी, परन्तु 'जानने' में भेद और झगड़े न होने से, एकत्व ईश्वर रूप संसार का दर्शन हो जाने से सब की रक्षा होती है। गुरुदेव, जब कि युद्ध की विभीषिकायें चारों ओर विकराल रूप धारण कर फैल रही हैं, यही बताने आये हैं कि "माने हुये ईश्वरों को अब जानने का समय आ गया है। यही आन्तरिक पुकार प्रत्यक्ष किये बिना हिंसा, रक्तपात, रागद्वेष और अशान्ति का लोप हो ही नहीं सकता। प्यारे! विश्व के बुद्धिमान खोजी! उस परमात्मा को जानने के पूर्व 'खोजने वाले' तू अपना पता लगा ले। 'मानने' में ईश्वर पृथक सिद्ध होता है एवं जानने में 'वह तू ही है'।

अतः अपने ईश्वरत्व को पहचान। जिस ईश्वरत्व में किसी का नाश करने की इच्छा नष्ट हो जाती है। 'सर्वत्र ईश्वर ही है', यह पूर्ण बोध हो जाता है। ईश्वर अपने आपको क्या और क्यों नष्ट करेगा ?

आज समन्वय का युग है। समन्वय एकत्व दर्शन बिना कदापि सम्भव नहीं है। एकत्व व्यावहारिक पदार्थ, रीति रिवाजों का नहीं हो सकता, वरन् सब में ओतप्रोत एक आत्मा का (जो सदा से) है, जिसे जानकर ही हो सकता है। आज का यान्त्रिक विज्ञान-वेत्ता अपनी ही महिमा (आत्म शक्ति) को बताने की चेष्टा कर रहा है। उसका अन्तरात्मा कहता है कि 'मुझे देखो और कह दो कि मैं (शरीरवाचक नहीं) आत्मा ही, सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ हूँ।' परन्तु वह (विज्ञानी) भी एक शरीर का ही महत्व बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। यद्यपि ऐसा है वह, फिर भी जरा सी ही कसर है। वह मशीन का महत्व बढ़ाकर अपना महत्व घटाता है, और बस ! उसे भी यही अखरता है।

शरीर में शरीर की शक्ति नहीं है। वह न मन की, न प्राण की, न बुद्धि की शक्ति है; वह है केवल एक आत्म सत्ता की जिसे कहते हैं सब कोई 'मैं'। 'मैं' ही आत्मा है। अहंकार जो हो रहा है वह शरीर से ऊपर न हट कर ही हो रहा है। सन्त गुरुदेव कहते हैं कि इस अभिमान को तोड़ दो केवल आत्मज्ञान से, क्योंकि इस अभिमान हलाहल से तीनों लोक त्रस्त हो रहे हैं।

प्यारे विज्ञानी ! अपना अभिमान (यथार्थ ज्ञान) कर और देख कि सब में तू ही है। तेरी यही 'मैं' सर्वत्र एक समान है और इसी को 'आत्मा' कहते हैं। और यही आत्मा ही (तुमसे तू) अत्यन्त पास होने से 'परम' अर्थात् अत्यन्त पास, खास परमात्मा है।

गुरुदेव की यह अमर एवं स्फूर्तिदायिनी वाणी, श्रुति, स्मृति, शास्त्र व सन्तों के स्वानुभव की प्रत्यक्षानुभूति है। और यही जानना है, यही पहचानना है।

दया, क्षमा, शान्ति, वीरता, धीरता, तप, तेज, बल, बुद्धि एवं स्वात्मानुभव का मूल मन्त्र 'यही सत्यानुभूति' है। इसे सभी को प्राप्त करना चाहिये। यह प्राप्त हो रहा है, हो सकता है, आज श्री ब्रह्मानन्द जी के परम पुरुषार्थ रूप इस ग्रन्थ के द्वारा। अतः भक्त जन इसको यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से ही पढ़ें। एक पूर्ण सिद्ध अवतारी सन्त की कृपा से सहज निःसृत इन शब्दों को श्रद्धा से पढ़ें और अपने आप में सदा के लिए स्थित होकर जन्ममरण के चक्र से सदा के लिए छूट कर स्वात्म-विश्रान्ति लाभ करें।

मैं अधिक महिमा क्या गाऊँ, यह तो श्री ब्रह्मानन्द जी के आग्रह के कारण लिखना पड़ा है। यद्यपि इसके बारे में अधिक लिखने की अपेक्षा भक्तजन इसे पढ़कर ही अनुभव करेंगे, यही कहना यथार्थ है। यह गरीब लेखनी अधिक क्या इस प्रसंग में चल सकती है ? लेखनी वाला स्वयं कृतकृत्य हुआ है।

श्री शंकर के अवतार श्री सद्गुरुदेव अपने तप, तेज, सिद्धियों से एवं आत्मज्ञान से भारतीय जनता को व्यावहारिक व परमार्थिक सुख दे रहे हैं। इसके लिये क्या सबूत देना है ? सभी जानते हैं।

गुरुदेव कहते हैं, "घास कूड़े में क्यों छिपे

हो मेरे लाल ! अरे ! अपनी कीमत के लिये जौहरी के पास आकर अपनी विभूति व प्रकाश की गरिमा से भारत के गले लगकर क्यों नहीं भारत को जगमगाता ? खदानों की मिट्टी रूप यह विश्व तेरे ही कारण सुरक्षित रखा जाता है। विश्व भार को अलग फेंक कर एक दम बाहर आ जा; इस देह रूप कोनों के पहलू डलवा ले और बस, एक दम अपने प्रकाश की किरणों से निखरते हुये देख कि सारा विश्व तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है।"

ऋषि मुनियों के लाल ! तू परिपक्व है, पूर्ण है, शुद्ध है। तेरी आत्म ज्योति के लिये ब्रह्मा से स्तम्भ तक सभी लालायित रहते हैं। तू अपने को उनके पास पहुँचा कर उनके अनजाने इन झगड़ों को मिटा दे। क्या मानेगा इस अमरोक्ति को ? हम जानते हैं कि (देह) मिट्टी के खदान में तू रहा क्या और जौहरी के घर में रहा क्या, तू वैसा ही है। परन्तु प्यारे ! तू जहाँ भी जाता है उसी का प्राण बन जाता है—उसी की कदर होने लगती है। तो फिर बहुत दिन तक समाधि में रहा, अब जाग जा, खड़बड़ाकर उठ और जौहरी इस भारत को फिर से चैतन्य बना दे। सन्तों सद्गुरुदेव की यह पुकार क्या तेरी समाधि तक पहुँच जायेगी ? जरूर पहुँचेगी, क्योंकि तू सर्वज्ञ है, सब जानता है कि समय अब जागने का आ गया है। संसार तुझे अब चाहता है। सन्तों का यह शंखनाद सुन और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सुरासुर, लोकलोकान्तरों को देदीप्यमान करने वाला अपना प्रकाश कर और सर्व संसार की (राष्ट्रों की) दृष्टियों को अपनी ओर आकर्षित कर। उन्हें जीवन दान दे क्योंकि तेरे ही करके सबकी ज्योति है।

"O Rider ride on joy
Light you are, right you are,
Fight you not, see site,
Knight you are, might you are,
Tight you are, each might,
Bring this pride, all scriptures cried,
You never died my Lord !
You're untied, such is your side,
O Rider ! ride on joy."

ओ कलिके ! गुरुदेव के स्नेह सागर में पलने वाली तू पंक से ऊपर उठ कर धीरे-धीरे बाहर आ। देखा, तेरे लिये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं सारा विश्व दर्शन करने को उत्सुक है।

—स्वामी प्रकाशानन्द

प्रज्ञानं ब्रह्म

तत्वमसि

अयमात्मा ब्रह्म

अमृतमय वाणी के संग्रह कर्त्ता तथा प्रकाशकः—

श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी परमहंस, कानपुर

प्रकाशक की ओर से

वर्तमान युग की विषमताओं में मानव अपनी वातावरण जन्य स्थिति और पूर्वानुभव के प्रभाव के कारण वास्तविकता के निकट बड़ी कठिनता से पहुँच पाता है। जीवन के परम सत्य की अपरोक्षानुभूति को वाणी के द्वारा जन सामान्य बनाना असम्भव है। वस्तुतः इसके लिये जितने भी प्रयत्न किये गये हैं उनमें वाणी-विकार तो आ ही गया है; दूसरे भाषा और भावों की दुरूहता के जाल में जनसाधारण ऐसे फँस जाते हैं कि उनका अनुभव बाह्य और शाब्दिक मात्र ही रह जाता है। इसीलिये जिज्ञासुओं की इच्छा के अनुकूल ही सद्‌गुरुदेव स्वामी अखन्डानन्द जी के उज्जैन के उपदेशामृत को उनकी ही जन सुलभ वाणी में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का यह प्रयास किया गया है। सम्भवतः वाणी-विलास-प्रेमियों को इन प्रवचनों में कोई विशेषता न दिखाई पड़े, परन्तु आत्मानुभव के जिज्ञासुओं को निश्चय ही इन स्पष्ट और सरल उद्‌गारों से लाभ और आनन्द प्राप्त होगा। इस प्रयास में जहाँ कहीं भी त्रुटियाँ हुई हैं उन्हें उदारमना पाठकगण क्षमा करने की कृपा करेंगे। हम आशा करते हैं कि आत्मानुभव के जिज्ञासु सद्‌गुरुदेव के उपदेशामृत का रसास्वादन कर इस मानव जीवन का कल्याण तथा विश्व में सद्भावना का विकास करेंगे।

—स्वामी ब्रह्मानन्द

कीर्तन

[१]

जय गुरुदेव दयानिधि दीनन हितकारी।
जय जय मोह विनाशक भव बन्धन हारी॥ जय देव, जय देव!
ब्रह्मा विष्णु सदा शिव गुरु मूरति धारी।
वेद पुराण बखानत गुरु महिमा भारी॥ ,, ,,
जप तप तीरथ संयम दान विविध कीन्हें।
गुरु बिन ज्ञान न होवै कोटि यतन कीन्हें॥ ,, ,,
माया मोह नदी जल जीव बहे सारे।
नाम जहाज बिठाकर गुरु पल में तारे॥ ,, ,,
काम क्रोध मद मत्सर चोर बड़े भारी।
ज्ञान खड्ग दे कर में गुरु सब संहारी॥ ,, ,,
नाना पंथ जगत में निज निज गुण गावें।
सब का सार बताकर गुरु मारग लावें॥ ,, ,,
गुरु चरणामृत निर्मल सब पातक हारी।
वचन सुनत तम नासे सब संशय टारी॥ ,, ,,
तन मन धन सब अर्पण गुरु चरणन कीन्हें।
स्वामी जी महाराज परम पद मोक्ष गति दीन्हें॥ ,, ,,

---

[२]

लगन गुरुन से लागी जिनकी अब लागी।
ठाढ़े लागी बैठे लागी सोवत जागत लागी॥
जैसे आग लगी बनिका में सब बन हो गयो आगी।
ममता मोह ससक गयो सागर, ये मन भया वैरागी।
भेष पन्थ जहाँ नजर न आवे, क्या जाने पंडित काजी॥
ब्रह्मा को लागी विष्णु को लागी शिवशंकर भए त्यागी।
राम कृष्ण को ऐसी लागी सोरहूँ कला होके जागी॥
पारब्रह्म अविनाशी सतगुरु चेतो मूर्ख अभागी।
अलखराम पर कृपा है गुरुन की सदा रहत अनुरागी॥

अखण्डवचनामृतम्

१

'अभेद दर्शनं ज्ञानं'—अभेद करके देखा जाय, यही अभेद दर्शन ज्ञान है। भिन्न-भिन्न न करे। रुपया देखो, एक आना, दो आना, चार आना करके नहीं। वह सर्व का आत्मा मूल है। सर्व जिस पर ठहरा, भास रहा है, जानने में आ रहा है। सब में न हो तो सब को देखें कैसे? गवाही कैसे दें? जिससे वह स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और ब्रह्माण्ड यह सब देखा जाता है, जो सब में होकर सबको जानता है, जिसमें पिण्ड और ब्रह्माण्ड हैं, वह सर्व का आत्मा परमात्मा है और हम परमात्मा की आत्मा हैं। पुत्र पिता का ही आत्मज है। पुरुष जब गर्भ में अपना स्वरूप पहुँचाता है तब लड़का निकला और बाप ही लड़का हो गया। बाप दादा हुआ, नाती का बाबा हुआ, बाबा और बाप एक ही हुए। लड़का कहता है बाप और नाती कहता है बाबा। भाइयो! व्यक्ति एक है परन्तु उसका नाना रूपों में संबंध है। इसी तरह आत्मा सब में एक है। नाती होने पर तो बाबा हो गया पर फिर भी घर नहीं छोड़ते। तुम्हारे लड़के उपदेश दे रहे हैं, सन्यासी होकर तुम्हें शर्म नहीं आती। अपने कल्याण करने की बारी है। विषयों में लम्पट होकर साधन नहीं करते। साधु होकर हम कोई कर्म नहीं करते। सन्तान का पैदा करने वाला ब्रह्मा हुआ है। इसलिए तुम्हें ऐसा साधन करना चाहिए कि सारा देश सुधर जाय। गृहस्थी ब्रह्मा हुए। क्या यह मनुष्य धर्म है कि वह अपना खाना छोड़कर मांस हड्डी खाता है। यह पतन है। तुम शुद्ध ब्रह्म हो। अपने को देखो और साधन करो।

सबसे पहले हमारा कर्तव्य यह है कि व्यवहार की सिद्धि के लिए साधन करना। भारत की जो यह दशा हो रही है, वह दीन और कंगाल हो रहा है, यह सब गोवध के पाप से। पशु वध होने के पाप के जरिए से हमारा मन चंचल रहता है। मांस खाया जाता है, हड्डियों की खाद से चीजें पैदा होती हैं और खायी जाती हैं, इससे हमारे अन्दर दया नहीं रहती। ऐसी चीजें खाने से भयङ्कर बीमारियाँ होती हैं। इन सब चीजों का त्याग करो; सत्याग्रह करो। अच्छी खाद के द्वारा पैदा की हुई चीजें खाइये। आजकल वैद्यों पर विश्वास नहीं और डाक्टरों पर विश्वास है, जिससे सिवाय दुःख के आराम नहीं होता। इसलिए विचार करके बैठो, चलो खाओ, पियो। जागो तो विचार करो। जो कुछ करना है विचार करो, यह शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, मैं अजय, अमर, अखण्ड हूँ, सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। काल, देश, वस्तु से अन्त नहीं इसलिए अनन्त हूँ, अच्छेद्य हूँ। इस तत्व को न जानकर हम मनमानी बातें व काम करते हैं कि कोई अधिष्ठान है? परमात्मा है? तुम्हारा आत्मा परमात्मा गवाही दे रहा है कि यह अच्छा है, बुरा है यही भगवान है। बुरे कर्मों को करने वालों की छाती में धक्का लगता है, चोरी से करते हैं। अच्छा काम अखबारों में छपवा देते हैं। इस बात का तुम्हें ज्ञान है। भगवान गवाही देता है। कई कहते हैं, ईश्वर करवाता है पर यह बताओ कि सजा कौन भोगेगा। उस भगवान की शिक्षा नहीं मानते हो। मन की

कामनायें, लालसा लेकर करते हो, पर यदि नहीं मानोगे तो पछताओगे, रोओगे। विद्या जिससे इन्द्रियों का दमन हो उसका घर-घर में प्रचार होना चाहिये। हमें नीति ठीक-ठीक करना चाहिए। ज्ञान बिना सुखी नहीं हो सकते। यह हमारा संसार स्वप्नवत है, नाशी है, उत्पत्ति वाला है। जो कुछ कहने सुनने जानने में आता है वह नाशी है, स्वप्नवत है। खोटे कर्मों से बचना चाहिये। अपना सत्य धर्म नीति एक पर ले आओ। एक भगवान चराचर में है। चाहे ॐ, राम, शिवोऽहम किसी नाम से पुकारो, चाहे काल कहो, कर्म कहो, शक्ति कहो, कोई नहीं रोक सकता। परन्तु जिसका नाम है उसका पता लगाओ और पूछो तुम्हें हमारा भजन प्रिय लगता है या नहीं ? राम का अर्थ करो, पता लगाओ कि वह कहाँ है ?

"राम राम सब कोई कहै कहाँ राम को धाम।
गुरु वशिष्ठ शिक्षा दई कह्यो सुनायो नाम॥"

राम ने कहा कि तीन लोक मेरा नाम है। मुनि वशिष्ठ ने कहा कि क्षर अक्षर, साकार निराकार से परे जो आत्मा है वह है भगवान। परन्तु मन सैलानी बन गया, इससे भजन में नहीं लगता खेल तमाशे में लगता है। कितने कल्प हुए तमाशा देखते देखते। मन की आदत पड़ गई है तमाशा देखने की।

मन यों नहीं लगता कि शरीर के बीच में देवता भरे हैं वे पट खोल देते हैं और उनको ज्ञान अच्छा नहीं लगता। उनकी विषय पर प्रीति रहती है। मन को इनसे छुड़ा कर गुरु के वचनों में लगाना चाहिए। विचार ही जप, तप, भजन, योग, पूजन हैं। इसी का नाम आचार है। मन से मनन ब्रह्म, आत्मा, शुद्ध चेतन का करना है। बुद्धि से निश्चय करना है। जैसे संसारी चीजों में अहंता, ममता रखते हैं उसकी जगह 'सोऽहम्' पर धारणा करना चाहिए; जिसमें यह सब है, जो सब में होकर सब में प्रकाश रहा है, जान रहा है। यह सब नाम नामी के हैं। अनामी चैतन्य है, अन्तर्यामी है! भगवान है जो सबको देखता जानता है। सबसे पहले हर मनुष्य के लिए ज्ञान की प्राप्ति करना है। पारखी, जौहरी बनना है। पारखी के पास जाकर हम खुद भी जानने वाले हो जाते हैं। शरीर बनावटी है, गल जायेगा, सड़ जायेगा। अच्छे बुरे सब गए, एक दिन शरीर से प्राण निकल जायेंगे और कोई संगी साथी न रहेगा। बीच के मिले बीच में रह जायेंगे। यहीं रह जायेंगे। सब संघात के धर्म हैं। आएगा वह दिन जब सभी कहेंगे कि 'ले चलो, ले चलो।' यह मैं मेरा यहीं पड़ा रह जायेगा। अगर कोई पकड़ने वाला है तो पकड़े, सब आप ही आप छूट जाना है। सब मोह का त्याग हो जायेगा। छोड़ना है मैं और मेरा। जिस चीज में सुख मानते हो उसी में दुःख मानते हो। विवाह और लड़का पैदा करने में सुख और पालन पोषण में दुःख होता है। श्वास निकल गई तो रोना होता है। मन ने एक ही चीज में सुख और दुःख माना है। चीज में सुख दुःख नहीं है, मन में है। जिसको मैं और मेरा नहीं माना उसमें कभी सुख व दुःख नहीं हुआ। जिसको अपना मान लिया है उसी में सुख और दुःख है।

नर नारायण हो सकता है। कथनी झूठी है, करनी सच है। केवल कथनी कूकर सा सुन सुनाकर पढ़ पढ़ाकर भौंकना है। जैसे शादी में कोई मांगी हुई चीजें पहन जाता है, ऐसे ही मांगी पढ़ी चीजों पर तुम विद्वान मानते हो। वन्ध्या स्त्री के लिए जैसे लड़का कुछ भी नहीं है, वह दूसरों के लड़के पर अपना प्रेम दिखाती है, उसी प्रकार पढ़-पढ़ा कर विद्वान बन गए। पर सोचो घर में क्या है ? बड़ा है तो अपने लिए, छोटा है तो अपने लिए, तुम हो तो अपने लिए, इसलिये अपनी बात कहो। तुलसीदास आदि के कहने से क्या। बरसाती नदियां तो मौसम में हैं पर जो हमेशा रहे वही नदी है। क्षण के प्रेम से कुछ नहीं, प्रेम वही है जो आठ पहर रहे। जब

प्रेम है वहाँ नियम नहीं, जहाँ नियम है वहाँ प्रेम नहीं। लगन लगी हुई छूटती नहीं। लागी वह है जो आदि अन्त खतम कर दे। यही गति है, यही भक्ति है। जब हम हर हैं तो हर कहाँ? वह भक्त नहीं जो भगवान न बन जाये। भक्ति ज्ञान से होती है। भगवत की प्राप्ति का नाम है ज्ञान। भगवत का ज्ञान ही भक्ति है, गति है। ज्ञान खुश्क नहीं है। पूजा पुजारी ने पूजने के लिए बनाई है। पूजा करते-करते वह पुजारी पूज्य हो जाता है। भगवान होगया जिसने पूजा की, भक्ति की; सारी दुनियां उसकी कृपा दृष्टि चाहती है। ईश्वर की उपासना वाले ईश्वर न बन जायें तो वह ईश्वर किस काम का? विचार ही पूजा है, आचार है। चन्द्रमा, तारागण के प्रकाश से रात्रि खतम नहीं होती। अँधेरा नहीं रहता, सूर्य के उदय होते ही रात्रि चली जाती है।

ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। सूर्य कभी भी उदय अस्त नहीं होता। एक सा रहता है। दिन रात का पता सूर्य के अतस्ताचल की तरफ जाने से होता है, केवल उपाधि भेद से होता है। उदयाचल और अस्ताचल के पर्वत से आड़ का अँधेरा है, सूर्य के प्रकाश का नहीं! पर्वत की छाया है। सूर्य किसी प्रकाश से मलिन नहीं होता है। आत्माचैतन्य भी उपाधि भेद से मलिन लगता है। शरीर का नाश होता है, मैं एक रस हूँ। मैं कर्त्ता हूँ न भोक्ता हूँ। अंधकार शरीर की उपाधि से है जैसे पर्वत की उपाधि से सूर्य। अज्ञान भी शरीर की उपाधि से ही है यथार्थ नहीं।

चन्द्रमा को लोग सूर्य की स्त्री कहते हैं, पर यह ठीक नहीं, जैसे सूर्य है वैसे ही चन्द्रमा है। यह विराट के दो नेत्र हैं, दो पक्ष हैं। शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल पक्ष में ऐसा मालूम होता है कि यह एक-एक कला बढ़ता है और कृष्ण पक्ष में एक-एक कला घटता है। जिसने नहीं देखा वह कहेंगे परन्तु चन्द्रमा दोनों पक्ष में एक रस जैसा का तैसा रहता है। जैसे पूर्णमासी के रोज कलाओं के जरिए से दोनों पक्ष वाला कहलाता है। पूर्णमासी को कोई उपाधि पक्ष की नहीं रहती। इसी प्रकार आत्मा को उपाधि भेद के कारण गुण-दोष वाला मान लिया है, लेकिन वह सदा एक रस और निर्लिप्त है।

ज्ञान तीन प्रकार का दिखाई देता है। सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। यह संघात और संघात धर्म से है। परन्तु जब यह उपाधि मिट जाती है तो साक्षात्कार होता है कि यह आत्मा एकरस है। अज्ञान में चैतन्य के आभास को जीव और ज्ञान के आभास से ईश्वर एक ही चैतन्य है। उपाधि से दो कहलाता है। माया की उपाधि से—आभास से ईश्वर और अविद्या की उपाधि से जीव कहलाता है, जैसे भीतर और बाहर छोटा बड़ा आकाश मकान की उपाधि से। माया और अविद्या का अधिष्ठान एक चैतन्य ही है। तत् पद ईश्वर त्वम् पद जीव, तत् पद ब्रह्म, त्वम् पद आत्मा है। एक ही चैतन्य तीन प्रकार का हो गया। ब्रह्म, ईश्वर, जीव,सामान्य चेतन विभु चेतन और विशेष चेतन। जैसे बाबा, बाप, पोता। एक ही चैतन्य सर्वज्ञ और अल्पज्ञ में समाया है। आत्मा और परमात्मा के बीच जो आत्मा है 'सोऽहम' चेतन, अखण्ड, अविनाशी, अजर, अमर आत्मा है। सब साधनों का मूल एक ही चेतन है।

माया चेतन, अविद्या चेतन, अन्तःकरण चेतन, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण; ध्याता, ध्यान, ध्येय; ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि सब मत ऊँचे को कल्पना करते हैं, नीचे को नहीं। कोई तीन लोक, चार लोक सात लोक आदि बताते हैं, व्यापक पूर्ण किसी ने नहीं बतलाया। सनातन धर्म ही इसका खण्डन करता है। हर एक मत ने अपना-अपना ईश्वर बना लिया और महावाक्यों का खण्डन किया है। कबीर आदि सबने ब्रह्म को भ्रम बताया इससे सिद्ध हुआ कि सब मत सनातन से निकले हैं और उसका खण्डन करके अपने मत का खण्डन किया है। यदि

हम भी करें तो हम भी ईश्वर को जुदा या कोई लोक में मानने लगें। सब मत एकदेशीय हैं, व्यापक नहीं हैं। सबने 'ॐ'सोऽहम' का खण्डन अपने मत को प्राचीन बनाने के लिए किया है। ये लोग सनानन का नाश करते हैं। सनातन से तो सब मत निकले हैं।

'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म,' 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥' 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम् ।'

जब सब में पूर्ण मान लिया तो कौन सी चीज है जिसे हम नहीं मानते। 'आत्मैवेदम् सर्वम्' हम हर परमाणु को ब्रह्म रूप अपने रूप करके मानते हैं। प्रकाश अग्नि का है। भेद वस्त्र का है। कारण भगवान है तो कार्य भी भगवान ही है। हम भी भगवान के भगवान हैं हम भगवान के आत्मा हैं और भगवान, हमारा आत्मा है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।" ज्ञानी मेरा आत्मा है। जो ज्ञान से द्वेष रखते हैं वे रौरवनरक के कीड़े होते हैं। ज्ञानी को, स्तुति करने वालों को पुण्य की प्राप्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है, ज्ञानी किसी कार्य में आसक्त नहीं होता। उसे कोई बन्धन नहीं होता। भेदवादियों की गीता रामायण में निन्दा की है। ज्ञानी सबको ब्रह्म रूप देखते हैं व जानते हैं। 'सिया राममय सब जग जानी।'

——**——

अखण्डप्रकाश

लेखक—श्री पुत्तन लाल मिश्र

अखण्ड प्रकाश भास भासित जगत सर्व,
जल थल जीव जन्तु लोक-लोकन को यह त्राता है।
ज्ञाता है ज्ञान बुद्धि दाता है सकल सिद्धि,
तिमिर उलूकन को जड़-मूल से नसाता है ॥
अनन्त अविनाशी नाथ रासी हैं सकल गुण,
अमृत सुधाकर शुचि वाणी बीच आता है।
अनुपम रूप राशि बीस बिस्वा बिस्वासो,
चित्रकूट वासी गुरु अखण्डानन्द दाता है ॥

—❀—

अखण्ड वचनामृतम्

II

यह विचार का विषय है, ज्ञान का विषय है। शब्द से ही सब कुछ होता है। परन्तु अर्थ को जब तक पुरुष नहीं जानता है, बोध नहीं होता। हमें लौट कर देखना है। सब संकल्प बाहर से नहीं आते, भीतर से ही बाहर होकर दिखाई देते हैं। शब्द ही कुञ्जी है। बचन से शब्द कहे जाते हैं। चाहे ईश कहो, वेद कहो, जीव कहो, पुराण कहो, ब्रह्म कहो सब नाम शब्द से हैं। शरीर बनी हुई चीज है, देह मन के संकल्प से बना हुआ है। जीव, ईश, माया, जगत, काल, कर्म सब फुरना में है। जब फुरना हुई तो सब कुछ आया। जो फुरना में आया वही गाया; अन्तर से जो फुरना है वही नामी की है। यही कमल रूपी फुरना है। फुरना से मन, बुद्धि चित्त, अहंकार, चार पंखुड़ियों का कमल हुआ। फिर छः कमल और ब्रह्मांड में सहस्त्र दल करके ब्रह्म गुफा, अगम, अकह, अनामी सब केवल फुरना के द्वारा वाणी से कहा जाता है। वाणी ही वेद है। शून्य से नाद, नाद से चार वेद। शून्य का अनुभव करने वाला मूलाधार आत्मा है। आत्मा ही सब में पूर्ण और व्यापक है। इसी के जानने की जरूरत है। संसार जो कहने जानने में आता है इन्द्रजाल नाटक है। यह नाटक मन रूपी नट और बुद्धि रूपी नटी का है। ये नट जो कुछ दिखाते हैं वह दिखाई देता है। यह चेतन आत्मा के आधार पर है। इन सब का द्रष्टा साक्षी कूटस्थ आत्मा है। इस करके सब कुछ देखा जाना जाता है, सब नाम ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, आत्मा के हैं।

यह शरीर नाटक है। है कुछ और दिखाई कुछ देता है। वास्तविक यह नहीं है जो दीखता है। जैसे बीज वट बनता है, पहले दो पत्र हैं, फिर शाखायें, पहले बीज के अन्दर था। जब बाहर आया तो सब की दृष्टि में आया। वट बीज में है कि बीज वट में? अण्डे से मुर्गी है कि मुर्गी से अण्डा? इसका निर्णय क्या है? कर्म वह है जो किया जाय। शरीर के बगैर कर्म नहीं होता। एक गेहूँ के भीतर कितने गेहूँ हैं, यह नहीं बतला सकते। या किसी भी चीज को ले लो जैसे चना लाखों मन पैदा होता है। पर जो भाड़ में से निकल गये वे पैदा नहीं होते, मुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार से निराकार आकार बन के नाना रूप में होता है। शरीर में तीन नाड़ियाँ हैं जिनके आधार पर शरीर ठहरा हुआ है—ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। सुषुम्ना के आधार पर सब हैं। ईड़ा जीव, पिंगला ईश्वर और सुषुम्ना ब्रह्म है। सुषुम्ना में मन को उलट कर लगा दो। इसमें रात दिन 'सोऽहम्' का जाप होता रहता है। राम का अर्थ है 'ॐ'। ॐ का अर्थ है 'सोऽहम्', 'सोऽहम्' का अर्थ है 'हम'। सब कोई 'मैं' कहता है, अपने को 'तैं' नहीं कहता। मैं का अर्थ मैं ही हूँ। इसी में विचार करना है। कृष्ण कहते हैं 'सब में मैं हूँ'। अर्जुन कहता है—'झूठ' मेरे में ही नहीं हो तो सब में कैसे, सब अलग अलग हैं"। कृष्ण ने कहा—"अरे, मैं का ज्ञान नहीं है, तूने अपने को—खुद को नहीं जाना इसलिये मुझे तू कह रहा है। जो तू है सोई मैं हूँ और जो मैं हूँ सोई तू है। दोनों

के बीच में जो मैं है वह एक है। तू अर्जुन तू नहीं, मैं कृष्ण नहीं, तू ही तू है और मैं ही मैं हूँ। सबका जो 'मैं' है, सबमें जो 'मैं' है वह 'मैं' मैं हूँ। उलूक की दृष्टि से 'मैं' नहीं देख सकते, चकोर की दृष्टि से देख सकते हो न कि कौवे, गिद्ध की दृष्टि से। मैं चैतन्य, अजय, अमर, अखण्ड हूँ।"

सद्गुरु की शरण में जाकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'मैं हूँ' इसकी साबूती किसी से लेना नहीं। खुद कह रहा है, खुद गवाही है। सबकी गवाही दे रहा है, आँख है, नाड़ी है, जीव है, ईश्वर है इत्यादि। इन सबकी गवाही देने वाला भगवान है, क्योंकि सबके भीतर है। अन्तर्यामी है, बीजभूत है। वेद, शास्त्र, पुराण का योनि-करण है, 'सो मैं हूँ' इतना ही जानना है। सदैव अपरोक्षता रखता है। जब मैं चेतन हूँ तो जड़ नहीं। मैंने आप ही मान लिया है कि जड़ हूँ। क्या जड़ की गवाही जड़ दे सकता है? तुमने अज्ञान को ज्ञान से पारख किया या अज्ञान से? अज्ञान गवाही नहीं दे सकता। अज्ञान यही है कि मैं पापी, पुण्यी, सुखी, दुखी हूँ। हूँ मैं अज्ञान में भी, यह चेतन आत्मा गवाही दे रहा है। जब मैं चेतन हूँ, ऐसा चिंतन कर लोगे तो जड़ता; अज्ञान चला जायेगा। "मैं की ममता त्याग कर मैं की करिए जांच। सो मैं सबसे परे हूँ तीन, चार और पाँच।" पाँच तत्त्व और तीन गुण में मैं एक रस हूँ। गुरु महात्मा बगैर बोध नहीं होगा। ज्ञान यह है मैं चैतन्य आज हूँ, था, और रहूँगा; 'अविनाशी हूँ' यह अभिमान नहीं है। मैं अज्ञानी हूँ, जड़ हूँ, सुअर हूँ, गधा हूँ! 'दासोऽहम' यह भी तो अभिमान है। यह तुच्छ अभिमान है। निज का गौरव अभिमान है, यथार्थ ज्ञान है; जैसे जल का ओला या बुल्ला यह कहे 'मैं जल हूँ', यह यथार्थ ज्ञान है; अभिमान नहीं। अज्ञानी कह देते हैं कि यह अभिमान है। सबका जो जान है इससे भगवान है। एक ही नामी के सब नाम हैं। कोई गुणवाचक हैं और कोई कर्मवाचक हैं। कोई स्वाभाविक हैं मनुष्य जाति एक है, पर चार जातियाँ हो गयीं। फिर जाति में जाति और गोत्र के नाम पर सब हैं। एक चेतन मनुष्य में, जीव में, कीट में, गणेश में, हाथी में, देवता में सब एक है। यदि जीव कहो तो भी एक ही हैं। उपाधि, योनियों के भेद से नाम का अन्तर पड़ गया। आत्मा सब में एक ही है, जीव एक ही है। इन्द्रियों के भेद से पुरुष, स्त्री कहलाते हैं। एक मिट्टी से ही अनेक रूप हो जाते हैं और है सब मिट्टी के भीतर। गुड़, रस, खाँड़, शक्कर, मिश्री, कंद सबके बीच में एक रस ही तो है। अनेक में एक ही रहता है, अनेक नहीं हो जाता। सब कुछ नाम रूप आकार का भेद है, मिट्टी का नहीं। जैसे सोना, चाँदी, पत्थर आदि मिट्टी से बने हैं। मिट्टी से ऐसे बने जैसे जल का ओला, जल ही मिट्टी हो गया और मिट्टी जल हो गई। अग्नि इसको शोषण कर लेगी और वायु में अग्नि, आकाश में अहंकार अहंकार महातत्त्व में, महातत्त्व प्रकृति में, प्रकृति ब्रह्म में, ब्रह्म आत्मा में। ब्रह्म आत्मा का पहला कोष है, कुल ११ कोष हैं। ब्रह्म से अज्ञान, ईश्वर और जीव आदि सृष्टि के आदि में एक अमायिक ब्रह्म था, फिर ईश्वर, माया, जीव, सारा संसार इसी प्रकार से बन गया। मिथ्या अहंकार बना है गुण से। अन्न, चून, रोटी एक ही हैं एक ही चेतन के ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब नाम रखे गये। जैसे मिट्टी का कार्य सब मिट्टी से बनता है और मिट्टी में रहता है, मिट्टी में लय हो

जाता है। यह सब संसार मुझ आत्मा से उत्पन्न हुआ है, मुझ आत्मा में स्थित है, और मुझ आत्मा में लय हो जायगा। देखो, देखो, क्या देखो ? देखने वाले को देखो। यदि देखने वाला न होवें तो कौन कहे कि यह हड्डी है, उँगली है, शरीर है, श्वास है। हूँ मैं सब में और हैं सब मुझ में।

चार बजे से आठ बजे तक प्रातः ब्रह्म मुहूर्त परमार्थ सिद्धि के लिए, मोक्ष के लिये है। ब्रह्म, आत्मा का चिन्तन करो। स्नान कर के सुषुम्ना नाड़ी के बीच में ब्रह्म चिन्तन करो, प्राणायाम करो; पूरक, रेचक और कुम्भक कम से कम तीन प्राणायाम करो; रोग नहीं होगा, आयु बढ़ेगी।

—शिवोऽहम—

III

सतयुग में ४८ साल तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन होता था, त्रेता में ३६ वर्ष और द्वापर में ३० वर्ष का और कलियुग में २५ वर्ष का। सब अपने बच्चों को आठ वर्ष की अवस्था में ही गुरुओं, ऋषियों के आश्रमों में भेज देते थे, वहाँ पर उन्हें दो प्रकार की विद्या मुफ्त पढ़ाई जाती थी—एक अपरा और दूसरी परा। अपरा विद्या से उन्हें व्यवहार का ज्ञान कराया जाता था और परा विद्या—ब्रह्म विद्या, आत्म विद्या— से परमार्थ का ज्ञान कराया जाता था। इसके पश्चात् जिनको वैराग्य हो जाता था वे सन्यास ग्रहण कर लेते थे और जिनको राग रहता था वे गृहस्थ आश्रम में आ जाते थे। ऐसे गृहस्थ ऋतुगामी रहकर ब्रह्मचारी कहलाते थे क्योंकि एक पत्नीव्रती थे। इस प्रकार एक या दो सन्तान पैदा करते थे जो धीर और वीर होती थी। ५० वर्ष की आयु में वानप्रस्थ आश्रम मे या सीधे संन्यास आश्रम में चले जाते थे।

आज से करीब १३५० वर्ष पहले औरङ्गजेब के जमाने में यह हुक्म हुआ था कि छः महीने के भीतर सब हिन्दू शास्त्र जला दिये जायें। ऐसे हुक्म होने पर मुनि लोग यदि खुल्लमखुल्ला प्रचार करते थे तो उन्हें शूली पर चढ़ा दिया जाता था। इसीलिए चुपचाप गुरुदीक्षा देने की प्रथा पड़ी थी जो कि आज वर्तमान में भी पाई जाती है। इस पर भी ऋषि लोग वाणी द्वारा उपदेश देते रहे और किसी प्रकार कुछ पुस्तकें बच रहीं। उनकी सहायता से कुछ नई पुस्तकें तैयार हुईं। खुल्लमखुल्ला शिवोऽहम, सोऽहम, अहं ब्रह्मास्मि का प्रचार नहीं हो सका और हिन्दू काफिर कहलाने लगे। अपने को बन्दा कहो खुदा मत कहो यह मोहम्मदी मत था। इसीलिए हिन्दुओं को नास्तिक भी कहने लगे। सोऽहम, शिवोऽहम कहना नास्तिकता समझी जाती थी।

शुरू से ही जब वेदों में—गीता आदि में—ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया जाता था और ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरू की शरण में जाना होता था और हम यती सती बनते थे और वीर धीर होते थे। जब तक वर्तमान में भी ग्राम-ग्राम में इस प्रकार आश्रम नहीं बनेंगे तब तक कभी सुधार नहीं हो सकता। जिस सुकृत के बल से हम ब्रह्मचारी रहे और इस पद में आकार हमने गुरुओं से ज्ञान प्राप्त करके और साधन सम्पन्न होकर सोऽहम, शिवोऽहम का अपरोक्ष करके उपदेश व बोध ग्रहण किया।

कृष्ण ने भी अर्जुन को पहले ज्ञान दिया था, उसने ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् युद्ध किया।

शोक मोह में ग्रसे हुए को ज्ञान के द्वारा ही शोक, मोह और भय की निवृत्ति करायी। तारा को भी राम ने ज्ञान देकर उसके अज्ञान के मायारूपी पर्दे का नाश किया था। प्रकाश ही अंधकार का नाश करता है, अंधकार नहीं। ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है, ईश्वर अज्ञान का विरोधी नहीं है। यदि हो तो वह अज्ञान में क्यों रहे? सामान्य चैतन्य ईश्वर विरोधी नहीं। ज्ञाननाम है ब्रह्मज्ञान का अर्थात् अध्यात्म विद्या का। इसलिए विचार करो और आश्रम बनाओ।

जब पहले ब्रह्मचर्य आश्रम पूरी तौर से पालन करोगे तो गृहस्थ आश्रम में भी सफलता मिलेगी और संतान भी वीर धीर होगी। सन्यास आश्रम में किसी भी साधु को मादक वस्तु नहीं खाना चाहिये और न उसे पैसे की याचना करना चाहिए। साधु जंगलों में वृक्षों के नीचे पड़ रहते हैं और न भिक्षा माँगते हैं। उनके पास तो आठों सिद्धियाँ और नवों ऋद्धियाँ रहती हैं। वे खाने पीने का भी यत्न नहीं करते। उन सबका साधारण खाना-पीना है। साधुओं के बच्चे नहीं होते, वे राजपाट छोड़कर भी आते हैं। नदियाँ समुद्र में स्थिर होने को आती हैं। गुरु-शिष्य की प्रणाली भी नहीं रहती। जहाँ ज्ञान हुआ अपना-अपना उपदेश करते रहते हैं। उनकी त्रुटि को भी जो बतलाता है उसे सुधारने के लिए तैयार रहते हैं। वे अन्दर के शत्रुओं पर विजय पा लेते हैं। वे मकानों में नहीं पड़ते और न गृहस्थियों के यहाँ रहते हैं। हमारा यह सिद्धान्त नहीं है कि आरती करो, हम तो बार-बार मना करते हैं। परन्तु लोग मानते ही नहीं। उन्हीं से पूछना चाहिए कि वे ऐसा क्यों करते हैं। हम केवल शिवोऽहम शिवोऽहम कहते ही नहीं पर कोई आकर देख ले कि हम कितने साधन सम्पन्न हैं।

हमारे गुरुओं ने हमें सोहमस्मि, अहम् ब्रह्मास्मि का अपरोक्ष कराया है। वेदों का—उपनिषदों का यह सिद्धांत है कि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर एक है। यदि ईश्वर अनेक हैं तो सृष्टि ईश्वरों की ही हो जायेगी। इस सारे विश्व और जगत का आधार, अधिष्ठान एक है। यदि दो हैं तो तीसरा कोई मानना पड़ेगा। जो एक होगा वही आधार हो सकता है। मत, सम्प्रदाय और पंथ आदि किसी न किसी नाम से हैं। सनातन धर्म किसी व्यक्ति के नाम पर नहीं है। जैसे ईसा से ईसाई, मोहम्मद से मोहम्मदी, कबीर से कबीर पंथ आदि। यह सनातन धर्म कब से है? सनातन से। किसका है? सनातनियों का। यह सनातन धर्म यदि कृष्ण या राम का होता या व्यास वशिष्ठ आदि का होता तो उनके नाम से कहलाता। यह सनातन है, अछेद्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है।

धर्म उसे कहते हैं जिससे धर्मी का ज्ञान हो जैसे अग्नि का उष्णता से और जल का शीतलता से। ब्रह्म एक है, सनातन है। इस एक में से निकल-निकल कर अनेक मत बन गये। अब फिर लौट कर आना होगा और कहना होगा कि मैं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' हूँ। 'एकमेवा द्वितीयम्', 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' 'वासुदेवोऽहम'।

(क्रमशः)

ब्रह्म की दो फाकें कर दीं। यदि दो हैं तो रहते किसमें हैं। यदि वही दोनों हैं तो भी एक के ही दो रूप हैं। साकार, निराकार, दोनों की उपासना भी एक की है। उपासना दोनों ब्रह्म की हैं, अर्थात् कारण की हैं कार्य की नहीं! परमात्मा एक है, कोई ऐसी वस्तु, देश काल नहीं है जहाँ न हो। घट मिट्टी का बना हुआ है। नाम रूप में मिट्टी है, उसके नाश से मिट्टी का नाश नहीं है। ब्रह्म पूर्ण है, व्यापक है। जिससे यह जगत निकला है वह इसमें पूर्ण है और व्यापक है। आदि में मिट्टी, बीच में मिट्टी और अंत में मिट्टी। कोई वस्तु ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किसी ने तीन कारण मान लिये—ईश्वर, जीव, प्रकृति। मिट्टी का घट उपादान कारण है, निमित्त कारण कुलाल है और साधारण कारण चक्र है।

ज्ञान का ही नाम वेद है, वेद नाम जानने का है। जो वस्तु जैसी है वैसा ही जानना ज्ञान हैं, सो ब्रह्म है। केवल बी० ए०, एम० ए० पास करके कोई डाक्टर या कलेक्टर नहीं बन सकता। डॉक्टरी यदि सीखना है तो डॉक्टर से ही सीखना होगा। उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति का साधन दूसरा ही है। परम पद मोक्ष का साधन वही प्राप्त कर सकते हैं और नहीं। १८ पुराण, ६ शास्त्र और चार वेद पढ़ने से ज्ञान नहीं होता। चंडूल सब की वाणी बोलती है, पर कुछ नहीं। प्रकृति से परे प्रभु ब्रह्म को नहीं जाना तो कुछ नहीं जाना। चमचा सब चीजों को चाटता है पर स्वाद नहीं पाता। ऐसे ही तत्त्व के जाने बिना चमचा ही है—जैसे रावण।

गुरु ही परम पद की प्राप्ति करा सकता है— "गुरु करिये जान और पानी पीजै छान।" गुरु ज्ञानी होना चाहिए। ज्ञान वैराग्य बिना नहीं मिल सकता। सबकों संतों ने ही तारा है। हमने ४८ वर्ष कर्म उपासना की, शिव विष्णु से मिले पर शान्ति नहीं मिल पायी। गुरुदेव भगवान स्वामी जी के दर्शन से शान्ति प्राप्त हुई। छोटेपन से शिव का पूजन करते थे और हम हनुमान बने हुए थे। उनकी मूर्ति हाथ में रहती थी। परन्तु सब कुछ करके थक कर हमें अन्त में गुरु पद प्राप्त हुआ। अनेक साधन करने पड़े थे। यह सभी को अनुभव भी है और निश्चय भी है।

शिवोऽहम् का अर्थ है आत्मा कल्याण स्वरूप। किसी समय परमहंस लाखों में एक मिलता था। पर आज इस अध्यात्म ज्ञान का हर जगह रूस जापान आदि में भी प्रचार हो गया है। बच्चा बच्चा भी कहता है कि मैं चैतन्य हूँ। बच्चा वही जो चरम दृष्टि से देखता है। यद्यपि यह उपदेश रुक्ष और कठिन दोनों है। परन्तु सब कुछ छोड़ कर इसे प्राप्त करने के लिए राजा महराजे, सन्त और महन्त यहाँ पर शरण में आए और ज्ञान प्राप्त किया है। यहाँ चेला गुरु नहीं बनाये जाते। उपदेश है—'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्'। जो तू है सो मैं हूँ

केवल देह का भेद है। भक्ति का अर्थ है, गति। बगैर शंकर भगवान अर्थात् शिव-स्वरूप के ज्ञान बिना राम ने भी शिवलिंग की स्थापना की थी। शिव मेरा आत्मा है, मैं शिव की आत्मा हूँ। कहा भी है—

'शिव द्रोही मम दास कहावे।
सो नर मोहिं सपनेहुँ नहिं पावै॥

शिव द्रोही मम दास, मम द्रोही शिवदास।
ते नर करैं कल्प भर, घोर नरक में बास॥"

भेद बुद्धि वालों के हृदय में भेद रहता है। 'सियाराम मय सब जग जानी।' भेद उपासक को परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपना स्वरूप जानने वालों को मोक्ष होता है। भेद-भाव मिटकर अभेद होना ही मोक्ष है।

'अ' पहला अक्षर है। 'अ', 'ऊ', 'म' तीन अक्षर वाले ॐ में तीनों ब्रह्मा, विष्णु, महेश आ जाते हैं। राम कृष्ण आदि सभी आ जाते हैं। सभी जातियों के ग्रन्थों में, वेदों में, सब में 'सोऽहम्' है। जिसमें ॐ नहीं वह मन्त्र नहीं। हर मन्त्र के आदि, मध्य, अन्त में ॐ है। ॐ सोऽहम् से बना है। सोऽहम् पद में ॐ लय हो गया। सब हम कहते हैं। सोऽहम गुरु पद है।

"माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर की माला छोड़ कर, मन की माला फेर॥"

सतगुरु मन की माला देते हैं, ज्ञान की माला देते हैं जिसका चौबीस घण्टे जप होता है। ऊपर से सोऽहम् न बोलो पर स्वास तो 'सोऽहम बोल ही रहा है। इसी से प्राण अमर रहता है। यह अजपा जाप है। बगैर इसके अमर नहीं होगा, अभेद नहीं होगा। यह एक ही साध[illegible] कर्म के बन्धन से छुड़ाने वाला है।

—शिवोऽहम्—

४

सद्गुरुओं की महिमा और दर्शन [illegible] सौभाग्य और सुकृत से प्राप्त होते हैं, सो आ[illegible] लोगों को हो रहा है।

'संत मिले तो हरि मिले, अंत रही न रेख[illegible]
मनसा वाचा कर्मणा, साधू साहेब एक॥'

विचार करो संसार सागर में पार जाने [illegible] लिये ही नर तन पाया है और भवसागर [illegible] पार जाना है। संसार त्रिगुणात्मक है—सतो[illegible] गुण, रजोगुण, तमोगुण वाला है। यह तीन मे[illegible] ज्ञान के बतलाये हैं। तमोगुणी, रजोगुणी, सतो[illegible] गुणी ज्ञान कहलाते हैं। हर एक के अंदर ज्ञान[illegible] यह उपाधि भेद से तीन प्रकार का कहलाता है[illegible] वास्तव में ज्ञान तो एक ही है; पर उपाधि से ती[illegible] प्रकार का कहलाता है। जहाँ सतोगुण प्रधान[illegible] वह ज्ञान है और जहाँ रजोगुण, तमोगुण प्रधा[illegible] है वह अज्ञान है; सो आप को विद्या—ब्रह्मवि[illegible] पढ़ाई जाती है। यह मुख्य रूप से आध्यात्मि[illegible] ज्ञान है, अर्थात् पराविद्या है तीनों गुणों से परे और शुद्ध ज्ञान कहलाता है। जाग्रत अवस्था हर एक पुरुष के बीच में कभी रजोगुण, क[illegible] सतोगुण, कभी तमोगुण आ जाता है। तुरी[illegible] वस्था में सतोगुण प्रधान है बाकी तीनों अवस्था अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में रजोगुण, त[illegible] गुण प्रधान रहते हैं। कृष्ण कहते हैं—ती[illegible] अवस्थाओं में अज्ञान रहता है। क्योंकि तीनों गुण रहते हैं। तुरीया त्रिगुणातीत है।

संसार सागर से पार जाने के लिये पहले हमें पार का पता लगाना है। ज्ञान करना है कि पार क्या है ? सतोगुण मलिन हो गया है इसलिये यह ज्ञान अज्ञान हो गया है और ज्ञान यह हो गया कि मैं जन्मा हूँ, मरूँगा, इसलिए यह ज्ञान अज्ञान कहलाता है। हमें इन तीन गुणों से पार जाना है। त्यागी वह है जो इन गुणों से पार हो जाए। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन शरीर अज्ञान के हैं। स्थूल शरीर माता पिता के संयोग से बना है जो बालक हुआ, जवान हुआ बूढ़ा हुआ, नाश को प्राप्त हुआ। जाग्रत अवस्था ॐ की अकार मात्रा है। अभिमानी है विश्व, अन्नमय कोष है। इसने हमें छिपाया हुआ है कि मैं बालक हूँ, जवान हूँ, इत्यादि। यह तमोगुणी ज्ञान है रजोगुणी ज्ञान है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ। पाँच प्राण, ये मिलकर प्राणमय कोष हैं। मैं भूखा हूँ प्यासा हूँ, चलता फिरता हूँ, क्रिया शक्ति वाला हूँ और प्राण हृदय में रहता है और श्वास की क्रिया होती रहती है। प्राण, अपान, समान उदान, व्यान पांच प्राण हैं और उनकी क्रियायें —प्राण हृदय स्थान में रहता है, उसका कर्म २१६०० श्वासों द्वारा होता है। अपान— गुदा द्वारा मल का उत्सर्जन करता है। समान — नाभि स्थान में रहता है। इसका काम नाड़ी द्वारा अन्न के रसों को रोम-रोम में प्रवेश कराना है। उदान—कंठ स्थान में रहता है, इसका काम अन्न रस का विभाग करना है, हिता नाड़ी में स्वप्न दिखाना। व्यान सर्वाङ्ग में रहता है। समस्त शरीर की सन्धियों को मोड़ता है। प्राण तक ही जीवन है, तभी तक मैं और मेरा है। मैं और मेरा मन कहता है। यह सूक्ष्म शरीर है। चार अन्तःकरण भी इसी सूक्ष्म शरीर में हैं। मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां मिलकर मनोमय कोष हुआ। इनसे ज्ञान होता है इसलिए ज्ञानेन्द्रियां हैं। ज्ञान इन्द्रियां पांच हैं। (१) श्रोत्र—देवता, दिशा, जिनके द्वारा शब्द सुनता है यह न हो तो मनुष्य बहरा होता है। (२) त्वचा—देवता, वायु; जिस करके स्पर्श होता है अर्थात् शीत, उष्ण, मृदु, कठिन आदि जाना जाता है। (३) जिह्वा—देवता, वरुण; उसी के द्वारा रस स्वाद जाना जाता है। यदि वह न हो तो रस का ज्ञान ही न हो। (४) चक्षु - देवता, सूर्य, इससे देख पड़ता है। यह न हो तो मनुष्य अंधा होता है। (५) घ्राण - देवता, अश्विनी; इससे सुगन्ध, दुर्गन्ध का ज्ञान होता है। मन न हो तो सुख दुख कुछ न मालूम हो। संकल्प मन में आते हैं और मन करता है। मन है एक और संकल्प हैं अनेक जो गिने नहीं जा सकते। अनन्त संकल्प हैं। मन सब संकल्पों में रहता है और संकल्प रहते हैं मन में। बुद्धि का काम निश्चय करना है। चित्त का काम चिन्तन करना है। दस ज्ञान और कर्मेन्द्रियां व मन और प्राण यह आधिदैविक शरीर हो गया और इसे सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं।

मन का देवता चन्द्रमा, बुद्धि का ब्रह्मा, चित्त का वासुदेव, अहंकार का रुद्र, वाक् का अग्नि, पद का विष्णु, उपस्थ का प्रजापति, वायु का यम। इन्द्रियां, अध्यात्म, देव=आदि देव; विषय=आदिभूत कहलाते हैं। यह कपिल ने सांख्य में बतलाया है।

त्रिविध दुःखों को निवारण करने के लिए पुरुषार्थ बताया है। कर्म, उपासना, ज्ञान, जीव इनसे छूट जाय तो फिर आवृत्ति नहीं होती, यही परम पुरुषार्थ है। नर तन से ही पुरुषार्थ

होता है। पशु, पतंग, कीट आदि में नहीं होता। इसी को संसार सागर से पार होना कहते हैं। यही इस नर तन का फल है।

शरीर मैं नहीं, यह मेरा नहीं, यह पंचभौतिक है। पंच कोष, तीन अवस्थायें, तीन गुण, मैं नहीं हूँ। यह त्रिगुणात्मक संसार ॐ से है। तीनों की पुड़िया बांध कर ब्रह्म आप ही आप रह जाता है। त्रिगुणात्मक ब्रह्म से पार जाना है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन शरीर हैं। तीन अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ यह व्यष्टि हो गई। समष्टि के जाग्रतावस्था का वैश्वानर, स्वप्नावस्था का हिरण्यगर्भ, सुषुप्ति का सूत्रात्मा, अन्तर्यामी स्वामी है। कारण शरीर, अव्याकृत माया अभिमानी ईश्वर समष्टि है। इसलिए कूटस्थ आत्मा जीव है।

जीव, ईश्वर, प्रकृति ब्रह्म इन चार का ज्ञान गुरु महात्माओं से होता है। संसार और संसार के भोगों से किसी को भी सन्तोष नहीं हुआ, युग बीत गये। इससे मन को समझा दें कि मन अन्धा मत बन। तुझे भोगते हुए युग बीत गये पर सन्तोष नहीं हुआ। रोग हो गया इसलिये अब तू मान जा व समझ जा। ये वही भोग हैं जो कल भोगे गये परन्तु सन्तोष नहीं हुआ। यदि मन न माने तो तुम भी मन की बात मत मानो। ऐ मन! तेरे पेट का पता नहीं। सन्तोष बिना तेरा काम नहीं चलेगा। मन असत है इसलिए राम से भेद करता है। कामना के क्षय बिना सुख नहीं हो सकता। जितना भोगा उतनी ही तृष्णा बढ़ी। बालकपन गया, जवानी गई, बुढ़ापा गया, जरा गया। रे मन! अमृत क्यों नहीं पीता खाता? यही भोजन है, यही तप है क्या? मन को वैराग्य कराना चाहिए। मन में अनेक लालसायें भरी पड़ी हैं। ये कभी न पूरी हुईं और न होंगी। सांप को मारना है तो सिर कूटना चाहिए। मन शूकर, कूकर है।

"मन के हारे हार है मन के जीते जीत।
मन ही से पाइये पार ब्रह्म की प्रतीत॥"

इसकी चंचलता जाये बिना सुख नहीं मिलेगा। वीर बनो, धीर बनो, विजयी बनो। सब अपने लिए बनोगे और सुखी रहोगे। बुरा मत मानो, बीड़ी, सिगरेट, भांग आदि आपके लिए बुरी हैं। महात्मा चलते हैं तो चींटी न मरे ऐसा ख्याल रखते हैं। निडर हैं तो काल से भी नहीं डरते। चींटी का भी अपकार नहीं करते तो आप का अपकार कैसे करेंगे। आपकी अच्छाई के लिए ही हैं। डाक्टर चीरा आपके सुख के लिए लगाते हैं। उन्होंने बुरे कर्म छोड़े हैं और सुख मिला है इसी से आपको रोकते हैं। आप एक पिता की सन्तान हो, परमात्मा आपका पिता है। विषय की लम्पटता से आप लड़ते हैं। सब बाँट कर खाओ। सब पदार्थ परमात्मा के लिए हैं और सबके लिए हैं। सन्तोष रखो, एक पैसा भी बांट कर खाओ। मन की बदमाशी से आप एक दूसरे से द्वेष रखते हैं। मन चंचल सैलानी हो गया है। संसार के भोगों से द्वेष करो। राम को आदर्श रखो। वेद शास्त्र कहते हैं कि देवता भी इच्छा करते हैं कि हम संसार में अवतार लेकर संसार का उद्धार करें। एक दूसरे के मान को देखकर जलना नहीं चाहिए। आप तो देवता हैं, यति और सति हैं। गुरु की शरण में जाकर मोक्ष पद प्राप्त करो। गुरु शंकर सम होते हैं। गुरु मनुष्य मात्र के लिए हैं, शूकर कूकर के लिए नहीं हैं। वह ज्ञान से भगवत् प्राप्ति कराते हैं।

—"शिवोऽहम्"

सुने हुए का जब तक अनुभव नहीं करोगे—उस को मन से मान न लोगे तब तक मन कल्पना करे बगैर नहीं छोड़ेगा। जब मनन करोगे तब अपरोक्ष हो जायेगा। श्रवण करो थोड़ा, मनन करो ज्यादा। कोई काम यदि पहले से पहले प्रारम्भ किया जाय तो बगैर गुरु के प्रारम्भ नहीं हो सकता। गुरु पद प्राप्त हुआ कि मोक्ष प्राप्त हो गया। प्राप्त करना नहीं है, प्राप्त है ही। गुरु, जो चीज प्राप्त है, उसी को दिखा देते हैं। यह नहीं कहते कि तुम ऐसा करो, वैसा करो। गुरु भूली हुई चीज दिखा देते हैं। जैसे कण्ठ में तो मणि है पर खोज रहे हैं इधर-उधर। बताने वाला जहाँ मिला तो बता देता है, दिखा देता है कि देख गले में पड़ी है। उसने लौट कर देख लिया, प्राप्त था पर अप्राप्ति सी कर ली थी। हमें अपने आप को ही जानना है। अपने आप को अपने आप में ही भुलाया है। जानना है जानने वाले को, देखने वाले को। देखो, जानने वाला है जो सबको जान रहा है, हाजिर नाजिर है, सही है। तुमने अपने भगवान को अपने से जुदा कर रखा है। बताने वाला चाहिए जो तुम्हें लक्ष्य करा दे। ढूंढना तो उसको है जो जुदा हो। हमने खुदा को खुद से जुदा मान रखा है, इसी जुदाई को मिटाने के वास्ते सब कुछ त्याग कर सद्गुरु की शरण में आओ। वह दिखाते हैं, कुछ क्रिया नहीं कराते। मूल में गुरु है, बगैर गुरु के अपने आप का ज्ञान नहीं होता। संसार रूपी सागर से गुरु पद ही पार करने वाला है। मुक्ति की इच्छा ही बन्धन का हेतु है। मुक्ति की इच्छा का त्याग कर दो। मुक्ति की आशा छोड़ दो, आशा ही परम दुःख है। यही इच्छा बन्धन को देने वाली है। तुम तो जीवन मुक्त हो।

"जब लग जोगी जग गुरु
जग से रहे निरास।
जब जोगी आशा जगी,
जोगी जग का दास॥"

आशा रहित योगी ही जगत का गुरु रहता है। सद्गुरु के वचनों में श्रद्धा, भक्ति बगैर ज्ञान नहीं होता। नित्य मुक्त स्वरूप ही तू है। कभी तेरा बन्धन नहीं है, तू पशु नहीं है जो बाँध लिया जाए। यह आत्मा नित्य मुक्त है। इससे गुरु के वाक्य को ग्रहण कर लो, देख लो, है यह देखने वाला, इसी का नाम भगवान है। हर समय पर देख रहा है, जान रहा है। आशा ही दुःख है, निराशा ही परे से परे सुख है। मैं चैतन्य, अखण्ड, अविनाशी, अजय, अमर था, हूँ और रहूँगा। तुम्हारा नाम ही सच्चिदानन्द है। सत्य तुम हो, यह शरीर नहीं था, तब भी तुम थे। शरीर बालक हुआ, पैदा होकर माँ-बाप के संयोग से, पर तुम न बालक हुए, न जवान, न बूढ़े, न जरा, न मरे। अविनाशी वह है जिसका कभी न नाश हुआ, न है, न होगा। ज्ञान रूपी रस से यह तृप्ति होती है।

भगवान किसी का न साला है, न दामाद, न बहनोई, न बाप, पर है सब में। उसके बगैर कुछ भी नहीं। जैसे तुम जाग्रत अवस्था को अपने करके, ज्ञान करके देख रहे हो, इससे है जानने वाला। यदि वाणी से नहीं कहा जाता तो सुनाते काहे को हो दूसरे को। यदि वाणी से नहीं कहते तो सुनते काहे को हो। सुन-सुन कर पत्थर हो गये हो। ज्ञान उपदेश वाणी से नहीं करते तो किसके द्वारा करते हो? ईश्वर, जगत, ब्रह्म, जीव, राम, शिव, वाणी से तो कहते हो, पर कहते हो कि वाणी से नहीं कहा जाता। वाणी से कहा वेद मजबूर है। ब्रह्म वाणी से परे है। जो कुछ होता है वाणी से होता है। एक वाणी से मनुष्य फूल जाता है, वाणी से ही क्रोधित हो होजता है, वाणी न हो; कहने वाला न हो तो ब्रह्म, ईश्वर, जीव आदि कहे कौन? और तुम सुनो कैसे? कहना कठिन होता तो आज तक कोई कहता ही नहीं कि ब्रह्म है। कहने से ही जाना जाता है, माना जाता है। दगाबाजो! क्या आँखें फूट गई हैं? सारा विश्व भगवान ही है।

'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म।'

ज्ञानी ब्रह्म रूप है ही। वेद ऐसा नहीं कहता कि मैं नहीं जानता। वेद नाम ज्ञान का है, वेद नाम जानने का है। जो वस्तु जैसी है, वैसा ही जानना वेद है, ज्ञान है।

उसकी लीला देख रहा है और कहता है भगवान देखने जानने में नहीं आता।

'श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यः।'

देखो; अपने करके, ब्रह्म करके भगवान करके ही तो साक्षात्कार हो रहा है। स्वप्नदृष्टा से यदि स्वप्न अलग है तो स्वप्न आया कहाँ से? दृष्टा ही दृश्य है। वाणी में भी ब्रह्म ही है। पूर्ण तत्त्व अज्ञान में भी है। अपने करके अज्ञान का भी साक्षात्कार हो रहा है। ज्ञान से ही तो अज्ञान जाना जाता है। उजेले से ही अँधेरा देखा जाता है। चेतन पूर्ण है, अज्ञान का विरोधी नहीं। अज्ञान का विरोधी ज्ञान है। काठ में रहने वाली अग्नि काठ को ज़लाती है। बिजली है, पर बल्ब हटा लो, प्रकाश नहीं पर बिजली है। काठ में अग्नि जैसे रहती है, काठ को जलाती नहीं है; प्रकाश नहीं करती। सामान्य चेतन व्यापक है, अज्ञान का विरोधी नहीं। रगड़ने से अग्नि प्रकट होती है, काठ को जला देगी और प्रकाश करके अपने स्वरूप में चली जाती है। तू नित्य मुक्त स्वरूप ही है। मुक्त की प्रशंसा वेदों में मन्द बुद्धि वाले के लिए की है। वास्तविक बंध, मोक्ष है ही नहीं, यह मन का ही माना हुआ है।

"मनेव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

"पच पच मरे कुटुम्ब हित
परमारथ नहिं कीन।
धिक् - धिक् ऐसी बुद्धि को
अमृत तज विष लीन।"

आत्मा के ज्ञान होने पर अज्ञान रहता ही नहीं, फिर आत्मा अज्ञानी कैसे है। ज्ञान, अज्ञान बुद्धि में है, उसकी ही कल्पना है। आँख हमें नहीं देखती पर आँख के देखने वाले हम आँख में हैं। अन्धापना, मन्दपना आदि करण और अन्तःकरण के धर्म हैं। जड़ का अनुभव करने वाला क्या जड़ हो सकता है? कभी जड़ को देख सकता है? जड़ कोई वस्तु नहीं, तूने मान लिया है कि मैं जड़ हूँ। गुरुओं ने १२ वर्ष गोबर

उठवाने के वास्ते तुम्हें जड़ बना रखा है। तू देखने वाला घट के अन्दर भी है, बाहर भी है। आत्मा न आनन्द है, न निरानन्द है। यह तो मन की कल्पना, चंचलता है। मन की स्थिति से ही स्थिति और कल्पना से कल्पना। मन ही एकाग्र हो गया, मन ही ने मान लिया कि मैं ब्रह्म हूँ, मुक्त हूँ; मन ही ने भेदवादियों से सुनकर अपने को बन्धन में समझ लिया था। मैं सत हूँ, तो असत गया। चेतन मनन किया तो जड़ गया। आनन्द मनन किया तो दुःख गया। मैं वास्तव में ब्रह्म हूँ। श्रुति भी ऐसा कहती है। जिस मन ने अपने को जड़ माना था उसी ने चैतन्य माना है। जब सब चैतन्य ही है तो जड़ कहाँ से आ गया? जब तक भेद है कि "मैं और हूँ" और "ईश्वर और है" तब तक कर्म और काल चढ़े रहेंगे। जो पूर्ण है उसमें फाँक, ईश्वर, जीव, माया कहाँ से आ गये? विचार करो, मैं खाने-पीने, वाला चलने-फिरने वाला नहीं हूँ; पर खाने-पीने सोने-बैठने में मैं हूँ, सब में पूर्ण हूँ। व्यापक हूँ, अनन्त हूँ। जब तक तुम्हें इन गुरु वाक्यों में इतबार न होगा तब तक शान्ति चन्द्रवार न होगा। झूठी बात बताकर हमें चोर ठहरा रहे हैं। अधिकारी कब बनेगा? जब सुनेगा। अधिकारी बन करके आता है; श्रद्धावाला सुनेगा तो बोध हो जायेगा, जो अनधिकारी होगा तो उसे बोध नहीं होगा। डाक्टर आ गया है, अगर तुम्हारे ऊपर मोतिया बिन्द छा गया है तो आपरेशन करा डालो। डरो मत कि सुई लग जायेगी।

"मुकर मलिन अरु नैन विहीना।
राम रूप देखें किमि दीन्हा ॥"

आइने को मोड़ना होगा, सन्मुख करना होगा। भगवान है अस्ति भाँति प्रिय; सब उसकी तरफ दौड़ते हैं क्योंकि वे भी सब भगवान ही हैं। हमने देखा और अनुभव किया है। गुरु की कृपा से जाना कि आजकल भेद से पक्षाघात हो गया है। मैं माना है अपने को देह, और भगवान वह है। यह देह जन्म के पहले था ही नहीं; मिट्टी में पूर्ण है, उसी में मिल जायेगा। ये पाँच भूत हमारे में रहते हैं।

महात्मा आकाश में उड़ने वाला पक्षी नहीं है। यह सर्वज्ञता नहीं है कि कलकत्ते में क्या हो रहा है। सर्वज्ञता है ज्ञान की। आइने की मलीनता के कारण मुख नहीं दीखता। आइने का मैल मुख धोने से नहीं छूटेगा। हमारे साबुन से मुँह को, बुद्धि को कर्मरूपी पानी से धोने से कुछ नहीं होगा। मैला आइना है। आइना साफ कर दो, मुख दीख जायेगा, मुख मैला नहीं है। देखने वाला आप मुख रूपी है, आइना साफ है तब भी मुख देखता है। मैला है तब भी देखता है। देखने वाला न हो तो देखने को कैसे कहे— कौन कहे। देखने न देखने वाले को जो देख रहा है 'सोऽहम्' 'शिवोऽहम्'। ॐ='सोऽहम्।' तार द्वारा गया और जवाब आया, हम–देखने वाला न हो तो नख आदि सब को कौन देखे? 'शिवोऽहम्' न कहें तो 'गधाहम' कहें? अतः जो हैं वही कहें।

अगर हम अपना अस्तित्व या गौरव रखना चाहते हैं इस संसार में, तो सबसे पहले यह विचार करना होगा कि यह संसार जो है (जिस को हम देख रहे हैं, जान रहे हैं), इसका मूलाधार क्या है? जिसके मूल में यह संसार देखने जानने में आता है। आरम्भ में ब्रह्मचर्य आश्रम

है, पहला ही आश्रम है। पहले यहाँ पर ब्रह्मचर्य का पालन कर तत्त्व ज्ञानी हुआ करते थे, आज कल यहाँ पर ब्रह्म के चरने वाली बुद्धि की विद्या नहीं पढ़ाई जाती। ६००, ७०० वर्ष हुए, जब ग्रंथ जलाये गये; फिर हम देवी देवता की जगह लेडी व साहब हो गये। हमारे धर्म, सत्य, वीरता-धीरता चले गये। हम सारे विश्व को अपना आत्म रूप जानते थे व राग द्वेष नहीं था। सुखी थे व सुख देते थे।

दुःख यह है कि आज कल ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया और स्कूल में जा करके साहब बन गये। व अंगरेजी फैशन लगाया। मद्य पीकर मतवाले बन गये। मन मलिन हो गया। मलिन चीजों के खाने से जायकी मजाकी बन गया। गुरु महात्माओं की बात को ग्रहण नहीं कर सकते। हम भारत निवासी सारे जगत के गुरु थे सो नहीं रहे। पशुवध शुरू हो गया। पहले इस्लामियों के राज्य में, पीछे अंगरेजों से, अंत में हमारा वर्तमान राष्ट्र भी बन्द नहीं करता। नवीन कसाई खाने बन रहे हैं। इन मलिन चीजों के खाने से बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। रावण की नीति बिगड़ी थी मद पीने से। शराब, बीड़ी, सिगरेट, चाय, तमाखू के प्रयोग से बुद्धि व्यभिचारिणी हो गई। हाजमा बिगड़ गया, अग्नि खतम हो गई। एक नारीव्रत धर्म को नष्ट किया। ज्ञान मोक्ष की बात ठहरती नहीं, क्योंकि साधन बिगड़े हुए हैं। इस्लामियों के राज्य में प्रचार करने वाले ऋषि महात्मा सूली पर चढ़ा दिये गये। 'अनल हक' 'अहम् ब्रह्मास्मि' कहनेवाले खतम कर दिये गये। 'शिवोऽहम्' आजकल के आचार्यों को नवीन सा लगने लगा। देखो, आत्मा को देखो, आज जाग उठो, और वीर, धीर, विद्वान, सती, यती बनो। सतयुग में गुरु सत विद्या देते थे जिसको पाकर हम सती यती बनते थे। जो आज कलियुग है वह पागल है। पुनर्विवाह कर सकते हो, तलाक की शिक्षा देते हैं। आर्य माने श्रेष्ठ, एक नारी एक पतिव्रत। आज वे व्यभिचारी बना रहे हैं, वीरता का नाश करने के लिए हिन्दू कोड बिल सरीखे कानून पास हुए हैं। वाह रे शासक व आचार्य।

विचार करो कि तुम लोग अध्यात्म ज्ञान का उपदेश सुनते हो, इसलिए यह बताया कि अपनी नीति एक बनाओ जैसे राम और सीता की। सती और यती सन्तान भी तभी होंगी। इस वीर्य, अन्न व मन की संग्रहणी की बीमारी को हटाओ। जैसा खाना वैसा निकाल देना। कहते हैं "हमारा मन नहीं मानता। संस्कार भरे हैं, पाप कम करा लेते हैं।" हम कहते हैं वे पूर्व उत्तर कर्म हमसे क्यों नहीं करा लेवे? कलियुग हमारे पास क्यों नहीं आता? कर्म, ईश्वर हमें क्यों नहीं दबाते? इस जाति का बहुत पतन तिरस्कार हो रहा है। हमने अपने आचरण बिगाड़ दिये। नौटंकी बाइस्कोप आदि देख करके। एक डंक सहन नहीं होता तो नौ डंक कैसे सहन करें। एक कोप सहन नहीं होता तो बाइसकोप कैसे सहन करें। रामायण पढ़कर राम जैसी भ्रातृ, मातृ, पितृ, गुरु भक्ति सीखो। गीता में, बृजविलास में वास्तव में भगवान कृष्ण ने चोरी नहीं की। जिनको हम इष्ट मानते हैं उनको चोर बनाना ठीक नहीं। जिसको हम आत्मा मानते हैं, उसका चोरी करना, चीर हरण हम कैसे मान सकते हैं। हम आस्तिक हैं कि नास्तिक? हम तो राम कृष्ण भगवान की शिक्षा को मानते हैं। हमारा मन व्यभिचारी सैलानी बन गया है। इसी लिए देवताओं को भी वैसा ही देखने लगे।

चौदह, चार, अट्ठारह विद्यायें रावण ने पढ़ीं, पर एक हनुमान ने लंका जला दी। जिसकी नीयत बिगड़ती है उसका सर्वस्व नाश हो जाता है। गाँव-गाँव में ब्रह्मचर्य आश्रम बनने चाहिये। पैदा तुम करते हो और लड़कों पर कानून कैसे बनाते हो? लड़का जवाब देता है कि पहले तुमने हमें यती सती क्यों नहीं बनाया। क्रम से गृहस्थ आश्रम में जाकर इतनी संतान पैदा करे जिनका पालन-पोषण कर सके, बाद में सन्यास ले लेना चाहिये। निश्चय कर लो हम ब्रह्मचर्य आश्रम बनायेंगे। वैराग्य हो तो सीधे सन्यास आश्रम में चले जायेंगे।

देखो, यह बात देखो, तुम्हारे देखते देखते कितने आये, नाटक किया और चले गये। देखने वाले को देखो, देखने वाला अच्छे बुरे को देख रहा है। यह गवाह तुम्हारा अन्तरात्मा है। देखने वाले तुम खुद हो। अच्छे काम अखबारों केजरिये सूचित करते हो और बुरे काम चोरी से करते हो। तुम्हारा आत्मा, परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, भगवान है और तुम्हे ज्ञान कराता है कि यह अच्छा है, यह बुरा। जब तुम खुद साक्षी हो तो और किससे गवाही लेना है?

कोई कोई आचार्यों ने भी यही बतलाया जो तुम्हारे मन ने कहा। डाक्टर ने वही दिया जो रोगी ने माँगा। किसी आचार्य ने लिखा है कि अपनी स्त्री से लड़का न होवे तो और से करा ले। जब ये आचार्य भी ईसाइयों की तरह सनातन धर्म का खण्डन करते हैं, और मण्डन करते हैं ईश्वर जीव प्रकृति की त्रिपुटी का, तीनों को अनादि कहते हैं तो फिर उनमें और इनमें भेद क्या रहा? उपदेश सुधार के लिए हैं पतन के लिए नहीं। जो ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का उपदेश देंगे तो ऐसा ही बनावेंगे। जैसे चोर चोर को, ज्ञानी ज्ञानी को, साधु साधु को बनायेगा। ब्रह्मचर्य मकान की नींव है। ऋतु भार्यागामी गृहस्थी में होना चाहिये न कि विषय लम्पट बनना। जो पतित होने की बातें सुनायें वही पतित हैं। ग्रह का बताने वाला ही ग्रह है उससे बचना चाहिये।

जिससे यह पिण्ड, यह ब्रह्माण्ड सब देखा जाता है, जाना जाता है जो सबमें होकर के सब का जान है उसका नाम भगवान है। जो ईश्वर, जीव, मन, प्राण सबके बीच में है 'सोऽहम'। भगवान एक है और अनेक नाम हैं। भगवान भी नाम है। 'अहं ब्रह्मास्मि' है। राम है, कृष्ण है आदि। उस नामी का पता लगाओ। जब नामी मिल गया तो नाम रूप की जरूरत नहीं रहेगी। जब नामी मिल गया, जगत का बाध हो गया। क्योंकि जगत का आधार नियन्ता कौन है, खोजते खोजते तो पहले बाहर जाते रहे फिर अन्दर खोजा जहां से फुरना हुई तो आप ही को पाया। जगत जागने में है जाग्रत अवस्था है। स्वप्न में यों देखते हो कि तुम स्वप्न के

देखने वाले हो, अतः तुम स्वप्न में हो। आप नहीं होगा तो कौन देखेगा। स्वप्नदृष्टा में ही स्वप्न है, जागने पर स्वप्न नहीं।

"जो स्वप्ने काटे सिर कोई।
बिन जागे दुख दूर न होई॥"

गुरुदेव की कृपा से सच्ची वस्तु मिल गई। अब तो भगवान या ईश्वर रात दिन हमारे सामने हमारा हुक्म मानने को खड़े रहते हैं! ईश्वर को भक्तों ही ने बनाया है। प्रहलाद ने भगवान को प्रकट किया। यह भक्त और भक्ति, सनातन धर्म भारत में ही होता है। फुरना से चार वेद, षट शास्त्र, गीता रामायण बनीं (एकोऽहम बहुस्यामि) फुरना से सृष्टि बनी।

बोलो……ॐ हरी तत सत ब्रह्मणे नमः। ब्रह्मार्पण, ब्रह्मणे स्वाहा।

आज से हम खोटा काम नहीं करेंगे। गुरु महाराज को दिया तन, मन, धन, प्राण और मैं भी अर्पण हो गया। बोलो 'सोऽहम्' 'शिवोऽहम्'।

— शिवोऽहम् —

[७]

एक टापू का यह दस्तूर था कि वहाँ के राजा बनाने की व्यवस्था प्रजा के पुराने नियम के अनुसार हुआ करती थी। एक विशाल देश के सामने एक टापू था। टापू और सामने के देश के बीच में समुद्र था। समुद्र की चौड़ाई लगभग तीन मील थी। जिस प्रकार भारतवर्ष के दक्षिण में रामेश्वर का टापू है, इसी प्रकार उस टापू को समझना चाहिये। टापू में वहाँ के ही राजा का राज्य था। कुछ अंश में उसको प्रजा सत्ता के रा के समान कह सकते हैं क्योंकि वहाँ वंश प परा से राजा नहीं होता था। वहाँ की प्रजा पुरा जंगली रीतिरिवाज वाली थी। हमेशा एक राजा राज्य किया करे, यह वहाँ की प्रजा को पस नहीं था। इसे वे अनुचित समझते थे। यदि ऐ हो तो ईश्वर का कोप हो ऐसा मानते थे। ए राजा के विशेष समय तक रहने से देश दुर्दशा हो, इसलिये एक साल तक स्वतन्त्रता राज्य करने देते थे। तीन सौ साठ दिन रा करने के पश्चात् वे सब मिल कर उसे समुद्र किनारे ले जाया करते थे और वहाँ से नाव बैठा करके समुद्र के बीच में पहुँच कर गि देते थे। डुबो देते थे, न तो आप निकालते और न किसी को निकालने देते थे। नया रा इस प्रकार चुना जाता था कि किसी योग्य मनु को उसके मकान से पकड़ लाते थे। एक सा एक घर में से लाकर राजा बनाया तो दूसरे सा उसके पास के मकान में से लाकर राजा बना जाता। क्रमानुसार ऐसा ही किया जा था। जिस प्रकार कई प्राचीन कहानियों में राक्ष को भोजन के लिए एक एक घर से ए एक मनुष्य नित्य पहुँचाया जाता था उसी प्रकार एक साल में एक राजा का यमरा को भोजन दिया जाता था। जो मनुष्य रा बनाने के लिए पकड़ा जाता था वह समझ था कि अब मेरा जीवन एक साल त ही है। राजा बनना क्या था, मृत्यु के मुख जाने का एक साल के पश्चात् का निमन्त्रण था। आजकल राजा बनने में लोग आनन्द मानते राजा को बड़ा सुख होता है ऐसा समझते हैं उस टापू के रहने वाले इससे उल्टा समझते थे 'राजा को अन्त में नरक' यह कहावत व

चरितार्थ होती थी। राजा बनना यमराज की विकराल डाढ़ों में जाना समझा जाता था। अपनी खुशी से राजा कोई बनना नहीं चाहता था। परन्तु समय आने पर अवश्य बनना पड़ता था। इस प्रकार पुराने नियम के अनुसार हजारों मनुष्य राजा बनकर अपने प्राण त्याग चुके थे। जब कभी उस टापू में किसी से आपस में झगड़ा होता और क्रोध में आकर गालियाँ बकते तो 'राजा बनजा' यह कहा करते थे।

एक बुद्धिमान, शूरवीर, क्षत्रिय बुद्धिधन नाम वाला और जैसा नाम वैसे गुण वाला कई वर्षों से इस टापू में आकर बस गया था। एक साल उसके घर में से राजा बनने का समय आया तो वह बहुत प्रसन्न हुआ क्योंकि उसे निश्चय था कि बुद्धि की शुद्धता, निश्चलता और तीव्रता से मनुष्य कठिन से कठिन कार्य करने को समर्थ होता है और उसके लिए कुछ असम्भावित नहीं है। "अभी तो राजा बनने में कुछ दुःख ही नहीं है, आने वाला दुःख एक वर्ष पीछे है। एक वर्ष पहले मुझे आने वाले दुःख की खबर पड़ गई है, उसे निवृत्त करने के लिए मैं शुद्ध बुद्धि के सामर्थ्य से प्रयत्न करूँगा और अवश्य आपत्ति से बच जाऊँगा। इतना ही नहीं परन्तु राजा होने के शुभ अवसर का सदुपयोग करके हमेशा के लिए सुखी बन जाऊँगा। एक बार राजा बना तो हमेशा ही राजा बना रहूँगा।" ऐसा जी में विचार कर वह प्रसन्न था।

मरने को जाना पड़ता है, यह देखकर पुराना राजा रो रहा था और लोग उसे बलात्कार से ले जा रहे थे। बनने वाला नया राजा बुद्धिधन भी साथ में था। पुराने राजा ने राज्य का काम समझा दिया और राज्य भण्डार की चाबियाँ सौंप दीं। इसके पश्चात् पुराना राजा नाव में बैठाया गया, गहरे जल में नाव ले जाकर खड़ी कीगई और अथाह जल में वह गिरा दिया गया। उसके गिरते ही किनारे से तोपों की ध्वनि सहित महाराजा बुद्धिधन की जय बोली गई और उस का राजतिलक कर दिया गया। नाव लौट आई। नाव के और किनारे के सब मनुष्यों ने स्नान किया और नये राजा को प्रणाम किया। हाथी, घोड़े, पालकी आदि राजचिन्ह सहित नये राजा की सवारी राजधानी में घूमती हुई राजमहल में पहुँच गयी।

बुद्धिधन ने राजकाज हाथ में लिया और भण्डार खोलकर देखा। भण्डार देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, वह अपने जी में विचारने लगा "इतने छोटे से राज्य में इतना बड़ा खजाना होने का क्या कारण है ? ऐसा समझ में आता है कि जो कोई राजा बनता था उसकी दृष्टि प्रथम मृत्यु पर पड़ती थी परन्तु सामान्य मनुष्य होने से वह भोग विलास में पड़ जाता था। देशोपकार में कुछ खर्च नहीं कर सकता था, अथवा मृत्यु के डर से जैसे कोई पथिक मार्ग में आई हुई टूटी धर्मशाला में सुख-दुःख से रात्रि व्यतीत करना चाहे, इसी प्रकार राज्य को टूटी धर्मशाला समझ कर उन राजाओं में से किसी ने हित कार्य नहीं किया। टापू की आमदनी दिन पर दिन बढ़ने से यह खजाना जमा हो गया है।" बुद्धिधन ने लोकोपकारक कार्य करने आरम्भ कर दिये। स्थान-स्थान पर तालाब, कुएँ और धर्मशालायें बनवाईं। सदाव्रत और अन्न क्षेत्र लगा दिये। खेती सुधारने के अनेक प्रकार के यन्त्र बनवाये। खेती करने वालों के कष्ट निवृत्त करने के यत्न किए। जो जो कच्चा माल उस टापू में होता था

उसकी उपज बढ़ाने का प्रयत्न किया। कच्चे माल को पक्का माल बनाने के कार्यालय खोले, न्यायालयों में योग्य न्यायाधीश नियुक्त किये। जल सैन्य तथा स्थल सैन्य की वृद्धि करके अस्त्र शस्त्रादि सामग्री से युक्त किया। व्यापार वृद्धि के यथायोग्य उपाय किए और अपने लिए भी ऐसी वस्तुएँ जो राजा के लिए शोभा देती हैं मंगवाईं। उस टापू में एक भारी तालाब था, उसका कीचण निकलवा कर बुद्धिधन उसमें तैरना सीखने लगा। तैरना सिखाने वाले कई उस्ताद नियुक्त किए गए। डुबकी मारना, डुबकी मार कर चलना, श्वास को देर तक रोके रखना, हाथ पैर हिलाकर तैरना बिना हाथ पैर हिलाये तैरना, चित्त होकर तैरना, उल्टे होकर तैरना, खड़े-खड़े तैरना, बैठे-बैठे तैरना इत्यादि तैरने की विद्या में वह कुशल होने लगा। फिर उसने टापू के सामने समुद्र पार जो बन था उसे वहाँ के राजा के पास से मोल ले लिया। वहाँ एक भारी राजमहल बनवाया। उसके आस पास एक शोभायमान बगीचा लगवाया, बन के वृक्ष जो बगीचे के योग्य थे लगे रहने दिए आर महल के चारों तरफ बहुत से मकान बनवा दिये। जितना खजाना बुद्धिधन को प्राप्त हुआ था उसमें से आधा उसने उस स्थान में लगा दिया कुछ धन तो महल आदि बनाने में खर्च हो गया और कुछ एक बड़े तहखाने में भर दिया गया। शूर वीर सरदारों को भेज कर एक भारी सैन्य की नियुक्ति की गई। इस प्रकार उसने एक वर्ष से प्रथम ही एक महान राज्य के योग्य व्यवस्था तैयार कर दी। बुद्धिधन का राज्य बहुत योग्य व्यवस्था से चलता था। प्रजा के हित के कार्य पर बहुत ही ध्यान दिया जाता था, इसलिए सब प्रजा उसके राज्य से प्रसन्न थी और ईश्वर के समान उसको मानती थी। बुद्धिधन एक साल के भीतर ही अपनी आपत्ति निवृत्त करने के लिए जो कुछ करना था, वह सब कर चुका था और पूर्ण प्रसन्नता से रहता था। समय पाकर जब उसका भी एक वर्ष पूर्ण हुआ तब लोग समुद्र में डुबाने के लिए उसे समुद्र के किनारे पर ले गये और साथ में नए बनने वाले राजा को भी ले गए। लोग बुद्धिधन को चाहते थे इसलिए सब रोते थे, परन्तु उसके लिए दुखी होने पर भी वे लोग पुराने आचार को तोड़ने को असमर्थ थे इसलिए चाहते हुए भी राजा को स्थिर न रख सके।

अखण्ड वचनामृतम्

समुद्र के किनारे आकर नये होने वाले राजा को बुद्धिधन ने राज्य व्यवस्था समझा दी और भण्डार की चाबियाँ देकर कहा—"मेरे पश्चात् होने वाले राजा! जिस प्रकार मैंने राज्य व्यवस्था चलाई है उसी प्रकार आप भी राज्य करके प्रजा का प्रेम सम्पादन कीजिए, मेरे ही समान आचार करके राजा और प्रजा दोनों सुखी होइये। जिस प्रकार मैंने राज्य किया है उसकी दिनचर्या का पत्र सबसे बड़े खजाने में रखा हुआ है। उसके अनुसार राज काज करते रहिये, पूर्व के राजाओं के समान दुखी होकर राज-काज न कीजिए। आपको जो राज्य प्राप्त हुआ है उसके ऐश्वर्य सम्पन्न समय को सार्थक कीजिए। प्रणाम! इसके पश्चात् लोगों ने बुद्धिधन को नाव में बैठा दिया और जब नाव अथाह जल में पहुँची तब उसे समुद्र में गिरा दिया। जल में गिरते ही बुद्धिधन गोता लगाकर किए हुए अभ्यास से जल में ठहर रहा। किनारे पर तोपों का शब्द हुआ और नाव लौट आई। बुद्धिधन ने जल के भीतर ही चलना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर में कुछ दूर जाकर मुख पानी के ऊपर निकाला, फिर जल के भीतर ही भीतर चल दिया। किनारे के मनुष्यों का लक्ष्य नये बने हुए राजा की तरफ था, इसलिए बुद्धिधन की तरफ किसी ने ध्यान नहीं दिया। बुद्धिधन कुछ आगे आकर जल के भीतर से ऊपर निकल आया और ऊपर ही तैरने लगा, तैरता-तैरता दूसरे किनारे पर जा पहुँचा। वहाँ पर प्रथम से की हुई व्यवस्था के अनुसार बनाए हुए महल से मनुष्य आकर खड़े हुए थे, उन्होंने बुद्धिधन को गरम जल से स्नान कराया; राज्य वस्त्र पहनाये और वे अपने मालिक को राजमहल में ले गए। वहाँ पर तैयार खड़ी हुई सेना ने राजा को सलामी दी, तोप और बन्दूक छूटी। इस प्रकार अपने बनाए हुए नए राज्य पद पर बुद्धिधन आरूढ़ हुआ। जिस राजा से जमीन खरीदी गई थी वह और दूसरे राजा बुद्धिधन को बलिष्ठ जानकर उसके आधीन हो गए और उसे अपना सम्राट बनाया।

टापू वाले जिस टापू का राजा बनने को नरक समझते थे बुद्धिमान बुद्धिधन ने उसी टापू का राजा बनकर उसी में स्वर्ग सुख प्राप्त किया। सचमुच बुद्धिमान मनुष्य नरक को स्वर्ग में बदल सकते हैं। बुद्धिधन को उसकी चतुराई के कारण मृत्यु के बदले हमेशा के लिए साम्राज्य पद प्राप्त हुआ।

समुद्र संसार है, मृत्युलोक उसमें टापू है। मृत्यु लोक में जन्म होना राजा बनना है। मनुष्य की आयु पूर्ण होना, मर जाना, समुद्र में गिरना है। प्रपंचासक्त बुद्धि वाले मनुष्य, मनुष्य रूप राजा बन कर भी संसार समुद्र में डूबते हैं। दैवी सम्पत्ति वाले, कर्तव्याकर्तव्य के विवेक वाले शुद्ध संस्कारी मुमुक्षुरूप बुद्धिधन जैसे अनात्म भावना के साथ युद्ध करके जय प्राप्त करने वालों को समुद्र में गिर कर मरण प्राप्त नहीं होता

क्योंकि वे समुद्र में गिरने से प्रथम ही उसमें से तैर कर निकल जाने का अभ्यास कर लेते हैं, और मनुष्य जन्म रूप राज्य के प्राप्त हुए भण्डार का सदुपयोग करके अपने लिए महान राज्य को तैयार करते हैं। वे ब्रह्मलोक अथवा ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और इसके सिवाय मनुष्य शरीर में भी चिन्तारहित जीवनमुक्त राज्य को भोगते हैं, इस प्रकार यत्न करने वाला मुमुक्षु है, उपासक है, भक्त है। वही कल्याण को प्राप्त होता है।

थोड़े काल के लिए संसार में यह मनुष्य तन पाया है, इसलिए सद्गुरु की शरण में जाकर शुभाशुभ कर्मों का हवन कर दो। कृष्ण कहते हैं पाप पुण्य जब दोनों का नाश कर दोगे तो मेरे परम धाम में आ जाओगे। मेरे धाम का अर्थ है अपना आप। ऐसा साधन करो कि जिस गति अर्थात् भक्ति को प्राप्त करके पुनरावृत्ति न हो। बगैर ज्ञान के भक्ति नहीं। ज्ञान से ही मोक्ष है। राम ने तारा को ज्ञान दिया —

"छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम सरीरा॥
सो तन तेरे आगे सोवा।
जीव नित्य केहि कारन रोवा॥"

राम कहते हैं "जीव नित्य है, अविनाशी है, अजय अमर है, तू किसके लिए रोती है। तू कहती है तेरे पति को मैंने मारा है, क्या मैं हत्यारा हूँ? पति शरीर को मारा है तो वह तेरे सामने पड़ा है और यदि जीवात्मा तेरा पति है तो आत्मा जन्मने मरने वाला नहीं। यह अजर अमर है। इसलिए पति-पत्नी का व्यवहार है। शरीर पंचायती (पंचभौतिक) है। शरीर है
नहीं है। आत्मा अविनाशी है।

"तारा विकल देख रघुराया।
दीन्ह ज्ञान हर लीन्ही माया॥"

इस कठिन ज्ञान को स्त्री यानी तारा ने प्रा
कर लिया तो मनुष्य के लिए कैसे कठिन है।
कहना मूर्खता है कि स्त्री व शूद्रों को ज्ञान न
देना चाहिए। स्त्री, वैश्य व शूद्र भी परम ग
प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान के द्वारा हम उ
सना और भोगों की सिद्धि कर सकते हैं। ज
हम पारखी बन जायेंगे तो समझ लेंगे कि नि
क्या वस्तु है और अनित्य क्या है। ज्ञान बि
कर्म की सिद्धि नहीं होगी अर्थात् कैसे माल
होगा कि कौन कर्म अच्छे हैं और कौन कर्म बु
हैं। इसी प्रकार उपासना का ज्ञान कैसे होगा
कौन उपासना उत्तम है। कर्म, अकर्म, विक
हम ज्ञान बिना कैसे जानेंगे। कृष्ण ने कहा है-
'अर्जुन, कर्म, अकर्म, विकर्म तीन प्रकार के क
हैं। कर्म होता है कर्ता का—शास्त्रविहित कृत्य
विकर्म वह है जिनको श्रुति, संत निषिद्ध क
बताते हैं, जिन कर्मों से नीचा होना पड़ता
अर्थात् सिर नीचा करके भोगना पड़े। जै
हिंसा, चोरी, छिनारी, मद, मांस खाना।
अर्जुन, विकर्म का त्याग कर, कर्म वह कर जि
का वेद, संत विधान करते हैं। फिर भी क
करो पर कर्म करते हुए फल की इच्छा न करो
शुभ इच्छा से स्वर्ग है, पर क्षीण पुण्य होने
फिर नीचे गिरोगे। ब्रह्मलोक आदि से पुनरावृ
होगी। फल की इच्छा के त्याग से अंतःकर
शुद्ध होगा और मुक्ति होगी। गर्भ में टँगना न
पड़ेगा। ज्ञान से पहले कर्म, अकर्म, विकर्म

ज्ञान बगैर मालूम न होगा कि कौन सा कर्म त्याज्य है। राम ने शबरी से कहा प्रथम भक्ति संतों का संग है। दूसरी उनका कथन ज्ञान, तीसरे गुरु की सेवा। मेरे से अधिक सन्त जान ईश्वर से गुरु में अधिक भक्ति करे। गुरु भक्ति से आत्म-ज्ञान होगा जिससे हमारी गति होगी। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" उसकी वाणी वेद है। भाषा अथवा संस्कृत हो भेद, भ्रम उत्पन्न करते हैं। यह अविद्या है कि वह और है, मैं और हूँ। इसका नाम विद्या है जिससे अभेद ज्ञान हो। विचार करो, बैठो तो विचार करो, खाओ-पिओ तो विचार करो। विचार ही सार है बाकी सब असार है। भाष्यकार ने बतलाया है कि देहभाव को छोड़कर 'मैं आत्मा हूँ' यह अभ्यास करे।

सन्यास का अर्थ केवल भगवा वस्त्र से नहीं है परन्तु यह है कि मैं आत्मा हूँ देह नहीं। काशाय दण्ड के धारण करने से सन्यास नहीं होता। परन्तु जिसकी ज्ञान में तत्परता है वह सन्यासी है। शिखा सूत्र का त्याग किया पर वेदान्त का श्रवण मनन नहीं किया वह सन्यास से पतित है। इससे "ज्ञानं विना नैव मुक्तिः", अखण्ड ज्ञान अविच्छिन्न ज्ञान सीता वर है। मन रावण अज्ञान है। मारने वाला ज्ञान है। दस इन्द्रियाँ रावण के दस मुख हैं। मन दस इन्द्रियों में चरने वाला है, यह माया रचित है। 'गो गोचर जहँ लग मन जाई, सो समझो माया सब भाई'। ब्रह्म चिंतन है कि मैं 'ब्रह्म हूँ, अखण्ड, अजय, अमर हूँ, देह नहीं। ब्रह्म सर्वज्ञ है। ब्रह्म को हम ब्रह्म से जान सकते हैं। आत्मा के नेत्र से ब्रह्म ज्ञान होता है। पहले मुक्ति अध्यात्म में व्यवहा... करो, सद्गुरु की शरण में जाकर बाद ...द है कि निष्काम कर्म करो।

भक्ति आत्म निवेदन है। आत्मा का परमात्मा में समर्पित हो जाना। 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणम् व्रज'। मामेकम्=मैं एक, शरण=आत्मा। समुद्र में नदी अपने को समर्पित करके समुद्र बन जाती है। भागकर (भज कर) शांति हो जाती है। फिर कहां जायेंगी। बुद्धिमान आत्मा में लय हो जाते हैं। अपने से ही अपना आप जाना जाता है। जहाँ मन बुद्धि लय हो जाते हैं तो उनसे आगे उन्हें जो जान रहा है वह आत्मा होकर उन्हें जान रहा है। जिससे मन और बुद्धि भी जाने जाते हैं, जो मन बुद्धि से नहीं लखा—जाना जाये वह मेरे स्वयं प्रकाश से जाना जाता है। ज्ञानी गुरु की शरण में जाकर हम ज्ञानी बन सकते हैं। बिना ज्ञान के कुछ नहीं; शांति, समता प्राप्त नहीं हो सकती। शांति सीता है, ज्ञान राम है; राम के बिना सीता कहाँ जायेंगी। ज्ञान वैराग्य बिना मुक्ति किस काम की। बंध्या भक्ति से क्या लाभ जो ज्ञान-वैराग्य रूपी पुत्र न होवे। कोरी भक्ति से काम नहीं चलेगा, न शांति प्राप्त होगी। ज्ञान होगा तो शांति आप ही प्राप्त हो जायेगी क्योंकि जहां राम हैं वहां शांति सीता हैं। रामायण में कागभुशुण्डि के सम्वाद में "ज्ञान का पंथ कृपान की धारा। परत खगेश न लागै बारा।।" ज्ञान की धार पड़ने की देर है कि बंधन को काट देता है, वार पार कर देता है। पड़त खगेश है चलत खगेश नहीं। यह नहीं कि ज्ञान का पंथ कठिन है (वहाँ पड़त खगेश है, चलत खगेश नहीं) चलत शब्द पता नहीं अर्थ करने वाले कहाँ से ले आये। पड़ने की देर है— वार पार। अंट शंट अर्थ करके लोगों को बहका देते हैं। ज्ञान कठिन हो तो उपदेश ज्ञान सुनने के लिए करते हो कि पत्थर बनने के लिए। आगे

आकर विरति अर्थात् वैराग्य ढाल है। ज्ञान तलवार है। लोभ मोह को मार कर भगवत प्राप्ति होती है।

भक्ति अर्थात् गति पट करने से नहीं होती। करने से भक्ति भी कर्म कहलाती है। भक्ति है पद की प्राप्ति, उसमें मिल जाना। कर्म है उपासना। हम चुटकी बजाकर जिज्ञासु को भगवान से मिला देते हैं। कर्म तो मोक्ष नहीं देगा, भोगना पड़ेगा। उपासना जिस देवता की करोगे उस लोक में पहुँच जाओगे। सालोक्य, सारुप्य, सादृश्य, सायुज्य मुक्ति मिल जायेगी। पर नित्य मुक्ति ज्ञान से ही होयेगी। यह अभेद मुक्ति है। सायुज्य, जैसे एक राजा उसके सादृश्य हो जायेगा पर अभेद नित्य गति मुक्ति नहीं 'नस्य पुनरावृत्ति······नस्य पुनरावृत्ति'। सब भगवान, अवतार राम आदि निमित्त कारण माया करके होते हैं। इन से परे अभेद मुक्ति ज्ञान से होगी। भूत की उपासना से भौतिक, देव की उपासना से दैविक लोक की प्राप्ति होती है, परन्तु बगैर अध्यात्म ज्ञान के नित्य मुक्ति नहीं।

बगैर सद्गुरु की शरण के अपने से जुदा यदि भगवान को मानोगे तो हमेशा जुदाई रहेगी। आत्म निवेदन, आत्म समर्पण के बगैर मुक्ति नहीं। किसी के मत में ३६००० उत्पत्ति प्रलय के बाद मुक्ति बताई है। प्रलय को मुक्ति मानते हैं जैसे आर्य समाजी कहते हैं कि जीव मुक्ति काल में दौड़ता फिरता है, कैद रहता है, और फिर आकर जीव बन जाता है। उदाहरण लोहे का देते हैं। अग्नि रहे तब तक लाल फिर वैसा का वैसा। ऐसे ही हर एक पंथ ने अपने अपने लोक मान लिए हैं। ऐसे ही पिण्ड योग, ब्रह्माण्ड योग आदि हैं।

भगवान से मिलना है तो सद्गुरु कहते हैं— "सतगुरु आया अलख जगाया, शब्द सुनाया अविनाशी"। जिसमें यह स्थूल सूक्ष्म कारण देह है और ब्रह्माण्ड है, जिस करके यह सब देखा जाता है, जाना जाता है, जो सब में होकर सम्यक् रूप से बतला रहा है, गवाही दे रहा है 'सोऽहम'। राम निकला ॐ से, ॐ सोऽहम से, 'सोऽहम हम से।

एक ब्राह्मण के सब सम्बन्धी खतम हो गये। एक दिन तीर्थयात्रा करने गया कि कोई महात्मा मिल गया तो भगवान के दर्शन करा देगा। उसका नाम था तुलसी राम। धर्मशाला में जाकर पड़ गया। महात्मा ने जाकर जगाया। पूछा तू कौन है ? बोला, अलग इसलिये पड़ा हूँ कि भजन हो जाये, विघ्न न पड़े पर भगवान से मिलने की चाह है कि कोई भगवान से मिला दे। महात्मा बोला सवेरे मिलना, भगवान से मिलने के साधन बतला देंगे। महन्त जी ने अगले दिन कहा (१) पहले गोबर थापा करो। (२) दूसरा साधन तम्बाकू कूटा करो। (३) तीसरे हरी-हरी घास छील कर लाना। तुम्हें भगवान मिल जायेगा। उसने तीनों साधन करना शुरू कर दिया। गर्मी में घास हरी नहीं मिलती थी वह तालाब से हरी हरी घास छील रहा था। एक महात्मा आया उसने उनसे सीताराम कहा। महात्मा बोला मैं भी एक संत हूँ। तुलसीराम बोला, महन्त ने तीन साधन बतलाये हैं, आप कहो ठीक हैं या नहीं। महात्मा बोला कि इन साधनों से भगवान नहीं मिलेगा पर एक बात है—गो समझो इन्द्रिय, बर माने श्रेष्ठ, इन्द्रिय से परे मन को थापना अर्थात् रोकना; तम समझो अंधकार कू माने कूटना अथात् तमाकू कूटना; हरी घास का खोजना तुम्हें भगवान मिल जायेगा। उसने खुरपी पटक दी, तम्बाखू नहीं कूटी और ध्यान में बैठ गया। महन्त बोला, तुमने आज कोई काम नहीं किया। वह बोला, अब जरूरत नहीं। क्योंकि मैंने अर्थ समझ लिया है। अब नाम रख लिया तुलसीदास। महन्त बोला, यदि तीनों काम नहीं करना चाहते तो आश्रम छोड़ दो। भक्ति का अर्थ है गति अर्थात् परम पद, अभेद हो जाना ज्ञान द्वारा।

"विमल ज्ञान जल पाय नहाई।
तब रहे राम भक्ति उर छाई॥"

जो पढ़ो उसका ठीक अर्थ जानो चारों वेदों के चार महावाक्यों को सद्गुरु द्वारा अर्थ के शोधन से ज्ञान हो जाता है। चार महावाक्य हैं—(१) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऋग्वेद), (२) अहम् ब्रह्मास्मि (यजुर्वेद), (३) तत्व=सामवेद, (४) अयम आत्मा ब्रह्म (अथर्ववेद)।

"तत् पद मानो भूमि है,
त्वम् पद मानो किसान।
अस् पद मानुस को कहत,
यों कर जानो ज्ञान॥
तत् पद मानो सिन्धु है,
त्वम् पद बूँद समान।
असि पद पानी दोउन में,
दोऊ एक कर जान॥
तजो ईश की ईशता,
और जीव अविवेक।
तीनों पद का अर्थ यह,
तत्वमसि है एक॥"

शंकर भगवान का उपदेश है 'शिवोऽहम्'। शंकराचार्य का यही उपदेश है। पूर्ण परमात्मा को एकदेशीय बताने वाले खण्डन करते हैं। हम तो पूर्ण सर्वदेशीय मानते हैं। नाशवान पदार्थ को मानने वाले नास्तिक हैं। शिवोऽहम्

(८)

बार बार श्रवण करने से वस्तु की प्राप्ति नहीं होगी। बार बार श्रवण किये का मनन करो जैसा गुरु द्वारा सुना है, वैसा ही मनन, विचार करना चाहिये। सांख्य का पहला सूत्र है कि कर्तव्य वह है कि जिन त्रिविध दुःख तापों में यह मन रात दिन तपता रहता है, व्याकुल दीन दुखी रहता है उन दुखों से हमें छुटाना है। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीन प्रकार के दुख हैं। देह के, शरीर के सुख दुख आदि भौतिक कहलाते हैं। सूक्ष्म शरीर अर्थात् देवताओं के द्वारा जो सुख दुख भोगे जायें उन्हें आधिदैविक कहते हैं। कारण शरीर के सुख दुख आध्यात्मिक होते हैं। पांच भूतों से बना हुआ जो यह शरीर है इसे भौतिक कहते हैं। यह पशु कीट पतंग आदि सब हैं। सूक्ष्म शरीर=दैविक ताप, कारण शरीर=अध्यात्म दुख। तीन शरीरों के भोग तीन ताप हैं। तामसी ताप, राजसी ताप, सात्विक ताप। सात्विक को पुण्य कहते हैं, बाकी को पाप। ये पाँच उँगलियाँ हाथ में हैं और पाँचों के गिने जाने पर हाथ का नाम नहीं आता, हाथ पाँचों में है। ये तमोगुण-से बने हुये हैं, यह स्थूल शरीर है। रजोगुण शरीर से जो भोगा जाता है वह आधिदैविक और सात्विक कारण शरीर है। जाग्रत स्थूल का स्वामी विश्व है, अकार मात्रा स्थूल शरीर है। कर्म करने वाला, भोगने वाला सूक्ष्म शरीर है, उकार मात्रा है। कारण शरीर मकार मात्रा है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण मिलकर प्राणमय कोष। स्थूल शरीर अन्नमय कोष। सतोगुण से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, जितनी इच्छायें हैं मन में हैं। क्रिया शक्ति प्राण की है। ॐ कहने से तीनों—समष्टि रूप से तीनों लोक, तीनों गुण आ जाते हैं। ॐ से है काया। तीनों अवस्था तीन गुण अज्ञान के हैं। ऐसा पुरुषार्थ करो त्रिपुटी से पार हो जाओ। संसार पार जाना है जिसके आधार पर जिसमें रहते हैं तीनों ईश्वर जीव, प्रकृति; तीनों गुण निकले अव्याकृत माया से जिसके तीन लड़के हुये—ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों का पिता है ईश्वर। मकान की समष्टि नाम ग्राम है, ऐसे विराट शरीर ब्रह्म का मा... है, उकार मात्रा है और जब से सृष्टि हुई है रहेगी यह उसकी जाग्रत अवस्था है, स्वामी वैश्वानर है। सूक्ष्म शरीर भगवान का हिरण्य गर्भ है, स्वामी सूत्रात्मा अन्तर्यामी है। अवस्था स्वप्न है। सुषुप्ति अवस्था है, महाकारण शरीर है, अव्याकृत माया है। जैसे सब बीजों का बीज पृथ्वी है, मिट्टी सब बीजों का बीज है। स्वामी ईश्वर है, कारण शरीर है। महाप्रलय इसका अर्थात् ब्रह्म की रात्रि है। मकानी अभिमानी भिन्न भिन्न=शरीर, समष्टि=ग्राम जैसे उज्जैन आदि।

यह विराट एक है, अभिमानी एक वैश्वानर है। सूक्ष्म का हिरण्यगर्भ, जिसके गर्भ में सब है व्यष्टि शरीर, समष्टि सूक्ष्म, कारण शरीर मैं नहीं हूँ ये मेरे नहीं। मैं सबका साक्षी आत्मा परमात्मा हूँ। इसका नाम ज्ञान है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया इनकी बांध लो पुड़िया। पाँचवाँ नाम हमारा ब्रह्म है। तुरीया कूटस्थ आत्मा साक्षी मेरे ही पाँचों नाम हैं। मैं ही अभिमानी हूँ। जैसे मेरे में अवस्था बनती बिगड़ती रही पर मैं वही हूँ जो मैं बाल्यावस्था में था, सो ही आज जवानी में हूँ। बाल्यावस्था का अभिमान जवानी में खतम हो गया और जवानी का बुढ़ापे में पर बाल अवस्था, जवानी आदि मैं नहीं हूँ। एक अवस्था एक में नहीं पर मैं सब

में हूँ। मैं हूँ चेतन अखण्ड, पूर्ण। पूर्ण होकर के मैं पूर्ण का अनुभव कर रहा हूँ, देख रहा हूँ, जान रहा हूँ, गवाही दे रहा हूँ। विचार करो कि तुम खुद भगवान हो। भगवान मिलेगा तो बिछुड़ेगा। मैं का कभी विछुड़ना नहीं होगा। मैं हूँ वह जिसके प्रकाश में ये सब प्रकाश देखे जाते हैं। नहीं कहने में भी हो, देख करके ही तो कहते हो, देखने वाला न होवे तो देखे कौन? इसका नाम है भगवान, क्योंकि जो एक वस्तु को देखता है सो ही सबको देखता है। सर्वज्ञता और अल्पज्ञता की गवाही कौन दे रहा है? अरे तू बनता तो है अज्ञानी, अल्पज्ञ और गवाही दे रहा है? सर्वज्ञ की, सबकी? यदि ईश्वर सब में है तो यह गवाही कौन दे रहा है? जो गवाही दे रहा है, ईश्वर की सर्वज्ञता की 'सोऽहम'। यही भगवान है।

तुम्हारे जागने का है जगत—जाग्रत, यह अवस्था मन और बुद्धि को है। जागने में स्थूल, प्रपंच को और स्वप्न में स्वप्न को, सुषुप्ति में सुषुप्ति को और तुरीया में तुरीया को देखने जानने वाला अपना आप है। "ईश्वर जीव भेद मिट जावे, सोई तुरीया कहलावे।" ॐ, इसका अर्थ है 'सोऽहम' 'रामोऽहम'। रात दिन श्वास ब्रह्माण्ड से आती है और अन्दर जाती है। 'सो' आया और नाभि से जवाब आया 'हम', तो 'सो' जाता है 'हम' में 'सोहम'। 'सोऽहम' ही लक्ष्य कराता है। "सोऽहम सोऽहम आवै जाय, सोऽहम सोऽहम रह्यो समाय।"

जितने मत, पंथ, मजहब हैं ये सब सनातन धर्म से निकले हैं। सब के मत में ॐ मत्र है, जैनियों में भी है जो अलग समझते हैं और ईश्वर का खण्डन करते हैं वह ॐ सोऽहम को दूसरा बना लेते हैं। यह सब भेद मन, बुद्धि ने किये पर इनका आधार अधिष्ठान आत्मा मैं हूँ! सृष्टि के आदि में ब्रह्म था 'एकोहम् बहुस्यामि' सर्व का आधार अधिष्ठान है आत्मा, ब्रह्म। यह पाँचवीं अवस्था है, चौथी में ईश्वर।

हम का मतलब शरीर या व्यक्ति नहीं है, पर चैतन्य आत्मा है। सब में मैं हूँ, सब मेरे में। अर्जुन अर्जुन नहीं है, कृष्ण कृष्ण नहीं है। इसके बीच में जो कहता है 'मैं अर्जुन हूँ' 'मैं कृष्ण हूँ'; यह 'मैं' जो है सो 'मैं' 'मैं' हूँ। 'मैं' का विरोधी तू है तो 'मैं' तो रहा ही। सब के बीच में मैं हूँ। सब कोई कहता है 'मैं' हूँ, इस 'मैं' पर विचार करो तो देखो कि है देखने वाला जिसमें यह सब है। अंधेरे में, उजेले में, ज्ञान में अज्ञान में मैं हूँ क्योंकि सबका अनुभव करने वाला मैं हूँ। अपने व्यापकपने की मैं गवाही दे रहा हूँ। यदि मैं न होऊँ तो गवाही कौन दे। ये सर्व नाम मेरे, आत्मा, ब्रह्म के हैं। अपने बगैर यह साढ़े तीन हाथ का पोंगड़ा स्वप्न जगत नहीं है। पर स्वप्न जगत में मैं नहीं हूँ क्योंकि जागने में स्वप्न नहीं रहता और सोने में जगत नहीं रहता पर इन दोनों में मैं हूँ। सब कुछ हम से आया, हम में रहा, हम में लय हो गया। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया का अधिष्ठान द्रष्टा मैं ही हूँ। "जानो जान को" सबका जान भगवान है। वह मैं हूँ। जहाँ तुमने मानलिया कि शरीर मैं हूँ तो काल, कर्म, देश सब आ चढ़ेंगे। इन सबके बंधन से छूटने के लिए नर तन पाया है, नहीं तो चौरासी लख योनि पड़ी हैं। एक गेहूँ में अरबों, खरबों मन गेहूँ हैं। खाये पिये का जन्म होगा नहीं, जो रहे सो ही निराकार आकार रूप से दिखाई देता है।

समष्टि व्यष्टि दोनों की उपाधि लेकर सृष्टि रूप एक ही चेतन अनेक होकर भासता है। एक ही अग्नि अनेक बल्ब होकर दिखाई देती है। एक ही अनेक हो करके देख रहा है। सब भूमिकाओं में मैं एक हूँ 'सोऽहम'।

(६)

श्रवण का मनन ऐसा करो जैसा गुरु के द्वारा सुना है। मल विक्षेप आवरण तीन अन्तःकरण के दोष हैं। आवरण के द्वारा साक्षात्कार नहीं होता। श्रवण से मल, मनन से विक्षेप और निदिध्यासन से आवरण (छिपाना दूर होता है। आवरण ऐसा है जैसा सफेद कपड़े पर रंग। जिसने वास्तविक कपड़े का स्वरूप छिपा लिया है और रंग अपनी प्रतीति कराता है। इसी तरह से स्थूल शरीर आवरण है। इसने 'मैं' को छिपा रखा है। 'मैं' हूँ 'मैं' पर आवरण की प्रतीति होती है और शरीर और उसके सम्बन्ध मैं मानता हूँ। जाति, अवस्था आदि द्वारा ढका हुआ हूँ। हूँ मैं वह जिसमें शरीर है और जिससे शरीर देखा जाता है। यह अन्नमय कोष पहला ढकना है। माता-पिता के स्वार्थ के संयोग से यह ढकना बन गया है। इसने मेरे को ढका है। इसके बीच में प्राणमय कोष है जिसने ढक लिया है। प्राण में 'मैं' हूँ, पर माना है 'प्राण मैं हूँ'। प्राण है तो जिन्दा निकलने पर पालन-पोषण खतम और जलाकर मिट्टी का पुतला मिट्टी में मिल गया। चलने का भान पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राण अर्थात् क्रिया शक्ति है। प्राण बगैर मुर्दा है। मैं और मेरा मन का सम्बन्ध है। यह मनोमय कोष है। इसमें अनन्त सकल्प हैं। मन एक है और संकल्प अनेक। यदि मन न हो तो संकल्प है ही नहीं। सब कल्पना इसमें है। मेरे में अशान्ति इस करके है। मेरे प्रकाश से मन में सबकी क्रिया होती है। परन्तु इसने अपने को ढांका है। 'मैं' की प्रतीति नहीं होती। यह आना जाना प्राण का धर्म है। 'मैं' आता जाता नहीं पर प्राण से प्रतीति होती है। ऐसे ही अन्नमय कोष से शरीर की मोटाई आदि है। तलवार नहीं जीतती पर म्यान जीतती है। इसी से मेरे में प्रतीति होती है कि मैं अज्ञानी हूँ, जड़ हूँ, ज्ञानी हूँ। यह बुद्धि व पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर विज्ञानमय कोष है। इसके धर्म मैंने अपने माने हैं कि यह 'मैं हूँ'। यह मेरी प्रतीति होने नहीं देता। आनन्दमय कोष—मैं आनन्दमय हूँ कारण शरीर हूँ। मूल अज्ञान-तीन गुण-देखो कि आनन्दमय कोष ने छिपाया है। इन पाँच कोषों ने मुझे ढका है। ज्ञानस्वरूप तो मैं हूँ पर ये कराते हैं अपना ज्ञान। तीन अवस्था में मिलकर संघात के धर्म हैं। स्वरूपाध्यास, रूपाध्यास, ज्ञानाध्यास, अन्योन्याध्यास सब कोषों के हैं। अवस्थाओं ने मुझे छिपाया है। यह संघात और उनके धर्म को जब विवेक, विचार करके नहीं देखोगे तब तक तुम मुक्त नहीं होगे। तुम्हारा धर्म प्रतीत नहीं होगा। तुम्हारा धर्म है सत्य जो विनाशी नहीं, जिसका नाश कभी न होता है न होगा। शरीर के नाश में मैं कभी पैदा नहीं होता। यह शरीर के नाते से प्रतीति होती है कि मैं उत्पन्न हुआ हूँ, नाश होऊँगा। फैसले का देने वाला सब में होकर सब का फैसला दे रहा है, सब जगह में है। आँख में होकर आँख में देखता जानता है। है यह सब में क्योंकि सबको देखता जानता है। सब पुरुषों में होकर ज्ञान, अज्ञान, विज्ञान का अनुभवी 'मैं' हूँ। इसी का नाम भगवान है। क्योंकि सब में होकर मैं' कहता हूँ, देखता हूँ, बयान देता हूँ शिवोऽहम्।

माला सरक रही है पर बात सुनने में नहीं आती। "माला टर रही कर में, सुरत नहीं हरि में।" "कर की माला छोड़ कर, मन की माला फेर।" जहाँ से मन निकला है वहीं पर शान्त हो जायेगा। एक मालाधारी जा रहा था। रास्ते में चने का खेत पड़ा, मन चने खाने को किया। चारों तरफ जब कोई नहीं दीखा तो खाने भर को चने उखाड़ लिये। माला सरकी एक और, उखाड़-उखाड़ कर देर लग गया। देर के कारण खेत वाला आ गया और उसे खूब मारा। वह बोला, मैंने नहीं उखाड़ा, मैं तो एक बूट उखाड़ता पर जैसे जैसे माला कहता गया उखाड़ता गया। माला ने उखाड़ा है। "राम राम जपना, पराया माल अपना।" श्वास की माला फेरो 'वासुदेव इति सर्वम्' 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' सबको ब्रह्म रूप करके, अपनी आत्मा रूप करके देखना ही भगवान का दर्शन कहलाता है। "अलख निरंजन ध्यान धर सोहम आप ही आप" मन लम्पट हो गया है, इसे अन्तरमुख कर दो, शान्त हो जायेगा। विचार ही सार है और सब असार है। अब मैं तो ही जान्यो संसारा।" "कदली केरे पेड़ में कभी न निकसे सार।" हाथ में निकालते निकालते पत्ता रह जायेगा। देखने में मोटा है पर असार है। शरीर खाल से मशक की तरह मढ़ा हुआ है। खाल, फिर खून, फिर माँस, फिर हड्डी, फिर मज्जा, फिर मल मूत्र, भीतर पोल ऊपर ढोल। जिस दिन श्वाँस निकलेगी उस दिन किसको 'मैं' और 'मेरा' कहोगे। आयेगा वह दिन जिस दिन सभी पुकारेंगे 'ले चलो' 'जल्दी करो'। इससे आज ही विचार करके ज्ञान अग्नि से जला दो। शरीर एक दिन जरूर छोड़ना होगा और छूट जायगा। इसके अभिमान, मैं और मेरे को छोड़ दो। इसी विचार को मजबूत बनाना है। ये पंचकोष, देवता आदि 'मैं नहीं' और ये 'मेरे नहीं'। मैं चेतन, अखण्ड, अविनाशी, अजय अमर हूँ। सबके आदि में मैं हूँ, मध्य में मैं हूँ, अन्त में मैं हूँ। इस मन को उलट दो 'सोहम' जप से। "स्वाँसा से सोहम भयो सोहम से ॐकार। ॐकार से ररो भयो साधो करो विचार।" "उलट घर अपने आओ, घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट कर तहाँ समाओ।" तन, मन, प्राण, जीव, ईश्वर सब इसी प्रकार से हैं जैसे पृथ्वी के ऊपर अनगिनत चीजें पैदा होती हैं, रहती हैं और लय हो जाती हैं। किसी प्रकार मिट्टी का अन्त नहीं होता। जल में जन्तु हुये, रहे और लय हो गये, जल का स्वभाव है। ऐसे ही संसार मुझ परमात्मा में पैदा होता है जैसे जल में जीव और पृथ्वी में पृथ्वी के पदार्थ। "न कर्तत्वम न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्म फल संभोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।"

जिसमें यह सारा विश्व जगत कहने, सुनने, देखने में आता है। जिस करके यह सब स्थित है 'सोऽहम'। "जहाँ आशा वहाँ बासा"। ज्ञान हमें प्राप्त हुआ तो सबको लाजवाब होना पड़ेगा। "शूकर, कूकर करत हैं खान पान रस भोग। तुलसी बृथा न खोइये यह तन भजबे योग॥" जो कुछ करना है स्वास के रहते रहते। सच्चे को पकड़ना है, झूठे को छोड़ना है। पारखी बनो।

(१०)

मनुष्य केवल शरीर को ही नहीं कहते, परन्तु जिसने मन और इन्द्रियों को दमन कर लिया है वह मनुष्य है। असली लक्षण मनुष्य का केवल ज्ञान है। धर्म कोई आदमी है या लड़का है ? जिसको बोध नहीं है उसको बैल कहते हैं। मनुष्य ज्ञान के न होने से बैल कहलाता है। जो मन में आता है सो ही करता है। मन मुखी है, बैल की नाईं रात दिन कमाता है। गधा भी कहलाता है क्योंकि विचारहीन है। लोग कहते हैं—अगर समझाया जाय तो इतना गधा है कि समझता ही नहीं। मनुष्य का लक्षण है नीति धर्म का ज्ञान। क्या करना है, क्या नहीं करना है इसका ज्ञान। पर हम तो पशु भी नहीं कह सकते। बैल पुचकारने से समझ जाता है, इसलिए मूर्ख आदमी से बैल भला है। पशु माँस हारी और घासहारी दो प्रकार केहैं। माँसहारी घास नहीं खाते और घासहारी माँस नहीं खाते। परन्तु मनुष्य दोनों खा जाता है। ऐसे ही अवि-चारी मनुष्य कहते हैं—

"तमाल पत्रं दर्शनं पुण्यं;
स्पर्शनं पाप नाशनम।
श्वसनं स्वर्गगच्छति
भक्षणं परमं पदम ॥"

परन्तु मनुष्य तमाखू कहता है कि खाता है, परन्तु वह तो थूकता है। मनुष्य को खानपान का पशु जितना ज्ञान भी नहीं। हम हैं मनुष्य, हमें खाने पीने का विचार करना चाहिए। यह ऐसा पशु है जो घास और मांस खाता है। देवी पर मांस चढ़ाकर अपने घर हाँडी चढ़ाते हैं देवी के नाम पर। मद्य पीने से बुद्धि नष्ट हो जा है। मांस खाने से मन मलिन हो जाता है। मल मूत्र की चीजों में मन लगता है और दान के कीड़े बने रहते हैं। मनुष्य तन ज्ञान करने के लिये पाया है। भूतों की पूजा क वाले भूत होते हैं। शूकर कूकर होते हैं क्यों अन्न और मांस का दान करते हैं। जि कुछ दान नहीं किया वे केचुआ आदि होते भजन करने से, जप, दान से शुद्ध नर तन व जब मिलता है तो परम पद मोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। कर्म करने से जन्म पड़ता है क्योंकि उनके अन्दर यह भावना है। वे अन्तर्यामी भगवान से यह प्रार्थना क हैं कि हम अच्छे कर्म करने से अच्छे जन्म प्राप्त करें। कर्म, उपासनादि करने से होते परन्तु बगैर ज्ञान के हम निर्णय नहीं कर स कि कौन कर्म करने योग्य है और कौन ना कर्ता के कृत्य का नाम ही कर्म है, कर्म होता है। कर्म बनाया जाता है, किया जाता है। से भिन्न कोई कर्म नहीं। सृष्टि कर्म रचित है कर्ता रचित है। श्रुति विधि कर्म का स्वर्ग है। इससे ऐसा कर्म करने से फिर लेना पड़ता है, कर्म है ही नहीं। कर्म ने कर्ता नहीं किया। कर्ता से पहले कर्म कोई चीज है। कर्ता का फल अनित्य है क्योंकि किया है। बीच का है, बनावटी है। इससे स्वर्ग नित्य नहीं है, ज्ञान किस बात का ? आर काहे से ? उत्तर—कर्म से या उपासना यदि कर्म किया तो ज्ञान से या अज्ञान यदि अज्ञान से किया तो वह नाशी है। शुभ कर्म का फल भी नाशी है। परन्तु कर्म से होगा। बगैर ज्ञान के न कर्म होगा न सना। ज्ञान होने पर कर्म उपासना

चाहिए। ज्ञान हो गया तो ज्ञान अखण्ड है, और जो ज्ञान है वह आत्मा है। ज्ञान का फल अखण्ड है। "यद्गत्वान निवर्तन्ते।" "नस्य पुनरावृत्तिः" ज्ञान से गति हो गई जैसे समुद्र में मिलकर नदी का नाम खतम। जिन को यह विचार नहीं कि ज्ञान क्या है ? कर्म क्या है ? भक्ति क्या है ? वे कहते हैं कि कर्म भक्ति बिना गति नहीं मिलती। क्या अँधेरा उजाला साथ रह सकते हैं? देखो, ज्ञान का फल है 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म।' जब सब ब्रह्म ही है तो नरक स्वर्ग कहाँ ! केवल अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानियों के लिये नहीं। जगत है तो क्या है ? घट मिट्टी का, मिट्टी लेते हैं, बताओ घट कहाँ है ? घट एक मिट्टी में क़ल्पित है। नाम रूपात्मक आत्मा में कल्पित है। अधिष्ठान की सत्ता से सत्य मालूम होता है। यह ज्ञानियों की कल्पना है। एक असत्य चीज को सत्य और असत्य बतलाता है वह झूठ कहता है और जो सच कहता है वे दोनों गलत हैं। जगत अनिर्वचनीय है। मुझ आत्मा चेतन से भिन्न जगत कुछ नहीं, सीपी-रजत वत् है। मैं न होऊँ तो जगत तो कभी नहीं कहता कि मैं क्या हूँ ? स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष सब कल्पित वस्तु हैं। घट और मिट्टी का तादात्म्य सम्बन्ध है और कल्पित भेद है। "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म"। मुझे ज्ञान है अज्ञान का। मैं अपनी अस्ति व्यापकता बतला रहा हूँ कि अज्ञान काल में भी मैं हूँ और ज्ञान काल में भी। अज्ञान, ज्ञान, अपने आपका है। अज्ञान है—मैं जड़ हूँ, जन्मा हूँ, मरता हूँ, दुखी, सुखी, पापी, पुण्यी हूँ। जड़ का अनुभव करने वाला मैं चैतन्य अज्ञान का ज्ञाता हूँ। मैं नहीं हूँ तो अज्ञान कोई चीज नहीं। जो जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बनाता है, आरोप कर लिया यही प्रतीति है। जब चैतन्य ही चैतन्य है तो जड़ कहाँ रहा ! आत्मा ही आत्मा है। बालक के घूमने से जमीन घूमती हुई नजर आती है। और बैठने पर स्थिर हो जाती है। ऐसे ही अन्तःकरण के घूमने से अस्थिरता प्रतीत होती है। परन्तु जल के हिलने से क्या सूरज डिगता है ? नहीं। अन्तःकरण के डिगने से, चिदाभास से डिगता सा प्रतीत होता है। मेघों के दौड़ने से चन्द्रमा दौड़ता सा प्रतीत होता है। आकाश क्या नीला है ? पृथ्वी गोलाकार है।

रजत सीप में भास जिमि
यथा भानु कर वार।
जदपि मृषा तिहुँ काल में
भ्रम न सकै कोऊ टार॥"

मृग तृष्णा के जल ने किसे डुबोया है ? पहले अपने स्वरूप को गुरुओं के जरिये समझो। यदि कोई चीज जो हमारे करने से मिलती है वह है तो मिलती है। पर विचार करो कि वह नित्य है या अनित्य। पद को प्राप्ति परमात्मा की प्राप्ति के लिये कर्म उपासना है। वह सब का आत्मा है जो सबसे परे है और सबको धरे है। परे मन, बुद्धि आदि से है। कृष्ण का कहना है कि सब में मैं हूँ और सब मेरे में हैं। यही जानना है, यही ज्ञान है।

ब्रह्म ज्ञान से ही ब्रह्म जाना जाता है। यह सनातन है। यह बीच में पैदा नहीं हुआ 'सो मैं हूँ' सनातन। मेरा धर्म है सनातन—सत्, चित्, आनन्द 'तैं' नाम वैरागी अर्थात् राग रहित का, सन्यास अर्थात् साकार का नाश अर्थात् आप में

स्थित तीन गुण त्याग करने वाले का। उदासी= सर्वकाल उदासी = असंग ये भी तीन पद हैं मेरे। मिलकर हैं एक ही। सन्यासी+वैरागी+ उदासी=सत्‌चित् आनन्द। तीनों पदों का अर्थ एक ही है पर भेद डालकर हम झगड़ा करते हैं।

हमें लोग नास्तिक बताते हैं। इस्लामियों को "लाइलाहि लिल्लिल्ला मोहम्मद रसूल इल्‌लिल्लाह" पुकारने देते हैं, पर शिवोऽहम पर एतराज करते हैं। मुसलमान गऊ काटते हैं। ईसाई लड़के लड़कियों को ले जाकर ईसाई बना रहे हैं। हम कभी नहीं कहते रामकृष्ण ईश्वर न कहो। पर हम कहते हैं पूर्ण रूप ब्रह्म जब है तो और करके क्यों मानते हो? तत्वज्ञान के बिना राग द्वेष का नाश नहीं होगा इसलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करो। जो हम से निकल गये हैं उनको ज्ञान कराकर अपने में मिलाओ, एक बनाओ। जिधर देखो खुद ही खुद है, परमेश्वर है। खान-पान अलग रक्खो पर हिन्दू बनाओ। हिन्दू धर्म का पालन कराओगे वे लोग अपना मन्त्र भी छोड़ देंगे। वे अल्लाह, खुदा, गॉड की जगह ॐ कहने लग जायेंगे। राष्ट्र रक्षा के लिए है, परन्तु कुतिया ही घर चाटने लगी। साधु को देखना चाहिए कि राष्ट्र का सुधार कैसे हो और गृहस्थियों का भी।

(११)

जितने मत मजहब हैं, सम्प्रदाय हैं वे सब कब से हैं? जब से उनका आचार्य हुआ जैसे ईसाई, ईसा के नाम से जो उसके विचार में आया वही चलाया। मत यानी बुद्धि से निकला हुआ, मति से निकला हुआ। सो यह मत ईसा की बुद्धि से निकला। ईसा कुँवारी मरियम से हुआ, उसका नाम रखा गॉड। ईश्वर का पुत्र बतलाया, अपना आत्मा एकलौता पुत्र भेजा। ईसाई लोग उसी की कथा सुना रहे हैं और तुमको ईसाई बना रहे हैं, उस को सिद्ध भी कहते हैं। विवेक बगैर लोग उसमें जाते हैं। कहते हैं ईसा लोगों के पाप ले लेगा।

ऐसे ही मोहम्मद से मोहम्मदी मत निकला। मोहम्मद ब्राह्मण सन्यासी था। विचरता हुआ अरब पहुँचा और शादी कराकर उल्टा मजहब चला दिया। सब मजहब निकले हैं सनातन से। कबीर पंथी, दादू पंथी, राम सनेही, राधास्वामी, आदि। राधास्वामी कहते हैं व्यास, वशिष्ठ आदि उस जगह नहीं पहुँचे। कबीर के सत् पुरुष से परे अलख, अगम, अनामी और उनके ऊपर बैठा है राधास्वामी। दयाल स्वामी दयाल बाग में कलियुग में हुये बाकी तीन युगों में नहीं। मोहन साहब, जगजीवन, दूलनदास आदि अपने अपने खुदा को अपने से जुदा मानते हैं और एकदेशीय मानते हैं। सबने सनातन धर्म वेद शास्त्रों का खण्डन किया है। इसी प्रकार माधव, रामानुज आदि आचार्यों के नाम पर सम्प्रदाय खोल-खोल कर अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। ये सब सनातन धर्म से सनातन धर्म की चोरी करके निकले। जो पहले धर्म होता नहीं तो खण्डन किसका करते? सनातन धर्म था तभी तों खण्डन करते हैं। ब्रह्म जब व्यापक है तो साढ़े तीन हाथ का साकार कैसे हुआ!

परन्तु जिस किसी मत में सनातन धर्म का खण्डन हो तो हमारा मण्डन हो जाता है, क्यों कि सबसे प्राचीन है, सब मजहबों की सिद्धि करने वाला है। यह धर्म इसलिए है कि यह किसी के नाम से नहीं है। यह सनातन से है, क्योंकि न इसका आदि है न अन्त है और न ही इसका नाश है। यदि राम का होता तो रामपंथ, कृष्ण का होता तो कृष्णपंथ, व्यास पंथ आदि नाम होते। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, ईश्वर सम्प्रदाय नाम होता। इसलिए यह धर्म है सनातनी का। ब्रह्म, आत्मा सनातन है।

"अच्छेद्यो अदाह्यो अक्लेद्योऽशोष्य एवच।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर चलोऽयं सनातनः॥

अच्छेद्य, अखण्ड, अदाह्य, अशोष्य, अक्लेद्य है, नित्य है, अचल है। अर्जुन तू भी सनातन है, मैं भी सनातन हूँ। धर्म वह है जिससे धर्मी का ज्ञान हो। जैसे उष्णता और प्रकाश से अग्नि का, शीतलता से जल का वैसे ही आत्मा से आत्मा का ज्ञान होता है। आत्मा का धर्म सत्चित् आनन्द है, इसलिए आत्मा है। आत्मा अस्ति, भाँति, प्रिय रूप है। सब चीजें अपने लिए हैं। यह आत्मा सबसे प्रिय है इसलिए परमानन्द रूप है। हिरण्य कश्यप आदि ने इस के नाश करने का बीड़ा उठाया, उन्हीं का नाश हुआ। धर्म का नाश कभी नहीं हुआ। त्रेता में राम, द्वापर में कृष्ण ने धर्म रक्षा के लिये अवतार लिए। आज वर्तमान में जिन लोगों ने इस बात का बीड़ा उठाया है कि हम इस धर्म का नाश कर देंगे तो पहले युगों की तरह उन्हीं का नाश होगा। अपना सत, अपना धर्म, ईमान, नीति को नहीं त्यागना चाहिए। नीति है एक, एक ही व्रत, एक ही पूजा, सत का ग्रहण असत का त्याग। सत्य सनातन धर्म का नाम ही आर्य धर्म व श्रेष्ठता है। एक ही नारी व एक पति धर्म। देवी देवता के पद का नाश न कर देना। लेडी, बीबी न बनना। यति और सति बनना। चारों वर्ण वेदोक्त संस्कार वाले हैं। मुण्डन, छेदन, यज्ञोपवीत सब वेदों के जरिए होते हैं। यह वर्ण व्यभिचार रोकने के लिए है, दूसरी जाति में भव्यभिचार रोकने के लिए। ऐसे ही गोत्रादि, भाँवर आदि नीति द्वारा विवाह किए गये ताकि पति-पत्नी का ज्ञान हो जाय। व्यभिचार रोकने के लिए ऋतुगामी रहो। संतान उत्तम, वीर, धीर, विद्वान पैदा करो। लड़का कुच से दूध पीता है तो पापी नहीं, परन्तु विषय लम्पटता से उसी काम को करने वाले पापी होंगे, वीर्य का नाश होगा। संतान उतनी पैदा करो जिनका पालन-पोषण कर सको। नीति से बिगड़े हुए रावण ने यति का भेष बनाया, परन्तु वह भ्रम में रहा। यति निर्भय पद है, रावण कुत्ते की नाईं मरा। अन्तर आत्मा भगवान गवाही दे रहा है। जिसकी नीति बिगड़ती है उसका सर्वस्व नाश हो जाता है।

१२

आचार्यों के दिमाग में जो बातें आईं वे ही सुनाई गईं। श्रवण करने वाले को ऐसा मालूम होता है जिसके पास गये वैसा ही मानने लगे इसलिए यह दशा हुई। यह कानून केवल मनुष्य मात्र के लिये है। खान-पान रस भोग सबके लिए हैं। कानून, दफा, सजा केवल मनुष्य के लिये है क्योंकि मनुष्य सुन सकता है और ज्ञान प्राप्त कर सकता है, भगवत प्राप्ति कर सकता है। जप करना, तप करना, भक्ति मनुष्य के लिए है। एक जन्म से अन्धा था। उसके पास एक आदमी आया और बोला कहो सूरदास तुम्हारा रूप क्या है ? उसने उत्तर दिया हमें ज्ञान नहीं है रूप का। तुम इतना भी नहीं जानते हो तो तुम्हारा जन्म बेकार है। रूप का ज्ञान कर लो तो जन्म सार्थक हो जाय। वह मनुष्य बोला तुम्हारा रूप गौर है। अब एक गुरु के अनुसार उसने निश्चय कर लिया कि मैं गौर हूँ। दूसरा आचार्य आया और कहा कि तुम्हारा रूप श्याम है। तुम्हें भूल हुई है और पहले आचार्य ने गलत बतलाया है। वह श्याम श्याम भजने लगा। तीसरे ने कहा तुम्हारा रूप न गौर है न श्याम तुम्हारा रूप है पीत। उसने ऐसा ही रट लिया। चौथा बोला तुम्हारा रूप लाल है। वह 'लाल' का भजन करने लगा। पाँचवाँ बोला तुम्हारा रूप हरा है, तुम अपने पद से गिर गये। वह 'हरा हरा' भजने लगा। छठा बोला तुम बहुत सी गल्तियों से निकल गए, पर तुम्हारा यह रूप नहीं (यह भगवान का रूप नहीं) तुम्हारा रंग गौर, श्याम मिला हुआ है। तब एक डाक्टर आया, उसने देखा सूरदास बड़े कष्ट में पड़ा हुआ है। उसकी आँख का आपरेशन यदि कर दिया जाए तो बहकाने वाले बहका नहीं सकेंगे। डाक्टर ने क[illegible] तुम आँख बनवा लो तो पूँछने की जरूरत [illegible] रहे। सूरदास बोला कहीं आपरेशन में मेरी आँ[illegible] फूट न जाय ? परन्तु आपरेशन से मोतियाबि[illegible] निकल गया, स्वरूप का साक्षात्कार हो गया[illegible] जब उसने उन आँखों से अपने रूप को देखा [illegible] उसको सब रूपों का ज्ञान हो गया। कोई ब[illegible] काने के लिए नहीं आया। यह ज्ञानियों का स्था[illegible] आँपरेशन कराने का है। मोतियाबिंद, भेदद्दृ[illegible] को हटा दिया जाता है और एकदम भगवान[illegible] दर्शन करा दिया जाता है। सब अपना-अप[illegible] मत मजहब सुनाते हैं। अब विचार करके दे[illegible] कि डाक्टर सभी बने हैं यद्यपि डाक्टर हैं नं[illegible] जैसे सुई लगाने वाले लोग। टिकट वाला टि[illegible] रुपया लेकर देगा और सुई वाला भी दाम ले[illegible] सुई लगायेगा। रोजगार बना लिया है। [illegible] अंट शंट घुसा दी और बुखार आ गया। ऐ[illegible] उपदेश हो रहा है। शिक्षा भी वह दी जात[illegible] है जिसमें टका पैसा मिले वैसा ही क[illegible] कराया जाता है। टका पैसे वाले क[illegible] को कर्म मानते हैं। जिस भगव[illegible] में पैसा मिले उसे भगवान बताते हैं। जिस[illegible] पैसा न मिले उस कर्म का खण्डन करते [illegible] आसन लगाकर बैठो और प्राणायाम लगा[illegible] बैठो। पूरक, रेचक, कुम्भक करो। संध्या व[illegible] करो, समाधि लगाओ ऐसे कर्म नहीं बतलाते[illegible] बतलाते हैं व्रत, यज्ञ, तीर्थ, दान करो। पू[illegible] सगुण भगवान का करो क्योंकि ऐसा करने[illegible] पैसा मिलता है। धर्म बतायेंगे जिसमें पैसा मि[illegible] दस लक्षणों वाला धर्म नहीं बतलायेंगे, कर्मभू[illegible] ही बतलायेंगे। तुलसी के नीचे दिया जलायें[illegible] कहते हैं शिवोऽहम, अहं ब्रह्मास्मि से कुछ न[illegible] मिलेगा।

"प्रभुता को सब कोई चहे,
प्रभु को चहै न कोय ।
प्रभुता तजि प्रभु को चहे,
प्रभुता दासी होय ॥"

प्रभुता छोड़ने से प्रभुता आप पीछे चली आयगी ।

भगवान् के दर्शन के लिए भीतर की आँख मति, बुद्धि का ऑपरेशन करने वाला सद्गुरु कहलाता है। पारखी जब तक नहीं बनोगे, तब तक बहकाये ही जाओगे । ऑपरेशन करा डालो संग्रहणी, राज्यदमा अर्थात् विषयाकर वृत्ति से दूषित मन का, त्तयाकार देह के अभिमान का इलाज करा डालो। पूर्ण ब्रह्म को जुदा करके मानोगे तो खुदा कैसे हुआ। ब्रह्म का अर्थ व्यापक है, पूर्ण है। यदि हमसे अलग है तो व्यापकता चली गई। ऐसी कोई वस्तु नहीं जहाँ ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म नहीं। पूर्ण है तो सब घट में है। जब सब में है तो हम में भी है। जिसके आधार पर ब्रह्माण्ड है उसी के आधार पर पिण्ड है। शरीर को 'मैं' माना कि शरीर में 'मैं' हूँ। अस्ति बतला रहा हूँ, अपनी साबूती दे रहा हूँ पर शरीर नहीं हूँ "मैं हूँ"। विचार करके देखो, जानो, समझो, देखने वालों को देखो जिस करके यह सब सिद्ध हो रहा है। जो गवाही दे रहा है कि यह संसार है। क्या कभी संसार ने कहा है कि मैं संसार हूँ ? तुम ही कह रहे हो और माना है अपने को जड़। जड़पन तूने कैसे जाना कि मैं जड़ हूँ। जड़ हूँ कि जड़ में मैं हूँ ? जड़ अनुभव नहीं कर सकता। जड़ का अनुभव करने वाला मैं चेतन हूँ। विचार ही भजन है, तप है, जप है। यह ही उपासना भी है। अब तुमने 'मैं जड़ हूँ, मैं जड़ हूँ' यह प्रतीति कर रक्खी है। परन्तु तुम तो जड़ के, अज्ञान के अनुभव करने वाले हो। इस अज्ञान को निकाल दो और मनन कर लो कि मैं सबके बीच में हूँ। और सब में होकर सब की जान हूँ, सबको जानता हूँ। ऐसा जान कि सबके बीच में जो जान है सो मैं चेतन हूँ! ऐसा नहीं कि सबमें जान है। सब बातों को तुम ही देखते हो और बनते हो अज्ञानी । कहते हो सर्वज्ञ एक भगवान है। यदि तुम अल्पज्ञ हो तो सर्वज्ञ परमात्मा को गवाही कैसे दे रहे हो ? तेरी गवाही को कैसे मान लिया जाय। सब शरीरों में जो जान है यह भगवान तो स्वयं सिद्ध है, प्रत्यक्ष है। वाह रे! तुच्छ अज्ञानी होकर के सर्वज्ञ की गवाही दे रहा है । भगवान आप तो गवाही दे रहा। भगवान तो नहीं कह रहा कि मैं सर्वज्ञ हूँ; तो यह कहना चाहिये कि मैं भगवान हूँ सर्वज्ञ हूँ, तू जीव है, तू तुच्छ है। शब्द यह निकलता है कि भगवान है, सर्वव्यापक है । सर्व अन्तर्यामी है। अन्धा दूसरे की गवाही कैसे दे सकता है। अल्पज्ञ यदि सर्वज्ञता—सर्वज्ञ को देख सकता है तो सर्वज्ञ का भी सर्वज्ञ हुआ।

कर्म हैं ध्यान, धारणा, समाधि। बहिरंग साधन के लिए पुष्प, चावल, घंटी, शंख आदि चाहिये पर मानसिक पूजा के लिए मन से पूजा हो सकती है। हम बार बार राम कहते हैं और निरन्तर ध्यान रखते हैं पर राम के स्वरूप का ज्ञान करना है और अपने स्वरूप का जानने वाला भी राम ही है। अपनी गवाही आप ही दे रहा है। ऐसे ही वासुदेव परम पुरुष है। साकार निराकार दो फाँकें पूर्ण की कर दी। एक देशीय

बना दिया तो देश से परिच्छिन्न और काल वस्तु से अन्त हो जायेगा। जहाँ परमात्मा को जुदा किया तुम भी जुदा हो गए। दोनों अपूर्ण हो गए, यह पाप लगा। कर्म लगा और फल भोगने पड़े। पूर्ण रूप करके जो भगवान को मानता है, जानता है, वह आस्तिक है। नास्तिक वह है जिसने पूर्ण भगवान को जुदा कर दिया, परिच्छिन्न कर दिया। सद्गुरु बताते हैं कि उसको अलग मत करो। दो लड़के चक्की के अलग अलग पाट ले जायें तो पीसें कैसे? बाप ही लड़का हुआ। सृष्टि के पहले न बाप था न लड़का एक ही चैतन्य माया में प्रवेश करके ईश्वर और अविद्या में प्रवेश करके जीव कहलाया। शुद्ध माया है सतोगुण प्रधान, अशुद्ध है रजोगुण तमो गुण से दबी हुई माया, काया। जहाँ दोनों नहीं है वहाँ अपना आप स्थिर है। बहुत काल हुआ, सोते सोते अब तो जाग उठो। संत महात्मा गश्त लगाने वाले होते हैं। वे कहते हैं, 'जागते रहना' 'सो मत जाना' 'होशियार रहना'।

१३

पूर्णमासी के दिन ही चन्द्रमा का पूर्ण दर्शन हो सकता है। ऐसे ही हम आत्मा का अपने वास्तविक स्वरूप का पूर्णज्ञान भी सद्गुरु द्वारा कर सकते हैं। वह करा देते हैं। ब्रह्म आत्मा का जो ज्ञान है वह बार बार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु ऐसा ज्ञान-बोध होते हुए भी ज्ञान ऐसा है कि फिर भी व्यवहार के जरिये से ऐसी प्रतीति होती रहती है। सारा संघात रूप बना रहता है। व्यवहार की त्रुटि से ही मन और बुद्धि के बीच यह ज्ञान किसी प्रकार से हरदम एक रस नहीं रहता लोग कहते हैं। जैसे सतसंग में स्थिर रह परन्तु व्यवहार में नहीं रहता। परन्तु एक रस रहता है। न्यून हो जाता है प्रतीति व्यवहार के द्वारा तमोगुणी पुरुषों होती है तमोगुण की अधिकता से। भूल जानने वाला भूल में है इसीलिए जानता कि 'भूल गया' अपनी सर्वज्ञता बता रहा तपोव्रत के आधार से गुरु वास्तविक स्वरूप अपरोक्ष करा देते हैं। फिर 'मैं' को नहीं भूले अन्तःकरण की कमजोरी से भूल होती है अन्तःकरण की चंचलता बार बार मनन क से चली जाती है। साक्षी आत्मा हमेशा निरन्त रहता है। वृत्तियों के बनने बिगड़ने से 'मैं' न बिगड़ता। शरीर के सम्बन्ध से ऐसा होता यह मन और बुद्धि का धर्म है। पर यह जान वाला इस अन्तःकरण की न्यूनता, अधिक समता को भी जानने वाला अन्तःकरण में है, मैं हूँ। जिनको विचार सम्यक प्रकार से न रहता उन्हें बार-बार जो गुरु ने सुनाया 'सोऽहमस्मि' 'अहं ब्रह्मास्मि'। इसी का म करने से तमोगुण निर्मल हो जाता है। मिट्टी को बार-बार रगड़ कर चिकना क से मुख दिखाई देने लगता है। हमें कर्म उपास नहीं करना; पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन क है। मन की कल्पनाओं को बार बार मन बैठाना है। यह जो देखने में आ रहा है तो है देखने वाला जानने वाला इसी में। बस देखना है।

बार बार वेदान्त को श्रवण मनन करना चाहिये। साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना है। विवेक ज्ञान द्वारा हो जाता है। रजोगुणी के लिये बार बार मनन है कि मैं चेतन, अविनाशी, अजय, अमर आत्मा हूँ। सात्विक के लिए "मैं सत् चित् आनन्द स्वरूप अखण्ड अविनाशी हूँ, इस पद से परे कोई नहीं।" ऐसा श्रवण करने से ही आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। बार बार यह ही विचार करना चाहिए कि शरीर मैं नहीं, शरीर मेरा नहीं, मैं आत्मा, परमात्मा, परमेश्वर हूँ। ऐसा आत्म चिन्तन करना चाहिये।

शरीर है पिण्ड अविद्या का। इसमें हम पिण्ड ब्रह्माण्ड हैं। यह मलिन सतोगुण है पर हम मलिन नहीं। मलिन दर्पण से साफ दिखाई नहीं देता। साफ से भी ऐसा देखने में आता है कि वह और है। सात्विकी, राजसी, तामसी तीन प्रकार का ज्ञान नहीं है पर एक ही ज्ञान है। तमोगुण, रजोगुण, या सतोगुण हो तो भी मैं जानता हूँ। ईश्वर, जीव, प्रकृति यह त्रिपुटी है। पर मैं देखने वाला तीन प्रकार का नहीं हुआ। यदि मैं देखने वाला नहीं हूँ तो कौन देखे, कौन जाने? विचार ही कर्तव्य है। तीनों गुणों का ज्ञाता साक्षी आत्मा है। वह मैं हूँ। तीनों गुण अन्तःकरण के हैं। मलिन माया है, मलिन सतोगुण जो सतोगुण दबावे तो शुद्ध माया है। शुद्ध माया में जो आभास है यह जिसमें त्रिपुटी है, जो अनुभव करता है वह एक ही चेतन है 'सो मैं हूँ'।

एक ही चेतन दो प्रकार का हो जाता है। जैसे मकान बनने पर भीतर और बाहर। उसी चेतन का अविद्या माया में जो आभास है वह जीव है। शुद्ध सतोगुण रूप माया में आभास है ईश्वर। माया का और अधिष्ठान कूटस्थ का वास्तविक अभेद है। अविद्या माया का बोध करा दिया जाय तो शुद्ध चेतन एक है। एक ही चेतन उपाधि भेद से तीन प्रकार का कहलाने लग जाता है। वास्तव में एक चेतन अखण्ड है। उपाधि का न्यून अधिक भाव है चेतन का नहीं। उपाधि अर्थात माया और अविद्या दोनों निकाल देने से दोनों भेद उपाधि के चले गये। क्योंकि भेद करने वाला अज्ञान था। शुद्ध सतोगुण का मलिन, सतोगुण का उपाधि अर्थात मकान और भीतर-बाहर, छोटा-बड़ा। बीच के मूल अज्ञान को उखाड़ दिया तो चेतन अखण्ड सनातन एक ही है। उसमें किसी प्रकार का कभी परिवर्तन नहीं होता, वह चेतन एक रस है।

जान लेने पर बार-बार चिन्तन यही करना होगा। अन्तःकरण को ज्ञान का साबुन लगाकर धोना है, साफ करना है। मलिनता, छोटापन, अन्तःकरण रूपी कपड़े पर है। पर मेरा कुछ नहीं कर सकता, मैं तो व्यापक हूँ। यदि देखता

नहीं तो कैसे देखा कि अपना पराया नहीं देखता, इसलिये है देखने वाला। विचार करो, बगैर विचार समझ में नहीं आयेगा। जब तक स्वास है बार बार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से तमोगुण चला जायेगा। मन को उलट दो; मैं अखण्ड अविनाशी हूँ और मान रक्खा है कि मैं जन्मा मरा हूँ। इसी को सुलझाना है।

जो कि अपने से भिन्न ईश्वर को मानते हैं तो बार बार मनन करने से एक रस हो जाता है। ब्रह्म का ही कीर्तन, श्रवण, मनन, चिन्तन बार बार करना है। जब तक कि मन निर्विकल्प होकर स्थित न हो जाये। सारा संसार मन--मनु का काम है। बुद्धि सतरूपा रानी है। जागने का जगत है, सोने पर वह नहीं रहता, पर आप तो रहता है। स्वप्न भी नहीं रहता पर देखने वाला रहता है। "देखिये सुनिये गुनिये मन माँहीं, मोह मूल परमारथ नाहीं।" चिड़िया दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर चोंच मारती है, चोंच टूट जाती है। परन्तु ज्ञानी बुद्धि दर्पण में देखकर न उससे लड़ता है, न तोड़ता है, न लड्डू खिलाता है। ज्ञानी जानता है कि मेरा ही प्रतिबिम्ब है। अतः अपने आपको सर्वज्ञ देखना ही वास्तविक ज्ञान है। शिवोऽहम्

१४

जब तक विचार नहीं किया जायेगा तब तक संसार से पार नहीं हो सकते। दूसरी बीमारी राग द्वेष है। एक ही पदार्थ के हमने तीन टुकड़े बनाये हैं रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण। ज्ञान भी तीन प्रकार का, कर्म भी तीन प्रकार के, लोक तीन प्रकार के, योनि तीन प्रकार की। जैसे उपासना मन बुद्धि करती है वैसा ही उपा देव बन जाता है। बीज में एक अंकुर निकल है, फिर दो पत्ते, फिर तीन, फिर डाली से डा बड़ा झाड़ बन जाता है। मूल में एक झाड़ डाली अनेक, पर सब हैं एक बीज में। पाँ उँगली एक हाथ से निकलीं और एक में और एक पाँचों में है। मुट्ठी और पंजा ए हाथ में है। हाथ कहने से पाँचो आ जाते हैं पैदा होना, बालकपन, जवानी, बुढ़ापा, जर मृत्यु, सब एक शरीर, पिण्ड ही में सब अवस्था हुईं। पिण्ड कह दो तो सब पिण्डी उसमें जाते हैं। हाथ के बीच में पाँच अवस्थायें गईं। सब अवस्थाओं वाला जो है वह स अवस्थाओं में है और सब अवस्थायें उसी हैं। यह जाग्रत अवस्था है, यह देखने वाले है। जाग्रत की अवस्था जाग्रत में और स्वप्न अवस्था स्वप्न में देखता है। और यह अवस हमारे में है। तैजस नाम मेरा है। प्राज्ञ, सुषु में, तुरीया में, कूटस्थ साक्षी सब नाम आत के मेरे हैं और मुझ चेतन आत्मा में ही है इसके जीव, ईश्वर, कूटस्थ, ब्रह्म सब नाम पर इन सबके बीच में एक 'मैं' हूँ। सब अधिष्ठान मैं हूँ। यह पहला ही कोष है, अं है। फुरना भी यही है। झाड़ सब बीज में पर दिखाई नहीं देते थे, बीज रूप ही थे। कह दिया तो सब पत्ते आ गये। बीज में स हैं। बीज हूँ मैं। मुझमें फुरना हुई, मैं ब्रह्म ईश्वर हूँ, जीव हूँ। आत्मा ही सबका बीज कारण है 'सोऽहम्' वह मैं हूँ।

सारा विश्व जगत एक ब्रह्म था। इसमें प अंकुर ईश्वर निकला। उसी में जीव, माय प्रकृति सब ही निकल पड़े। पुरुष की अपे

से प्रकृति और प्रकृति से महातत्व और फिर तीन गुण—सतोगुण से देवता, रजोगुण से असुर मनुष्य कीट पतंग आदि। यह सब कुछ बीज में था और बीज से निकला। सद्गुरु ने कृपा करके, अपने मूल रूप, वट रूप और अन्त बीज रूप दिखला दिया। सब बीज अपने-अपने से होते हैं, पर सब बीज मिट्टी के गर्भ में रहते हैं और उसी से पैदा होते हैं। उसी में स्थित हैं और उसी में लय हो जाते हैं। आदि में मिट्टी और अन्त में मिट्टी, बीच में झाड़। ऐसे ही एक ही चेतन उपाधि रूप से अनेक कहा जाता है। मूल माया से स्थूल रूप हुआ, उसमें मूल माया बीज है। और अन्त में हुआ बीज, सबका मूलाधार ब्रह्म है। आदि में शरीर नहीं था अन्त में रहेगा नहीं और बीच में है। सब बीज फल देते हैं। खा लेने पर फिर बीज होकर मिट्टी हो जाते हैं।

स्थूल समष्टि का वैश्वानर, व्यष्टि का विश्व आदि सब नाम मेरे ही हैं (बीज के)। मूल में एक ब्रह्म था, अन्त में ब्रह्म है और बीच में भी ब्रह्म ही है। 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म...नेह नानास्ति किंचन' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवा द्वितीयम्'। श्रुति सबके साथ भेद और वास्तविक भेद बतलाती है। तात्पर्य अभेद, अद्वितीय है। देखो देखने वाले को। जो देखने वाला है वह देखने में है। भेद और अभेद वह दोनों को देख रहा है। यदि न हो तो कौन देखे? कौन जाने? बालकपन, जवानी, जरा, मृत्यु सबको देख रहा है।

सर्वाधार, जगदाधार, सर्वाधिष्ठान वही हो सकता है जो व्यापक है। सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु में है। सब नाम रूप आकार की कल्पना एक में ही होती है। शरीर में मन एक ही है अनेक नहीं। मन के संकल्प हैं अनेक। अनेक संकल्पों में मन है। मन न होने पर संकल्प हैं ही नहीं। सत्ता ही नहीं। एक कल्पक में ही अनेक कल्पनायें हैं। सबके आदि, मध्य, अन्त में है। मध्य में साकार है। लीलाधारी की ही सब लीला है। लीला नहीं करता तब भी एक ही और लीला के अन्त में भी शेष एक ही है। जिनको ज्ञान नहीं है वह त्रिपुटी मानते हैं, ईश्वर, जीव, प्रकृति जैसे एक मिट्टी से कुलाल नाना घट बना लेता है। यदि मिट्टी निकाल ली जाय तो घट है ही नहीं।

नैयायिक गौतमाचार्य का मत है कि ईश्वर कुलाल स्थानीय है, माया मिट्टी स्थानी है। यदि मिट्टी न हो तो कुलाल घट नहीं बना सकता। घट रूप संसार है, मिट्टी मायारूपी प्रकृति है, ईश्वर कुलाल है। रचना के तीन कारण हैं उपादान, निमित्त और साधारण अर्थात् मिट्टी, कुलाल और चक्र। जीव साधारण, प्रकृति उपादान और कुलाल ईश्वर निमित्त, चौथा कीली। यदि तीनों में से एक न हो तो घट नहीं बन सकता।

पर देखो इसके बीच में जीव भी अलहदा है और प्रकृति ईश्वर भी, तीनों ही व्यापक नहीं हैं। कुलाल एक देश में होकर मिट्टी लायेगा तब घट बनेगा, तीनों ही एकदेशीय हैं, व्यापक नहीं हैं। जो व्यापक नहीं वह सर्वाधार, सर्व-अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान नहीं कहला सकता। जैसे बीज में सब शक्ति है।

यही रामानुज, दयानन्द का भी मत है। ईश्वर निमित्त, प्रकृति उपादान, जीव साधारण; तीन कारण जगत के हैं। दयानन्द ने उपादान के

सिद्धांत से पूजा अर्चन निकाल दिये और ईश्वर को निराकार मान लिया और अर्थ भी बदल दिये। निमित्त कारण अलग है और सभी कारण अलग हैं। जैसे कुलाल घट बनाता है ऐसे ही ईश्वर प्रमाण लेकर सृष्टि रचता है। परमाणु निरवयव हैं, ईश्वर आदि में हैं। परमाणु के द्वयणुक, त्रयणुक, चतुणु क आदि परमाणु भी निरवयव से सावयव बन जाते हैं। परमाणु नित्य हैं। तीनों अनादि, अनन्त हैं, व्यापक हैं, साकार हैं और निराकार हैं। ईश्वर सब में व्यापक है, जीव प्रकृति है। व्यापकता भी एकदेशीय मानते हैं।

ब्रह्मवेत्ता पूछता है कि परमाणु निरवयव हैं या सावयव हैं? यदि नित्य स्वभाव वाले हैं तो सृष्टि नित्य होगी। निरवयव, निराकार, व्यापक है, परमाणु तो सावयव नहीं। यदि दोनों हैं तो कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते। स्वाभाविक हैं तो निराकार साकार नहीं हो सकता। मुर्गी आधी मर गई और आधी जिन्दा है। सावयव परमाणु से निरवयव जगत कैसे बना, निरवयव से सावयव कैसे। इससे परमाणु तुम्हारा अनित्य हुआ।

निमित्त कारण ईश्वर व्यापक नहीं हो सकता। अलग एक देशीय हो गया, नाशी हो गया। मिट्टी भी इसी प्रकार से नाशी हुई। दण्ड, कुलाल, चक्र तीनों बाद अयुक्त हैं, एकदेशीय हैं। कुलाल, घट, मिट्टी सब नाशी हैं क्योंकि सावयव साकार हैं। यदि तीन ठीक हैं तो तीनों रहते कहाँ हैं, आधार कौन है? तीनों एक से एक सूक्ष्म हैं। पाँचों उँगलियाँ हाथ में हैं। व्यापक जो होगा वह एक ही होगा। वही सर्वनियन्ता, सर्वअधिष्ठान होगा। इसे व्यास जी ने ब्रह्मसूत्र में बताया है। पट सूत्र ही है और सूत्र में ही पट है। ब्रह्म एक है, उपादान, निमित्त साधारण तीनों कारण एक ही हैं। अभिन्न निमित्त, उपादान, कारण हैं। वायु, आकाश परिच्छिन्न अहंकार, तीन गुण, महातत्व, प्रकृति ब्रह्म आत्मा ही हैं। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म अपने आप को आप ही जानता है। जैसे जल ही तरंग, फेन, बुद्बुदे का कारण है। 'अहम् ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म'। यह वेदों का ढिंढोरा है। जैसे मकड़ी चेष्टा करके तार को रचती है और अपने में ही लय कर लेती है। तद्वत् सर्व आत्मरूपता ही है।

चैतन्य की फुरना हुई, चित्त बना, चित्त से अहंकार बुद्धि, मन हुआ। इस फुरना के ही सब नाम हैं। प्रकृति प्रधान नही है, उपादान कारण नहीं है। पर पारब्रह्म ही सबका अभिन्न, निमित्त उपादान, साधारण कारण है। एक ही चेतन तीन प्रकार का होता है।

षट्शास्त्रों में षट मत हुए। वेदान्त में चार अर्थात् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत। अठारह पुराण में ईश्वर को कर्त्ता बताया। अठारह मत सनातन धर्म में हुए, सब सनातन में हैं। कोई द्वैत, त्रैत के मानने वाले हैं। फिर एक एक से कई-कई शाखायें निकली हैं। इस प्रकार अनेक ईश्वरों में व्यापकता सर्वशक्तिमानतादि गुण नहीं आयेंगे।

करना है विचार, यही पूजा है और आचार है। मैं सबसे भिन्न हूँ, सबमें हूँ, आत्मा हूँ। तेज से तेज, श्रोत से शब्द, ऐसे ही आत्मा से आत्मा लखा जाता है, मन आदि से नहीं। एक कुत्ता नदी के किनारे रोटी दबाकर भागा, अपनी छाया देखकर भौंका, रोटी पानी में गिर गई। पानी में छाया भी गायब। लालच वालों की यही हालत होती है। दो में भय है, एक में निर्भय है। स्वप्न के निमित्त उपादान कारण हम आप हैं। स्वप्न मेरे बिना नहीं। मेरे से मेरी ही वृत्ति का परिणाम और चेतना का विवर्त है।

१९

दुनिया के जितने पदार्थ हैं ये दिन रात आने जाने वाले हैं। कुम्भ का मेला १२ वर्ष में आता है फिर भी तुम लोग सोचते हो कि सात-आठ रोज चले जायेंगे। मेला देख आयेंगे नहीं फिर बारह वर्ष में आयेगा। इस शरीर की आयु भी जाने वाली है। बचपन गया, जवानी आई बुढ़ापा आया, जरा आई और गई। वह दिन अवश्य आयेगा जब सब कहेंगे 'ले चलो, ले चलो' जिन्हें हम नहीं छोड़ना चाहते और वे हमें छोड़ना चाहते हैं। आप ही आप इनका मिलाप हुआ है और आप ही आप छूट जायेंगे। अब स्वासों के रहते-रहते ही यह संसार रूपी बीमारी जो लगी हुई है उसे मिटाना है। जन्म हुआ शरीर का और मृत्यु के पीछे इस शरीर को रहना भी नहीं है। बार-बार जो जन्मने मरने के फेर से छूटने के लिये एक यह नरतन ही पाया है। सब, कानून, दफा व सजा इस शरीर के लिये ही हैं। इसकी दवा हमें जल्दी ही करना चाहिये। यह जन्म-मरण का महान् से महान् जो दुःख है उससे छूटना है। दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन, उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद उत्पत्ति का पता नहीं चल सकता कि कब से है। शरीर का जन्म हुआ और अन्त हुआ।

"जा दिन ते जनम भयो तबही से आयु घटी
माई कहत मेरो बड़ो होत जात है।"

सद्गुरु कहते हैं ऐसे ही जैसे दीपक बुझ जाता है तेल जलने के बाद, आयु घटती जाती है। जैसे पानी बरसने पर मिट्टी का ढेला गलकर पानी में मिल जाता है। मनुष्य रूपी जन्म में यदि मिट्टी रूपी मोक्ष नहीं पाया तो अन्धे वाली दशा होगी जैसे एक हवेली के एक ही फाटक से निकलना चाहता था वह भीत पर हाथ रख रख कर चला गया। उसके सिर में खाज उठी और जो दम लगाने वाले बैठे थे सूरदास ने भी दम लगाने को कहा। हाथ छोड़कर चिलम पीने लगा। खुजली खुजाते-खुजाते चलता गया और दरवाजा निकल गया। अब पछताता है, रोता है, यदि खुजली न खुजाता व दम न लगाता तो

दरवाजा न निकलता। चौरासी लक्ष योनि भुगतनी पड़ी।

'साधन धाम मोक्ष का द्वारा।
जाय न जे परलोक संवारा॥'

सो परत्र दुःख पावई
सिर धुनि धुनि पछिताहिं।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं
मिथ्या दोष लगाहिं॥

अतएव इस तन को पाकर यदि मोक्ष का साधन नहीं किया तो फिर भी दफा लगेगी। विचार जो है सार है, संसार असार है। संसार के भोगों को भोगते कितने कल्प गुजर गए। भोग जो कल थे वही आज हैं पर शरीर वही नहीं है। अनन्त शरीर धारण करके भोगे हैं। मन जायकी मजाकी बन गया है। पर इस संसार के भोगों में किसी को सन्तोष नहीं हुआ। स्वर्ग नरक दोनों प्रकार के भोगों के लिये जन्म लेना पड़ता है। पुण्य के फलों को हँस हँसकर और पाप के फलों को रो-रो कर भोगता है पर फिर भी दफा लगी है और वही चक्र है। भोगों में रोग का भय है। गलित कुष्ठ, पक्षाघात आदि जो विषयासक्त नहीं होता उनको नहीं होता। भोग कमजोर बना देते हैं। बल पुरुषार्थ का नाश कर देते हैं। मन को समझा देना चाहिए कि रे मन! ये वही भोग हैं जो तू कल्पों से भोग रहा है। देवी के पण्डों ने देवी की भूख के बहाने कितने बकरे कटवाये हैं और खा गये हैं आप।

अज्ञानी अपने आपको अल्पज्ञ कहते हैं और सबको देखने जानने वाला तो ईश्वर है हम नहीं। अल्पज्ञ होते हुये भी सर्वज्ञ की ग[illegible] दे रहा है। तू अज्ञानी, अन्धा, मूर्ख, ज्ञाता[illegible] शक्तिमान की गवाही कैसे दे रहा है। [illegible] नन्द संसार है। क्षणिक सुख है और दु[illegible] अनेक। अतः उत्तम भक्ति है 'सर्वम् खलि[illegible] ब्रह्म'। मध्यम भक्ति है ईश्वर सब में है और [illegible] दास हैं। अधम भक्ति है कर्मकाण्डियों[illegible] प्रतीक के उपासकों की और निकृष्ट भ[illegible] भूतों की उपासना।

१६

श्रवण नहीं किया तो मनन कैसे होगा[illegible] फिर निश्चय कैसे होगा, ज्ञान कैसे हो[illegible] जैसे शिकारी अपना बाजा ऐसे ब[illegible] है कि कस्तूरी मृग सुनने के लिए [illegible] हो जाता है। सुख के तृण भी [illegible] में ही रहते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। शि[illegible] मारकर कस्तूरी निकाल लेते हैं। इसी प्र[illegible] से श्रवण करना चाहिये। गुरु ऐसा बताते [illegible] सम्पूर्ण विश्व में जो व्यापक हो रहा है [illegible] जिससे जगत जानने में आ रहा है वह स[illegible] पूर्ण ही पूर्ण है। जो श्रवण करके मनन में [illegible] हो जाता है, वह मन रूपी मृग छलागें ल[illegible] बन्द कर देता है। मन रूपी मृग के शान्त[illegible] के लिए, पकड़ने के लिए बुद्धि में विचार बाजा बजाता है। कस्तूरी है आत्मा। मन [illegible] में मुग्ध, शान्त हो जाता है। चारों वेद [illegible] महात्मा जिसका कथन करते हैं उसके [illegible] मनन करने से साक्षात्कार, हो जाता है। ब्रह्माकार, तदाकार, साक्षात्कार हो जाती [illegible] इसका प्रकाश करने वाला इसके अन्दर है। वृत्ति का अन्त है, चेतन का विवर्त है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"
"नेह नानास्ति किञ्चन ।"

सब ब्रह्म ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं है। अन्न, आटा, फिर रोटी खाने पर तीनों नाम खतम। नाम हवा हो गये। मल जल कर, सड़ कर, गलकर फिर मिट्टी ही बन जाता है। सर्वकाल में वह मिट्टी ही था। वास्तव में स्वरूप का त्याग नहीं किया। अस्ति अन्न है, चून भान है— भासता है प्रिय भी हैं, तीनों काल में अस्ति भाँति प्रिय हैं। अन्न, आटा, रोटी, मल, मिट्टी अस्ति भाँति प्रिय हैं। भान हो रहा है, प्रिय नाम रूप आकार बदलते चले जाते हैं। ऐसे ही वायु, आकाश, अवकाश सारे, कोई चीज रहे कहाँ? प्रिय आकाश है परिच्छिन्न अहंकार में अस्ति भाँति प्रिय महान् तत्व भी प्रकृति भी, ईश्वर भी सब अस्ति भाँति प्रिय हैं। ब्रह्म है, भान होता है, प्रिय है। आत्मा भी अस्ति, भाँति, प्रिय है क्योंकि परम प्रेम का विषय है। आत्मा के लिए सब चीजें प्रिय हैं। परमात्मा अस्ति भाँति प्रिय है, सत्य है; सर्वकाल, सर्वदेश सर्ववस्तु में नित्य है; चित्तस्वरूप है, चैतन्य है, आनन्द स्वरूप भी है। यह परमानन्द स्वरूप है इससे परम आत्मा है। 'परम' निकाल दो आत्मा रह गया। अखण्ड, अज है। हाजिर, नाजिर, सही, देख लो खोलकर बही अर्थात् वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास नाम रूप का नाश होते होते आत्मा ही रही। साची ब्रह्म बताता है, ब्रह्म नहीं 'मैं'। "आत्मैवेदम् सर्वम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इनका विचार करना चाहिए। जहाँ तक जानने सुनने में आता है यह आत्मा है। कथन वाणी से हो रहा है। यह कथा आने जाने वालों की नहीं है, अमर है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

श्रुति है, सब में है, सब पूर्ण में है और सब पूर्ण करके है। जो भेद करके ढूँढ़ते हैं उन्हें मिला हुआ होते भी नहीं मिलता। उन्होंने अपने आप पर आवरण बना रखा है। पर अपना आप तो खुद है ही सबमें पर ढूँढ़ते फिरते हैं। आत्मा परमात्मा की जुदाई की एकता है। तब तक नहीं होगी जब तक सदगुरु नहीं मिलेंगे, सुख शांति नहीं होगी।

शिव का मतलब कल्याण स्वरूप है। शिव का शिव, देवों का देवता आत्मा है। जो महादेव, पार्वती, राम, सीता, कृष्ण, राधा में है सो ही सबमें है। कृष्ण हमारी आत्मा है।

"सुरति हमारी राधिका कृष्ण हमारा ब्रह्म,
निशदिन निरखत रहत है बिरले जानें मर्म।
बिरले जाने मर्म संग पच्चीस सहेली,
कर वृन्दावन रहस बहुत नानाविधि खेली।
कहैं अम्बरदास हरो ये जग की बाधा,
सदा बिहारी ब्रह्म सुरति है मेरी राधा॥"

मथुरा में से 'रा' और 'म' निकालो तो 'थु' रह गया। भेद करके उपासक दिल्लगी करते हैं। माँ को प्रसन्न करने के लिये ताली बजा दिया और बाप को प्रसन्न करने के लिये गाल बजा दिया। वाह रे उपासको! माँ और बाप की दिल्लगी करना क्या तुम्हारा धर्म है? तीन खण्ड बनाते हो—ईश्वर, प्रकृति, जीव। अभेद करके रह तो जायेगा एक ही। सीता नाम पहले, राम पीछे। श्री, माया, देवी का नाम पहले और

देवता का पीछे। राम में ही सीता है। राम नहीं तो सीता कहाँ ? सना हुआ है देह के साथ। पहले शरीर का ज्ञान हुआ अर्थात् काया, माया का। पीछे राम, आत्मा का ज्ञान हुआ। जैसे लहरी पहले और समुद्र पीछे। न भिन्न है, न अभिन्न। पर एक ही पद है; अस्ति, भाँति, प्रिय आत्मा है। वह सनातन है, मजहब पंथ नहीं। हे अर्जुन ! आत्मा अछेद्य है, अशोष्य है, नित्य है, सर्वगत है और अजन्मा, अविनाशी, अचल है। जैसे खाँड–खिलौना; घर-मिट्टी; सोना-जेवर; नाम रूप भिन्न है पर है एक। बिक्री पर सोने का ही भाव होता है। सोना निकालने से जेवर की सत्ता ही नहीं।

आत्मा में ही ईश्वर, जीव, प्रकृति हैं। यह सनातन है। कोई पूछे तुम कौन हो ? तो आत्मा के नाते मैं सनातन हूँ, नित्य हूँ क्योंकि सब में सना हूँ। जैसे भूषन में सोना, घर में मिट्टी, इस प्रकार सब में व्यापक है। सर्व में मैं अनुगत व्यापक हूँ। सब का आत्मा हूँ। कृष्ण का यह कहना है, भगवान का यह लहना है तो मजहबियों की बातें क्यों मानें ? नाशी विशेषण मतवादियों के हैं। हम क्यों मानें ? राम, कृष्ण आदि हमारी आत्मा है। ब्रह्म करके ही सारा दर्शन हो रहा है। जिस करके सब देखने में आता है 'सोऽहम'।

नहीं मानते तो खूब जन्मो मरो, कुत्ता गधा बनो। दशरथ ने भेद भक्ति के कारण ही मोक्ष नहीं पाया। कृष्ण ने जब देखा कि गोपियाँ शरीर के नाते से जब दुखी हैं तब ज्ञान दिया। फिर कहने लगीं हम कृष्ण ही हैं 'कृष्णोहम'। सोलह हजार गोपियाँ कृष्ण में लय हो गयीं। 'सोहमस्मि', 'शिवोऽहम', 'अहंब्रह्मास्मि', यह तो अन्तिम सिद्धान्त है सनातनधर्मियों का।

'अ' आदि का अक्षर है और सब अक्षरों में मिलकर सबको सिद्ध करता है। यदि 'अ' निकाल दो तो किसी अक्षर का उच्चारण नहीं होगा। ऐसे 'अ' सदृश आत्मा सब में समाया हुआ है ब्रह्मा से चींटी तक। मुसलमानों के अल्लाह में 'अ' में 'अ' और 'ल' में 'अ' है। खुद में 'अ'—खुदा जुदा नहीं, हर एक के मत में 'अ' घुसा है। हे अर्जुन मैं सब में हूँ 'अक्षराणामकारोऽस्मि' अक्षरों में 'अ' मैं हूँ। सबका 'मैं' मैं हूँ और सब मेरे में हैं। ज्ञानी मुझे अभेद करके देखता है, एक करके देखता है।

रामायण से राम की नीति लो : मातृ, पितृ, भ्रातृ भक्ति लो, यह नहीं कि जरा सी बात में बाप, भाई को कत्ल कर देते हैं। भरत ने राज्य को फुटबाल की तरह लात मार दी और राम ने भी। तुम उन्हीं की सन्तान हो। राम को मानते हो तो राम की नीति मानो जैसे गुरु भक्ति। राम भी शिव के भक्त थे। शिवलिंग अर्थात् सूक्ष्म शरीर की उपासना की और रावण को जीता। शिव के साथ अनन्य भाव था। शङ्कर से अलग मेरी भक्ति नहीं राम ने कहा। शिव को शिव अन्तर्यामी भगवान करके मानते थे। शिव को मेरा रूप करके और मुझ राम को शिव रूप करके देखो। भेद से भक्तों में तो झगड़े हैं परन्तु इष्टों में नहीं हैं क्योंकि उनमें अभेद है, अतः अभेद लो।

१७

देवी है शक्ति और देवता है वह जिसकी देवी शक्ति है। एक सनातन धर्म के बीच में देवी देवताओं का व्यवहार होता है और पूजे जाते हैं। एक व्रत से यह सम्पन्न रहते हैं और एक ही व्रत के द्वारा सब काम होते हैं। चारों आश्रमों का वेद के द्वारा संस्कार किया जाता है। जाति के ये विधि संस्कार जन्म से मरण तक किये जाते हैं। देवी एक पतिव्रत रहती है और देवता एक नारी व्रत। अब भी बुन्देलखण्ड जिला झांसी व जालौन में आज वर्तमान में साल में कोई कोई देवी सती हो जाती है। अन्य देशों में देवी देवताओं की जो दशा है कि एक ही पति एक पत्नीव्रत न रहने से पतित रहते हैं। उनका खान पान, धर्म मत, लेना देना, उठना बैठना ही है अपने कुल का नाश करता है। साधन हो रहे हैं पर धर्म के नाश के। इसलिये देवियो और देवताओ सूली पर चढ़ जाना पर अपने सत्य पद नीति का त्याग न करना। अपने गौरव को भूल मत जाना। साधु, महात्मा, संत न हों तो धर्म का नाश हो जाय। यहाँ पर भी रूस, ांस बनाना चाहते हैं। वे पशुओं की नाईं जाति-पांति का नाता नष्ट कर देना चाहते हैं। इन धोखेबाजों के चक्र में न फँस जाना। मन माना काम कराना चाहते हैं जिससे न ईश्वर का भय रहे, न बन्ध मोक्ष रहे। अपने सत् सनातन धर्म का नाश न होने देना सब प्रकार से। भारतवर्ष भौतिक तरक्कियों में कमजोर भी हो पर आध्यात्मिक ताकत में किसी से कम नहीं है। पश्चिमी लोग नास्तिक बन गये। भारतीय सम्राट भी अण्डे, मुर्गी, मछली विभाग बनाने लग गये। नीति को अनीति, धर्म को अधर्म मानने लग गये। आसुरी वृत्ति वाले बन गये। रावण बन गये। रावण ने यती का भेष बनाकर सीता को हरण किया, इसी प्रकार से अन्य अन्य समाज में साधुओं का भेष बनाकर के साधुओं का नाश करना चाहते हैं। ईसाई आदि मतों पर कोई कानून नहीं। राष्ट्र दण्ड देने के बजाय उन्हें मदद मिल रही है। साधु समाज में फूट डालकर सबके नाश करने के लिये उपाय किये जा रहे हैं।

ज्ञान के जरिये पारखी, जौहरी बनो। आसुरी, दैवी, सम्प्रदाय का ज्ञान हो जायेगा। ज्ञान कर लो कि कौन बात सत्य है और कौन बात असत्य है। राष्ट्र भी नीति है। नित्य वस्तु क्या है? शरीर नाशी अनित्य है। उत्पत्ति के पहले शरीर नहीं था। उत्पत्ति और नाश वाला है। बालक, जवान, बूढ़ा, जरा होता है और नाश हो जाता है। आत्मा अविनाशी है नित्य है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह शरीर मैं नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है। यह मिट्टी का बना हुआ पुतला है। भ्रम से शरीर लगता है। वास्तविक यह ब्रह्म का ही स्वरूप है। लक्ष्मण से भगवान राम ने कहा था—

"हूँ नहीं तन मन वचन बुधि
जात वर्ण कुल एक।
मैं हूँ चेतन सबन में
या को कहत विवेक ॥"

(विश्राम सागर)

जड़ और चेतन गुण देह में हैं। दोनों मिलकर एक बन रहे हैं और भान हो रहा है कि शरीर मैं हूँ। विवेक से ज्ञान हो जायेगा कि सब के बीच में मैं एक चेतन हूँ। हंस क्षीर ग्रहण कर लेता है और नीर को छोड़ देता है। जब तन मैं नहीं तो जन्मना मरना मेरा नहीं। मन मैं नहीं तो संकल्प विकल्प मेरे धर्म नहीं। बुद्धि मैं नहीं तो ज्ञान अज्ञान मेरे धर्म नहीं, न जाति न कुल मेरे हैं। द्वैत के भय से तू भूला पड़ा है।

बन्ध दशा में जीव है, मोक्ष दशा में शिव। जैसे मेघाकाश व घटाकाश का भेद है, जैसे तम्बू आकाश और महाकाश का भेद है। तम्बू निकाल लो, एक ही आकाश रहा। जो आकाश, जीव, ईश्वर, ब्रह्म को अवकाश दे 'सोऽहम्'। परमात्मा के ही हम आत्मा हैं और परमात्मा ही हमारा आत्मा है। यह सनातन सिद्धान्त है। इसका नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह सनातन है। उत्पत्ति नाश वाला नहीं। नाश करने वालों का ही नाश होगा, जैसे हिरण्यकश्यप, रावण आदि का हुआ। प्रहलाद ने कहा—मेरे जगदीश पहले से पहले मेरे में, खड़ग में, खम्भ में हैं। ऐसा कौन देश, काल, वस्तु है जहाँ मेरा जगदीश नहीं है। यह पूर्ण ज्ञान की उपासना—भक्ति है। जगदीश ने खम्मे से ही निकलकर हिरण्यकश्यप का नाश किया। सतयुग, त्रेता, द्वापर से जिस जिस सनातन धर्म नाश करने का बीड़ा उठाया उ का नाश हुआ, ऐसे ही वर्तमान में भी ना होगा। निश्चल, अटल बुद्धि रक्खो। मरो धीर और वीर बन कर, कुत्ते की तरह नहीं

जिसमें यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरी है और ब्रह्माण्ड है, जिस करके यह सब है अ सम्यक प्रकार से सबमें होकर प्रकाश रहा 'सोऽहम्'। "सतगुरु आया अलख लखाया श सुनाया अविनाशी।" "खोल दे पलक, देख झलक, नहीं है खलक।" जो सबको लख है 'सोऽहम्।

"हम लख हमें हमार लख,
हम हमार के बीच।
तुलसी अलखे ना लखे,
तो राम राम भज नीच ॥"

"ॐ से काया भयी सोऽहम् से मन जा
नी अक्षर से स्वासा भई याही में मन आन।

धर्मी है आत्मा और धर्म है सच्चिदान धर्म वह है जो धर्मी का ज्ञान कराये, जैसे अ की उष्णता और जल की शीतलता।

" ईश्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥"

जो सत् है सो ही चित् है। जो सत् चित सो ही आनन्द है। परमात्मा परमेश्वर में स्वासा के रहते हुये परम पद—स्व आसा तैयारी करना चाहिये।

'तू तो जीवन मुक्त है तजो मुक्ति की आस'

"आशाया परमं दुखं नैराश्यं परमं सुखं।"

मैं नित्य मुक्त स्वरूप आत्मा हूँ। श्रवण किये हुए का मनन; जब तक शरीर है इसी का चिन्तन करते रहो, यही भजन है। ज्ञान है गृहस्थियों के लिए, प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिए। विरक्तों के लिए ज्ञान नहीं है, वे तो ज्ञान स्वरूप ही हैं। गीता रामायण पढ़ो। ज्ञान स्त्री, शुद्र सबके लिए है। जो आत्मा स्त्री में है वही पुरुष में है। स्वासा, प्राण सबमें है चाहे शूद्र हो या स्त्री। शरीर में मैं हूँ, शरीर मेरे बगैर नहीं यह मेरे में है। मैं चेतन कूटस्थ आत्मा जीव अविनाशी हूँ। तारा को राम ने और अर्जुन को कृष्ण ने यही ज्ञान दिया। बगैर ज्ञान के माया का हरण नहीं होता। ज्ञान ही गुरु, ज्ञान ही चेला है। दोनों में ज्ञान है। सबसे भला अकेला 'सोऽहम'।

—शिवोऽहम।

१८

श्रवण करते करते बहुत से दिन गुजर गए, बाकी और चले जायेंगे। जिन्होंने मनन नहीं किया उन्हें दो तीन दिन याद रहेगा। वर्तमान में शरीर के रहते हुए यह समय मिला। यदि मनन नहीं किया तो कुछ लाभ नहीं हुआ। श्रवण से आनन्द आया पर विस्मरण होगया। जहाँ तक मन ने मनन किया वहाँ तक आनन्द हुआ। मनन किए हुए का निदिध्यासन किया तो अन्दर से कुछ संतोष करते करते भी कुछ दिन रहा पर बाद में बात निकल गई। पर जिसने पुनः पुनः निदिध्यासन किया तो अपनी आत्मा में साक्षात्कार अपने आप में आप ही हुआ। जो आनन्द हुआ वह भी धीरे-धीरे शांत हो जाता है। स्व स्थिति प्राप्त हो जाती है।

वेदों में मंत्रों के अन्त में 'ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः' कहते हैं। ॐ जहाँ का तहाँ लय हो गया। साक्षात्कार ब्रह्माकार हो गया। 'ॐ से काया भयी' अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर। जब शांति हो जायगी तो समाधि अर्थात् चौथे पद की प्राप्ति होगी वह है 'सोऽहम' पद। तीनों अवस्थायें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर से निकल कर ज्ञान होगा। मन ॐ से 'सोऽहम' में गया। 'सोऽहम' से इसकी उत्पत्ति हुई, सोऽहम गया हम में। हम हैं आत्मा। आत्मा का स्वरूप है सच्चिदानन्द, सत्, चित्, आनन्द तीन नहीं हैं पर तीन विशेषण, धर्म हैं। धर्मी है एक आत्मा। ज्ञान को पाकर मन और बुद्धि जाकर समाप्त हो गये। राम राम ऐसा जो नाद है, राम गया ॐ में, ॐ गया 'सोऽहम' में, सोऽहम गया 'अहम्' में, शेष आप ही आप रह गया। आप आप अपनी महिमा में स्थित था और स्थित रहेगा। कल्पना करने वाले मन और बुद्धि दोनों नहीं रहते।

तू है आप ही आप और न कोई।
निर्गुण सगुण कहाँ से आये दोई॥

वहाँ ओंकार भी नहीं रहता। यह अनुभवी पुरुष जानते हैं। अनुभवी वह है जो सबका अनुभव कर रहा है। सबमें होकर के सबका बयान दे रहा है। राम का, माया का, ब्रह्म का, आत्मा का भी अनुभव करता है। यदि वह न

हो तो कौन अनुभव करे। इस करके सबका अनुभव कर रहा है। पर यह अनुभव करने वाला है अकल (कला रहित), अनीह (इच्छा रहित) अनाम, अरूप, अनुभवगम्य है। यह जानना नहीं कहलाता कि मेरी मुट्ठी में क्या है ? पर जानना है जानने वाले को। जो आत्मा के जानने वाला है वह हर्ष शोक से रहित हो जाता है। जिस वस्तु को हम नहीं जानते उसको जानना है, अपने आप को। खुद को नहीं जानते यह कैसे जाना? सबको जानता हूँ इससे भगवान हूँ, रोम रोम में बसा हुआ हूँ इससे राम हूँ, पूर्ण हूँ इससे पूर्ण पुरुष परमात्मा हूँ। गवाह भी खुद हूँ ऐसा कहता हूँ कि मैं हूँ।

यहाँ मनाया नहीं जाता लखाया जाता है। देखो जिससे जिस करके यह नख, शरीरब्रह्माण्ड देखा जाता है, जाना जाता है, जो सबमें होकर के जान रहा है 'सोऽहम'। सबके बीच में जान हूँ, यदि मैं 'नहीं' हूँ तो जाने कौन ? देखो देखने वाले को। देखने वाला है, इसको अपने करके देखो। जब मैं सबका देखने वाला हूँ तो क्या मैं अपने आपको नहीं जान सकता? यदि नहीं जानू तो जाने कौन ? मैं व्यापक हूँ, परमात्मा मेरा आत्मा है, था और रहेगा। इसका नाम सनातन धर्म है, मजहब नहीं है। मैं स्वयम् ही स्वयम् हूँ, गुरु बगैर हम नहीं जान सकते। हमारे बीच में पारखी है। पूर्ण परमात्मा, परमेश्वर नारायण है। यह सनातन तत्व है। यह धर्म किसी का नहीं।

"आत्मा और परमात्मा
जुदे रहे बहु काल।
सुन्दर मेला कर दिया
सत् गुरु मिले दलाल ॥"

जुदाई का नाम था अज्ञान। सौदा का पटाने वाले दलाल ने माल परखा दिया। गाँठ खोलकर देखो भाई तुम्हारे पास लाल है। पारखी होना चाहिये क्योंकि लाल पत्थर भी होते हैं। निश्चय यों नहीं हुआ कि शास्त्र, ग्रन्थों, गुरुओं के कहने से मान लिया पर देखा नहीं। जीवका स्वरूप नहीं देखा कि लाल है, काला है, पीला है मान लिया कि मैं जीव हूँ, लोगों के कहने सुनने से, मतवादियों के सुनने से पर वास्तव में जीव के स्वरूप का बोध नहीं हुआ जब तक बोध नहीं होगा तब तक कल्पना बनी रहेगी। पारख पारखी का भी परखने वाला नियामक मैं हूँ। सही है, यदि आँखें नहीं हैं तो आपरेशन करा डालो। अपने आप को जान लोगे और पाप ताप से बच जाओगे।

"कहे कहावे सुने सुनावे
पकड़त छोड़त ज्ञान।
यह जंजाल जन्म भर बीतो
कहीं न और ठिकान ॥"

कथनी कह रही है और फिर भी समझ में नहीं आता। सब वेद वेदान्त इत्यादि पढ़ लिया पर निश्चय नहीं होता, क्यों नहीं होता तो यों नहीं होता कि मन नहीं मानता। हम अगर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं तो हम पीछे की, एक दूसरे की बात क्यों नहीं जानते ? हम चाहते हैं कि आकाश में उड़ सकें। हमें आत्मा देखने में नहीं आई। साक्षात्कार नहीं हुआ। आपके कहने से तो मालूम होता है पर ऐसा रहता नहीं, भूल जाता है।

सद्‌गुरु कहते हैं यदि तुम खुद निश्चय नहीं करते तो कौन करे ? तुम मतभेद वालों की कथा सुनते हो। वे द्वैत को खड़ा कर देते हैं। तुम्हें जवाब नहीं आता। न यह निश्चय होता है न वह। अनेक मजहबी गुरु मान रखे हैं। नर मजहबी हो जाता है जैसे कुत्ते के खाज होती है तो दूसरे के लगने से उसको खुजली हो जाती है। तुम भेदवादियों से सुनते आये हो कि ईश्वर है, जीव है; वह सर्वज्ञ है तू अल्पज्ञ है। जीव आने जाने वाला है और भगवान भी आता जाता है इसलिये अद्वैत का निश्चय नहीं होता। अब विचार करो तुम कौन हो ? क्या हो ? जीव का, ईश्वर का, माया का स्वरूप जानना होगा, अपरोक्ष करके दिखलाना होगा। अपने करके ही अपरोक्ष साक्षात्कार होगा। यदि अपने आप न होगा तो किसको होगा। एक सियार की माँ मर गई, बच्चे को शेरनी ले गई। दूध पिलाया, वह शिकार करने लगा। जब शेरनी के बच्चे हो गये तो उसने सोचा कहीं उसके बच्चे गीदड़ को मार न दें। उसने बच्चों से कहा यह तुम्हारा बड़ा भाई है। इसका कहना मानना। हाथी को देखकर शेर के बच्चे मारने को टूट पड़े। गीदड़ ने कहा मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। हाथी भयंकर है तुम मत मारो। जब वे नहीं माने तो यह कहकर कि तुम आज हमारी बात मान लो, पीछे माता से पूछेंगे। गीदड़ माता से बोला हम साथ-साथ शिकार खेलने नहीं जायेंगे। मां ने सोचा कि शेर के बच्चे जान गये कि यह हमारा भाई नहीं है यदि होता तो रोकता नहीं। शेरनी ने कहा कि तूने दूध मेरा पिया है पर मेरे बच्चे नहीं। तुम गीदड़ों में चले जाओ। मेरे बच्चे तो शिकार खेलेंगे ही। शिकार शेर ही करता है। अज्ञान भूमिका में सिंहनी का दूध रूपी विद्या तो पढ़ी पर माता अविद्या थी, ज्ञान रूपी माता का दूध जरूर पिया, इसीलिए चिल्ला रहा है। 'जहाँ प्रेम नहीं तहाँ नेम नहीं।' क्षण मात्र प्रेम आया और चला गया। वह प्रेम नहीं, आठो पहर प्रेम बसना चाहिए, या हम रहेंगे या हरि। शरीर नाशी है पर सबके बीच में जो 'हम' है वह रहेगा। शरीर चाहे आज नाश हो जाये, हमारा नाश नहीं। मंसूर का दावा था कि मैं खुदा हूँ, खुदा मेरे से जुदा नहीं। खुदा मेरे में, मैं खुदा में हूँ।' "अनलहक हक में मिला, सूली चढ़ा मंसूर।" मरने वाली चीज तो मरेगी, आज नहीं तो कल, हम तो अमर है। अनलहक—'सोऽहम्'।

१६

जो बात रात दिन सुना करते हो वह बात क्या है, कि देखो, क्या देखो, कि जिन बातों को चित्रकूट मण्डल का एक बच्चा भी बोलता है। देखो जानो अपने आपको जिससे यह सब देखा जाना जाता है, जो यह सब देख रहा है, जान रहा है 'सोऽहम'। श्वास में रात दिन, राम, ॐ, सोऽहम अजपाजाप—भजन हो रहा है। यह सब देखने में जानने में आ रहा है। इसको ढूँढ़ने नहीं जाना है, यह खुद ही खुद है। खुदा और परमेश्वर है और बनता है। तमाशा तू नहीं है, तमाशा को देखने वाला तू है। बुद्धि और

मन, नट और नटी तमाशा कर रहे हैं। यह नाटक और तमाशा तुम्हारी सत्ता में हो रहा है। यह जाग करके देखते हो। जाग्रत अवस्था में मन और बुद्धि का तमाशा है जो तुम्हारे देखने में आ रहा है और है भी देखने वाले में। यदि देखने वाले में न हो तो देखा कैसे जाय। अलख तब तक है जब तक देखा नहीं। वही मन बुद्धि जो जाग्रत का नाटक—स्वप्न कर रहे थे उसका आधार तुम्हीं हो। अपना आप न हो तो स्वप्न नहीं है।

"जगत है जाग्रत का स्वप्ना,
निरख तू सत्य स्वरूप अपना।
छोड़ सब दासोहऽम् जपना,
शिवोऽहम् बोल जरा प्यारे॥"

देखने वाला नित्य जाग्रत है और वही स्वप्न और जाग्रत देख रहा है अपना करके। सोने जागने में नाटक है। स्वप्न था तब देखने वाला है और जब स्वप्न नहीं तब भी है। यह साढ़े तीन हाथ का पोंगड़ा मन बुद्धि का बनाया हुआ तमाशा है। तू खुद नहीं है और मानलिया है कि शरीर मैं हूँ, उसी वक्त काल, कर्म, स्वर्ग, नरक का भोग भी लग गया। देखो देखने वाले को जिससे यह तमाशा लगा हुआ है, जिससे यह सब देखने में आ रहा है। इस देखने वाले का नाम भगवान है। सब में रमा है इससे राम है। सब में बसा है इससे वासुदेव है। पूर्ण है इससे परम पुरुष है। अनेक नाम और आकार को देखता है और सबका आधार, अधिष्ठान, द्रष्टा है। यह तू है। देखने वाला हमेशा ही रहता है। क्षण क्षण में है। बन्ध की, मोक्ष की, आनन्द की प्राप्ति की कल्पना कल्पित है। यह आनन्द हमें प्राप्त नहीं करना, आनन्द हमारे में है। सबूत यही है कि जहाँ कहीं मन एकाग्र, स्थिर होता है, आनन्द का भान होने लगता है। आनन्द का केन्द्र मैं हूँ, जैसे पावर हाउस। 'मैं'—'आत्मा' कान में, आँख में, नाक में, जीभ में, त्वचा में एक मन के एकाग्र होने से आनन्द स्वरूप मेरा भान होता है। मन निकला है 'सोहऽम' से। जब मन 'सोहऽम' में अर्थात् मेरे में लय हो जाता है तो आनन्द का भान होता है। वह आनन्द मेरे ही में है। यदि न हो तो आवे कहाँ से? कुत्ते के मसूढ़ों से खून निकलता है पर समझता है हड्डी में है। आनन्द (अखण्ड, पूर्ण, ब्रह्म विषय) मुझसे निकलता है। उसी में से लेश मात्र ज्ञान इन्द्रियों में और मन में आता है। परन्तु विषयों में आनन्द नहीं है। यदि विषयों में आनन्द हो तो नपुंसक को भी आना चाहिये। अपना ही आनन्द निकल कर के इन्द्रियों और मन द्वारा मालूम होता है। जायका जीभ में है यदि मन वहाँ नहीं है तो नहीं होगा। यदि मन कहीं और है तो आनन्द नहीं आता।

आनन्द यदि अपने में नहीं तो स्वप्न में भी नहीं। जब तक मन स्थिर न होगा तब तक शान्ति न होगी। जब तक कामना है तब तक शान्ति नहीं। हम स्वप्न के भी आधार अधिष्ठान द्रष्टा हैं। बाहरी पदार्थों में आनन्द नहीं है, जैसे बिजली जहाँ लय हुई तो अँधेरा है। अँधेरे का ज्ञान भी उजाले से है। ज्ञान से अज्ञान जाना जाता है। अपनी अस्ति मान कर कहता है "मैं अज्ञानी हूँ" पर अज्ञानी मैं नहीं हूँ। अज्ञान में मैं हूँ, इसलिए अज्ञान को जानता हूँ। यह सरल तरीका जानने का, भगवत प्राप्ति का है। पर तुमने सीधे को टेढ़ा बनाया है।

एक जन्म का अन्धा था, खीर खाने गया। ...ब परोसने वाला गया कि खीर ले लो; बोला, ...ीर कैसी होती है? जवाब मिला सफेद। बोला, ...फेद कैसा होता है? जवाब मिला, जैसे बगुला। ...हने लगा बगुला कैसा होता है? जवाब मिला, ...ढ़ा। अन्धा बोला ऐसी टेढ़ी खीर हमसे नहीं ...ाई जायेगी। ज्ञान कठिन हो तो किसी को न ...। यदि ज्ञान समझ में नहीं आता तो तूने कैसे ...ाना? तू ज्ञान से हो तो जान रहा है कि हूँ।

दीन, दुःखी, पापी बनोगे, प्रार्थना करोगे तो ...गवान कहेगा कि तुमने हमारा ही अपराध ...िया और हमसे ही माँफी माँग रहे हो। आत्मा ...काश का भी आकाश है। आकाश मेरे में ...ता है। जीव, ईश्वर, माया, जगत, ब्रह्म सब ...झमें रहते हैं। पृथ्वी और आकाश में छोटी सी ...टी और बड़ी से बड़ी चीजें हैं पर हैं सब मेरे ...। यदि अभिमान है तो खण्डन करने वाला ...तो कह रहा है कि दासोऽहम्, गुलामोऽम्, ...ात्माऽहम्, गवऽहम्, सुअरोऽहम्। 'शिवोऽहम्' ...ोऽहम' हम सभी कह रहे हैं। यह ज्ञानियों का ...द, गरजन है। अपनी बोली में बोल रहे हैं ...से शेर भेड़ों के बीच रहकर भेड़ों की बोली ...लने लगता है।

सब मकान मिट्टी पर बने हैं। सोना, लोहा, ...ट्टी ही है। कारण निकाल लो कार्य है ही नहीं ...त ऐसे है जैसे मिट्टी में घट। तुम अपनी ...ा में देख रहे हो। तुम निकल जाओ तो ...त है ही नहीं। यह आभास है। काया ही ...या होकर भास रही है। जगत मेरी ही छाया ... हँसने में अपना है, रोने में भी अपना है। ... रात दिन रोया करो चाहे हँसा करो। चाहे पड़े रहो, सोते रहो जागते रहो। सब चराचर में हूँ, मैं ही हूँ। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

२०

संसार में सार नहीं है, असार और झूठ है। संसार ऐसा है जैसे केले का पेड़, लम्बा, चौड़ा, मोटा, चिकना दिखाई देता है पर निकलते-निकलते पत्ता ही पत्ता रह जाता है। सार कुछ नहीं रह जाता। असार भी और झूठा भी क्योंकि मोटा और चिकना नहीं रहा। यह शरीर भी ऊपर से चमड़े से मढ़ा हुआ है। इस चमड़े को निकाल कर देखो तो असार भी है और झूठा भी। विचार करो यह शरीर पुतला है, पोंगड़ा है। भीतर पोल है, खाल मढ़ दी तो ढोल है, आवाज दे रहा है। चमड़ा, मांस, मेदा, मज्जा, मल मूत्र खून से भरा हुआ थैला है। कहो कौन सी चीज अच्छी है? इस मल मूत्र के शरीर का जो अभिमान है, मैं और मेरे का, यह नरक में ले जायेगा। मोहरी का कीड़ा बनता है क्योंकि मलमूत्रों की चीजों में जायका मानता है। इसी का नाम संसार है।

"जग में भूल पड़ी है भारी।
पाँच तत्व की देह सबन की जग में
जो नर नारी।
उन्हीं तत्व को पूजें मानें, माया जाल पसारी॥"

जिन तत्वों का शरीर बना है उसी को पूजते मानते हैं। भूतों के पुजारी पुजारिन बन के मद्य और माँस को पीते खाते हैं। उस कर्म का फल हजारों कल्प तक भोगते हैं। कर्त्ता को कर्म का

फल अवश्य भोगना पड़ता है। जय दुर्गा, जय देवी करके खा जाते हैं। देवी के बकरा नहीं चढ़ा, हड्डियाँ घर घर चढीं।

फिर देवों की पूजा से देव, जैसे राम, कृष्ण, शिव की उपासना से देवता बनते हो। भूतों की पूजा से भूत, ईश्वर की पूजा से ईश्वर बनोगे। भेद ब्रह्म की पूजा से ब्रह्म। जैसा गुरु मिल गया वैसी ही उपासना कराते हैं। जैसी भावना की जाती है वैसा ही बन जाता है। यह इन्द्रजाली नाटक है। बाजीगर डमरू बजाता है और है कोई चीज और दिखाता है और कुछ। नट है मन और नटी है बुद्धि। मन, बुद्धि ईश्वर के हैं। ईश्वर का यह जगत है।

"नट ईश्वर ने खेल बनाया,
सत असत करके दिखलाया।"

असत जगत को सत्य करके बतलाया। इस नाटक में जो धर्म नीति है वह भी तमाशा है।

"माता जन्मे भक्त जन, कि दाता, कि शूर।
नहीं तो रहती बाँझनी वृथा गँवाया नूर।"

ऐसे बच्चों से क्या फायदा जो हड्डी माँस खायें। संतान वीर, धीर और विद्वान पैदा करो इससे तुम्हारा कल्याण होगा। मन मुखी मत बनो, गुरुमुखी बनो।

ये (साधू लाल भी किसी के लाल हैं। लाल ही हैं जो सारे विश्व का कल्याण कर रहे हैं और मोक्ष प्रदान कर रहे हैं। जो पशु हैं वे महात्माओं के कर्तव्य को देख ही नहीं सकते, जसे उल्लू को प्रकाश में दीखता नहीं। यदि संत न होते तो संसार आग में जल जाता। अन्तःकरण के अंदर काम, क्रोध, मोह आदि की अग्नि जल र[illegible] और ज्ञान रूपी जल से ठंढी हो जाती है। महाब्रह्म ज्ञान रूपी अग्नि का यज्ञ कराते देखो, विचार करो, प्रचार करो कि यह श[illegible] बार-बार प्राप्त नहीं होगा। यह शरीर अ[illegible] है।

"संत बड़े परमारथी शीतल जिनके अं[illegible]
तपन बुझावें और की दे दें अपना रंग।"

ये मोक्ष पद देते हैं जो और कहीं प्राप्त[illegible] होता। जो उनके वचनों को मान लेते हैं वे [illegible] से छूट जाते हैं। विषयी लोग क्या जाने सन्तों के जरिये से क्या प्राप्त होता है। कुँजड़ा, बनिया मणि की महिमा क्या जाने

यह मन साँप है, भूत है, दूत है, शूक[illegible] कूकर है। "सोए सो खोए, जागे सो पा[illegible] एक राजा के ३६० रानियाँ थीं। एक एक दि[illegible] दर्शन देने की बारी बाँध ली। ३६० दिन के छोटी रानी की बारी आई। एक दिन पहले तैयारी कर दी। १० बजे रात्रि तक राजा आया। रानी दासी से बोली, मैं सो जाती[illegible] जागती रहना। राजा १२ बजे आया। [illegible] समझी राजा गुस्सा है, उसने नहीं जगा[illegible] सबेरे राजा चला गया। रानी ने खाली देखकर दासी से पूछा। दासी बोली, डर के नहीं जगाया। रानी हाय करके रह जाती नींद ने विमुख कर दिया। रानी ने सोया, को खोया। चौरासी लक्ष योनियों की मिली। परमात्मा ही राजा है। दासी बुद्धि ज्ञान आया और बुद्धि सोती रही अज्ञान नींद में।

जागता है—सत, असत् विवेकी।

जेहि जाने जग जाय हिराई।
जाने यथा स्वप्न भ्रम जाई॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माँहीं।
मोह मूल परमारथ नाहीं॥

जाग करके खोजता है कि स्वप्न कहाँ से आया था और कहाँ गया। जगने की रीति क्या है? 'सोऽहम्'। संत उपदेश देता है; जागते रहना, होशियार रहना चोरों से डाकुओं से। दासोऽहम्, गुलामोऽहम् रूपी चोरों से बचना। तू अविनाशी, अजर, अमर है; यही ललकार है, यही जागना है। दासोऽहम् का दकार निकल गया, 'सोऽहम्' रह गया और दासत्व गया। "सतगुरु आया अलख लखाया, शब्द सुनाया अविनाशी।" 'जागे सो सोऽहम् पावे, सोवे सो खोवै और होवे दासोऽहम, जन्मोऽहम्। 'सोऽहम्' पद में आने से छूट जाओगे, मुक्त हो जाओगे। जन्म-मरण से छूट जाओगे तो शूकर कूकर कौन होगा? ये तो वही होते हैं जो मलमूत्र स्थानों में वृत्ति रखने के कारण दासोऽहम्, देहोऽहम् कहा करते हैं। ऐसा ज्ञानी ही दयालु है, अन्य सब सिद्ध भी हों तो एक तन के टुकड़े करने के कारण वे सिद्ध भी दयाहीन हैं, कसाई हैं। कामी नाता नहीं निकालते। मांसाहारी के दया नहीं।

"पच-पच मरे कुटुम्ब हित
परमारथ नहिं कीन।
धिक-धिक ऐसे नरन पर
अमृत तज विष लीन॥

अतः जिह्वा नभ्या को वश करके स्वरूप की प्राप्ति करो। सत्य बोलो, सत्य से मिलो, सत्य का पूजन करो। मैं सबसे परे हूँ और सब को धरे हूँ। मैं हूँ वह कि जिसके आधार पर नख, उँगली, पैर, हाथ, पृथ्वी, आकाश, परिच्छिन्न, अहंकार, महातत्व, प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म, आत्मा आदि पृथक कल्पित हैं। सब विश्व का आधार अधिष्ठान परमात्मा है। जगत के पहले बनाने वाला था और रहेगा, वह है 'ईश्वर'। उसने अपने से जगत पैदा किया, अपने में रक्खा और लय किया, जैसे मकड़ी। प्रथम ब्रह्म एक अद्वितीय अमायिक था। 'एकोऽहम् बहुस्यामि'। यह नाटक बाजीगर के छोकरे का है। बाजीगर का सेवक माया। सब देखकर जानता है कि बाजीगरी है। जो नहीं जानता वह मोह में फँस जाता है। 'जगत प्रकाश प्रकाशक राम्'। प्रकाश और प्रकाशक दो नहीं। जैसे सूय और प्रकाश। प्रकाश निकाल लेने पर कुछ भी नहीं। अतः एक तत्व ही सबसे अभेद रूप में है। वही तुम हो।

"सुन सठ भेद होय उर जाके।
सिय रघुवीर हृदय नहिं ताके॥

भेद भक्ति सर्वत्र ही निन्दित है। भेद वाले को शठ कहा है। अभेदोपासना करो। सद्गुरु कहते हैं कि तुम वही हो।

२१

मनुष्य जीवन बार-बार प्राप्त नहीं होता, यह केवल कर्म और कर्म के बंधन और काल-चक्र से छूटने के लिए है। इसी से शास्त्रों और ग्रंथों में प्रशंसा की है।

"बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा॥"

बड़ा हिस्सा नर तन है। सृष्टि के आदि में जो था और अन्त नहीं होना इसी से बड़ा भाग कहा है। शेष यहीं रह जाता है। यदि इसका फल नहीं पाया निरर्थक होगा।

'शूकर कूकर करत हैं खान पान रस भोग।
तुलसी वृथा न खोइये यह तन भजिबे योग।'

शूकर कूकर भी बच्चे पैदा करते हैं, पालन करते हैं, खेलते कूदते हैं। "विषयानन्द संसार है, भजनानन्द हरिदास। ब्रह्मानन्द जीवनमुक्त है भई वासना नाश।" कर्म के भोग साथ-साथ लगे हैं। यदि लोगों के लिये नरतन खतम कर दिया तो क्या हुआ? मनुष्य का लक्ष्य केवल ज्ञान है। जो संसार के विषयों में लगा हुआ है वह पशु हो है। मनुष्य कहते हैं उसको जिस ने अपने मन को मना लिया। सब मन की शिकायत करते हैं।

"मरना-मरना सब कोई कहै जो मर जाने कोय
मरना वही सराहिये जो फेर न मरना होय।"

सुख वह है जिसमें दुःख की मिलावट नहीं है। वहाँ पर ज्ञान, अज्ञान, विज्ञान तीनों नहीं रहते। छाया का आनन्द वही लेता है जो तप के आया हो। जो सुख में ही पड़ा हो उसे न सुख का भान होता है और न दुःख का। संसार स्वप्न है, सिनेमा है। राग द्वेष से भग है। जब तक सोया हुआ है तभी तक है।

देखो जितने छोटे-बड़े शरीर हुये सब चले गये। वे काल के चरने की घास हैं। यदि परम प्रिय परमात्मा से नहीं मिले तो पुनर्जन्म लेना पड़ेगा। जैसे हमें कल उस काम को करना है तो आज अभी कर लेना चाहिये। संसार के जितने भोग हैं वे अनेक प्रकार से भोगे हैं; और भोग भी रहे हैं पर सन्तोष नहीं हुआ। जिन जिनको प्राप्त नहीं उनको भी सन्तोष नहीं, और जिनको प्राप्त हैं उनको भी सन्तोष नहीं क्योंकि ये पदार्थ बीच के हैं। यह मनुष्य जन्म ही एक बारी है। इस बारी में अगर मिल गये तो बन्धन से छूट गये। आगे यदि नर तन मिल भी गया और गुरु न मिला तो फिर भी वंचित रह गए। ईश्वर और गुरु दो हैं। ईश्वर कहते हैं उसको जिसने यह सारा जगत बनाया है। वह जगत पिता है। माता पिता ने अन्न खाया और साथ लगा दिये काल और कर्म। जब तक इस बात को नहीं जानोगे तो बार-बार जन्म के बन्धन से नहीं छूटोगे।

लोग कहते हैं कि ये गुरु की जय बोलते हैं, राम, कृष्ण की नहीं। ये गुरु को भगवान मानते हैं।

"हरि ने जन्म दियो जग माहीं।
गुरु ने आवागमन मिटाहीं॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा।
गुरु ने लिया छुड़ाय अनाथा॥
हरि ने कर्म चरम उलझाया।
गुरु गोविन्द सब फंद मिटाया॥"

जन्म देने से बड़ी बात यह है कि भ्रम से, फन्द से छुटकारा कैसे मिले। पाप, पुण्य ने सब फल भोगने पड़े और गुरु ने ही उस फन्द से छुड़ा लिया। हम जय यों बोलते हैं कि गुरु ने करम भरम से छुड़ाया। एक हुआ गऊ के पकड़ने वाला और एक हुआ छुड़ाने वाला।

'गोविन्द के किए जीव बस पड़े करमन में।
गुरु ने छुड़ाये सब ही दुःख द्वन्द्व से।
गुरु ने काटी ममता बेड़ी,
हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी॥''

गुरु पद सनातन है। सन्त सनन्दन और सनत्कुमार से है। भव दुःख से छुड़ाने वाला गुरु है और कोई नहीं। गुरुपद है आत्मा। आत्मा और संघात धर्मों का एकत्व हो गया। सनातन न सम्प्रदाय है, न पंथ है, न मजहब। यह परम्परा से चला आया है कि जो गुरु की सेवा करता है वह गुरु होकर पूज्य हो जाता है। विचार करो कि कर्म और कर्म के बन्धन से छूटने के लिए उपाय, साधन करना है। साधन विचार और यही है आचार और प्रचार। यह शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है। गलती का अर्थ है गल सड़ जाना, मिट्टी में मिल जाना। मैं और मेरा मिटाना है। एक दिन आयेगा कि जिन्हें हम नहीं छुड़ाना चाहते वे परवश छूटेंगे। इसी जगह मिले हैं और साथ जाने वाले नहीं हैं। इससे यह तो आप ही छूट जायेगा, छोड़ना है अभिमान कि मैं शरीर हूँ और शरीर कुटुम्ब भी मेरे हैं। यदि अभिमान सच्चा है पकड़ लें। खाली मन से मान रक्खा है कि बन्धन में पड़ा हूँ। "तू तो बन्धन मुक्त है तजो ऊँच की आस।" वासना बसूरिया है, तृष्णा तिलिंनिया है, दुविधा धोबिन है। ये सब बन्धन बिना विचार के हैं। विवेक से छूट जाते हैं। जो-जो शरीर को आत्मा मानते हैं वे आत्म हत्यारे हैं। सद्गुरु महात्माओं ने देह अभिमान को छोड़ दिया कि मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा अविनाशी हूँ। ये ही कर्म के बन्धन से छूटे हैं और छुड़ा सकते हैं। जो अपना स्वरूप लखाये वही गुरु है। मर करके कोई तरा नहीं, जीते जी ही तर सकता है।

नारद साध से अन्तर नाहीं।
साध चलें आगे उठ धाऊँ,
मोहिं साधुन की आसा।
जो साधू मेरे गुण गावैं, तेहि घर मेरो बासा।''

"संत हमारी आत्मा, हम संतन के जीव।
संतन में हम यों रमें ज्यों माखन में घीव॥"

"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम"। (गीता)

कृष्ण कहते हैं कि बसा तो सब में रहता हूँ पर ज्ञानी तो मेरी आत्मा है। जिसकी गति हुई वह ज्ञान से हुई। भक्ति का नाम है गति। अभय गति ही भक्ति है। अभय अभेद में ही होता है अभय पद है 'सोऽहम्'।

२२

संसार और संसार के भोगों के लिये यह नर तन प्राप्त नहीं हुआ। पुरुषार्थ करके यह शरीर मिला है। यह पुरुषार्थ क्षेत्र है। इसलिये काल कर्म के बन्धन से पुरुषार्थ करके छूटना चाहिये। तीन प्रकार के जो दुःख हैं उनसे छूटने के लिए यह नर तन प्राप्त हुआ है। दूसरी योनियों में इतना ज्ञान नहीं है कि वह पाप और तापों से

छूट जायें। जो विषयों में अपना मन लगा देता है और अपनी आयु खराब कर देता है उसको नरक भोगना पड़ता है। पुरुषार्थ करके, ज्ञान की प्राप्ति करके जन्म मरण के बन्धन से छूटने के लिए यह मनुष्य तन है। हमारा मन जायकी मजाकी बन गया है, कारण यह कि बाल अवस्था में ब्रह्मचर्य के पालन से परा, अपरा विद्या प्राप्त नहीं की। यही कारण अल्पायु होने का है। तप, तेज, बुद्धि, पराक्रम नहीं रहता। २४ वर्ष की घुनी तलवार काम नहीं दे सकती।

खूब अच्छी तरह से विचार कर लो। देख लो, क्या देखना है? देखना है कि एक मनुष्य शरीर ही बन्धन से छूट सकता है। इसी में ज्ञान रहता है जो सबमें होकर सबको जान रहा है। जानने की शक्ति इस मनुष्य शरीर में ही है। विचार करो कि यह शरीर ही जान है जो देखने में आता है। इसी पर सब कानून दफा हैं। कर्म करो, उपासना करो, ज्ञान प्राप्त करो। यह मनुष्य शरीर ही परम पद की प्राप्ति का साधन है। हमें उसी परम पद की प्राप्ति में लगना चाहिये। "स्वर्ग नरक अपवर्ग नसैनी, ज्ञान वैराग भक्त उर देनी।" हमें संसार के भोगों को न भोग करके, लापरवाह होकर, उदासीन होकर रहना चाहिए। ज्ञान से मोक्ष, परम पद की प्राप्ति करना है। अगर हम भूल गए, समय पर चूक गये तो फिर खोजने में बहुत साल लग जायेंगे। विचार करना ही मनुष्य का जीवन है। बार बार देखो कि शरीर पंचायती मकान है। परन्तु फिर भी हम भेद करके देखते हैं। वैसे भी देखो तो इस संपूर्ण संसार का मूलभूत एक कारण यह शरीर अभिमान है कि मैं शरीर हूँ। यह अभिमान ही बंधन का हेतु है। इस तन से ही सब भजन, पूजा, पाठ, जप, तप, योग, यज्ञ सब मनुष्य त[illegible] प्राप्ति के लिये ही किया जाता है। परलोक से परे लोकपद भी इसी से प्राप्त होता है।

यह जो कुछ बनावटी है यही बिगड़ना यही चाहे कैसे ही और किसी प्रकार से ब[illegible] गया हो, मिटेगा। लाखों मत, पंथ, जाति, हैं, वे केवल एक नरतन में ही हैं और नर[illegible] ही तत्व ज्ञान प्राप्त होता है। नख, नाड़ी,[illegible] मिट्टी के भाग से बने हैं। २५ तत्त्व से यह[illegible] शरीर हुआ है। लार, मूत्र, पसीना, वीर्य, जल के हैं। आलस्य, निद्रा, क्षुधा, तृषा,[illegible] अग्नि के हैं। चलन, वलन, धावन, प्रस[illegible] संकोचन वायु के हैं। शोक, काम, क्रोध,[illegible] मोह आकाश के हैं। इस तरह २५ तत्त्व[illegible] यह पुतला स्वाँसा के आधार पर बना है।[illegible] निकली कि सारा मामला खतम। जो कु[illegible] विचार। विचार के आसरे पर शब्द कहो, कहो, चित्त, बुद्धि, अहंकार कहो। हैं सब[illegible] मोक्ष से छूटने के लिए। ये सब बीच बी[illegible] हो चले हैं। इसके अन्दर एक सूक्ष्म शरीर[illegible] दैविक शरीर है। विचार ही परम धाम है। बार यही बात देखना है और जानना है। प्राण, पंच कर्मेन्द्रियां। प्राणमय कोष है। मात्रा का शरीर ॐ से बना है। एक[illegible] उच्चारण करने से सब नाम बाहर के आ[illegible] हैं। ॐ आता है सोऽहम में, सोऽहम आ[illegible] हम में।

बड़े भाग्य का यह साधन है इसीलिये बतलाया है। बहुत से यह मानते हैं कि जन्म संसार के भोगों को भोगने के लिये पांचो कोष मानव शरीर में हैं। सब साधन द्वारा होते हैं।

वर्तमान में यह शरीर मिल गया है। अभी अपना काम झटपट करना चहिए। स्वाँसा का कोई ठिकाना नहीं। गुरु पद से गिर जाओगे और बार बार जन्म लेना होगा। सद्गुरु की शरण में आकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्राण-मय, मनोमय, विज्ञानमय अर्थात सूक्ष्म शरीर से परे नारायण की—परमपद की प्राप्ति के लिए है। कारण शरीर वह है जिससे ये सब तत्व निकले हैं। महाकारण तुरीयावस्था, यह समष्टि है। वैश्वानर हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा भगवान आदि सब नाम ही हैं। जो कुछ पलक खोलकर तुम देखो, सारा खलक तुम्हारी नजर में आ जाता है। देखने में आ जाता है। सारा जगत तुम्हारी पलक में है। कारण रूप करके एक, और कार्य रूप करके अनेक। एक के ही सब नाम पड़ गये। जैसे मिट्टी पर सब घट, मकान आदि बने हुए हैं।

'सोऽहम्' स्वयम् है, होना नहीं है। 'सोऽहम्' त्रिपुटी के परे है और त्रिपुटी को धरे है। आत्मा, परमात्मा यह निर्भय पद बगैर ज्ञान के प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा के बन्ध की प्रतीति भी ज्ञान के द्वारा होती है। ज्ञान तीन प्रकार का है—सामान्य ज्ञान, अज्ञान, विशेष ज्ञान। सामान्य अग्नि काष्ठ को जलाती नहीं, प्रकाश नहीं करती। विशेष अग्नि जलाती है, प्रकाश करती है। ऐसे ही सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान को समझना चाहिये। सब में तुम ज्ञान स्वरूप ही समान सामान्य हो। सारा भौतिक ज्ञान वृत्ति जन्य ज्ञान विशेष है। यह सब कल्पित है। केवल तुम ही एक सत्य हो।

इस बात का विचार करो कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, क्यों नहीं हूँ? इसलिए कि यह शरीर जो है तो माता की टट्टी, मैले की भट्टी है, बनावटी है। इसका जन्म हुआ है, इससे पहले था नहीं। यह बालक हुआ, जवान हुआ, बूढ़ा हुआ, जरा हुआ, मिट्टी में मिल गया। यह भौतिक है, मैं अभौतिक हूँ। यह जन्मा है, मैं अजन्मा हूँ। प्राण मेरा नहीं, प्राण मैं नहीं। प्राण है जब तक तभी तक जीवन है, श्वास है तब तक आशा है। श्वास निकली और मैं और मेरे का नाटक, तमाशा खतम। जिसके पालन-पोषण में लगे रहते हो, श्वास निकली कि कण्डों, लकड़ियों में रख दिया जायगा। जिसे मैं और मेरा माना था, सो मिट्टी की चीज मिट्टी में मिल गई। यह सब बनावटी और बिगड़ने वाला है। शरीर, प्राण, जीव, ईश्वर, स्वभाव, गुण सब में मैं हूँ। सबका 'मैं' मैं हूँ। सब कोई 'मैं' कहते हो। मैं का ज्ञान पहले से ही है। कितने आये इस मकान में, भूमि पर मैं और मेरा कहते हुये चले गये। यह आना और जाना जो देखने में आ रहा है, यह श्वास तक है। यह मैं नहीं, यह मेरा नहीं, परन्तु इसमें मैं हूँ। इससे मेरा कहता हूँ। मैं अपने को मैं, मेरा कहता हूँ शरीर को नहीं। यह सनातन सिद्धान्त है, सब में सना है, व्यापक है इससे सनातन है। पूर्ण और सर्व का मूलाधार मैं है। 'मैं' में सर्व है और मैं सब में है। 'मैं' को 'तुम' नहीं कह सकते। ये सब धर्म हैं और मैं सर्वाधि-ष्ठान, आधार धर्मी हूँ। जिस करके ये सब हैं, जिसमें ये सब हैं, जो सबमें होकर सर्व को प्रकाश रहा है, देख रहा है, जान रहा है 'सोऽहम्'। इस

जानने वाले का मुख्य नाम तो 'मैं' और गौण नाम हैं भगवान, राम, वासुदेव आदि। सब की जान है, सबमें बसा है, रोम रोम में है, पूर्ण है, पूर्ण पुरुष है। यदि श्वास के रहते न जाना तो रोना होगा, पछताना होगा, जल्दी अपना काम कर लो। जन्मते-मरते, आते-जाते हजारों युग आये और चले गये। परन्तु कोई कोई समझ गये कि यह नाटक है और हम खेलने वाले हैं। वे हँसते गये और बाकी रोते गये। जहाँ से आये थे वहीं गये। कहाँ से आये थे? हमसे आये थे, रहे हम में और गये भी हम में और रहे हम। यह सनातन धर्म है, हमारा धर्म है। गीता के पढ़ने वालो, कृष्ण के मानने वालो यह तुम्हारा सिद्धान्त है। यह तत्व सार है, बाकी सब असार है।

'कदली तेरे पेड़ में कभी न निकले सार।'

सार कुछ नहीं, ऐसा यह असार संसार है, झूठा भी है। इस शरीर से माँस, हड्डी, मज्जा सब निकाल दो तो शेष आप खुद रह गया। यह नर तन कर्म के करने और भोगने के लिए नहीं है, संसार सागर से तरने के लिए है। सबके मूल मध्य और अन्त में मैं हूँ, शेष मैं हूँ। शरीर मेरे में जन्मा, बालक हुआ, जवान हुआ, बूढ़ा हुआ, जरा हुआ और मरा, वास्तव में कुछ नहीं हुआ। सब मेरे में हुआ। मैं वही हूँ जो इसमें वास्तविक रूप से बस रहा है। जो देख रहा है, जान रहा है सोऽहम्, यही गुरु पद है। 'मैं' का वास्तविक रूप है ब्रह्म, आत्मा। यह अहंकार नहीं यथार्थ ज्ञान है। 'सतगुरु आया अलख लखाया, शब्द सुनाया अविनाशी।' वे गोरू हैं जो बताते हैं, गुरु तो लखाते हैं। कृष्ण ने, राम ने ज्ञान दिया। जो ज्ञान दे लखा दे वह गुरु है—

'गुरु शिष्य अन्ध बधिर कर लेखा।
एक सुन न सकै और एक नहीं देखा॥'
'हरै शिष्य धन शोक न हरहीं।
ते गुरु घोर नरक में परहीं॥'

भेदवादी ईश्वर में और अपने में जीव में किंचित भेद करते हैं वे घोर नरक में पड़ते हैं—

'दशरथ-भेद भक्ति उर लावा।
तासों उमा मोक्ष नहिं पावा॥'

देखो धर्म वह है जो धर्मी का ज्ञान करावे। धर्म है उष्णता, प्रकाश और धर्मी है अग्नि। बगैर धर्मी के धर्म रह नहीं सकता। बगैर धर्म के धर्मी का ज्ञान हो नहीं सकता। ईसाई, दादू पन्थी आदि ये सब पन्थी हैं, मजहबी हैं। हम सनातन हैं, सनातन हमारा धर्म है। बाकी मत हैं, उनके चलाने वाले से आरम्भ हुए हैं। कर्म करने से होता है। कर्म कोई वस्तु नहीं, कर्त्ता के कृत्य का नाम कर्म है। कर्म पैदा होता है, इसलिए नाशी है। कर्म, उपासना, योग आदि प्रवृत्ति मार्ग में हैं, इसलिए नाशी हैं। निवृत्ति मार्ग है 'शिवोहम्', 'दासोऽहम्' नहीं। दकार निकाल दो "द्वितीयाद्वै भयं भवति"। देश, काल, वस्तु जिसमें है और जिस करके सब कुछ है सोऽहम्, शिवोऽहम्। यह ज्ञानियों का उद्गार है, बोध होने का। साधक पुरुषों के लिये यह उपदेश है। ज्ञानियों का यह नारा है, क्या?— शिवोऽहम्, सोऽहम, चारों महावाक्य, 'ब्रह्म विद ब्रह्मैव भवति'। आइने में आइने का देखने वाला अपना ही है और कुछ नहीं। ज्ञानी आपको देखता है, अज्ञानी तू करके देखता है। जब तक भेद भक्ति का त्याग नहीं करोगे तब तक शान्ति नहीं होगी। —शिवोहम

जितने कुछ भी मत या मजहबी, सम्प्रदायी, पन्थायी इस बात की डींग मारते हैं कि भगवान्, परमात्मा के विषय में जो कुछ हम लोग दिखाते हैं, जानते हैं, वह कोई अन्य मत मजहब वाले नहीं दिखा सकते और नहीं जना सकते। ये लोग दूसरे की लिखी पढ़ी बात पढ़कर कहने सुनने लग जाते हैं। दूसरों से कहने लगते हैं कि आओ तुम हमारे मत या मजहब में हम तुम्हें दिखाते हैं। जो लोग उनके कहने सुनने में आ जाते हैं उन्हें दस बीस आसन बता देते हैं, किसी को धोती, नेति, वस्ति, नौली आदि क्रियायें तथा पूरक, कुम्भक, रेचक रूप में प्राणायाम सिखा देते हैं अथवा पिण्ड योग या ब्रह्माण्ड के चक्र और मुकाम, बक नाल व त्रिपुटी, शून्य या महाशून्य, गगन गुफा, भँवर गुफा, हिंडोला व दसवाँ द्वार, सुनहरी, रूपहरी नहरें, हीरा पन्ना से जड़े हुए चबूतरे, शीशमहल या सत्पुरुष का दरवाजा खोल करके सत्यलोक में पहुँचना, सत्पुरुष का दर्शन करना, नाद योग, प्रकाश योग आदि करा देते हैं। अनेक प्रकार के योग में घण्टा, शंख, बांसुरी आदि का नाद, आकाश का शब्द, बिजली की तड़पन, गर्जन आदि अनेक प्रकार के शब्द और प्रकाश, अनेक रङ्ग, महताब का प्रकाश, श्वेत प्रकाश, सूर्य का प्रकाश, आँख मीचकर या श्वास चढ़ा करके देखना, सुनना इसी को योग महायोग कहते हैं। सत्पुरुष का दर्शन करके फिर रूह अलख लोक में पहुँचती है। अलख पुरुष की काया और प्रकाश आदि बतलाते हैं। अलख लोक से अगम लोक, असंख्य शंखों की काया, असंख्य शब्दों, असंख्य प्रकाश रूप, अगम पुरुष के बारे में कहते हैं। अगम पुरुष से परे अनामी पुरुष है, अनामी पुरुष से परे अकह पुरुष है आदि अनेक नाम और स्थान बताते हैं। इसी प्रकार अनेक मत, मजहब वाले हैं इन लोगों ने अपने-अपने मत के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम रख लिये हैं।

सतगुरु का कहना है कि ये सब मत या मजहब किसमें रहते हैं; इन सब का अनुभव करने वाला कौन है? जो कि सब का अनुभव करके बता रहा है, गवाही दे रहा है तुम इसको क्या कहते हो? तुमने इसका क्या नाम रखा है? सत्पुरुष, अलख पुरुष, अनामी पुरुष ये सब किसमें रहते हैं, उसकी लम्बाई, चौड़ाई कितनी है कि जिसमें ये सब रहते हैं। जिस करके यह सब जाना जाता है और जो सबमें होकर सब को देखता और जानता है इसको तुमने देखा है, जाना है, तो बतलाओ, और यदि नहीं जाना तो सत्गुरु पूर्ण में आकर जाना, देखा। सत्गुरु इस बात को डके की चोट पर कहते हैं कि देखो, जानो, देखने, जानने वाले को।

× × × ×

नवीन नैयायिको! तुम्हारे मत में जितने उदाहरण दृष्टान्त दिये हैं—ईश्वर, प्रकृति, जीव आदि—ये सब प्रत्यक्ष में सावयव पदार्थों के विभिन्न रूप हैं। पृथ्वी के आधार पर बट रहता है। इस बट के आधार पर दो पक्षी डालियों में रहते हैं। उन डालियों से एक देश में जीव, ईश्वर बैठे हुये तुमने माना है। उनमें एक कर्म करता है और एक कर्म फल भोगता है। ये सब प्रमाण तुम्हारे बिल्कुल विपरीत हैं। सावयव रूप में ये साकार, परिच्छिन्न, एक देश में रहने वाले हैं और ये सब नाशी हैं। पृथ्वी भी साकार, बट भी साकार, डालियाँ साकार तथा उन पर बैठने वाले भी साकार हैं। बैठना साकार ही में होता है। लेन-देन, व्यवहार, भोगना यह सब साकार में होता है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। इस सम्बन्ध में कुलाल का जो दृष्टान्त दिया गया है कि उपादान कारण मिट्टी है और कुम्हार दण्ड आदि निमित्त कारण हैं, चाक को सामान्य कारण माना है, ये सब साकार, सावयव एक देशीय पदार्थ हैं। सब अपने-अपने देश को लिये हैं। एक देश से एक देश में भिन्न रहते हैं। निमित्त कारण कभी व्यापक नहीं हो सकता। ये तुम्हारे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। कुलाल घट से, मिट्टी से, चाक से भिन्न होकर घट को बनाता है, ऐसा वह ईश्वर है। जैसे देखने में, प्रत्यक्ष में कुलाल, घट, मिट्टी, चाक का नाश होता है ऐसे ये ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि नष्ट हो जायेंगे। प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। जितने भी निमित्त कारण हैं, कुम्हार, बढ़ई, लोहार आदि इन सबका नाश होता है यह सब प्रत्यक्ष ही देखते हैं। साधारण कारण भी नित्य नहीं हैं। इन प्रत्यक्ष प्रमाणों से ईश्वर की सर्वज्ञता, व्यापकता सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर को निराकार और व्यापक बतलाते हो, इसके लिये कोई ऐसा प्रमाण नहीं है कि जिससे यह सिद्ध हो जाय कि ईश्वर निराकार, व्यापक है। युक्ति, अनुभव, श्रुति प्रमाण से भी यह नहीं जाना गया है। अतः यह मत समीचीन नहीं है और प्राचीन भी नहीं है परन्तु कपोल कल्पित, मन माना है। यह बच्चों का खेल है। अनेक खेल बच्चे खेलते हैं और बना लेते हैं, ऐसे ही उन आचार्यों ने बना लिए। बच्चे मिट्टी लेकर अनेक प्रकार की मिठाई आदि सब मन मानी बना लेते हैं, मनोकल्पित बारूद, बाजा, बारात बनाकर खेलते हैं। हाथों में लेकर ओठों तक ले जाकर मिठाई खाने का भाव दिखलाते हैं। इस मनोरंजन से ही तृप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार बाल बुद्धि वालों के लिये यह मत है। इस प्रकार मानने वालों को कभी शांति नहीं मिल सकती। विद्वानों का यह सिद्धान्त नहीं है कि ईश्वर, जीव, प्रकृति ये तीनों अनन्त अनादि हैं। वास्तव में इन तीनों का आधार ही अखण्ड, अनादि है। जैसे सर्व पदार्थ आकाश में रहते हैं वैसे शब्द चेतन में सब रहते हैं। पृथ्वी, वृक्ष, जीव-जन्तु सब एक आकाश के अन्दर हैं, वैसे ही जीव, ईश्वर, प्रकृति, कर्म, माया एक शुद्ध ब्रह्म में ही रहते हैं।

त्रिपुटी का ज्ञान सभी को है। परन्तु इस ज्ञान से किसी को आज तक शान्ति नहीं मिली और कोई देखने में भी नहीं आती। त्रिपुटी वालों को जब देखो तब साकार निराकार की व्यापकता में और जड़, चेतन, अल्पज्ञ, सर्वज्ञ इन्हीं के झगड़ों में रात दिन पड़े रहते हैं। स्थिति व शान्ति नहीं मिलती क्योंकि इनके पास सिद्धांत है नहीं बिना सिद्धांत के स्थिति और शान्ति हो नहीं सकती। सबका मूलाधार एक ही होता है। चित्त की एकाग्रता एक ही में होती है तीन में नहीं। चित्त की एकाग्रता के लिए सभी प्रयत्न करते हैं पर एक चित्त तीन में कैसे एकाग्र हो सकता है। अनादि, अनन्त व्यापक तो एक ही होता है। भगवान कृष्ण का यह सिद्धांत है कि जिसकी आत्मा में स्थिति है, जो आत्मा में ही तृप्त है आत्मा में शान्ति है 'तस्य कार्य न विद्यते' उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। ऐसी निर्विकल्प स्थिति है जिसको ऐसा ज्ञानी ही परमानन्द प्राप्त करता है। अपने आप में तृप्त होकर, शिवरूप होकर सब कर्तव्यों से रहित होता है और 'शिवोऽहम्' ऐसा जानकर एक अद्वितीय आत्मपद में स्थित होता है। सिद्धांत एक ही रहता है। सबके मत में ईश्वर एक अद्वैत रूप ही माना गया है। वह निराकार, पर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान माना गया है। अपने कार्य करने में बाहर से कुछ न लेकर अपने संकल्प मात्र से ही सब कुछ अपने आप में ही करके दिखा देता है और आप ही सबमें रहकर सबकी सिद्धि करता है। आप स्वयं सिद्ध है। ईश्वर को कुलाल की तरह चक्र, दण्ड की जरूरत नहीं। कुलाल की उपमा देना या जितना निमित्त कारण है उनकी ईश्वर से उपमा देना उपयुक्त नहीं। श्रुतियाँ 'एक सद्रूप ब्रह्म था' ऐसा कथन करती हैं। अतः ईश्वर किसी का आश्रय लेकर सृष्टि का कारण नहीं है। जैसे स्वप्न में बिना किसी साधन के मन स्वप्न रचता है वैसेही ईश्वर किसी की अपेक्षा नहीं रखता। कृष्ण भगवान ने यह सिद्धांत बताया है कि मेरी दो प्रकृति हैं—परा और अपरा। अपरा जड़ प्रकृति अष्टधा है अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश मन, बुद्धि अहङ्कार और परा प्रकृति जीव है, चेतन है। दोनों जड़ चेतन मिलकर यह संसार मेरे आधार पर बनता विगड़ता है या देखने में आता है स्वप्नवत। इस जगत का आधार अधिष्ठान, द्रष्टा, साक्षी, परमात्मा मैं हूँ। मैं अनन्त अनादि हूँ। मेरी अनादिता, अनन्तता से ये दोनों प्रकृति अनादि अनन्त सी मालूम पड़ती हैं। क्योंकि मैं सत हूँ इसीसे मेरी प्रकृति सत सी मालूम पड़ती है। जैसे जल में लहर, फेन, बुदबुद सब जल में है जल के हैं, सब जल ही हैं। जल से भिन्न कुछ नहीं। इसी प्रकार दोनों प्रकृति मुझसे भिन्न नहीं हैं ये मेरे में हैं। सबका मैं 'मैं' हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं। ऐसा गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है। त्रैतवादियों का तो मत है कि जहाँ साकार, सावयव, परिच्छिन्न, एक देशीय हो वहाँ पर सम्बन्ध सम्बन्धी होते हैं, आदि अन्त और मध्य वाले हुआ करते हैं। उन्हीं का एक का से सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ निरवयव, निराकार, अपरिच्छिन्न, व्यापक पदार्थ है वहाँ एक से दो होते सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात

व्यापक व्याप्य सम्बन्ध नहीं होता। आधार, आधेय की कल्पना नहीं होती। आद्यन्त भी नहीं। वहाँ एक दो तीन की कल्पना नहीं होती। द्वैत, त्रैत, चतुर्थ पन्चमवाद या सत्वाद साकार सावयव पदार्थ में होते हैं और साकार सावयव पदार्थ कल्पित मिथ्या हुआ करते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति तुम्हारे मत में साकार सावयवहैं, क्योंकि आपस में एक का दूसरे से सम्बन्ध माना है।

जीव, प्रकृति से ईश्वर सूक्ष्म है और प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और जीव ईश्वर की अपेक्षा से प्रकृति स्थूल है। इनके लिये देश काल की अपेक्षा है। देश काल की अपेक्षा वाले पदार्थों को अनन्त नहीं कह सकते। जो काल और देश की अपेक्षा करे वह पदार्थ अनन्त नहीं हो सकता। पर जो वस्तु देश काल वाली है उसको अनन्त अनादि मानते हैं, यह सब बुद्धिवाद है। मन, बुद्धि की कल्पना है क्योंकि बुद्धि के विचार में नहीं आयी तो अनन्त, अगम, अगम कह दिया। यह बुद्धि की मूढ़ावस्था है और मूढ़ों की यही अवस्था होती है। तुलसीदास जी ने रामायण में कहा भी है—

'मूरख हृदय न चेत,
जो गुरु मिलैं विरंचि सम'

जो मूर्ख हुआ करते हैं उनका यह मत है कि अपने सामने किसी दूसरे को विद्वान् समझते ही नहीं। मानते ही नहीं।

अपनी मूढ़ता को लेकर के मन गढ़न्त बातें लिख जाते हैं जैसा कि 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है 'देवर' का अर्थ किया है कि 'देवराकस्मात् द्वितीय रोच्यते" देवर सनातन धर्म में पति के छोटे भाई को कहते हैं। दयानन्द ने यह लिखा है छोटा या बड़ा भाई छः पीढ़ी तक दुबारा पति करने की आज्ञा दी है। देवर का अर्थ करके और देवर का नाम गन्धर्व रखा जो दुबारा पति किया जाय उसका नाम गन्धर्व ही है। इसी प्रकार 'सत्यार्थ प्रकाश' में अनेक बातों से उसकी रचना की जिसका कि कोई श्रुति या स्मृति प्रमाण भी नहीं है। एक से जहां दो होंगे वहां भेद आ जायगा और एक से एक के आश्रम रहने की अपेक्षा आ जायेगी। परिच्छिन्न देश कल्पित, काल कल्पित वस्तु शून्य हो जायेगी उसको अनन्त नहीं कह सकते। अनन्त वे ही वस्तु हैं जो एक हैं जैसे कि आकाश सब जगह पर पूरण है। एक है, दो नहीं और जिसको किसी प्रकार से पता आदि अन्त का नहीं लगे कि यह कब से है कब से नहीं था कब नहीं रहेगा तो अनन्त वही कहलाता है अनादि वही कहलाता है। त्रिपुटी का आदि अन्त तो है। प्रलय के बाद उत्पत्ति, उत्पत्ति के पीछे प्रलय यह आदि अन्त का तो पता है ही। और पता न लगने से अनन्त अनादि नहीं कहते, कल्पित अनादि कहते हैं। कहने में न आवे गिनती में न आवे उसको अनन्त अनादि नहीं कहते। कल्पित अनादि सीमा वाले पदार्थ का नाम होता है। सीमा वाले पदार्थ को कल्पित कहते हैं। जिसका आदि नहीं है सीमा नहीं है उसी को अनन्त अनादि कहते हैं। गिनती में नहीं आवे उसको असंख्य ऐसा कहते हैं। पर वह असंख्य नहीं क्योंकि गिन न सकने से असंख्य कह दिया पर असंख्य नहीं। ऐसे आदि अन्त का पता न लगने से अनन्त नहीं। आदि अन्त वाले हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति सब अपनी अपनी सीमा में हैं असीम नहीं। असंख्य कहने से गिनती का अन्त न आवे उसको भी लोग अनन्त कह देते हैं परन्तु जिसकी संख्या की जाती है वहाँ एक

सरे में, दूसरे का तीसरे में अन्त हो जाता है। इससे तुम्हारे ईश्वर, जीव प्रकृति अन्त वाले हैं। अनन्त एक वस्तु वह है जिसमें ईश्वर, जीव प्रकृति सब रहते हैं। जैसे आकाश में तेज, वायु जल, पृथ्वी सब रहते हैं और आकाशक आकाश ही सब रहते हैं। देश, काल, दिशायें सब आकाश में हैं और आकाश सब में हैं। सबके अन्त होने में आकाश का अन्त नहीं होता। आकाश की इतनी लम्बाई चौड़ाई है जिसमें ये सब हैं और जो सबमें है और सबकरके आकाश का आदि अन्त नहीं है पर आकाश में सबका आदि अंत है। ऐसी ही एक चेतना अखण्ड, अविनाशी, अजर, अमर ब्रह्म आत्मा है जिसमें तुम्हारी माया, जीव, ईश्वर रहते हैं, जिसकी चेतन्यता, सत्ता सबमें रहती है। चेतन अखण्ड अनन्त है। आकाश का अवकाश देने वाला जिसमें कि आकाश सब करके पृथ्वी, तेज, जल, वायु रहते हैं। सबको जो अवकाश देता है हम सब उस अवकाश में कल्पित रहते हैं। जिस अधिष्ठान में ये सब कल्पित हैं, जिसमें ये सब रहते हैं जो सबमें होकर सबका आकाश रहा है वह स्वयं गवाही है जो गवाही दे रहा है। यह स्वयम् ही स्वमात्र था। सत्य ही स्वयम् है और स्वयं ही स्वयं रहेगा। जो आत्मा अविनाशी अजर, अमर है, अनन्त है। देश, काल, वस्तु करके जिसका न कभी अंत हुआ है, न है, और न होगा, ऐसा एक आत्मा ही है। इस आत्मा ही के ये सब विशेषण दिये हैं और बताये हैं और सब को अन्त वाला बताया है। एक आत्मा ही ऐसा है जिसे काल नहीं खाता, ब्रह्मा से आदि लेकर के सब का काल बतलाया है तो जाके डर ब्रह्मा विष्णु मुनि होते हैं कम्पायमान। जाके डर सुर, असुर, इन्द्र डरते हैं क्योंकि ये सब एक देशीय हैं। देश काल वाले हैं इसी से डरते हैं, आत्मा ही एक अविनाशी है जो कलह का काल एक अखण्ड ब्रह्म आत्मा का वान्छक है। रामायण में कहा है "जिसका नाम लेने से भवसिन्धु सूख जाता है जो कालउ का काल भयङ्कर सुमिरत ताहि शरण आकर भैतवादियों का मत इसी के बीच में कल्पित है समीचीन नहीं सबके बीच में सनातन एक ब्रह्म आत्मा ही समीचीन है।

चाहे समझो पलक में,
चाहे जन्म अनेक।
जब समझो तब समझ है,
हूँ सब घट में एक॥

भैतवादी ईश्वर को सत् चित् आनन्द लक्षण वाला कहते हैं। जीव सत् चित लक्षण वाला है और प्रकृति सतजड़ है। इस शरीर में तीनों के लक्षणों को बताना चाहिये कि सत्चित् आनन्द लक्षण वाला किस जगह है, फिर सत चित लक्षण वाला जीव इस शरीर में बताना चाहिये और फिर सतजड़ प्रकृति को बताना चाहिए और प्रकृति सत् चित् आनन्द तीन लक्षण ईश्वर के व्यापक और प्रकृति का सत् जड़ में है लक्षण बताना चाहिये कि यह प्रकृति के हैं और ये ईश्वर के हैं क्योंकि ईश्वर सत् चित् आनन्द रूप से व्यापक है इसलिए जीव में और प्रकृति में ईश्वर का सत् चित् आनन्द लक्षण बतलाना चाहिये और इनका सयोग सम्बन्ध है या सामवाय सम्बन्ध है या व्यापक सम्बन्ध है, आदि नित्यसम्बन्ध है या अनित्य सम्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध कहा तो

वियोग होगा और नित्य कहा तो मोक्ष का अभाव होगा और सयोगी वियोगी माना तो सयोग वियोग किसके आधार पर होता है। इनके आधार, अधिष्ठान, द्रष्ठा काल है और सयोगी वियोगी पदार्थों का कोई सयोजक होना चाहिये और यदि सयोजक मानोगे तो त्रैतवाद चला गया और ईश्वर, जीव, प्रकृति काल, कर्म ये सब किसमें रहता है। इनका लक्षण किसने किया कि ईश्वर सत् चित् आनन्द है, जीव सत् चित् है और प्रकृति सत जड़ है। यदि ईश्वर करता है तो ऐसा कहना चाहिये कि मैं सत् चि
आनन्द हूँ। जीव सत् चित् और प्रकृति
पर ऐसा कहते नहीं और कहने वाला गवाह
रहा है कि ईश्वर, जीव प्रकृति ये तीन हैं,
ये लक्षण हैं। इससे सिद्ध हो गया कि इन
को सिद्ध करने वाला स्वयम् सिद्ध है।
ऐसा मानोगे तो तुम्हारा त्रैतवाद चला गया
जितने भी संसार में मत हैं सब इस त्रैतवा
के भौतिक उपासक हैं

कीर्तन

[१]

आरति सतगुरु देव नमामी। पार ब्रह्म प्रभु अन्तरयामी ॥
अगुण अपार अलख अविनाशी। अचल विमल प्रभु सब उर वासी ॥
निर्गुण निर्विकार सुखरासी। एक अरूप अलेख नमामी ॥
महिमा नेति नेति श्रुति गावैं। नित्य निरंजन सब बतलावैं ॥
शेष शारदा पार न पावें। जय सच्चिदानन्द अभिरामी ॥
वचन किरण तम मोह विनाशक। ज्ञान सूर्य माया के शासक ॥
दिव्य दृष्टि के परम प्रकाशक। ब्रह्मादिक सुर सेव्य नमामी ॥
जब तक कृपा न गुरु तुम करते। विधि हरि क्या भव से तर सकते ॥
अस विचार गुरु भक्ति जो करते। मिलते राम उन्हें सुखधामी ॥
गुरुवर चरण कमल की छाया। करती दूर ताप त्रय माया ॥
जब तक पूर्ण न होवे दाया। मिलत नहीं शिव अन्तर्यामी ॥
भक्ति ज्ञान वैराग्य नियम के। रूप सकल इन्द्रिय संयम के ॥
भूषण शम दम पंच सुयम के। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ मम स्वामी ॥
जीवन धन मंजुल निज जन के। अंकुश मद मतङ्ग जन मन के ॥
शुचि पथ परमारथ पथिकन के। एक रस आनन्द रूप नमामी ॥

---

[२]

कि भाई रे सतगुरु है रखवरिया कैसे धँसे महलिया में चोर।
कि भाई रे तन सोधो मन बस कर राखो दुविधा को देव निकार।
कि भाई रे ज्ञान ध्यान के कर लेव पहरुवा आठ पहर हुशियार।
कि भाई रे बंक नाल की खोलो किंवरियां लखलेव औघट घाट।
कि भाई रे गगन महलिया भई उजयरिया शोभा अपरम्पार।
कि भाई रे गगन न गर्जे बिजली न चमकै अनहद बन्द न होय।
कि भाई रे अष्ट मास अलमस्त महीना हंस पयाना न होय।
कि भाई रे काया नगर मां फिरी है दुहाई द्वितिया रहा न कोय।
कि भाई रे यमराज को दई चुनौटो रोक सके नहिं कोय।
कि भाई रे सतगुरु कहे सुनो भाई साधो आवागमन न होय।

---

[३]

कैसी करी नादानी खो दई जिन्दगानी।
गुरु की शरण कबहुँ नहिं आये, अपने मन की ठानी॥
सोऽहम धुनि की सुनी गरजना, चढ़ो न तन कौ पानी।
कथा भागवत बहुतक बाँचे, कोरे पंडित (वंचक) ज्ञानी॥
वंचक भक्त कहाए राम के, कञ्चन किंकर कोह काम के।
रमा विलास राम अनुरागी, तजत वमन इव नर बड़ भागी॥
यह तन कर फल विषय न भाई, स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।
लोभी, लम्पट कुटिल विसेखी, सपनेहुँ सन्त सभा नहिं देखी॥
माने मात पिता नहिं देवा, सन्तन से करवावैं सेवा।
जिनके ये आचरण भवानी, सो जानो निश्चर समप्राणी॥
यह जन्मे कलिकाल कराला, करतब वायस भेष मराला।
चलें कुपन्थ वेद मत छाँड़े, कपट कलेवर कलि मल भाँड़े॥
ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकै पराई विभूती।
खलन हृदय अति ताप विसेखी, जलैं सदा पर सम्पति देखी॥
मात पिता बालकैं बुलावैं, उदर भरें सोई कर्म सिखावैं॥
आप जायें औरे अनघालैं, जो कोई श्रुति प्रति मारग पालैं।
तेही सयाने पर धन हारे, करें दम्भ ते बड़ आचारे॥
जो कछु झूठ मसखरी जाना, कलियुग सोई गुणवन्त बखाना।
जासे नीच बड़ाई पावा, सो पुनि प्रथमै ताहि नसावा॥
उदासीन होय रहिइ गुसाईं, खल पर हरिये श्वान की नाईं।
विष अमृत का ख्याल न कीन्हा, कर दई सानी मानी।
पाप कपट कर माया जोड़ी, धनी बने लासानी॥
अन्त समय में संग में तेरे, जाये न कौड़ी कानी।
माया के चक्कर में प्यारे, होत बड़ी हैरानी॥
अलख राम वे पार उतर गये, जिन-जिन गुरु की मानी।

———

[४]

शिवोऽहम् ध्वनि मन लाओ साधो, शिवोऽम् ध्वनि मन लाओ रे॥
जनम जनम की बान पड़ो है। इसको निज बिसराओ रे॥
बड़े-बड़े चल बसे यहाँ से। उनकी सुरति भुलाओ रे॥
आतम ज्ञान बिना सुन प्यारे। मुक्ति पद नहिं पाओ रे॥
सतगुरु कहें सुनो भई साधो। आप में आप समाओ रे॥

[५]

अज्ञान और ज्ञान का परदा हटाना चाहता हूँ मैं।
स्वरूप अपना सभी को ही दिखाना चाहता हूँ मैं॥
यह जानो आज तो प्यारो कि क्या तुम हो जगत है क्या।
जिसे माना है अपना वह मिटाना चाहता हूँ मैं॥
पड़ा भारी जो परदा आप पर है पंचकोशों का।
इसी परदे को धीरे से हटाना चाहता हूँ मैं॥
लगाते ही रहे तुम ध्यान अब तक विषयानन्दों में।
उसी को आज सोऽहम् पर लगाना चाहता हूँ मैं॥
करेगा नाश अविद्या का शिवोऽहम् जाप का चक्कर।
यह सतगुरु की जो आज्ञा है बताना चाहता हूँ मैं॥
उलट जाती है जब वृत्ति तो रह जाता है आप ही आप।
स्वयम् चैतन्य जो है वह लखाना चाहता हूँ मैं॥
मैं आदि में भी पूरण था, है पूरण औ' रहे पूरण।
जो घट कर ब्रह्मानन्द हो है, दिखाना चाहता हूँ मैं॥

---

[६]

प्यारे गा तू अपना गीत।
सतगुरु रोज रोज दरशावे अवसर जात है बीत।
ऐसी है इस जग की माया भूतों ने है जाल बिछाया।
कौन किसी का मीत। प्यारे······
देव भी अपनी-अपनी गावें, निशदिन जीवों को भरमावें।
झूठी उनकी प्रीत। प्यारे······
सतगुरु सीधी राह बतावें, फिर भी कोई पास न आवे।
वाह रे जग की रीति। प्यारे······
सतगुरु लेवे तन मन धन को, देवें बदले सोऽहम् पद को।
यही है सच्ची नीति। प्यारे······
जो है सब तजने को राजी, वो ही खेले गुरु संग बाजी।
उसी के हाथ है जीत। प्यारे······
ब्रह्मानन्द ने खेली बाजी, कर लिया सतगुरु को राजी।
गाता फिरता गीत। प्यारे······

---

[७]

अरे मन निज स्वरूप में जाग लगाकर सब करमन में आग।
कर्म शुभाशुभ हैं उभय, जन्म मरण के हेत।
जब लगि ये नाशै नहीं, हाय दुसह दुख देत॥
इसी से तू इनको दे त्याग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥
पुनि इनके मैं भेद कहूँ, संचित और प्रारब्ध।
क्रियमाण ये तीन हैं, समझें ताहि सुबुद्ध॥
मान सीख अब विचार में लाग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥
पुनि विवेक से ग्रहण करो, सत्य वस्तु जग माँहि।
सुत बनितादिक में कभी, सच्चा सुख है नाहिं॥
हटा दे इन सब ही का राग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥
ज्ञान सूर्य के उदय से, नासै तम अज्ञान।
जब समझा निज रूप को, उर आनन्द अधिकान॥
मोह निज कुटुम्ब सहित गये भाग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥
है विशुद्ध विज्ञान जब, जग यहि भाँति दिखाय।
घट मृत्तिका, पट तन्तु यों आतम है मन भाय॥
उठै नित आनन्द का अनुराग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥
द्रष्टा, दर्शन, दृश्य यह, तीनों जहाँ हिरान।
सोई शुद्ध स्वरूप तू, ले आतम को जान॥
यही स्थिति भक्ति बेदाग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥
निज सुख के पाये बिना, थिर मन कबहुँ न होय।
ताहि बिन वह (सुख) शांति पद, नहिं पावै नर कोय॥
सो प्रगटानन्द यही लव लाग, अरे मन निज स्वरूप में जाग॥

—०—

[८]

भूलो न यार दगा है जग में भूलो ना।
सेज सपेदी नरम गेंडवा, संग न जैहैं तेरे एको तगा।
दुनिया दौलत माल खजाना, संग न जैहैं तेरे एको टका।
भाई बन्धु और कुटुम्ब कबीला, संग न जैहैं तेरो सगो कका।
अलख राम समझाय कहत हैं, गुरु के ज्ञान में बड़ी है मजा॥

—०—

[९]

सोऽहम बोल सोऽहम बोल तेरा क्या लगता है मोल।
क्या करता जीवन की आशा, जैसे जल में पड़ा बताशा।
दुनियाँ देती बुरी दिलाशा, पल में तोला पल में माशा।
प्यारे तोल सके तो तोल, सोऽहम बोल सोऽहम बोल ॥
जिसने आकर जन्म लिया है, उसने एक दिन कूच किया है।
किसने किसका साथ दिया है, इस जग का ढँग देख लिया है।
अब तो अन्तर के पट खोल, सोऽहम बोल सोऽहम बोल ॥
जब यम फाँस गले में डारें, सुत पितु मात न कोई उबारें।
घर से बाहर तुरत निकालें, करिके नगन तेरो तन जारें।
उस दिन खुले प्रेम की पोल, सोऽहम बोल सोऽहम बोल ॥
जब इस जग का आना जाना, सबको ज्ञान धर्म सिखलाना।
सबको आत्मज्ञान सिखाना, गुरु भक्ति का पाठ पढ़ाना।
हरदम सतगुरु के गुण गाना, बस यह जीवन है अनमोल।
सोऽहम बोल सोऽहम बोल, तेरा क्या लगता है मोल ॥

---

[१०]

निरंजन माला घट में फिरै दिन रात।
ऊपर आवे नीचे जावै, स्वाँस-स्वाँस चल जात।
संसारी नर समुझत नाहीं, विरथा उमर बिहात ॥
सोऽहम मन्त्र जपै नित प्राणी, बिन जिभ्या बिन दाँत।
अष्ट पहर में सोवत जागत, पल भर नहीं रुकात ॥
सोऽहम हंसा हंसा सोऽहम, बार-बार उलटात।
सतगुरु पूरा भेद बताया, निश्चल मन ठहरात ॥
जो जोगी जन ध्यान लगावें, बैठ सदा परभात।
ब्रह्मानन्द परम पद पावें, आवागमन नशात ॥

---

[११]

भव निधि डूबत मोहि उबार्‌यो सतगुरु दीनदयाला।
बाँह पकरि तट माहिं लगायो, सतगुरु दीन दयाला॥
शास्त्र पुराण वेद अरु दर्शन पढ़्यो अमित बहुकाला।
सबका सार तत्व बतलायो, सतगुरु दीनदयाला॥
सोवत रहेउ मोह नींद में, ओढ़े विषय दुशाला।
महावाक्य पढ़ि हमहिं जगायो, सतगुरु दीनदयाला॥
अति अज्ञान शराब नशे में, फिरत रह्यो मतवाला।
धन्य दयामय ज्ञान पिलायो, सतगुरु दीनदयाला॥
सत्य स्वरूप असत्य देखत रह्यो, पड़्यो द्वैत का जाला।
दिव्य दृष्टि दै एक लखायो, सतगुरु दीनदयाला॥
योग तप तीर्थ बरत कर, जपत रह्यो नित माला।
सोऽहम शब्द की टेर सुनायो, सतगुरु दीनदयाला॥
मन स्थिर करिबे के लाने, भटक्यो नदिया नाला।
शान्त भयो टुक जबहिं निहार्‌यो, सतगुरु दीनदयाला॥
ब्रह्म अखण्ड निरञ्जन निर्मल, शुद्धाद्वैत कृपाला।
जय जय दुख हरण प्रगटानन्द, सतगुरु दीन दयाला॥

---

[१२]

जिस करके सब सिद्ध होत है, सोई स्वरूप हमारा है।
अस्ति भांति प्रिय पूर्ण ब्रह्म में नाम रूप संसारा है॥
पहले अपनी अस्ति लेकर, पीछे से आरोप हुआ।
ब्रह्मा विष्णु महेश शक्ति और रामकृष्ण अवतारा है॥
माया ईश्वर जीव अविद्या, ये सब मन के मानें हैं।
आप सभी का ज्ञाता चेतन, कल्पित का आधारा है॥
आतम चेतन ब्रह्म अनामी, नाम सभी तू धरता है।
नामी नाम न होत कभी है, आप ही आप अपारा है॥
वाच्य अर्थ को त्याग जरा, विज्ञान लक्ष्य में जोड़ो।
आप सभी का गिनने वाला, सब गिनतिन से न्यारा है॥

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

विशेषांक

सितम्बर, १९६४
वर्ष ६ - अङ्क २

आत्मकृपा

यह आत्मा न तो प्रवचन से, और न धारणा शक्ति से अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह जिसका वरण करता है उससे ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।

—कठोपनिषद्

अखण्डप्रभा के सर्वतोमुखी विकास में

प्रेमी पाठकों का सहयोग

'अखण्डप्रभा' के छठवें वर्ष के प्रथम अङ्क को विशेषांक के रूप में अपने प्रेमी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है। इन पाँच वर्षों में जिस रूप में इसने जन-समाज के लिये आध्यात्मिक प्रेरणा दी है वह विज्ञ पाठकों से छिपा नहीं है। जिन प्रेमी पाठकों को इससे कुछ भी लाभ हुआ है उनकी इसके विकास के लिए सद्प्रेरणा सदैव प्राप्त होती रहती है। अध्यात्म ज्ञान की ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री किसी एक स्थान पर मिलना दुर्लभ है, अतः ऐसी उपयोगी सामग्री को रखकर इसे अपने अध्यात्म-पथ का प्रदर्शक बनाना सभी के लिये वांछनीय है। इसके सर्वतोमुखी विकास के लिये हम समस्त प्रेमी पाठकों के हार्दिक सहयोग की आशा करते हैं। आपका सहयोग निम्न प्रकार से प्राप्त हो सकता है—

- आप 'अखण्डप्रभा' के अधिकाधिक नए ग्राहक बना सकते हैं। अपने बनाए नए ग्राहकों का नाम और पूरा पता लिखकर भेजने की कृपा करें जिससे उसका प्रकाशन किया जा सके।
- आप 'अखण्डप्रभा' के विकास के लिए सद्भावना रूप में आर्थिक सहयोग प्रदान कर सकते हैं।
- आप 'अखण्डप्रभा' में प्रकाशन के लिए विज्ञापन भेज सकते हैं।
- आप 'अखण्डप्रभा के व्यापक प्रचार के लिए स्थानीय पुस्तक एवं पत्र-पत्रिका विक्रेताओं के यहाँ इसकी व्यवस्था कर सकते हैं।
- आप 'अखण्डप्रभा' की समालोचना देश में प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भेजकर पाठकों के लिए सुलभ बना सकते हैं।
- आप 'अखण्डप्रभा' का विज्ञापन किसी व्यापारिक संस्था, स्थान अथवा नगर के मुख्य स्थान पर कर सकते हैं।
- आप 'अखण्डप्रभा' को और अधिक उपयोगी और सुरुचिपूर्ण बनाने में अपनी सम्मति तथा सुझाव भेज सकते हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि 'अखण्डप्रभा' के विकास के लिये उपर्युक्त विधियों में से एक या अधिक तो आप अपना ही सकते हैं। 'अखण्डप्रभा का यह विशेषाङ्क इसी आशा से आप के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

★

चन्दा

आजीवन	१००)
वार्षिक	४)
एक प्रति (साधारण)	३७ न. पै.
एक प्रति (विशेषाङ्क)	१) रुपया

संस्थापक
ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी
ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

सभी प्रकार के पत्र तथा
चन्दा आदि भेजने का पता
व्यवस्थापक—'अखण्डप्रभा'
११२/२३४, स्वरूपनगर
कानपुर-२

विषयानुक्रमणिका

अखण्डप्रभा के आगामी अंक

'अखण्डप्रभा' का यह विशेषाङ्क अपनी नयी सज–धज के साथ अपने प्रेमी पाठकों के प्रेषित है। इसमें उच्चकोटि की मननीय आध्यात्मिक सामग्री देने का प्रयास किया गया है कि प्रेमी पाठकगण समुचित लाभ उठा सकें। कितना ही सँभालकर कुछ बनाया जाय लेकिन बाद देखने पर कुछ न कुछ कमी दिखाई ही पड़ती है, परन्तु यह कमी ही भविष्य की प्रेरणा बनती है। के नाम पर इसे सस्तेपन से दूर रखा गया है। सुरुचिपूर्ण तो होना ठीक ही है, लेकिन सिद्धान्त और आध्यात्मिक उपयोगिता को छोड़ देना कदापि ठीक नहीं हो सकता। इसके लिये बहुत प्रयास की आवश्यकता है। भविष्य के अङ्कों को और अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी साम सुसज्जित करने की आशा है। दिनाङ्क २, ३ और ४ अक्टूबर, १९६४ को आयोजित अखिल भा द्वितीय अखण्ड वेदान्त सम्मेलन की उपयोगी सामग्री का समावेश भी अगले अङ्कों में रहेगा। अ का अङ्क विशेषतः इसके प्रवचनों का संग्रह रूप होगा जिससे समस्त प्रेमी पाठक भी इसका लाभ सकें।

सभी लेखक बन्धुओं से भी नम्र निवेदन है कि इसके स्तर के अनुरूप अपनी ऐसी ही रच का सहयोग देने की कृपा करें जिससे पाठकों के आध्यात्मिक साधन और मनन में प्रेरणा मिल 'अखण्डप्रभा' किसी रूढ़िवादी अथवा वैयक्तिक मान्यताओं की सीमा से घिरी नहीं है, यही कार कि इसे सभी महापुरुषों की प्रेरणा और आशीर्वाद प्राप्त है और बिना किसी विरोधात्मक स्थिति के किये यह अपने पथ पर निरन्तर अग्रसर है। आशा है कि इसें सभी प्रकार से लेखक बन्धुओं प्रेमी पाठकों का सहयोग प्राप्त होगा।

—सम्पाद
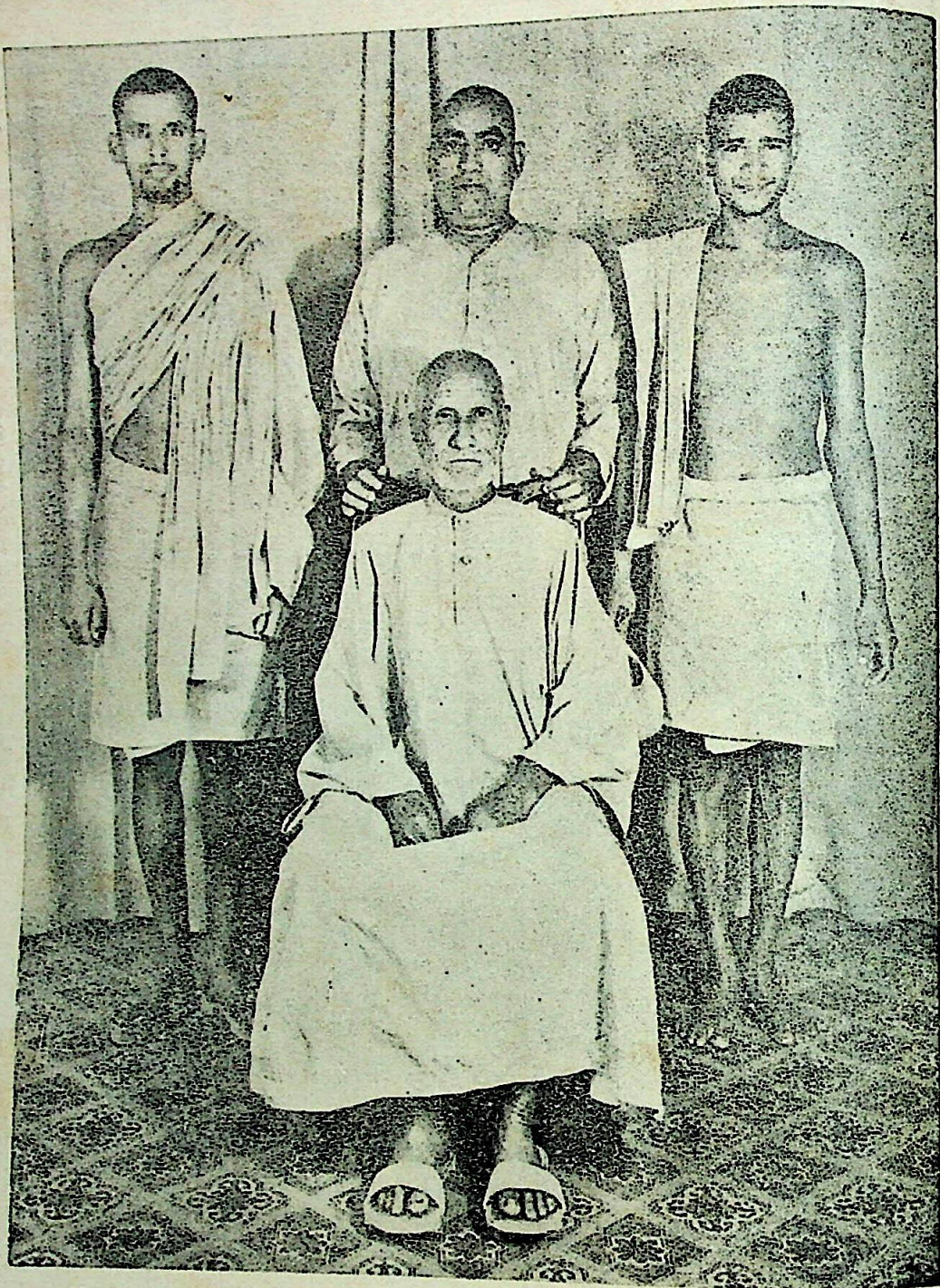
बैठे हुए— अनन्तश्री विभूषित श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
त्यागमूर्ति योगिराज बालब्रह्मचारी सन्तशिरोमणि
श्री ११०८ श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ('अखण्डप्रभा' के संरक्षक एवं प्रेरक)
खड़े हुए श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज (अध्यक्ष-'अखण्डप्रभाअध्यात्म केन्द्र')
(बायें से दायें)— ब्रह्मलीन श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज (संस्थापक-'अखण्डप्रभा');
श्री स्वामी आत्मानन्द जी (प्रचारक—'अखण्डप्रभा')

'येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'
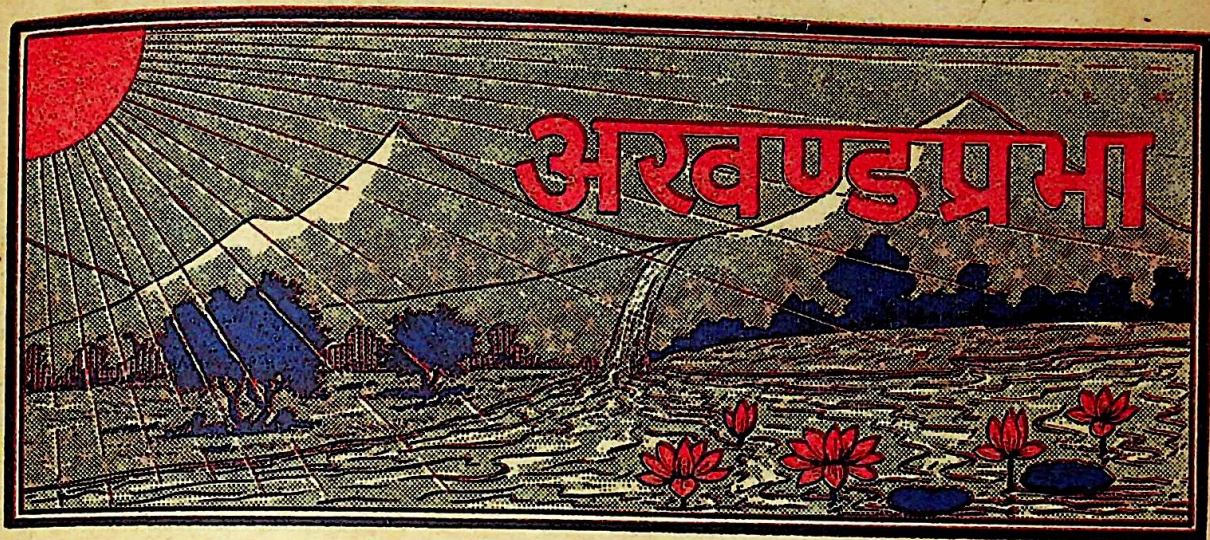
सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

वर्ष ६ | कानपुर, सितम्बर १९६४ | अङ्क १
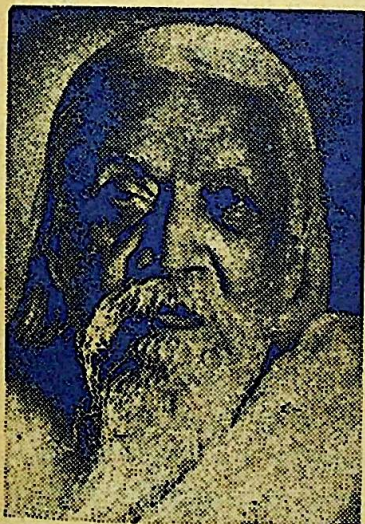
भागवत मुहूर्त

अभागा है वह मनुष्य या राष्ट्र जो भागवत मुहूर्त के आने पर सोया पड़ा हो या उसका उपयोग करने के लिए तैयार न हो, क्योंकि उसने उसके स्वागत के लिए दीप सँजोकर नहीं रखा है और उसकी पुकार के प्रति अपने कान बन्द कर लिए हैं। पर कहीं अधिक अभागे हैं वे जो सशक्त और तैयार होते हुए भी शक्ति का अपव्यय करते या उस मुहूर्त का दुरुपयोग करते हैं; उनके भाग्य में लिखी है असाध्य क्षति या महती विनष्टि।

भागवत मुहूर्त में धो डालो अपनी अन्तरात्मा से समस्त आत्म–प्रवञ्चना, ढोंग और थोथी आत्म–प्रशंसा की वृत्ति को, ताकि तुम सीधे अपने अन्तःपुरुष को देख सको और उस वाणी को सुन सको जो उसे पुकारती है।

—श्री अरविन्द

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

'व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव की एक सीमा है जिसको पार करने के बाद ही अध्यात्म-जगत में प्रवेश होता है'-इस भाव को लेकर व्यावहारिक और आध्यात्मिक विचारों में विरोध किया जाता है, और अधिकांश में इन दोनों अवस्थाओं की अति को लेकर विवाद खड़ा किया जाता है। बाह्य दृष्टि से जब इनकी अवस्थाओं को देखा जाता है तो विरोध भी स्पष्ट प्रतीत होता है। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में रहते हुए आध्यात्मिकता की ओर जब बढ़ने का प्रयास होता है उस समय पहले तो आध्यात्मिक तत्त्व बहुत दूर दिखायी पड़ता है लेकिन एक ऐसा स्थान आता है जहाँ व्यवहार का एक सिरा अध्यात्म के दूसरे सिरे से मिला रहता है। यद्यपि मिलने भर की दूरी की कल्पना तो रहती है लेकिन यह दूरी इतनी कम है कि उसे नगण्य कहा जा सकता है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो व्यवहार से अध्यात्म कहीं अलग नहीं रहता पहले विचार से तो जगत को परमात्मा से भिन्न मानकर यह कहा जाता है कि जगत का जहाँ आभास समाप्त हो जाता है वहाँ परमात्मा का भाव बनता है। दूसरी दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि ऐसा कोई स्थान सम्भव नहीं है जहाँ परमात्मा न न हो। पहली स्थिति में परमात्मा जगत का शासक, नियन्ता बनकर उससे अलग रहते हुए उस पर शासन करता है, और दूसरी स्थिति में वह सर्व जगत में स्वयं प्रविष्ट हुआ उसका आत्मा, अधिष्ठान है। इन दोनों स्थितियों को अपने-अपने रूप में देखने पर भिन्नता और विरोध प्रतीत होता है। विचार और सिद्धान्त दृष्टि से भले ही इन स्थितियों पर ऊहापोह किया जा सकता है, परन्तु आध्यात्मिक साधक के लिए यह भेद किसी भी प्रकार से ला- कारी सिद्ध नहीं होता। अध्यात्म साधना समन्वय का गुण होना अत्यन्त आवश्यक है। बि- इसके व्यक्ति अपनी संस्कारगत रूढ़िवादी मान्यता को छोड़ ही नहीं सकता। बहुत प्रयास करने भी बिना मान्यताओं से ऊपर उठे, बिना स्वयं अनुभव प्राप्त किए आपकी साधना में वास्तवि- प्रगति नहीं हो सकती। साधना के लिए सम- लगाने का उतना महत्त्व नहीं जितना कि साध- की विधि और निष्ठा का महत्त्व है। विरोध- स्थिति न तो निष्ठा ही बनने देती है और न ऐसी विधि का चुनाव करने देती है जहाँ साध- निर्विघ्न रूप से चल सके।

कुछ लोग इस समन्वय की स्थिति को सम- के रूप में मानने के बजाय दुर्बलता का चि- मानकर व्यावहारिक रूप में कुशलता से न- करने की बात मानते हैं। कोई अपने विचारों सही अवस्था से हटकर 'व्यवहार-कुशलता' के दूसरे की स्थिति स्वीकार कर ले वह 'स्वधर्म' पा- नहीं कर सकता। किसी वैयक्तिक स्वार्थ के का- अथवा व्यर्थ की परेशानी से बचने के लिए 'व्यव- कुशलता' को अपनाना दुर्बलता का ही प्रतीक सकता है और इसी रूप में समन्वय ठीक होगा। परन्तु सम्पूर्ण रूप में विरोध समाप्त आन्तरिक समत्व पाना यह आध्यात्मिक क्षे- प्रगति का शुभ-प्रतीक है। इसलिए जगत अवस्थाओं से परे परमात्म-भाव और जगत के कण में व्याप्त परमात्मा को अलग या विरो- मानकर आन्तरिक समत्व के रूप में मानना चा- तभी आध्यात्मिक क्षेत्र में वास्तविक प्रगति सकती है।

आत्म—जागृति का एक सन्देश

सच्चा धर्म

जब प्रत्येक व्यक्ति खड़ा होकर यह कहता है कि "मेरा पैगम्बर ही सच्चा पैगम्बर है"—तो वह ठीक नहीं है, वह धर्म का एक अक्षर भी नहीं जानता। धर्म केवल एक बात नहीं है, न सिद्धान्त ही और न बौद्धिक सूझ। वह हमारे हृदयों के हृदय का साक्षात्कार है, वह परमात्मा का संस्पर्श है; वह एक भाव है, वैश्व चेतना और उसकी महान् अभिव्यक्ति के साथ की मैं चेतना हूं यह अनुभव करना है। यदि तुम वास्तव में परमपिता के घर में प्रवेश कर चुके हो तो उसके बच्चों को देखते हुए भी उन्हें पहचानते क्यों नहीं? यदि तुम उन्हें नहीं पहचानते, तो तुमने अभी परमपिता के घर में प्रवेश ही नहीं किया। माँ अपने बच्चे को पहचान लेती है चाहे वह किसी भी पोशाक को पहनकर छद्मवेश में क्यों न हो। सभी युगों और देशों के महान् आध्यात्मिक पुरुषों और महिलाओं को पहचानने का प्रयास करो और तुम देखोगे कि उनमें आपस में कोई विरोध नहीं है। जहाँ कहीं भी सच्चा धर्म रहा है—दिव्य सत्ता का संस्पर्श, दिव्य—सत्ता के साथ सीधे बोधजन्य सम्बन्ध पाना—वहाँ सदैव ही बुद्धि की

व्यापकता रही है जिससे सर्वत्र प्रकाश देखने में समर्थ हो सके। अब, मुसलमान इन मामलों में सबसे अधिक क्रूर और सम्प्रदायवादी हैं। उन लोगों का सांकेतिक शब्द है "एक ही खुदा है और मोहम्मद साहब ही उसके पैगम्बर हैं"। इसके अलावा जो कुछ भी है, वह खराब ही नहीं बल्कि उसे निश्चय ही नष्ट कर देना चाहिए। जो पुरुष या स्त्री इस पर ठीक प्रकार से विश्वास नहीं करते उन्हें तुरन्त मार देना चाहिये; इस प्रकार की पूजा से जिसका सम्बन्ध नहीं है उसे निश्चय ही तुरन्त तोड़ देना चाहिए; जो पुस्तक इसके अलावा कुछ सिखाती है उसे तुरन्त जला देना चाहिये। शान्त से एटलांटिक महासागर तक पाँच सौ वर्षों तक खून की धारा ही संसार में बहती रही। यह मुसलमान धर्म है। फिर भी इसमें जब कभी कोई दार्शनिक पैदा हुआ उसने इन क्रूरताओं का डटकर विरोध किया। इसमें उसने दिव्य—सत्ता का संस्पर्श दिखाया और सत्य के एक अंश का अनुभव किया; उसने अपने धर्म के साथ खिलवाड़ नहीं किया क्योंकि उसने पैगम्बर का धर्म कहकर बात नहीं की, बल्कि

सत्य को सीधे मनुष्य की तरह कहा।

इसके साथ-साथ आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त में एक और चीज है-परम्परावाद। धर्म के पुराने विचारों की ओर लौटने की एक सहज-प्रवृत्ति है। हमें कोई नयी चीज़ सोचना चाहिए चाहे वह गलत ही क्यों न हो। ऐसा करना अधिक अच्छा है। तुम अपने लक्ष्य पर निशाना लगाने का प्रयास क्यों नहीं करते ? हम असफलताओं से अधिक बुद्धिमान बनते हैं। सत्य अनन्त है। इस दीवाल की तरफ देखो। क्या दीवाल ने कभी झूठ बोला है ? यह हमेशा एक दीवाल मात्र है। मनुष्य झूठ बोलता है, और परमात्मा भी बनता है। कुछ न कुछ करना ही अधिक अच्छा है; इस बात की परवाह न करो कि कोई कार्य गलत

कुछ सोचते हैं। जो लोग अपने आप कुछ नहीं सोचते उनका अभी धर्म के क्षेत्र में जन्म ही नहीं हुआ; उनकी केवल अभी क्षणमात्र की सत्ता है। वे सोचेंगे नहीं, वे धर्म की परवाह नहीं करते। लेकिन अविश्वासी, नास्तिक परवाह करता है और संघर्ष करता है। इसलिए कुछ विचार करो। परमात्मा के लिए संघर्ष करो। असफल होने पर कोई परवाह मत करो, कोई परवाह मत करो यदि तुम किसी विलक्षण सिद्धान्त की पकड़ में आ जाते हो। यदि तुम विलक्षण कहलाये जाने के लिए डरते हो, तो इसे अपने मस्तिष्क में ही रखो, तुम्हें दूसरों को उपदेश देने की जरूरत नहीं हैं। लेकिन कुछ करो अवश्य ! परमात्मा के लिये संघर्ष करो। प्रकाश

धार्मिक सम्प्रदायों के झगड़े ठीक उन बर्तनों के झगड़ों के समान हैं जिनमें ही केवल अमरत्व प्रदान करने वाला सुधारस रखा जाएगा। उन्हें झगड़ने दो; बस, हमारा काम तो है, चाहे जिस किसी बर्तन में क्यों न हो, सुधारस ग्रहण करना और अमरत्व प्राप्त करना। —श्री अरविन्द

सिद्ध हो गया; कुछ न करने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है। एक गाय कभी झूठ नहीं बोलती लेकिन वह हर समय गाय ही बनी रहती है। कुछ करो! कुछ विचार करो ! सही या गलत होना कुछ माने नहीं रखता। लेकिन कुछ विचार अवश्य करो ! हमारे पूर्वजों ने इस विधि से कभी विचार नहीं किया, क्या हमें भी इस प्रकार शान्ति से बैठकर अपनी सोचने की शक्ति और अनुभव करने का भाव खो देना चाहिये ? उस समय हम मृतक हो जायेंगे ! और ऐसा जीवन किस काम का जिसमें जीवित विचार न हों, धर्म के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार न हों। नास्तिकों के लिये कुछ आशा की जा सकती है, क्योंकि यद्यपि वे दूसरे से मतभेद रखते हैं, परन्तु अपने आप तो

का आगमन अवश्य होगा। यदि कोई हमारे जीवन के प्रत्येक दिन में हमें खिलाता है तो कुछ समय के बाद हम अपने हाथों का उपयोग ही भूल जायेंगे। भेड़ों के समूह की तरह एक दूसरे के पीछे चलने का मतलब है आध्यात्मिक मृत्यु। अकर्मण्यता का परिणाम है मृत्यु। क्रियाशील बनो, और जहाँ पर क्रियाशीलता है वहीं पर मतभेद है। मतभेद ही जीवन का स्वाद है, यही सौन्दर्य है, प्रत्येक वस्तु की यह कला है। भेद से ही यहां का सारा सौन्दर्य है। वैचित्र्य ही जीवन का चिह्न, जीवन का मूल है। हमें इससे डरना क्यों चाहिए ?

—स्वामी विवेकानन्द

सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक

भाव

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द

ईश्वर सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है और उसे सारे विश्व का सृजन और संहार करने का सामर्थ्य हैं। भक्त के लिये उसकी अभिलाषाओं में उसके हृदय की संतुष्टि एक मात्र उसे ही पाने में हैं और जिस साधन से उसे पाना होता है वह हैं उसकी भक्ति या उसका 'भाव'।

ईश्वर की जितनी महिमा सुनते आये हैं,कहीं–कहीं तो ईश्वर से भी अधिक 'भाव' की महिमा गाई गई हैं। समर्पित भाव जिनमें भक्ति की वार्ता होने की स्पष्ट तैयारी रहती है उसी में उधर से भगवान् या ईश्वर का भी समर्पण भाव स्पष्ट दिखाई देता है। यह विश्व भर से कहीं से अपनी अभिलाषा के अनुकूल कार्य करवाने वाला भाव क्या है जरा इस पर विचार करना है।

कहते हैं ईश्वर सारे विश्व का नियन्ता, कर्ता धर्ता है। हम देखेंगे कि ईश्वर को अपने अनुकूल करके एक दृष्टि से उस पर भी अधिकार करने वाला यह भाव वास्तव में क्या ?

ईश्वर सर्व व्यापक हैं और सर्व व्यापक ईश्वर को पाने की तीव्र भावना माने क्या ? होता क्या है तीव्रता माने जब तक बाधक बीच के ये नाम रूप जिनमें सत्व के जड़ चेतन नाम रूप और त्रिगुण का विस्तार जड़ता, आलस्य, प्रमादादि तमोगुण, लोभकामादि रजोगुण व क्षमा, दया, शान्ति, प्रेमादि सतोगुण, व इनके प्रभावों को जब तक दबाने अलहदा करने की शक्ति न होगी तब तक कोई भी इन्हीं में सर्वत्र व्यापक ईश्वर तक भावना को पहुंचाने न देंगे। अर्थात् व्यापक को भाव व्यापक बनकर ही घेरता है और तभी सम्पूर्ण नाम रूपादि पर प्रभाव पहले से डालने वाला यह भाव उस समय नियन्ता और व्यापक स्वयम् बन जाता है।

परन्तु यह व्यापकता देखे बिना अन्दाजन कैसे की जा सकती है ? या तो यह व्यापकता भाव में ही कल्पित की जाती हो या व्यापकतत्व भाव पहुंच ही जाता हो या व्यापक होने की भावना ही बन जाती है। परन्तु व्यापक नहीं होती तो व्यापक ही भावनानुकूल हुआ यह कहा ही नहीं जा सकता। इसका मतलब यही निकला कि व्यापकत्व की भावना में ही सत्ता मान ली गई। भाव व्यापक हो गया, ज्ञाता से मिलने चला, सर्व नाम रूपों पर शासन करता हुआ सब में ओतप्रोत होते हुए सबको घेरकर स्थित हुआ।

भाव इतने पर भी मरा नहीं। सब पर शासन भी कर रहा होता है। ईश्वर की सारी की सारी शक्तियाँ होते हुए भी शक्तियां रोक नहीं पातीं और केवल ईश्वर जो सर्व शक्तियों का स्वामी होता है उस पर अपना प्रभाव डाल लेता है भाव। समझना यह हैं कि सर्व शक्तिमान ईश्वर को भी अपने अनुकूल बनाने वाला यह भाव सर्व शक्तिमान नहीं तो क्या है ? सर्व शक्ति सत्ता की एक पहचान यह भी है कि यह कभी मरता नहीं। और अपनी व्यापकता में सम्पूर्ण नाम रूपों को जानता भी हैं, निराकार होकर सबसे बचता भी है—सबको हराता हुआ यह अपना वर्चस्व उन्हें दिखाता रहता हैं। जिस पर सर्व
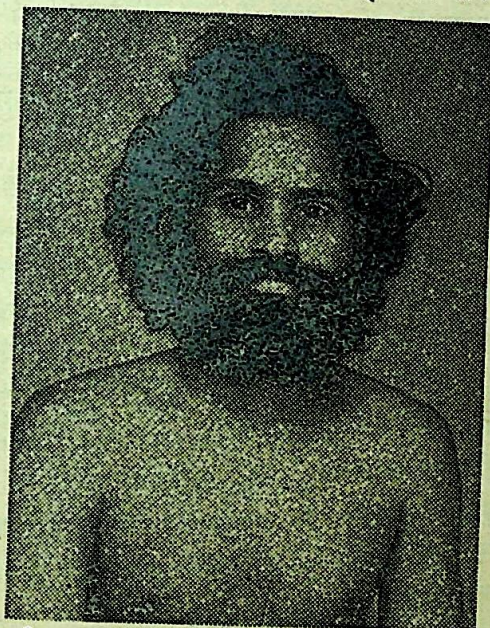
शक्तिमान की एक भी शक्ति काम न कर सकी वह यह एक और सर्व शक्तियों का भाव अपने में ही रखता हुआ स्वयम् ही सर्व शक्तिमान होता है।

यदि किस किस जगह, कैसा, कौन कब है यदि इस भाव में ज्ञान नहीं तो किसी किसी पर तो शासन कर पाता किसी किसी पर नहीं कर पाता। सर्वज्ञ ईश्वर इसके भाव को जानता है या नहीं यदि यह भाव में ज्ञान न होता तो भाव कब कितनी शक्ति बढ़ाई जाय यह न जान पाता। इसका अर्थ है भाव में ही सर्वज्ञता रहती है।

मैं यह कहता हूं यदि भाव जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक होकर, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ को अपने अनुकूल कर लेता है तो निराकार परन्तु सारे आकारों का नियन्ता प्रेमपूर्ण, निष्काम परन्तु सारी कामनाओं का स्वामी यह भाव ही ईश्वर है यह कहदे तो क्या बिगड़ा ?

यह भाव जिसका भाव सदा रहता है यही सर्वदा ईश्वर रूप है व सर्वत्र नियन्ता व तटस्थ होकर अकर्ता भी है। परन्तु भाव में किसी की ज्ञातृत्व शक्ति के बिना न इसे बढ़ना न फैलना न सिमटना आता है। भाव अन्धा भी कहा गया है ? जो ईश्वर रूप में और कौन सा है जो अन्धा है ? तो यह सर्व कुछ करने वाला जो भाव जिसके भाव माने अस्तित्व में ज्ञान रहता है—अर्थात् ज्ञाता स्वरूप में नित्य ही जो रहता हैं। ज्ञाता का नित्य ही भाव रहता है। नित्य है ज्ञाता। अतः इस ज्ञाता में ही अल्प सर्व दोनों का ज्ञान रहता है। इसी ज्ञाता के कारण 'भाव' को जो बनाया जाता है जो नामरूपात्मक विश्व के लिए नियन्ता शासक व कर्ताधर्ता हर्ता ऐसा कहा गया है जब सर्व या अल्प की उपाधियाँ इसी भाव को जोड़ दी जाती हैं तो यही भाव, कुभाव सुभाव, अभाव आदि रूप लेकर अल्प की उपाधि से अल्पज्ञ अल्पशक्ति मान, अल्प व्यापक और सर्व की उपाधि लगते ही सर्व व्यापक सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ हो जाता हैं। ज्ञाता के भाव-माने अस्तित्व में ही यह सब कल्पित भाव की भाव से निर्मित नामरूपात्मक जगत की सृष्टि होती रहती है।

यही भाव जिससे सब होता है यह ईश्वर है जो ज्ञातारूप ब्रह्म का एक स्फुरण है। जिस ईश्वर के द्वारा वही भाव एक व अनेक रूपात्मक नामरूप व उसका नियन्ता, कर्ता, हर्त्ता धर्त्ता रूप दिखाई देने लगा। तो जो भाव से निर्मित हुआ जो भाव अभाव के रूप में हुआ उसे ही प्रकृति कहते हैं। वैसे तो प्रकृति भी 'भाव' के ही विभिन्न रूप में है। इसी कारण कहीं और कभी इसी में सबका भाव इन्द्रिय मन प्रत्यक्ष होता हैं और कभी मूल भाव में विलीन होने पर अभाव रूप यही होता है। परन्तु यह मूल भाव जो ज्ञाता में ही अभिन्न रहता है (ज्ञाता नहीं) और ज्ञाता का पूर्ण रूप नहीं है। क्योंकि ज्ञाता के एक ही भाव में अल्प सर्व में बद्ध होने वाला सारा संसार कल्पित हो गया। संसार भाव से भिन्न नहीं और 'भाव' ज्ञाता से भिन्न नहीं। इस तरह नामरूपात्मक जगत प्रकृति, भाव ईश्वर और ज्ञाता ब्रह्म है।

यदि ज्ञाता ब्रह्म ही न होता तो उसका भाव इतना सबल बन ही नहीं सकता था जो सारे विश्व पर शासन कर ले। ज्ञाता ज्ञाता ही है चाहे अपने को अल्प जाने या पूर्ण और अल्प पूर्ण भाव या कल्पना का ज्ञाता फिर भी पूर्ण अलग ही रहेगा। अतः हर भक्त का स्वरूप वास्तव में यही ज्ञाता स्वरूप रहता हैं। और उसका भाव पहले तो अपने ही से मिला हुआ है और अपना आप सारे विश्व में अखण्ड एक हैं, इसी कारण भाव जहाँ तक भी पहुँचाना होता है या पहुंच जाता है ज्ञाता पहुंचता हुआ जान लेता हैं।

इस तरह ज्ञाता ही ब्रह्म है जो सबका स्वरूप है जो सर्वत्र है सर्वशक्तिमान है और सर्वत्र है इसी कारण भाव का सम्बन्ध जो अन्य कल्पित ईश्वर से होता हैं—ऐसा कहा गया वह अन्य कोई नहीं स्वयम् ही है। क्योंकि किसी अन्य ने सुना समझा या नहीं। यह यदि स्वयम् न जाने तो बन्द ही न करेगा सुनाना। इसका मतलब किसी और से नहीं स्वतः से ही सुनाया व स्वतः ही सुना जाता है। इस कारण भाव में ज्ञाता के सहयोग से सब कुछ करने का सामर्थ्य होता है। क्योंकि ज्ञान अखण्ड है व्यापक है सर्व शक्तिमान है नहीं नहीं शक्ति स्वयम् है अतः ज्ञाता जो ज्ञानमय है-वह भी अखण्ड सर्व शक्तिमान सर्वव्यापक ही है।

यह भाव की ही महिमा है जो यह रहस्य अपने भाव से स्वतः ने जाना। अब भाव भी भाव (अस्तित्व) रूप, ज्ञाता भी अस्तित्व माने भाव रूप और प्रकृति भी भाव रूप। तो तीनो ही भावरूप हैं। अब ब्रह्म से निर्मित सब कुछ एक ही रूप हुए। तो अब ब्रह्म ईश्वर व ईश्वर को पाने वाला भाव व यह जगत जिससे छूटने के लिए भाव रखा गया है वह सब भाव ही रूप है।

ब्रह्म का ईश्वरत्व (प्रभुत्व) भाव है। ब्रह्म का ही यह भाव हुआ कि मैं जगत बन जाऊं, हो गया। फिर लय कर लूं—कर लिया। माने इस भाव की जो कई रूपों में होते हुए भी अभी हम 'भाव' रूप से होते और कुछ न पाये ऐसा 'भाव' ही ईश्वर है। जिसे यह भाव का रहस्य समझ पड़ा वह भाव-मय हो गया। और सदा अपने ही भाव में स्थित है। इस भाव पर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वह सर्व भाव मय अपने ही को देखता हैं। सबके भाव में अपने ही 'भाव' को देखता हैं। भाव वही जिसे कहा हैं "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'। भाव का अभाव कभी होता नहीं और अभाव का भाव होता नहीं। तो ऐसा ज्ञात ही है जो अपने में ही अपने भाव का और अभाव का प्रभाव का और स्वभाव का भाव बना बना कर भावमयी सृष्टि अपने में कल्पित करते हुए अपना 'भाव' ज्यों का त्यों रखता है।

इस भाव के रहस्य से एक विचित्र 'भाव' हो गया है। जो हर चित्र में रहते हुए विचित्र हैं—चित्राधार है। तो समझ में आ गया कि मेरा (अस्तित्व) भाव ही नित्य हैं और मुझसे निर्मित मेरा भाव ही ईश्वर हैं और भाव-ईश्वर से ही जगत का भाव निर्मित है। तीनो एक में ही एक से एक ही रूप हैं। अथवा यों कहो एक ही तीन रूपों में प्रतीत हो रहा है।

★

❀ जीवन और विस्मृति ❀

महाकवि श्री परमेश्वर द्विरेफ, चिड़ावा (राजस्थान)

जीवन में सबसे बड़ी भूल
ठोकर लगती, करती सचेत
फिर भी रहती है दृष्टि स्थूल
ममता, माया, सम्मोह-स्वार्थ
के आवरणों में ढँका, लीन
कुछ जान नहीं पाता मानव
यह सत्य चिरन्तन, समीचीन
अपनी भूलों के साथ युद्ध
करना ही जीवन, सत्य तथ्य
पर, वह अपने क्रम पर चलता
करता भूलों से नहीं पथ्य
थक जाता है वह भूल भूल
जीवन में सबसे बड़ी भूल

★
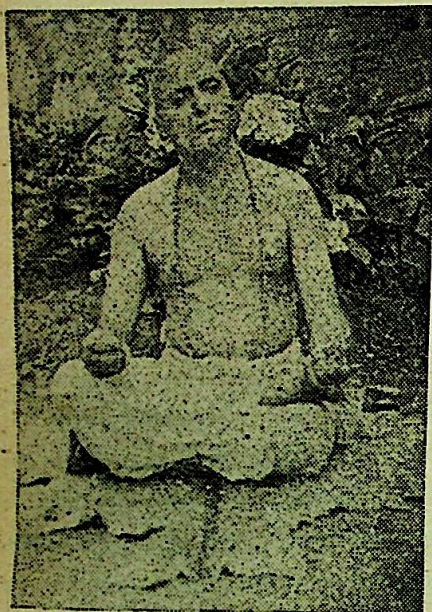
धारणा, साधन, प्रगति तथा फल

वेदान्ताचार्य श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी, आयुर्वेद-बृहस्पति, आयुर्वेद-शिरोमणि, दिल्ली

संसार में रहते हुये मनुष्य का मन निरन्तर सुख शान्ति की खोज करता रहता है और इसी भावना से प्रेरित होकर वह दूसरों से सम्पर्क स्थापित करता और पारस्परिक मैत्री का व्यवहार करता है। मनुष्य अपने द्वारा होने वाले प्रत्येक व्यवहार का फल सुख-शान्ति के रूप में चाहता है। परन्तु इन सब कार्यों को करते हुए अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसमें बुद्धि और विचार की विशिष्टता है जिससे वह अपना कोई निश्चित ध्येय बनाकर आवश्यक साधनों में प्रवृत्त हो सकता है। खाना पीना और वाह्य सुख-भोगों में रत रहना उसके जीवन का लक्ष्य नहीं। मनुष्य को यह शरीर स्वरूप-ज्ञान प्राप्त्यर्थ कल्याणमय साधनों में प्रवृत्त होने के लिये ही मिला है।

"बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद् ग्रंथन्हि गावा,
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा, पाई न जेहिं परलोक संवारा।
सो परत्र दुःख पावहिं, सिर धुनि-धुनि पछितायें,
कालहि कर्महि ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगायें।

इस सुरदुर्लभ मनुष्य-शरीर को पाकर भी यदि लक्ष्य-सिद्धि न हुई, परमार्थ पथ पर आकर अपना कल्याण न किया, तो सिवाय पश्चाताप के और कुछ शेष न रहेगा।

अतः आवश्यक है कि किसी श्रद्धा और आस्था विशेष को लेकर जीवन की एक धारणा बनाई जाय कि मुझे किन साधनों द्वारा अपने ध्येय-पथ पर पहुँचना है। एक साधारण-यात्री भी यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व अपने मन में एक कार्यक्रम बनाता है कि मुझे अमुख स्थान पर इन साधनों द्वारा पहुँचना है और ये कार्य सिद्ध करने हैं। उसी प्रकार परमार्थ पथ पर चलने वाले जिज्ञासु की भी एक धारणा होती है। धारणा का अर्थ है-एक निश्चय-कि मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? मुझे करना क्या है और कहाँ पहुँचना है। और जब एक धारणा बना ली तो उसके लिये साधन भी वैसे ही जुटाने होंगे तभी लक्ष्य-सिद्धि सम्भव है।

जब तक मनुष्य चतुष्टय-साधन सम्पन्न होकर सत्य-जिज्ञासा को पूर्ण न करे, तब तक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। यदि शास्त्रविचार अथवा श्रवण से ज्ञान हृदय में प्रकाशित भी हो जाए तो भी साधन के विना दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होकर अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये प्रथम साधनों का अभ्यास जिज्ञासु को उचित है क्योंकि ज्ञान की स्थिति अंतःकरण की शुद्धि बिना नहीं होती और स्थिति बिना सर्व दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। अतः अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान की प्राप्ति और स्थिति का परम आय है।

जिस प्रकार बाहर का दर्पण जब तक स्वच्छ न हो, तब तक अपने विमल स्वरूप का दर्शन नहीं होता। अब वह स्वरूप या चेहरा चाहे आपका अपना आप है, किन्तु उसी चेहरे को दिखाने के लिये बीच में दर्पण आया। यदि दर्पण शुद्ध है तो आप स्वयं ही अपने सुन्दर रूप का दर्शन कर

प्रसन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा आपका अपना आप है, नित्य–प्राप्त रूप है किन्तु अप्राप्त सा क्यों प्रतीत होता है? क्योंकि बीच में अज्ञान है, विपरीत बुद्धि है, कई मिथ्या मनौत, संशय–भ्रम हैं जिसके कारण प्राप्त स्वरूप भी अप्राप्त–सा प्रतीत हो रहा है। अतः जब तक साधनों द्वारा अज्ञान रूप मल की निवृत्ति नहीं होतीं तब तक अपने विमल स्वरूप का दर्शन असम्भव है। सो अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से बिना अन्य किसी उपाय से नहीं होती और ज्ञान का पात्र शुद्ध अन्तःकरण ही है। शुद्ध पात्र ही शुद्ध वस्तु को रखने का अधिकारी है अतः अन्तःकरण का शुद्ध करना सब आत्मजिज्ञासुओं को अत्यन्त ही उचित है।

अन्तःकरण की शुद्धि के लिये महापुरुषों ने चार साधन निरूपित किये हैं—विवेक, वैराग्य, षट्–सम्पत्ति और मुमुक्षुता।

सर्व प्रथम विवेक की आवश्यकता हुई कि जिज्ञासु छानबीन कर देख ले कि सत्य क्या, असत्य क्या है? आत्म, अनात्म; शुच–अशुच, विनाशी–अविनाशी, नित्य–अनित्य के विवेचन का नाम विवेक है। इसी को हमारे शास्त्रों में भाग–त्याग लक्षणा कहा गया है कि देख लें कौन सा भाग त्याज्य और कौन सा ग्रहणीय है। जैसे आप बादाम का छिलका उतार कर गिरि को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार भाग–त्याग लक्षणा द्वारा विवेक द्वारा जब आप निश्चय कर लेते हैं कि मुझे किन विचारों को ग्रहण करना है और किनका त्याग करना है। जब विवेक द्वारा आपने विवेचन कर लिया तो सहज ही अनात्म, असत्य, दुःखमय और नाशी वस्तुओं का त्याग करना चाहते हैं। इस अनित्य पदार्थों के त्याग को ही दूसरे शब्दों में वैराग्य कहा गया।

'वै' के अर्थ हैं रहित और राग के अर्थ आसक्ति। आसक्ति रहित अवस्था का नाम ही वैराग्य है। किसी भी भोग्य पदार्थ एवं शरीरादि में आसक्ति का अभाव ही वैराग्य है। शरीर से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भोग्य पदार्थ हैं, उनमें से किसी में भी राग न होने का नाम है 'वैराग्य'।

ब्रह्मलोक लौं भोग जो, चहै सबन को त्याग,
वेद अर्थ ज्ञाता मुनि, कहत तांही वैराग्य।

असंगता से प्रत्येक कार्य करते चलें जिससे चित्त कहीं अटके न।

तीसरा साधन है षट्-सम्पत्ति, जिसके अन्तर्गत सम, दम, तितिक्षा उपराम, श्रद्धा और सावधानता आदि साधन आए जिनसे मन को विषयों से रोकना, इन्द्रियों का विषयों से निरोध व दमन, सुख दुःख को सहारना, संसारियों की संगति से उपरामता, सत्गुरु और सत्शास्त्र के वचनों पर श्रद्धा और सावधान होकर उपर्युक्त साधनों को साधकर चित्त को स्थिर करना। इस प्रकार साधन सम्पन्न होकर यह इच्छा करनी कि कब मेरे सब दुःख निवृत्त होकर मुझे परमानन्द की प्राप्ति होगी। इस मुमुक्षा को दृढ़ करने के लिये देह–अभ्यास की निवृत्ति करनी होगी। अभ्यास की निवृत्ति की युक्ति यह है कि जिस समय अभ्यास में बैठे, उस समय देह को आत्मा में भिन्न निश्चय कर यह विचार करे कि यह देह अनित्य, जड़, अमंगलरूप और क्षणभंगुर है। आत्मा नित्य, चेतन मंगलरूप और ज्ञानस्वरूप है, अतः देह और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। सो मैं आत्मा हूँ, शरीर की अवस्थाओं के बदलने से मुझमें कोई अन्तर नहीं आता। शरीर के निर्बल, सबल, नीला, पीला व पुष्ट होने से मैं वैसा नहीं हो जाता। मैं तो स्वयं प्रकाशी चेतनात्मा हूँ। यह चेतनात्मा ही सब जड़ शरीरों को चेतन बनाकर नचा रही है। जहां श्वासों की तार टूट जाती है, वहीं चेतनता इस देह का त्याग कर देती है और यह शरीर कटे हुए पेड़ की भांति गिर जाता है। इन प्राणों का मूल आधार वही चेतनदेव तो है।

"प्राणा ते चढ़ सैल करेदा, प्राणा दा आधार,
श्रोत्री सुणदा नाद प्यारा, समझे सार असार

यह सुनने, समझने, देखने करने की शक्ति चेतनात्मा की है, शरीर की नहीं। इस प्रकार जब आत्मा के निश्चय का अभ्यास करता रहेगा, तो सहज ही आत्म–साक्षात्कार होकर जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त होगी।

इस प्रकार देखेंगे कि साधन सम्पन्न बुद्धि ही एक निश्चय और एक धारणा बनाकर स्थिर रहती है, अन्यथा बहुत से लोग मन को दोष देते हैं कि मन की चंचल अवस्था स्थिर होने नहीं देती । मन हिलता है क्योंकि साधन रहित है ।

कबहुँ सुमति प्रकाश चित्त, कबहुँ कुमति अधीन ।
बिम्ब नारी के कन्त ज्यों, रहत सदा अति दीन ॥

कभी मन में सुमति होती है, कभी फिर यह कुमति की ओर वह जाता है । दो पत्नियों वाले पति की तरह अस्थिर मन की अवस्था सदा दीन ही रहती है । इसलिये महापुरुष कहते हैं कि स्थिर–बुद्धि के लिए साधन करने होंगे । जब तक साधनों में प्रवृत्त होने की उत्कट अभिलाषा नहीं होगी, तब तक धारणा स्थिर नहीं हो सकती और जब तक धारणा दृढ़ नहीं, तब तक साधन नहीं हो सकते । अतः प्रथम एक धारणा बना ले कि मुझे क्या सिद्ध करना है । तत्पश्चात् वैसे ही साधन साधें, तभी चित्त शान्त, स्थिर और अन्तर्मुखी होगा ।

उस पर भी ध्यान से देखें तो मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जो केवल ज्ञानमय है, ज्ञान का पुंज है जो अपना हित अनहित तोलकर एकनिष्ठ हो मोक्षसिद्धि का अधिकारी बन सकता है ।

शेष सब योनियाँ तो भोग–योनियाँ हैं जिसमें जीव अपने कर्मभोग पूरे करते हैं । ज्ञान का साधन तो इसी मनुष्य–देह में हो सकता है । उस पर भी मन की क्रियाशक्ति सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा इसी देह में प्रकट होती है । अपनी निष्ठा और धारणा द्वारा आप मन से जिस प्रकार के भी साधन करवा लें, आप इसमें पूर्णतया स्वतन्त्र हैं ।

बात है धारणा की । जब आपकी धारणा दृढ़ हो जाती है, तब वैसी स्थिर बुद्धि से आप अभ्यास भी करते हैं । अभ्यास के बिना केवल बातों से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता । गुरुदेव कहते हैं:–

जब तक दीरघ काल का, होय न सतगुरु संग ।
तम अज्ञान न नाश होय, चढ़े न आतम रंग ॥
दृढ़ हो इस विधि प्रेमयुत, सत्गुरु सेवो मीत ।
चिरकाल के संग से, प्रगटे निर्मल रीत ॥

यदि चाहते हैं कि मुझे ध्यान को स्थिर करना है तो कुछ समय व्यवहार की विक्षेपताओं से हटकर व्यर्थ संकल्पों से चित्त को झाड़ना ही होगा । दूसरा अभ्यास है समय लाई गई शान्ति को परिपक्व कराने के लिये व्यवहार में भी उसी स्थिरता का अभ्यास करना होगा कि जिस प्रकार की भी परिस्थिति आ जाए, विपरीत अवस्था में मन हिले न, यह है अभ्यास ।

देख लें कि ध्यान के प्रभाव से आप व्यवहार में कितने अलिप्त, असंग तथा शान्त होकर व्यवहार कर सकते हैं । सहज स्वभाव बाहर से व्यवहार भी सिद्ध करते रहें परन्तु उसे चित्त में स्थान न दें । जैसे सदा सुहागिन नारी सबके साथ मिल–जुल कर आनन्द मनाती है पर चित्त के किसी कोने में उसका सुहाग भी समाया हुआ है, उसको वह कभी नहीं भूलती । जिस प्रकार मछली सदा जल में रहती है; जीना, मरना, सोना, जागना, खाना-पीना सब जल में ही होता है और जब काट कर उसे खण्ड–खण्ड कर देते हैं तब भी वह अपने मूल आधार को नहीं भूलती, उसी प्रकार यदि आपका ध्येय स्वरूप की प्राप्ति है वह स्वरूप जो सदा आपका ही स्वरूप है नित्य प्राप्त है उस प्राप्त की प्राप्ति अर्थात् अनुभव करना है और वह स्वरूप आपका अपना आप है । यह जीवन, मरण, आवागमन, दुर्गति सद्गति यह सब शरीर को लेकर मिथ्या कल्पनायें जोड़ ली गई हैं । इनसे हटकर यदि अपने स्वरूप का अनुभव करना है तो सब संकल्पों, बाह्य सम्बन्ध तथा सम्बन्ध की कल्पनाओं से ऊपर उठ कर अपने साक्षीमात्र, नित्यशुद्ध, नित्य प्राप्त, नित्य मुक्त, स्वयंप्रकाश स्वरूप में स्थिर होने का संयमित और साधनों द्वारा स्थिर बुद्धि से अभ्यास करना ही होगा ।

इसी धारणा की दृढ़ता के लिये महापुरुषों ने चिन्तन को बड़ा महत्व दिया क्योंकि मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बनता है । संसार का चिन्तन कभी भी आपको अपने में लीन होने नहीं देता जब कि दूसरी ओर आत्मचिन्तन आपको अपने ईश्वरीय स्वरूप में एक कर देता है । तर्क को लेकर हम भले ही कह दें कि हम ईश्वर को नहीं मानते । कौन सा ईश्वर ? कहाँ का ईश्वर, कैसा ईश्वर ? यदि ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है तो

हमारी यह चीज उठाकर दिखाए। यह तर्क उतना ही निःसार है जितना कि हम घर के सब द्वार और अपने नेत्र बन्द कर कहने लगें कि सूर्य कहाँ है ? सूर्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। सूर्य तो अपने अनन्त प्रकाश से सदा चमक रहा है, हम उसको न माने, इसमें हमारा दोष है, सूर्य में इससे कोई अन्तर नहीं। इसी प्रकार ईश्वर वह नहीं जो हमारी दलील से सिद्ध हो और हमारे तर्क कुतर्क से उड़ जाए, वह तो हमारे तर्क के पूर्व भी सिद्ध है और पश्चात भी रहेगा। वह आत्म—ज्योति तो सदा अभिन्नरूप से हमारे अंग संग है। जब वह सत्ता जरा शरीर से भिन्न होती है कि सारा तर्क तथा दलीलें वहीं की वहीं धरी रह जाती हैं। यह देह भी चलते—चलते निर्जीव अवस्था में पड़ी की पड़ी रह जाती है। शारीरिक नियम धर्मों के विषय में यह जीव इतना परतन्त्र है कि जरा हवा गन्दी हो जाए तो इसका दम घुटता है, जल शुद्ध न मिले तो सौ बीमारियाँ हो जाती हैं, समय पर भोजन न मिले तो क्षुधा सताती हैं। जरा पेट की हवा रुक जाए, मल मूत्र न आए तो यह हाय—हाय मचाता है। शरीर की अवस्थाएँ इतनी परि—वर्तनशील और परिणामी हैं कि यह कभी भी देह अध्यास में पड़कर अपने को स्वतन्त्र नहीं समझ सकता। इसे स्वतन्त्रता है तो केवल विचार और कर्म करने की कि यह इस प्रकार के कर्म और चिन्तन करे जो इसकी वृत्ति को शान्त, गम्भीर और अन्तर्मुखी कर आत्माकार कर दे। जब अन्य सब आकार, सब विकारी विचार, विकारी चिन्तन हर जायेंगे तो वृत्ति सहज ही अपने आप में लीन होकर महान् आनन्द तथा कृतकृत्यता का अनुभव करेगी। यह आनन्द कहीं बाहर से नहीं आया किन्तु आपका अपना स्वरूप है उसी प्रकार जिस प्रकार सफेदी कपड़े का अपना रूप है; जब आपने मल—निवृत्ति के साधनों द्वारा कपड़े के मैल को दूर किया तो कपड़े के स्वच्छ रूप को देखकर आप सहज ही आनन्दित होते हैं। एक ऐसी आनन्द भरी अवस्था का अनुभव होता है जिसमें:—

जाग अचिन्ता सोय अचिन्ता, जहाँ तहाँ प्रभु तू वरतन्ता,
घर सुख बसया बाहर सुख आया, कहु नानक गुरु मन्त्र दृढ़ाया।

यह है साधन का प्रत्यक्ष फल जिसके प्राप्त होते ही वृत्ति सहज ही अनात्मा से हटकर आत्माकार हो जाएगी, सर्व कल्पनायें शान्त होकर एक परम शान्त, गम्भीर तथा सुखमय अवस्था का अनुभव होगा। यही सब साधनाओं की सिद्धि का फल है। ★

मेरे मन

श्री संतोषचन्द्र, बाँदा

देख ठहर
कहाँ जाता है ?
जल नहीं
मृग मरीचिका है
आश, न मिटेगी
प्यास न बुझेगी
व्यर्थ भटक जायेगा
सरल राह भी गँवायेगा

मेरे मन,
मान जा
सुविचार से जान जा
युगों से अब तक
इसी ने भरमाया है
कि अन्तर के
मृदु स्रोत को
तूने भुलाया है ।।

ज्ञान और भक्ति

श्री शिवसहाय त्रिवेदी, एम० ए०, बृन्दाबन

यह चर्चा प्रायः सुनने में आती है कि भक्ति तथा ज्ञान में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है और ज्ञान प्राप्ति के लिये भक्ति सहायक है अथवा भक्ति के लिये ज्ञान। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति में भक्ति साधन है अर्थात् भक्ति करने के अनन्तर जीव ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है और तब कहीं उसे ज्ञान प्राप्त होता है। इस मत के समर्थक ज्ञान को भक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इसके विपरीत भक्ति ज्ञान को अपेक्षा श्रेष्ठतर मानने वालों का मत है। इस विचारधारा के अनुयायी भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं तथा ज्ञान को भक्ति के साधन रूप में मानते हैं।

ज्ञान तथा भक्ति के संबंध में उपर्युक्त मतभेद पर विचार करने के पूर्व दोनों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। ज्ञान से अभिप्राय है है परमात्मा के संबंध में जानकारी प्राप्त करना तथा भक्ति से तात्पर्य है परमात्मा से प्रेम करना। ज्ञान की प्राप्ति विवेचन तथा विचार-प्रधान होने के कारण बुद्धितत्व से विशेष संबंध रखती है, किन्तु भावना प्रधान होने के कारण भक्ति हृदय तत्व से अधिक संबंधित है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को जानना चाहते हैं तो उसकी उत्पत्ति, स्वभाव तथा गुण-धर्म आदि का अध्ययन और अनुसंधान करना पड़ेगा। इच्छित जानकारी मिल जाने पर हमारी जिज्ञासा समाप्त हो जाती है तथा हमें एक प्रकार की शान्ति प्राप्त हो जाती है। किन्तु जब हम किसी व्यक्ति अथवा वस्तु से प्रेम करते हैं तब जानकारी की अधिक आवश्यकता नहीं होती। सच्चा प्रेम होने पर तृप्ति होकर प्रेम समाप्त भी नहीं होता।

आद्यशंकराचार्य जी ने 'अपरोक्षानुभूति' में ज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा है—

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२४॥
निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्ययः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२५॥
निरामयो निराभासो निर्विकल्पोऽहमाततः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२६॥
निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो नित्यमुक्तोऽहमच्युतः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२७॥
निर्मलो निश्चलोऽनन्तः शुद्धोऽहमजरोऽमरः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञान मित्युच्यते बुधैः ॥२८॥

अर्थात् मैं सम, शान्त और सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ। मैं निर्विकार, निराकार, निर्मल और अविनाशी हूँ। मैं दुःखहीन, आभासहीन, विकल्पहीन और व्यापक हूँ। मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, नित्यमुक्त और अच्युत हूँ। मैं निर्मल, निश्चल, अनन्त, शुद्ध और अजर-अमर हूँ। असत्स्वरूप देह मैं नहीं हूँ—इसी को बुधजन ज्ञान कहते हैं।

देवर्षि नारद जी ने 'भक्तिसूत्र' में निम्नलिखित सूत्रों द्वारा भक्ति के लक्षणों का वर्णन किया—

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामत भेदात्।

अर्थात् हम विभिन्न मतों के अनुसार भक्ति

लक्षणों का वर्णन करते हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।

अर्थात् पाराशर वेदव्यास के अनुसार पूजा आदि में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं।

कथादिष्विति गर्गः।

अथात् गर्ग के अनुसार कथा आदि में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।

अर्थात् शाण्डिल्य के मत में उत्कट भगवतप्रेम जो आत्मरति का विरोधी नहीं है, ही भक्ति है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

अर्थात् नारद के मतानुसार समस्त कर्मों को भगवदर्पण कर देना तथा उनके विस्मरण की स्थिति में परम व्याकुलता हो जाना ही भक्ति है।

अब देखना है कि भक्ति और ज्ञान में से कौन साधन है और कौन साध्य। इस सम्बन्ध में तुलसीदास जी की निम्नलिखित चौपाई विचारणीय है—

जाने बिनु न होय परतीती।
बिनु परतीति होय नहिं प्रीती॥

इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट है कि ज्ञान के पश्चात् विश्वास में दृढ़ता आती है और तदनन्तर प्रेम अथवा भक्ति होती है। लोक—व्यवहार में देखा भी जाता है कि किसी व्यक्ति विशेष से घनिष्ठ परिचय होने पर उसके गुणों के प्रति अतीव आकर्षण हो जाता है और फिर हमारे प्रेमभाव में वृद्धि होती है। भगवान् का ऐश्वर्य एवं माधुर्य सामान्य मनुष्यों के समान प्रकट नहीं है। उसका अनुभव तो विश्वास के उपरान्त ही होता है। अतः स्पष्ट है कि भगवद् सम्बन्धी ज्ञान होने पर ही उनके प्रति दृढ़ विश्वास होकर हमें भक्ति की उपलब्धि हो सकती है।

किन्तु दूसरा पक्ष अर्थात् 'भक्ति साधन है और ज्ञान साध्य है' भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि हम किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं और उसकी अन्तरंग बातों को भी जानना चाहते हैं तो हमारे मन में उस व्यक्ति के प्रति प्रेम होना आवश्यक है। प्रेम के अभाव में न तो हमारा मनोयोग ही प्रवल होगा जिससे ज्ञान के लिए हम सतत प्रयत्न न कर सकेंगे और न वह व्यक्ति ही हमारे प्रति आर्कषित होकर अपनी अन्तरंग बातों को हमसे प्रकट करेगा। यही बात भगवान् के सम्बन्ध में भी देखी जाती है। हमारे प्रेम की प्रबलता के कारण ही भगवत्कृपा होती है और तभी हमें उनका ज्ञान होता है। जब साधक की भक्ति से भगवान् रीझ जाते हैं तब उस पर कृपा करके उसके अज्ञान के आवरण को हटा देते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(१० अ० १०–११)

अर्थात् उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्व—ज्ञानरूप योग देता हूं कि जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही, मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में एकीभाव से स्थित हुआ, अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक द्वारा नष्ट करता हूं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरित—

मानस में कहा है—

सोइ जानै जेहि देहु जनाई ।
जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।।

अर्थात् हे भगवन् ! आपको वही जान सकता है जिस पर कृपा करके आप स्वयं जनाई दे जायँ। और फिर आपको जान लेने पर वह व्यक्ति आपका ही स्वरूप हो जाता है। अतः मानना पड़ता है कि ज्ञानप्राप्ति के लिए भक्ति का होना विशेष लाभ-दायक है।

भक्तिसूत्र में नारद जी ने ज्ञान और भक्ति के साध्य-साधन सम्बन्धी प्रश्न पर विचार किया है। वे कहते हैं—

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ।

अर्थात् कुछ लोगों का मत है कि भक्ति प्राप्त करने का एकमात्र साधन ज्ञान ही है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ।

अर्थात् अन्य लोगों का मत है कि भक्ति तथा ज्ञान परस्पर एक दूसरे के आश्रित हैं।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ।

अर्थात् ब्रह्मकुमारों (सनकादि तथा नारद) के मतानुसार भक्ति स्वयं फलरूपा है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ।

अर्थात् राजमहल तथा भोजन आदि के समान इसे समझना चाहिए।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ।

अर्थात् उससे (राजमहल के ज्ञान से) राजा (महल के स्वामी) की प्रसन्नता हम नहीं प्राप्त कर सकते (तथा भोजन सम्बन्धी ज्ञान से) हमारी क्षुधा की शान्ति नहीं हो सकती।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ।

अर्थात इसलिए मुमुक्षुजनों को भक्तिमार्ग का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

श्री शंकराचार्य जी ने कहा है—

मोक्षाकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।।

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो साधन उपलब्ध हैं उनमें भक्ति सबसे श्रेष्ठ है तथा अपने स्वरूप के अनुसन्धान को ही भक्ति कहा जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस उत्तरकांड में भक्ति तथा ज्ञान के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है तथा भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है। जब काकभुशुंडि जी ने गरुड़ जी से अपना पूर्व वृत्तान्त बताया तब गरुड़ जी ने उससे पूछा कि लोमश जी ने आपको अति दुर्लभ ज्ञान का उपदेश दिया किन्तु आपने भक्ति के समान उसका आदर क्यों नहीं किया? गरुड़ जी कहते हैं—

एक बात प्रभु पूँछउँ तोही ।
कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही ।।
कहहिं संत मुनि वेद पुराना ।
नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना ।।
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं ।
नहिं आदरेउ भगति की नाईं ।।

तब ज्ञानदीपक और भक्तिमणि के रूपक द्वारा काकभुशुंडि जी ने बताया कि भक्तिमार्ग सुगम है तथा ज्ञानमार्ग कठिन है। ज्ञानयोग की साधना में पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा थोड़ी सी असावधानी हो जाने पर साधक विचलित हो जाता है।

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा ।
परत खगेश होइ नहिं बारा ।।

इसके विपरीत भक्तिमार्ग में कठिनाइयाँ न

हैं तथा जिस प्रकार बालक की रक्षा माता-पिता करते हैं उसी प्रकार भगवान् अपने भक्तों की सदा रक्षा करते रहते हैं। ज्ञानमार्गियों पर माया अपना बल अधिक दिखाती है, किन्तु भक्ति करने वालों के उपर उसका बल नहीं चलता।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति और ज्ञान दोनों को स्वतन्त्र माना है, कोई किसी का साध्य या साधन नहीं है। फल की दृष्टि से दोनों समान हैं, दोनो में सांसारिक दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करा देने की शक्ति है। वे कहते हैं—

ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए काकभुशुंडि जी ने गरुड़ जी से कहा—

जे असि भगति जानि परिहरहीं।
केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी।
खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई।
जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

गीता में भगवान् ने चार प्रकार के भक्तों का वर्णन करते हुए कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(अ० ७–१६–१७)

अर्थात् हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मेरा भजन करते हैं। उनमें भी नित्य मेरे में एकीभाव से स्थित हुआ अनन्य प्रेमभक्ति-वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्व से जानने-वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं। और वह मुझको अत्यन्त प्रिय है।

यहां पर भगवान् ने ज्ञानी को भी भक्तों की ही श्रेणी में रखा है जिससे स्पष्ट है कि ज्ञान हो जाने के अनन्तर भी भक्त भगवान् के भजन को नहीं छोड़ते, क्योंकि ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति तो हो जाती है किन्तु जिस प्रकार का सुख भक्ति में मिलता है वैसा केवल ज्ञान में लभ्य नहीं है।

ज्ञान और भक्ति के सम्बन्ध में एक महात्मा जी से अनेक वर्ष पूर्व एक बड़ा सुन्दर निराकरण सुना था। उसका आशय इस प्रकार है—

भक्ति के तीन भेद हैं साधनभक्ति, प्रेमाभक्ति तथा पराभक्ति। नवधाभक्ति साधन भक्ति है जिसका कि अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार अभ्यास करते–करते प्रेमाभक्ति का प्रादुर्भाव होता है। तदनन्तर भगवत्कृपा होती है जिससे हृदय का अन्धकार दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होता है। उसके उपरान्त पराभक्ति होती है। अतः जब कहा जाता है कि भक्ति ज्ञान का साधन है तब वहाँ पर भक्ति का अभिप्राय साधनभक्ति और प्रेमाभक्ति से समझना चाहिए। जब कहा जाय कि ज्ञान साधन और भक्ति साध्य है तब वहां भक्ति से अभिप्राय पराभक्ति से होता है। अतः दोनो प्रकार के लोगों का कथन सत्य है, मतभेद वस्तुस्थिति को पृथक् ढंग से समझने के कारण ही उत्पन्न हो जाता है।

★

श्री माताजी द्वारा ईश्वर कृपा की व्याख्या

जीवन का सर्वतोमुखी विकास

श्री ऋषभचन्द, श्री अरविन्द आश्रम, पाँडिचेरी

पूर्व और पश्चिम के प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मों में, कृपा के हस्तक्षेप एवं कार्य को ही आध्यात्मिक जीवन की सफलता-सिद्धि का सर्वोच्च साधन माना गया है। लेकिन लोग समझते हैं कि यह हस्तक्षेप रहस्यमय तथा अपूर्व ज्ञात होता है। कृपा "जहां कहीं वह पसंद करती है" वहाँ वायु की तरह पहुंचती है। इन पर पुण्यों का अधिकार नहीं जम सकता और निकृष्ट पाप को भी इससे निराश होने की जरूरत नहीं। यह गिरे और भटके लोगों के भग्न हृदयों के पास जाती है तथा प्रेम राम-बाण से उन्हें स्वस्थ कर देती है, जब कि अहंकारपूर्ण बड़े-बड़े लोगों के पास से गुजर जाती है और मदमत्त लोगों को अपना दुष्परिणाम भोगने देती है। यह मृदु ओस-बिन्दु की तरह आती है, गर्म दिन में शीतल दक्षिणी वायु की तरह अथवा श्मशान अन्धकार के बीच प्रकाश की चमक की तरह आती है। कभी-कभी तो यह मानव आत्मा में झाड़-बुहार या उफान लाते हुये आ जाती है। इसकी पूर्ण मुखाकृतियाँ उतनी ही आशीष स्वरूप हैं तो वह केवल निद्रित और अलसाये लोगों को उठाने के लिए ही। क्योंकि कृपा के कार्य के बिना जीवन अपनी झाड़ियों में फंस पड़ेगा और प्राणी अपने अन्धकारमय तमस् में जंग खाते रह जायेंगे।

"यह प्रज्ञा न तर्कसे, न तपस्या से न अधिक श्रवण से प्राप्त होती है, बल्कि आत्मा जिसे वरण करता है उसके लिये अपना स्वरूप प्रकट कर देती है," इस उक्ति के द्वारा उपनिषदें कृपा के कार्य का ही उल्लेख करती हैं। गीताकी शिक्षा तो कृपा की भावना एवं उपदेशों से ओत-प्रोत ही है। हिन्दुओं की वैष्णव प्रणाली में भगवत्प्राप्ति तथा मुक्ति के लिये भागवत कृपा ही एकमात्र उपाय मानी जाती है। भागवत कृपा अहैतुकी होती है, किसी बाह्य कारण से कार्य नहीं करती; साथ ही इसका कार्य अप्रतिहत और अमोघ होता है। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, चै[illegible] महाप्रभु, तथा रामकृष्ण परमहंस, सबों ने भागवत [illegible] पर तर्कातीत जोर दिया। ईसाई धर्म तो कृपा का ही [illegible] कहा जा सकता है, यहाँ तक कि यह अपने सार [illegible] इसी से गठित है। "जब तक पिता उसे नहीं खींचता [illegible] तक वह मेरे पास नहीं आ सकता," इस विशि[illegible] उक्ति की भावना उपनिषद् के उपर्युक्त कथन के समान [illegible] है। रूसब्रोक (Ruysbroek) का कथन है: "अवलो[illegible] हमलोगों को उस शुद्धि और प्रकाश में प्रतिष्ठित करता [illegible] जो हमारी बुद्धि से बहुत ऊपर है······और कोई भी [illegible] ज्ञान, सूक्ष्म-दृष्टि या किसी प्रयत्न से भी नहीं प्राप्त [illegible] सकता, बल्कि वही केवल पा सकता है जिसे भगवान् [illegible] से युक्त और प्रकाशपूर्ण होने के लिये चुनते हैं, [illegible] वही, दूसरा कोई नहीं, भगवान् का अवलोकन कर स[illegible] है।" यहां भी हम प्रायः उपनिषद् के कथन की सादृ[illegible] पाते हैं। वही रहस्यवेत्ता फिर दूसरी जगह कहते [illegible] "कृपा और हमारे ईश्वरोन्मुख प्रेम से ही भगवान् के [illegible] एकता प्राप्त होती है।" एक दूसरे पश्चिमी रहस्य[illegible] रीचर्ड रौल (Richard Rolle) इसका समर्थन [illegible] कहते हैं; "भगवान् का मधुर अवलोकन अत्यधिक प[illegible] से प्राप्त होता है और असीमतापूर्वक इसे धारण [illegible] जाता है। फलतः यह मनुष्य की योग्यता नहीं ब[illegible] ईश्वर की कृपा देन है।" हिल्टन भी यही बता[illegible] "सर्वप्रथम वही उसे चुनते हैं और यह भी तब ज[illegible] वह मानव की अपनी भक्ति की मधुरता के [illegible] अपनी ओर खींचते हैं।" हिल्टन बार-बार कृपा प[illegible] उत्साहवर्धक ओजस्वी वाणी बोलते हैं: जब तक [illegible] की अन्तरात्मा विशेष कृपा का स्पर्श नहीं पाती, [तब [illegible] वह जड़वत् और आध्यात्मिक कार्य के लिये अ[illegible]

रहती है तथा आध्यात्मिकता के अन्दर प्रवेश तक नहीं पा सकती। वह अपनी दुर्बलता से ग्रसित ही नहीं, वरन् तमोग्रस्त और शुष्क रहती है। तब कृपा का प्रकाश आता है और स्पर्श के द्वारा उसे तीक्ष्ण, सूक्ष्म बना देता है, आध्यात्मिक कार्य के लिए तैयार और समर्थ कर देता है और कृपा के कार्यों को वहन करने के निमित्त पूर्ण स्वतन्त्रता और तैयारी प्रदान करता है।" बैरन वोन ह्यूजेल (Baron Von Hugel) ने तो कृपा को "यूरोपीय सभ्यता एवं यहूदी–ईसाई धर्म का सर्वोत्तम मूल तथा पुष्प......" कहा है। ओरीजन के अनुसार, स्वतन्त्रता और कृपा ही दो पंख हैं जिनके सहारे मानव-अन्तरात्मा भगवान् की ओर आरोहण कर सकता है।

कृपा में आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के विश्वव्यापी विश्वास के परम्परागत आधार से हम पूरी तरह परिचित हो चुके। अब हम श्री माता जी की शिक्षा की ओर मुड़ें और यह समझने की चेष्टा करें कि इस विषय में उनका कथन क्या है।

कृपा क्या है ?

इस विषय के मूल तक जाकर श्री माता जी कृपा के उद्गम स्रोत एवं उसकी तात्विक प्रकृति के बारे में समझाती हैं, और तब इसके कार्य की गतिविधि, इसकी प्राप्ति के लिए पूरणीय शर्तों, पूर्णयोग में इसके स्थान आदि पर प्रकाश डालती हैं। श्रीमां के अनुसार कृपा भगवान् का प्रेम है जो यहाँ निश्चेतन और अज्ञान में उतर आया है ताकि वह इसे परम सत्य एवं चेतना के अनन्त प्रकाश की ओर जागृत कर सके। "परमेश्वर ने अपनी कृपा को जगत् में उसकी रक्षा के लिए भेजा है।" (मातृवाणी)। इसके आविर्भाव के पूर्व यहां प्रत्येक वस्तु गहन अन्धकार और जड़ता में निमग्न थी, प्राणरहित जड़ के मृत्यु–पाश में बद्ध थी। कृपा स्वरूप प्रेम अवतरित हुआ और सर्व प्रथम विवर्तन में, विकास क्रम में चिरस्थायी आवेग भर दिया। फलतः जड़ में सुषुप्त आत्मा जागृत हुई और क्रमशः धीरे–धीरे अपनी अनन्त एवं सनातन अतिचेतना की ओर ले जायी जाने लगी। कृपा सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्व-रूपान्तरकारी है। यह सर्वत्र है और स्पष्ट एवं गुह्य विश्व शक्तियों की जटिल क्रीड़ा के पीछे विद्यमान उच्चतम क्रिया-शक्ति है।

"तुम्हें जो करना चाहिए वह यह कि अपने आपको पूरी तरह से भगवान् की कृपा पर छोड़ दो। कारण प्रथम निवर्तन स्थापित होने के बाद भगवान् ने कृपा और प्रेम का रूप धारण करके ही जगत् को ऊपर उठाने का भार स्वीकार किया। भगवान् के प्रेम में ही रूपान्तर की शक्ति होने का कारण यह है कि रूपान्तर के हित ही इसने अपने आपको जगत् के लिए न्योछावर कर दिया है और हर जगह अपने आपको प्रकट कर दिया है। केवल मनुष्य के भीतर ही नहीं अपितु अत्यन्त जड़ प्रकृति के समस्त अणुओं में इसने अपने आपको उँडेल दिया है ताकि संसार को मूल परम सत्य की ओर फिर से वापिस ला सके। इसी अवतरण को भारतीय धर्मशास्त्रों में परम यज्ञ कहा गया है।"

अतः कृपा ही प्रेम है जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर मुक्ति एवं रूपान्तर की अधिकतम बलशाली शक्ति के रूप में मोटे पर्दे के पीछे से कार्य कर रहा है। यह प्रचलित धारणा कि कृपा कोई ऐसी वस्तु है जो अचानक ही आती है—कहाँ से आती है यह मालूम नहीं होता—और आश्चर्य-जनक परिणाम उत्पन्न करके पुनः लौट जाती है, आंशिक सत्य पर आधारित है; क्योंकि यह तो कृपा के कार्य का अचानक घटित होने वाला बाहरी परिणाम मात्र है, किन्तु यह जगत् के सदसत् प्राणिमात्र के अन्दर इसकी सतत् क्रियाशील उपस्थिति का दर्शन नहीं है। कृपा तो सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओं में सर्वविद् एवं सर्वसंचालन प्रेम के रूप से विद्यमान है; और इसकी सशक्त क्रिया से लाभान्वित होने के लिए श्रद्धा और विश्वास के साथ इसकी ओर खुलना ही पर्याप्त है। "कृपा सबके लिए एक समान प्राप्य है। पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी सच्चाई के अनुपात में ही इसे ग्रहण करता है। यह बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती बल्कि सच्ची अभीप्सा और उद्घाटन पर निर्भर करती है।"

जो लोग किसी भौतिकवादी प्रवृत्ति से अन्धे नहीं

हुए हैं, जिनका आन्तर बोध व्यक्तिगत पसन्दगियों से बिलकुल ढका नहीं है और जिनके हृदय आध्यात्मिक दबावों के प्रति सूक्ष्मतया ग्रहणशील हैं वे जीवन के घटना-चक्रों में कृपा के रहस्यमयी क्रिया का कुछ बोध कर सकते हैं। लेकिन जो लोग आध्यात्मिक जीवन, प्रधानतः योग-जीवन का अनुसरण करते हैं, वे लोग इस तथ्य को ठोस रूप से जानने में कभी नहीं चूक सकते कि "बाह्यरूपों के पीछे······यह अनन्त, आश्चर्यमय, सर्वशक्तिमान कृपा······प्रत्येक चीज को जानती है, प्रत्येक चीज को सुसंगठित और व्यवस्थित करती है, और हम लोगों के चाहने अथवा न चाहने, जानने अथवा न जानने पर भी हमलोगों को ले जा रही है चरम लक्ष्य की ओर, भगवान् के साथ एकता, भागवत चेतना से सचेतन होने और उसके साथ घुलमिलकर एक होने की ओर।" कैसे यह हम लोगों की अपनी प्रकृति के बावजूद हमें विकास मार्ग पर आरूढ़ रख रही है ? और जब हम लोग बहक कर भटक जाते हैं, जब हमारी अन्तर्दृष्टि मलिन पड़ जाती है और हृदय की अग्नि मन्द पड़ जाती है, तब भी यह हमें सुदूर प्रकाश की ओर संकेत करती रहती है और हमारे कानों में कहती रहती है : "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो: मोक्षयिष्यामि मा शुचः" (मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत कर)। जब हम किसी उत्तेजनापूर्ण इच्छा से उद्वेलित होकर अथवा किसी वासना या भ्रांति से अन्धे होकर भागवत संकल्प के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तब कृपा हमें अनिष्ट एवं विपत्ति से दंशन करती है और तीव्र वेदना के द्वारा हमें सजग करती है ताकि इच्छा या भ्रांति पीड़ा की अग्नि में जल कर विलीन हो जाय और हम लोग भगवान् की प्रसारित भुजाओं की ओर पुनः मुड़ सकें। यदि कृपा का चाप कभी-कभी हमारी सत्ता के कुटिल और भ्रमग्रस्त भागों पर बोझिल और पीड़ाप्रद हो जाती है तो वह केवल भगवान् के जूए का बोझ सहन करने के हेतु पर्याप्त सबल एवं सीधा बनाने के लिए ही होता है; क्योंकि हमारे यांत्रिक प्रकृति के भागों पर भगवान् के जूए का बोझ ही है उनके अनन्य स्वातन्त्र्य में हमारे जीव का मोक्ष स्वरूप वास।

वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारा मूल्यांकन बिलकुल ही बाह्य और अज्ञानमूलक होता है। जिसे हम भला या बुरा, शुभ या अशुभ, प्रसन्न या विपन्न, सहायक या बाधक मानते हैं वह सब करुणामय विधाता के काम की वस्तु है जिसे वे प्रत्येक विवर्त्तनशील जीव के चरम कल्याण के लिए उपयोग करते हैं। भगवान् सौभाग्य की ही तरह, दुर्भाग्य का उपयोग उतनी ही स्पष्टदर्शी कृपा के साथ करते हैं। यदि आवश्यक हो तो जीव को अज्ञान-जाल से निकालने के लिए वे विपत्ति एवं मृत्यु का भी उपयोग करने में कोई भेद नहीं करते। जब एक बार हमारी आंखें भागवत कृपा की सतत उपस्थिति एवं हस्तक्षेप के सत्य की ओर पूर्ण तरह खुल जाती हैं, तब हमें अपने जीवन की परिस्थितियों के सम्बन्ध में कोई शिकायत नहीं रह जाती। हम उन सबों में सर्वप्रेमी के हाथ पाते हैं जो हमें निर्भ्रांत और अचूक रूप से अपनी ओर, अपने शाश्वत सामंजस्य तथा आनन्द की ओर ले जा रहे हैं। और यही है हमारे लक्ष्य की चरम परिपूर्णता।

श्री माता जी कहती हैं : "यदि तुम सचमुच तीव्र अभीप्सा की अवस्था में हो तो कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं है जो तुम्हारी अभीप्सा की चरितार्थता में सहायक न करे। सभी तुम्हारी मदद करेंगे, मानों अखण्ड ... निरपेक्ष चेतना में ही सभी चीजों को तुम्हारे चारों ओर व्यवस्थित किया है। और तुम अपनी बाहरी अज्ञानावस्था में इसे न भी पहचान सकते हो, परिस्थितियों के आने पर तुम सर्वप्रथम उनका विरोध भी कर सकते हो, कष्ट ... शिकायत भी कर सकते हो, उन्हें बदल देने का प्रयत्न भी कर सकते हो। लेकिन जब तुम अपने और घटना के बीच थोड़ी दूरी रखकर अधिक बुद्धिमान हो जाओगे, तब उसके बाद ही तुम देखोगे कि तुम्हारी निर्धारित प्रगति के लिए यह नितांत आवश्यक था। संकल्प, सर्वोच्च शुभ संकल्प ही तुम्हारे चारों ओर सब कुछ बिछाता है।" सर्वज्ञ का प्रेम ही हमारे जीवन की व्यवस्था और संचालन करता है, न कि अन्ध संयोग अथवा आकस्मिक घटनाओं का अज्ञात चक्र।

अपने आध्यात्मिक जीवन में सदा ही हम अधिकाधिक आश्चर्य और कृतज्ञता के साथ लखते हैं कि कैसे हमें अनुभूतियां प्राप्त होती हैं; कैसे हमारी चेतना से एक के बाद दूसरा पर्दा हटता जाता है और अन्धकार का जमा हुआ ढेर बात की बात में दूर हो जाता है, मानों ये सब जादू के खेल हों। जिसे हम कठोर व्यक्तिगत श्रम, अनुशासन एवं प्रार्थना द्वारा नहीं प्राप्त कर पाते वह अचानक मात्र कृपा के परिणामस्वरूप हमारे अन्दर तैरता हुआ आ जाता है। हमें पता तक नहीं मिलता कि कैसे एक निश्चित प्रकाशमय संकेत मिला, एक निश्चित आवश्यक स्थिति स्थापित हो गई, किसी हठी समस्या का एक नया समाधान सूझ गया, अवरोधी कठिनाई हमारे रास्ते से दूर फेंक दी गयी, और हमारी दृष्टि के समक्ष एक महिमामय दीप्तमान नवीन क्षितिज प्रकट हो गयी। जब हम अपने श्रांत और निराश्रित अनुभव करते हैं और आगे बढ़ने का रास्ता नहीं देख पाते, अचानक ही एक प्रकाश-किरण हमारे अंदर आती है और एक नामहीन शक्ति हमें सारे जंगल से बाहर निकाल ले जाती है। अतएव किसी काल, परिस्थिति या घटना में हमें विषादयुक्त अथवा निराशापूर्ण होने की जरूरत नहीं। कृपा के आशीर्वाद, "व्यथा-पंख का प्रत्येक आघात परमानन्द की ओर एक पदारोहण हो सकता है।" यहाँ एक नेत्र है जो अपनी प्रेमभरी सावधानी में निद्रारहित रहता है और एक भुजा है जो सहायता और आराम देने में क्लान्तिरहित है। विपन्नता का अनुभव करना तो मानो ईश्वर को अस्वीकार करना तथा उनकी कृपा को दूर हटाना है। "भगवत् कृपा के सामने कौन अधिकारी है और अनधिकारी? सब कोई उन एक ही अभिन्न माता की संतान हैं। उनका प्रेम सब किसी पर एक सरीखा बरस रहा है। परन्तु हर एक को वे उसकी प्रकृति और ग्रहण सामर्थ्य के अनुसार देती हैं।"

कृपा की शर्तें

"लेकिन कुछ शर्तें पूरी करनी हैं: विशाल पवित्रता तथा आत्मदान में अधिक तीव्रता और उस भागवत कृपा की सर्वोच्च प्रज्ञामें ऐकांतिक विश्वास अपेक्षित है, जो हमारे वास्तविक कल्याण के सम्बन्ध में हमसे अधिक जानती है। यदि अभीप्सा उसे अर्पित की जाय और अर्पण सचमुच काफी तीव्रता के साथ किया जाय तो परिणाम आश्चर्यजनक होगा।"

भागवत कृपा के अविरोध कार्य करने के लिये पवित्रता अकल्मष आत्मदान और सहज श्रद्धा-विश्वास, ये मुख्य शर्तें हैं। श्रद्धा नहीं रखना मानो कृपा के विरुद्ध अपनी सत्ता का दरवाजा बन्द कर देना है। भागवत कृपा बराबर कार्य करने के लिये तैयार है, पर तुम्हें इसे कार्य करने का मौका देना चाहिए और इसके कार्य का विरोध नहीं करना चाहिये। एकमात्र आवश्यक शर्त है-श्रद्धा।" आत्मदान नहीं करने से हम अहंकारात्मक एवं पृथकात्मक अज्ञान में असहाय भाव से आबद्ध रह जाते हैं। श्रद्धा और आत्मदान से पवित्रता आती है और पवित्रता से कृपा कार्य निश्चित रूप से सरल हो जाता है। "हम अपने आपको पूर्ण रूप से तथा निःशेष भाव से भगवान् को सौंप दें, तभी हम भली प्रकार से भगवत्कृपा को प्राप्त कर सकेंगे।"

कृपा और वैश्व न्याय

"न्याय है विश्व-प्रकृति की गतियों पर कठोर तर्कसंगत नियंतृत्व।" परिस्थिति का अज्ञात विधान, कारण की रूढ़िगत विधि और परिणाम, इन तीनों से वैश्व शक्तियों की क्रियाएं शासित होती हैं। बुद्ध के कथनानुसार इसमें न तो कोई अपवाद है न कोई बचाव के लिए छिद्र। जैसा कोई बोता है वैसा उसे काटना है। अपने कर्म के स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणामों से छुटने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन श्रीमां आश्वासन देती हैं कि "केवल भगवत्कृपा में ही यह शक्ति है कि वह इस विश्वव्यापी न्याय के कार्य में हस्तक्षेप कर सके और उसके क्रम को बदल सके।" विश्व-प्रकृति के नियंतृत्व को अतिक्रम करने का अधिकारपूर्ण स्वातंत्र्य कृपा में ही है, कारण कि यह प्रकृति की परिधि के बाहर से कार्य करती है—इसका एकाधिपत्य इसके सर्वसमावेशकारी परात्परता निहित है। इसकी स्वतंत्रता उच्छृंखल स्वेच्छाचारिता के

लिए नहीं, यह तो प्रेम की सर्ववेत्ता प्रज्ञा की एकाधिपत्य स्वतंत्रता है। वैश्व न्याय तो इस प्रेम का बहिर्गत रूप है, अस्थिर जगत् व्यापार में इसकी यांत्रिक क्रिया मात्र है। श्रीमां ने एक बार कृपा के कार्य को, दृष्टांत देकर यों समझाया था: "कोई आदमी सीढ़ी से नीचे उतर रहा है। एक ढीला, अपनी जगह से निकला हुआ खपड़ा ठीक उसके सिर पर गिरने वाला है। गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार वह खपड़ा गिरेगा ही और उसके सिर को तोड़ेगा ही। लेकिन आश्चर्य, अचानक ही उसके पीछे से एक हाथ आगे बढ़ जाता है और खपड़े को पकड़ लेता है। अतः आदमी बच गया। उसके पीछे से किसी व्यक्ति का इस प्रकार हस्तक्षेप करना ही कृपा का हस्तक्षेप है, जो प्रकृति के कठोर नियंतृत्व को रद्द कर देता है।" श्रीमां कहती हैं, "इस कृपा को पृथ्वी पर अभिव्यक्त करना, यही है अवतार का महान् कार्य। अवतार का शिष्य होना इस भगवत् कृपा का एक यंत्र बनना है। मां तादात्म्य द्वारा इस भगवत्कृपा को बांटने वाली देवी हैं जो इस वैश्व न्याय की समस्त यांत्रिकता का—तादात्म्य द्वारा—पूर्ण ज्ञान रखती हैं। और उनकी मध्यस्थता से भगवान् की ओर सच्ची और विश्वासपूर्ण अभीप्सा की प्रत्येक गति, प्रत्युत्तर में इस कृपा को हस्तक्षेप करने के लिये यहां नीचे बुला लाती है।"

"तेरी कृपा के निरन्तर हस्तक्षेप बिना कौन ऐसा है जो इस सार्वभौम न्याय के छुरे की निर्दय धार के नीचे अक्सर न आ जाय ?

"एक मात्र भागवत् कृपा के लिए ही प्रार्थना करनी चाहिए—यदि न्याय-शक्ति कार्य करे तो बहुत कम ही लोग उसके सामने टिक सकेंगे।"

युक्त-वृत्ति

एक बार जब हमने अपने को कृपा के प्रति समर्पित कर दिया है तो जो कुछ वह निर्णय करे हमें उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए और जो कुछ हम पर घटित हो वे हमारी मानसिक धारणा के अनुसार चाहे शुभ घटनायें हों या अशुभ, इष्ट या अनिष्ट उन सबमें इसकी इच्छा अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिये। यदि हम "उसी चीज को, उसी परिस्थिति को बिलकुल समान भाव से ही भगवान् की देन भागवत कृपा और पूर्ण सामंजस्य के परिणाम स्वरूप मानें, तो वह हमें अधिक सचेतन, सबल और सच्चा बनाने में सहायता करती है।" यही है युक्त वृत्ति। यदि हम इस युक्त वृत्ति को बनाये रक्खें तो अपने पर घटित होने वाली सभी घटनाओं से हम लाभ ही उठा सकेंगे, क्योंकि कृपा में हमारा श्रद्धा-विश्वास उन्हें हमारे अन्दर और ऊपर आसानी से और स्वतंत्रता से कार्य करने देगा और अपने रहस्यमय रसायन द्वारा पराजय को विजय में एवं दुर्भाग्य को उत्तम परम भाग्य में बदल देगा। सारे जगत् में आध्यात्मिक जिज्ञासुओं की सार्वभौम अनुभूति यही है। लेकिन अन्यथा यदि हम इसी परिस्थितिको, इसी वस्तु को "हमें हानि पहुंचाने वाली, अशुभ शक्ति-स्वरूप दुर्भाग्य प्रदत्त विपत्ति" मान लें तो यह, हमें क्षीण, कुण्ठित और बोझिल बना देगी; हमारी चेतना, बल और सामंजस्य को हर लेगी।" यहां पर प्रहलाद का पौराणिक दृष्टान्त बिलकुल लागू होता है। क्यों कि कृपा पर उसकी एकांतिक निर्भरता थी, कृपा ने उसे सभी परीक्षाओं से सुरक्षित निकाल लिया। संदेह या शंका कृपा के कार्य-मार्ग का बाधक है। सरल एवं प्रश्नातीत श्रद्धा-विश्वास ही सभी कठिनाइयों के विरुद्ध सर्वोत्तम रक्षक है। "जो सच्ची अभीप्सा करते हैं, उनके लिए कृपा और सहायता सदा विद्यमान हैं और श्रद्धा एवं विश्वास के साथ ग्रहण करने पर उनकी शक्ति असीम हो जाती है।" यदि कृपा का उत्तर शीघ्र नहीं आता तो हमें विश्वास पूर्ण धैर्य के साथ, यदि आवश्यक हो तो अनन्त धैर्य के साथ, प्रतीक्षा करनी चाहिए तथा मन को जरा भी संदेह करने या प्राण को स्थिरता खोने नहीं देना चाहिये। "धैर्य और अध्यवसाय से सभी प्रार्थनाएं पूरी होती हैं।" "भगवान् की कृपा-शक्ति, सकंल्प-शक्ति एवं क्रिया एवं क्रिया पर पूर्ण विश्वास बनाये रक्खो—सभी कुछ ठीक हो जायगा।" इस युक्त वृत्ति से एक क्षण के लिए भी गिर जाने पर कृपा के कार्य में बाधा या विलम्ब आ सकता है।

कृपा और रोग

श्रीमाताजी कहती हैं कि, "९० प्रतिशत रोग

में अवचेतन भय के फल स्वरूप होते हैं। शरीर की सामान्य चेतना में शरीर पर पड़ने वाले छोटे-मोटे आघात के परिणामों के सम्बन्ध में भी थोड़ी या बहुत बेचैनी छिपी रहती है। अनागत के विषय में संदेह के शब्दों को यों रूप दिया जाता है: "और क्या घटेगा?" इस बेचैनी को रोकना होगा। वास्तव में यह बेचैनी भागवत कृपा में विश्वास का अभाव है जो समर्पण पूरा नहीं होने का निश्चित चिह्न हैं।

इस प्रकार की घातक बेचैनी को दूर करने का उपाय समझाते हुये श्रीमां कहती हैं: "अवचेतन भय को जीतने का व्यावहारिक तरीका यह है कि जब कभी इसका थोड़ा भी अंश ऊपरी सतह पर आवे, तब सत्ता का अधिक प्रकाशपूर्ण भाग शरीर पर भागवत कृपा में पूर्णतया विश्वास रखने की आवश्यकता पर, इस विश्वास पर कि हमारे एवं सबके अन्दर कृपा सतत सर्वोत्तम मंगल के लिए कार्य कर रही है, और भागवत संकल्प के प्रति पूर्णतः एवं निःशेष भाव से समर्पित होने के निश्चय पर जोर डालें। कृपा में संपूर्ण और अडिग विश्वास ही सब प्रकार के भय की सर्वाधिक सफल औषधि है।

कृपा तथा पूर्ण योग

कहा जा सकता है कि श्रीमाताजी जैसे कृपा को ही साधारणतः मानव के निवर्तनकारी आरोहण के पीछे विद्यमान एकमात्र संचालक शक्ति मानती हैं, वैसे पूर्णयोग में इसे ही प्रगति का एकमात्र साधन समझती हैं। श्री अरविन्द कहते हैं कि "योग में सबसे प्रधान बात यही है कि प्रत्येक पग पर भागवत कृपा पर विश्वास रखते हुए, अपने विचारों को निरन्तर भगवान् की ओर परिचालित करते हुये तब तक अपने आपको समर्पित किया जाय जब तक कि हमारी सत्ता का उद्घाटन न हो जाय और हम यह न अनुभव करने लगें कि हमारे आधार में श्रीमां की शक्ति कार्य कर रही हैं।"

कोई अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति अपने निजी बल तथा परिश्रम से पूर्ण-योग की साधना नहीं कर सकता एवं इसके लक्ष्य—अतिमानसिक रूपांतर—तक नहीं पहुंच सकता। योग के एकदम प्रारम्भ से लेकर अन्त तक—प्रारम्भ में अभीप्सा की अग्नि प्रज्वलित करने एवं आत्म समर्पणार्थ तीव्र चेष्टा को संचालित एवं सुरक्षित रखने के लिए, तथा अन्त में सर्वोच्च सत्य की विजय और भौतिक जीवन में इसकी अभिव्यक्ति के लिए, एकमात्र भागवत कृपा पर ही पूर्ण निर्भरता अत्यावश्यक है। "आओ हम अपनी संकल्प-शक्ति को भागवत कृपा की भेंट चढ़ा दें। यह कृपा की भेंट चढ़ा दें। यह कृपा ही सब कुछ सिद्ध करती है।"

पूर्ण-योग जैसे-जैसे आगे बताया है, यह अनेकों पथरीले रास्तों एवं अगम्य जंगलों से होकर गुजरता है। नीचे और ऊपर, दोनों ओर ही प्रलोभन हैं—अंधकारपूर्ण क्षेत्रों के प्रलोभनों की ओर तो हम बहुत ही झुके हुए हैं, हैं प्रकाशपूर्ण-क्षेत्रों के प्रलोभन तो प्रायः दुर्दमनीय से लगते हैं। कोई भी मानव प्राणी अपने असहाय बल से इन्हें नहीं जीत सकता। "एकमात्र भागवत कृपा पर ही आश्रित रहना और सभी परिस्थितियों में इसकी सहायता का आवाहन करना हमें सीखना होगा, तब यह निरंतर चमत्कार करके दिखलायेगी।"

यही है कृपा में हमारी श्रद्धा को गुप्त ढंग से आधारित और सुरक्षित बनाये रखने का मूलगत सत्य, कि भगवान् ही हमारी अत्युच्च संभवनीय मुक्ति एवं पूर्णता के लिये अनन्ततम अत्यधिक हितकारी हैं, क्योंकि भगवान् ही यहां हमारे अंदर विकसित हो रहे हैं,—हमारी आत्मा उनकी आत्मा हैं, हमारा मन उनका मन है, हमारा प्राण उनका प्राण हैं, और हमारा शरीर उनका ही भौतिक परिधान है। प्रत्येक प्राणी और वस्तु में उनकी विकसन-शील आत्माभिव्यक्ति के पीछे अविज्ञेय किन्तु अमोघ प्रज्ञा अपने निर्भ्रांत छन्द के साथ विद्यमान हैं। वही प्रज्ञा है प्रेम की सर्व-विजेता शक्ति एवं वही है कृपा। जब हम एक बार इस सत्य को पा लेते हैं, हम अपने को कृपा की भुजाओं में सीधे फेंक देते हैं और जहां कहीं तथा जैसे भी वह चाहती हैं अपने को ले जाने देते हैं। तब कृपा ही हमारे सम्पूर्ण जीवन का एकमात्र चालक एवं शरायण्य बन जाती है। उसकी निस्सीम गोद में लेटकर हम अचल

हर्ष तथा कृतज्ञता से परिप्लावित हृदय के साथ, सम्पत्ति और विपत्ति से होते हुए परमेश्वर की प्रेम और आनन्द की सनातन स्थिति की ओर यात्रा करते हैं।

कृपा के कार्य के प्रति प्रशान्त एवं हर्षमय कृतज्ञता ही हमारे हृदय का सबसे अधिक सहायतापूर्ण दातव्य उत्तर है। "भागवत कृपा के प्रति कृतज्ञता से पूर्ण एवं पूर्णतया कृतज्ञ रह सकना तुम्हारे लिये अन्तिम चीज है, तब तुम यह देखना शुरू करोगे कि प्रत्येक पग पर चीजें ठीक वैसी हैं जैसी कि होनी चाहिए और उतनी ही अधिक अच्छी जितनी कि हो सकती हैं। तदनन्तर सच्चिदानन्द अपने को एकत्रित करना प्रारम्भ करते हैं और अपने ऐक्य में पुनर्गठित करते हैं।"

छाया और व्यक्ति

जर्मन के ग्राम्य-गीतों में हम एक ऐसे व्यक्ति की कथा सुनते हैं जिसने अपनी ही छाया को खो दिया था। यह एक बड़ी विचित्र बात है। एक व्यक्ति अपनी छाया खो देता है और उसके लिये फिर पछताता है। उसके सभी मित्रों ने उसे निरुत्साहित किया, उसका सभी वैभव उसे छोड़कर चला गया और वह बड़े दुःख की अवस्था में रहने लगा। तुम उस व्यक्ति के बारे में क्या सोचोगे जो अपनी छाया को खोने के बजाय अपने आधार को ही खो देता है। उस व्यक्ति के बारे में तो आशा की जा सकती है जो केवल छाया को ही खोता है, लेकिन उसके लिये क्या आशा की जा सकती है जो अपने आधार, शरीर को ही खो देता है।

इस संसार के अधिकांश व्यक्तियों के लिये यही बात लागू होती है। अधिकाँश व्यक्तियों ने अपनी छाया के बजाय उसके आधार, सत्य को ही खो दिया है। आश्चर्यों का भी आश्चर्य। शरीर तो एक छाया मात्र है, और वस्तुतः आत्मा ही एक सत्य है। सभी कोई अपनी छाया के बारे में कहा करते हैं, सभी अपने शरीर की प्रत्येक अवस्था के बारे में कहा करते हैं, लेकिन कितने थोड़े लोग ऐसे हैं जो अपने आत्म-तत्त्व के बारे में सब कुछ कहते हैं। तुम क्या हो? सारे संसार का लाभ पाकर अपने आत्म-तत्त्व को खो देने में क्या महत्व? लोग सारे संसार का लाभ पाने के लिये प्रयास करते हैं लेकिन वे अपनी आत्मा को खो देते हैं। क्या खो देते हैं? घोड़ा या घुड़सवार? घुड़सवार खो गया है। शरीर तो घोड़े की तरह है और आत्मा घुड़सवार की तरह। घुड़सवार खो गया है, लेकिन घोड़ा मौजूद है। सभी कोई घोड़े के बारे में सब कुछ कहते फिरते हैं, लेकिन मैं तो घुड़सवार, घोड़े के मालिक के बारे में कुछ जानना चाहता हूँ—यह एक ऐसा विषय है कि इसके बारे में संसार के बड़े-बड़े दार्शनिक अपना दिमाग लगाते रहते हैं और जानने के लिये भरसक प्रयास करते हैं। यह एक गम्भीर विषय है। इसे अच्छी तरह समझने का प्रयास करना चाहिये।

—स्वामी रामतीर्थ

जीवन-मेला

श्री उमादत्त सारस्वत, बिसवां (सीतापुर)

(१)

जीवन-मेला दो दिन का है, यहाँ किसी का रहना क्या !
क्षण भर में मैदान साफ है, दुख-सुख का फिर कहना क्या !
तरह-तरह के रूप लिये जो बैठे मानव इधर-उधर !
कह सकता है कहो कौन कब चला जायगा कौन किधर !

(२)

'गिरहकटों' से होशियार रह, साफ निकल जा बचकर तू ।
'घोर उमस है, अमित भीड़ है'-हो न विकल, जा बचकर तू ।
लगी दुकानें देख-भाल ले, माल कहाँ का सच्चा है ।
समझ-बूझ कर दाम लगाना, काम यहाँ का कच्चा है !।

(३)

ध्रुव निश्चित है, यह परदेशी, यहाँ न रहने पायेंगे ।
एक-एक कर आये थे जो, एक-एक कर जायेंगे ।
पल भर के इस मेले में क्यों ऐंठा-ऐंठा फिरता रे !
दौड़ा-दौड़ा घूम व्यर्थ मत, मन में ला सुस्थिरता रे !

सच और झूठ

श्री सन्तोषचन्द्र, बाँदा

जब सारा संसार नींद की गोद में मेरे से दूर पड़ा था उस सयम एक विचारक अपने आप की तलाश में विचारों की गलियों में टहलता बस्ती से दूर प्रकृति से अठखेलियाँ करती हुई कर्णावती के तट पर जा पहुँचा । सारा वातावरण गम्भीर शान्ति में डूबा कर्णावती के कल-कल करते, भावों और शब्दों से परे के गीत को सुन रहा था ! स्वच्छ आकाश में पूर्णिमा का चाँद शान्त गीत का आनन्द लेता हुआ प्रकृति को अपनी चाँदनी अर्पित कर रहा था ।

विचारक तट पर पहुँचते ही जल की ओर देखता रह गया । उसने देखा कि चन्द्रमा की छाया कर्णावती के गीत में बहती हुई चन्द्रलता का निर्माण कर रही है और उस निराकार गीत का साकार रूप लग रही थी !

यह क्या ? लता हँसी और बोली "मैं झूठ हूं सत्य देखना है तो ऊपर देख" ।

विचारक की दृष्टि साश्चर्य ऊपर उठी और अधिक आश्चर्य में डूब गई कि यह लता जिसमें लाखों चाँद लगे हैं झूठ और इसकी सच्चाई एक चाँद है ।

विचारक की आश्चर्यचकित मुद्रा देखकर चाँद मुस्कराकर बोला "लता का निर्माण जल की तरंगों ने मेरा आश्रय पाकर किया है । जल की तरंग कल्पना मात्र है । इसलिये लता भी कल्पना मात्र है । यह अनेकता वास्तव में एक के आधार पर है । और मैं, मैं भी किसी के आधार पर हूं मेरा सौन्दर्य भी किसी की छाया है............और उसका आधार तू है तू । मेरा सौन्दर्य तेरे सौन्दर्य के आगे कुछ है । क्योंकि मुझे मेरे सौन्दर्य को ये स्थूल नेत्र देखने में समर्थ हैं और तू मन बुद्धि से भी परे सब का द्रष्टा व अधिष्ठान है । जहाँ भी तू है वहीं सौन्दर्य है-सत्य है और कल्याण है यह तेरा ही तो स्वाभाविक गुण है ।

यह सुनकर विचारक अपने आप में खो गया समय चलता गया । प्रकृति पर परिवर्तन हो गया किन्तु विचारक अपने अन्तर के अखण्ड सौन्दर्य में डूबा रहा.................. ।

इच्छा कमी है और कमी पाप है

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी निर्मल जी, अमृतसर

संसार में बड़े–बड़े कलाकार हैं उनके हृदय और मस्तिष्क में सदैव नई–नई कलाओं को आविष्कृत करने के लिए वृन्ति उठती रहती है। हर कला में कलाकार कुछ राज़ रखता है। उन कलाओं को देखते–देखते या हाथ पाँव मारने से तो कोई भी जीव कलाकार नहीं बन सकता। यह तो जिन्दगी ही में गुरुलोग कृपा करते हैं। लेकिन यह शर्त है कि तुम लोग उसकी प्राप्ति का दृढ़ इरादा करो जो कर सको। मानव का स्वभाव है एक इच्छा पूरी नहीं होती तो दूसरी इच्छा की पूर्ति के लिए आगे बढ़ता है। इस जीते जागते संसार में हमारी किताब में तो इच्छा ही पाप है। इच्छा कमी का चिह्न है और तकलीफ की तस्वीर है। इस कमी काँटा का एयरकन्डीशण्ड कमरे में भी मानव को शक्त होने नहीं देता। अपने आप को समझता है कि मैं बहुत बुद्धिमान हूँ। यह भी एक मन्जिल है कि गुरु लोग सिखाते हैं कि किसी पर मत निर्भर हो। गुरु कृपा तो मानव का संसार से मुख फेर कर भी इधर ले आती है जैसे इंजन गाड़ियां खींच लेते हैं। विचारवानों के लिये आसानी से अपनी मंजिल पर पहुँचने के लिये यह नियम है कि

शौक इसे बेताब किये जा रहा हो। गुरु शरण तो दुः से बचाने के लिये है। वास्तविक गुरु भी वही है जो शिष्य को आपत्ति में डालकर उसे वास्तविक सुख की उपलब्धि करा दे। हमारा सत्सङ्ग ऐसा नहीं जो नुमा हो और बाजार की चीज हो, हम तो उस गहराई पर विचार कर रहे हैं जो करना चाहिये। गुरुभक्त की नजर हमेशा गहराई पर होती है।

तुम्हारे आध्यात्मिकवाद में चमक क्यों नहीं आती? इसको अच्छी तरह समझो। आलम विद्वानों के होते हुए इतनी अशान्ति क्यों? पानी प्यास नहीं बुझाता, क्या कारण है? पंखा चलता है वायरिंग के रास्ते हैं। तमाम शास्त्रों का जोर द्रष्टा पर है। दीन दुःखी की यह विद्या नहीं थपेड़ों से परेशान की यह विद्या नहीं। भिखमंगों की यह विद्या नहीं।

तू चीजों को मत मिटा हकीकत समझ। इनकी कीमत क्या है? यहां का सिक्का यहीं रह जाता है। यहां की शानो–शौकत और है और अनात्मा की शानो—शौकत और है।

इस संसार में पी–एच० डी०, एम० ए०, बी० ए०, यह सब जड़ हैं जिन आंखों कानों, नाक तथा

जिह्वा से आनन्द ले रहा है यह भी जड़ है इनको अपनी खबर नहीं है। और न दूसरे की।

जिनको अपनी ख़बर नहीं है,
वे मेरे दिल का राज़ क्या जानें।

नैमित्तिक मौत तो प्रतिदिन होती है, हर श्वास के साथ हम जीते हैं, यह श्वास अन्दर कैसे जाते हैं ? यह हवा कहां से टकरा कर वापिस आती है ? यह मौत तेरे आधीन नहीं है। न तेरा मोल है और न तेरा तोल है। घड़ी अपने आप चल रही है। मिट्टी की पुतली के अन्दर तमाशा हो रहा है। आंखें देख रही हैं; कान सुन रहे हैं, हाथ पांव चल रहे हैं। किसी भी नज़र से ओझल न हो सामने आ। अपने आप को क्या-क्या मानता है ? अज्ञानी और ज्ञानी सभी के सामने सुख दुःख की पिक्चर खुलती है। अज्ञानी तो उस दुःख में दुःखी हुआ, दुःख को हटाकर सुखी होता है परन्तु ज्ञानी उस दुःख का द्रष्टा बन जाता है। अज्ञानी दुःख के मूल को नहीं मिटाता। चमक दमक वाले कपड़े खरीदने से बीमारी मिटती नहीं। तू औषधि का सेवन कर। तू किसी बड़े डाक्टर से अपना इलाज करवा।

दायम पड़ा हुआ दर पर नहीं हूं मैं,
खाक़ ऐसी ज़िन्दगी से पत्थर नहीं हूं मैं।

×

रंज से खू गर हुआ इन्सां तो मिट जाता है।
मुश्किलें आकर इतनी पड़ीं के आसां हो रंज गई।।

तेरा बनावटी सुख तुझे वास्तविक सुख की ओर नहीं मुड़ने देता। यह मानव असली दुःखी भी नहीं और असली सुखी भी नहीं। वेदान्त असली दुःखी चाहता है। असली दुखी वही है जो नकली सुख की तलाश नहीं करता, परिस्थितियों में घबराता नहीं। हृदय की प्रेरणा से परिस्थिति बदल जाती है या परिस्थितियां हृदय को बदल देती हैं ? आदमी जब फितरत से ही उठता है तब कभी भी नहीं गिर सकता। यह जीव अहं मम में ही जीवन गुज़ार रहा है, वासनामय भोग भोगकर उनका अभिमानी बन रहा है। यही इसके पास एक नशा है। बड़ी-बड़ी चीजों से अभिमान हो जाता है। जब क्रोध करता है तो हम क्रोधी कहते

> **मानव बुद्धि इतनी सीमित, इतनी स्थूल, इतनी दाम्भिक और अज्ञानी है कि वह निन्दात्मक शब्द की सहायता से ठीक उन्हीं शक्तियों को हीन बताना चाहती है जो मनुष्य के सामने एक उच्चतर और श्रेष्ठतर जीवन के द्वार खोल देती हैं।**
>
> **—श्रीमाता जी**

हैं जब तमोगुण में होता है तो आलसी और निद्रालु कहलाता है। जन्ममरण तो अन्तःकरण का होता है परन्तु यह अपना समझ बैठा है। स्वरूप का ज्ञान होने पर दृढ़ इरादे वाला होने से यह कभी भी परिस्थितियों में नहीं गिरता। वैसा सोचो जैसा होना है। गोशातन्हाई में बैठ कर शास्त्र की प्रेरणा से प्रेरित होकर गुरुकृपा से लक्ष्य प्राप्त करते हैं। हीरा मुश्किल से खान से निकलता है इसीलिए मँहगा है।

यह पथिक, आध्यात्मिकवाद का राही सीधे रास्ते चलता हुआ भी पूछ रहा है कि मैं ठीक चल रहा हूं या गल्त। जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप पर सन्देह होता है कि मुझे आत्म प्राप्ति होगी कि नहीं ऐसा सन्देह भगवान का शाप है और जीव सन्देहों में मारा जाता है। इसलिए जब तक मुझ वासुदेव को सर्वेसर्वा न जान ले

वह अन्जान आगे नहीं चल सकता। वेद मेरी आवाज़ है, मेरा जो परमधाम है तेरा है।

"ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः" अज्ञान में पड़ा ऐसे चक्कर काट रहा है जैसे गिरदाब में पड़ा तिनका।

इस साधन प्रणाली के साधनों में प्रथम साधन है "विवेक"। ईश्वर के दिखाई देने वाले जगत में विकट परिस्थितयों में भी अन्तःकरण को लाइट देने वाली आत्मा में इन्तियाज़ करना है। लाइट हमेशा गिरने से बचाती है। परन्तु शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध काम क्रोध लोभ मोह अहंकार के फैलाव के कारण विवेक का गला दब गया है जिससे उस शासक आत्मदेव का विवेक नहीं होता। जीव कभी खुशी और कभी ग़म की परिस्थिति में दुखित हुआ समय पास कर रहा है। मानव जीवन की महिमा बहुत है। ईश्वर सृष्टि में हँस केवल मानव ही सकता है। हँसने का पुर्जा मानव के अन्दर ही है। यही एक विवेक का सबसे बड़ा पुर्जा है, हमारी आत्मा दुःख से मिली हुई नहीं। मानव में ऐसे—ऐसे पुर्जें हैं ज़रा पीछे हटे तो आत्मदर्शन करादे। जिस बात को ज्ञानी समझ रहा है, अज्ञानी उसे नहीं समझ रहा। सिकन्दर को जब बड़ी भारी ठोकर जेहलम के किनारे लगी, तो उसने किसी फ़क़ीर से पूछा कि दौलत कहां रखनी चाहिए? उत्तर मिला, जो कुछ तुम्हारे पास है सिर के नीचे रक्खो। जब फिर कभी फ़क़ीर की रहमत जोश में आई, फिर पूछा, इतनी दौलत सिर के नीचे कैसे रक्खूं? उत्तर मिला कि जो कुछ तेरे पास है उसे ज्ञान में बदल दो। सिकन्दर समझा नहीं—सारा खजाना फ़क़ीर के कहने पर उपनिषद् और गीता के अनुवादों पर लगा दिया। जो आ[...] तेरा अति आवश्यक है, वह पहले कर। वि[...] जब जागता है, तमाम कमाई हुई दौलत दान [...] रास्ते लगा देता है और शान्त हो जाता है। वैराग्य से बढ़कर कुछ चीज़ नहीं। यह धन का [...] तभी तक है जब तक वैराग्य नहीं।

"इतना न उछल दाना-ए-अस्पन्द की मानि[न्द]" अज्ञानी जैसा कोई दुःखी नहीं, अज्ञानी ने [...] गुरुमन्त्र का मुख भी उधर की ओर कर दिया है। अपनी अक्ल का मुख देख तूने किधर फेरी [...] है। ऋषियों से ब्रह्म विद्या ग्रहण करने से ही [...] खूबसूरत बनेगी। सीधे रास्ते पर कार चल[ाना] बड़ी बात नहीं, मोड़ करने में होश होनी चाहि[ए]। तू घड़ी के लिए ही निर्वासनिक हो सके तो ब[ड़ी] बात है।

शुक्र कर, कि मिट्टी के दीपक में अभी ला[...] जल रही है अर्थात् कि तू ज़िन्दा है। दस क[...] का सेठ, राजा महाराजा जो मर चुके हैं उनसे बहुत अच्छा है। तुम्हें होश नहीं आ रहा। [...] करके फेंक दिए गए हैं और लाशें जल रही हैं। इसलिए तू होश कर और जाग। ज्ञानी के [...] तो भीख मांग लेना अच्छा है परन्तु अज्ञानी [...] साथ राज्य करना बुरा है। पता नहीं कब [...] दे? विवेक को जगा, वैराग्य से काम ले [...] हँसना सीख। दिल में ऐसी उत्कट जिज्ञासा [...] आग प्रज्जवलित होनी चाहिए। गुरुमुख से म[हा] वाक्य श्रवण करते ही मोहर लग जाए।

इच्छा कमी है और कमी पाप है। उ[...] कमी भासती है जो यह देखता है कि यह मेरे [...] ज्यादा सुखी है। अभाव की पूर्ति ने जीवन [...]

नाश कर दिया है। जो चीज जिस्म से टकराव नहीं खाती उसके लिये उत्साहित न हो। उनको अपना न समझ, राज्य अपना न जान कर, राज्य कर:-

पल में मन भोगन को चितवे,
पल में मन छार लगावत है।

इच्छा खत्म कर, अभाव की पूर्ति न कर, जम्प कर इस शरीर से। जितना बाह्यमुख होता जाता है उतना अन्दर से गिरता जा रहा है। जितने सुख की कल्पना की है उतना अन्दर से खाली हो जाएगा। अपने धन से दूसरों को सुखी कर।

गर हुस्न न हो तो इश्क भी पैदा नहीं होता
बुलबुल गुले—तस्वीर पै शैदा नहीं होता

यह शरीर तो शुभ अशुभ कर्मों का फल है, शुभ अशुभ कर्म का कारण पाप पुण्य है, पाप पुण्य, राग द्वेष से उत्पन्न होता है, राग द्वेष, सुख दुःख की वृत्तियाँ अनुकूल जागृत करता है। सुख दुःख की वृत्ति अनुकूल प्रतिकूल ज्ञान से पैदा होती है। अनकूल प्रतिकूल ज्ञान का कारण भेद ज्ञान है। भेद ज्ञान का कारण स्वरूप का अज्ञान है। स्वरूप का अज्ञान, स्वरूप के ज्ञान से ही मिटता है। इसलिये अपने हृदय में ज्ञानाग्नि को जलाकर तमाम शुभ अशुभ कर्मों का नाश करके सोऽहम् के सुन्दर गीत का गायन कर। अपने आप की चमकती हुई खूबसूरती को नग्न कर दे। इसी में तेरा भला है।

जो तेरे लिए खराब हो जाता है।
वो हर शै में कामयाब हो जाता है॥
बेनूर है शमा—ए दिल जलने के बगैर।
जलता है तो आफताब हो जाता है॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

★

माया का सिद्धान्त महज इतना ही है कि ब्रह्म उन परिस्थितियों से स्वतन्त्र है जिसके द्वारा वह अपने-आप को अभिव्यक्त करता है। यह ससीम लीला वह नहीं है, क्योंकि वह सीमातीत है; यह तो केवल एक आपेक्षिक (आंशिक) अभिव्यक्ति है, पर वह इस लीला की तरह अवस्थाओं (परिस्थितियों) से आबद्ध नहीं है। संसार ब्रह्म के ही किसी ऐसे अंश का एक आकार है जिसे उसने इस प्रकार में स्थापित कर दिया है, पर वह स्वयं इस आकार से बहुत अधिक है। जगत् मिथ्या या माया नहीं है, पर वर्तमान समय में हमारा उसे देखने का ढंग या उससे सम्बन्धित चेतना अज्ञानपूर्ण है, और इसलिए जगत् को, हम उसे जिस रूप में देखते हैं उसको 'माया' कह सकते हैं। यहाँ तक तो माया की भावना ठीक है। पर हम यदि जगत् को उस रूप में देखें जैसा कि यह वास्तव में है, ब्रह्म के एक आंशिक और विकसनशील अभिव्यक्ति-के रूप में देखें तब तो इसे फिर माया नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसे लीला कहना अधिक अच्छा होगा। परन्तु ब्रह्म अपनी लीला से भी बहुत बढ़कर है, वह इस लीला में ही है और यह लीला उसके अन्दर ही है; यह कोई माया नहीं है।

—श्री अरविन्द

आनन्द

व्याकरणाचार्य श्री स्वामी वासुदेवानन्द, देहरादून

प्रभाकर की स्वर्णिमप्रभा प्रभाकर के आगमन की सूचना देने के लिए अपने करपल्लवों से क्षितिज का संस्पर्श करने लगी थी। संध्या गायत्री के जपादि से निवृत्त मुनिमण्डल पूर्वनिश्चित मण्डप में पहुंचने लगा था। विविध विध सन्तापों से सन्तप्त सज्जन समूह का करुण क्रन्दन मुनिमानस को मथ चुका था। मननशील मुनियों द्वारा आयोजित, तत्त्वदर्शियों की सभा में सन्ताप पलायन कैसे करें यह समस्या सुलझाने का आयोजन अपने ढंग से अपूर्व ही था। सन्ताप पलायन करने का सुगममार्ग इसी सम्मेलन में खोजना है ऐसा सुदृढ़ संकल्प मुनि कर चुके थे।

मूक मुनि मण्डल को मुखरित करने के लिये, एक साधक ने, साञ्जलि, सरस शब्दों में प्रश्न कर दिया। प्रभो ! आनन्द क्या वस्तु है ? आनन्द शब्द सुनते ही मुनि आनन्द में विभोर हो गये। आनन्द ने सन्ताप पलायन की समस्या सुलझा दी। आनन्द की प्राप्ति ही सन्तापों को पलायन पथ का पथिक बना सकती है यह विचार मुनिमानस के समक्ष समुपस्थित हो गया। अर्थात् सन्ताप-पलायन कैसे करें इस समस्या का पवित्र पथ मानो प्रश्न का रूप धारण कर सामने आ गया है। अतः मुनियों में माननीय, महर्षियों में महनीय महामुनि हारति से मुनिमण्डल वे अभ्यर्थना की, प्रभो ! आनन्द का स्वरूप बताकर सबको सन्ताप मुक्त कीजिये। महामुनि हारति नें सरल लोक भाषा में युक्ति प्रमाण से आनन्द का स्वरूप समझाना प्रारम्भ कर दिया।

सम्माननीय मुनियो ! जब आप जागते हैं तब पाँच विषयों का ज्ञान आपको होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियां—पञ्च (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) विषयों का जागते समय प्रत्यक्ष ज्ञान करवाती हैं। विषय परस्पर भिन्न हैं यह आप सभी ऋषि मुनि मानते हैं। शब्द ज्ञान, स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान—इस रूप से ज्ञान प्रत्येक विषय में अनुस्यूत है। शब्द से स्पर्श भिन्न है, रूप से स्पर्श शब्द भिन्न हैं, स्पर्शशब्द से रस गन्ध भिन्न हैं। रस से गन्ध, गन्ध से रस भिन्न हैं। इस प्रकार विषय परस्पर भिन्न होने पर भी ज्ञान सब में ओतप्रोत होने से अभिन्न है। जैसे मनकों में तन्तु अनुस्यूत है, सब मनकों में तन्तु हैं, मनके में मनका नहीं है वैसे ही शब्दादि में ज्ञान है, शब्दादि स्पर्शादि में नहीं हैं। अतः ज्ञान व्यापक है शब्दादि नहीं। इसी प्रकार जब आप स्वप्न देखते हैं, तब स्वप्न के पदार्थों का ज्ञान आपको होता है। वे स्वप्न के पदार्थ जागते समय के पदार्थों से भिन्न हैं। जागते समय के पदार्थ स्थिर और स्वप्न के पदार्थ अस्थिर हैं। यदि जाग्रत में कोई राजा रंक अथवा कोई रंक राजा बन जाता है तो वह अपने आपको रंक से राजा पाता है तथा राजा से रंक। किन्तु जो स्वत्न में भिखारी राजा बन जाता है तो प्रातः वह अपने आपको रंक ही देखता है राजा नहीं। यदि राजा रंक बन जाय तो वह भी स्वप्न समाप्त होते ही अपने आपको राजा पाता है रंक नहीं। अतः जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों में परस्पर भेद है, ज्ञान में भेद नहीं। आपको गहरी नींद

आगयी। जब जागे तब आप कहने लगे हम सुख से सोये हमें कुछ भी पता नहीं चला। इससे स्पष्ट है कि आपने गहरी नींद में अज्ञान का ज्ञान किया। यह अज्ञान जाग्रत्, स्वप्न के पदार्थों से भिन्न है ऐसा आप मानते हैं। अतः ज्ञान भेद रहित है यह परमसत्य है। दिवस, मास, वर्ष, युग, कल्प आदि उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं ज्ञान नहीं। अतएव ज्ञान उत्पत्ति विनास शून्य स्वयम् प्रकाश–स्वरूप है। इसी ज्ञान का नाम आनन्द हैं, आत्मा है। पञ्चदशी १/८ में लिखा है।

इयमात्मा परानन्द परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८॥

आप सब अपना आस्तित्व (सत्ता) सदा चाहते हो यह कभी भी नहीं चाहते हो कि मेरा अस्तित्व न रहे। आपके अपने–अपने अस्तित्व की चाह यह सिद्ध करती है कि आनन्द, आत्मा परमप्रेमास्पद है। परमप्रेम भी आत्मा के लिये करते हो। आत्मा में अन्य के लिये प्रेम नहीं करते हो। अतः यह सिद्ध हो गया कि वह प्रेम परमप्रेम अवश्य है। जब आत्मा अतिशय प्रेमास्पद है ऐसा मानते हो तब वह परमानन्द स्वरूप अवश्य है। यदि अन्य (पुत्र कलत्रादि) के लिये आत्मा से परमप्रेम करते, तो अपने सुख के लिये दूसरे को दुःखी न करते। आज ही अपने उस वृद्ध महर्षि के अङ्क में बालक को रोते देखा। क्या आपने सोचा वह क्यों रो रहा था। महर्षि उसका मुख चुम्बन कर रहा था। ऐसी दशा में बालक को रोना नहीं चाहिये था। तो क्या आप बालक के रुदन का कारण जानते हैं?

महर्षि की कुश कण्टक सम कठोर श्मश्रु (डाढ़ी) बालक के कमलकोमल कपोल पर चुभ रही थी इसी से वह रोता था। महर्षि फिर भी चूमता ही जाता था। यदि वह प्रीति बालक के लिये थी तो उसको रोता देखकर मुखचुम्बन त्याग देना चाहिये था। अतः यह कहना होगा कि वह प्रीति बालार्थ नहीं थी अपने लिये थी। बालक के आनन्द के लिए मुख चुम्बन नहीं था अपने लिये था। यथाः—

श्मश्रुकण्टक वेधेन बाले रुदति तत्पिता।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एवसा॥

जब सब, सबसे अपने लिये ही प्रीति करते हैं–तब आत्मा परमप्रेमास्पद स्वयम् ही सिद्ध हो गया। आनन्द की प्राप्ति के लिये आत्मा के साथ परमप्रेम करते हो। अतः आत्मा ही आनन्द है। सम्माननीय मुनियो! हमने युक्ति से, आत्मा सत् चित् आनन्द है यह भली भाँति समझा दिया। आत्मा की भाँति ही परमब्रह्म भी सत् चित् आनन्द है। आत्मा ब्रह्म दोनों एकता कर लेने पर प्राणी प्रत्येक सन्ताप से मुक्त हो जाता है। आनन्द की प्राप्ति न होने से ही विविध विध सन्तापों से सन्तप्त होना पड़ता है। महा मुनि हारित के वचन सुनकर मुनिमण्डल ने सन्तापों से मुक्त होने का उपाय बताना प्रारम्भ कर दिया। बर्तमान में भी सहस्रों सन्त, सन्तापों से जनता की रक्षा कर रहे हैं। वेदान्त तत्त्वों का उपदेश देकर जन–साधारण का दुःख दूर करते हैं। अतः आनन्द प्राप्ति से सन्ताप दूर करने चाहिये।

★

आनन्द तो आन्तरात्मिक तुष्टि से ही मिलता है, प्राणिक अथवा शारीरिक तुष्टि से नहीं। प्राण कभी संतुष्ट नहीं होता; शरीर को जो चीज आसानी से अथवा बराबर मिलती रहती है उससे वह तुरन्त उदासीन हो जाता है। केवल चैत्य पुरुष ही सच्चा सुख और आनन्द दे सकता है। —श्री अरविन्द

द्वादश आदित्य

श्री शिवशेखर द्विवेदी, कलकत्ता

विश्व का एक नाम सौर-जगत् है। भगवान भास्कर के प्रकाश से ही भूमण्डल प्रकाशित है। इसीलिए नक्षत्र ग्रह मंडल में उनकी ही प्रभुता हैं।

दक्ष की पुत्री अदिति उनकी जननी और महर्षि कश्यप (पश्यक का विलोम यहाँ घटा है।) उनके जनक है। भास्कर के ससुर विश्वकर्मा हैं। उनकी अर्द्धांगिनी का नाम शांख हैं।

इस सम्बन्ध में एक अतिमधुर पौराणिक कथा है—

भगवान भास्कर जब गर्भ में थे, तब एक दिन बुध महराज भिक्षा करने आये। किंतु बुध की वाणी अदिति ने न सुनी। क्रुद्ध बुध ने अभिशाप दिया कि गर्भ का बच्चा मर जायगा। अब तो अदिति ने रोना-धोना शुरु किया। कश्यप आये। उन्होंने भरोसा दिया कि गर्भ का बच्चा मरेगा नहीं बल्कि यह एक अण्डे के भीतर सुरक्षित रहेगा इसीलिये सूर्य का एक नाम मार्त्तण्ड है।

इस गोल अण्डे का जन्म हुआ। युवा होने पर शांख्य के साथ विवाह हुआ। विश्व-निर्माता विश्व कर्मा की अद्भुत सुन्दरी थी। किंतु वह सुखी न थी। सूर्य के तेज से उसकी कोमल देह झुलस गयी और रूप फीका पड़ गया। उनके तीन संतानें हुई—सद्धदेव, यम और यमुना। सद्धदेव ही वैवस्तु मनु हुए। यम धर्मराज हुए और यमुना नदी।

तेज न सह सकने के कारण शांख्य ने अपने तपबल से दूसरी नारी की रचना की। इसका नाम छाया हुआ। यह शांख्य के समान ही सुन्दरी थी।

यह शांख्य की सुन्दर छाया से निर्मित थी।

छाया हाथ जोड़कर शांख्य से बोली, "देवि! मुझे क्या आज्ञा हैं? मैं आप की सेवा के लिये आतुर हूं।"

शांख्य ने कहा, अयि छाये! अब मैं अपने पिता के घर जाऊंगी। तुम मेरे बच्चे-बच्चियों को संभाल[illegible] किन्तु इसकी खबर किसी भी प्रकार मेरे पति को न[illegible] यह ध्यान रखना।

"जो आज्ञा—प्राण रहते मैं इसे गुप्त ही रखूंगी।"

शांख्य चली गयी। बहुत दिनों तक वहीं र[illegible] एक दिन विश्वकर्मा ने कहा, बेटी, "बेटी, तुम अपने [illegible] के घर क्यों नहीं जाती?'

उसे पिता की बात अच्छी न लगी। वहाँ से [illegible] पड़ी और घोड़ी बनकर उत्तर कुरु में रहने लगी।

सूर्य भगवान् को कुछ पता न था—छाया [illegible] वे शांख्य ही समझ रहे थे। समय पर छाया ने एक [illegible] को जन्म दिया—जो सद्धदेव के समान था। उसका न[illegible] सार्वणि हुआ। यह आगे मन्वन्तर हुए। छाया के द्वि[illegible] पुत्र का नाम हुआ शनिश्चर। अब छाया का मातृ[illegible] शांख्य के बच्चों से हटा, और वह अपने बच्चों से अ[illegible] स्नेह करने लगी। श्राद्धदेव तो यह सब सहते रहे; कि[illegible] यम छोटा था। उसे बर्दाश्त न हुआ। एक दिन [illegible] अपनी सौतेली माँ को लात मारा। छाया भी बहुत [illegible] हुई। उसने यम को कठोर दंड दिया "तू पंगु हो जा"

अन्त में यह घटना यम के द्वारा सूर्य को [illegible] हुई। सूर्य-बहुत बिगड़े और छाया से पूछ-तांछ [illegible] की। कहा, "मुझे सभी बच्चे एक समान प्यारे हैं। [illegible] किसी को कम किसी को अधिक प्यार करती हो [illegible] क्या माँ ऐसा करती है?"

छाया मौन रही; तब ध्यान बल से सूर्य को स[illegible] मालूम हो गया। अपने तेज से सूर्य ने छाया को [illegible] कर दिया। छाया डर गयी और उसने समूची क[illegible] खोल दी। तब, सूर्य विश्वकर्मा के पास गये और [illegible] पत्नी के सम्बन्ध में पूछा। जामाता को बेहद नाराज दे[illegible]

विश्वकर्मा ने कहा, "वत्स, प्रतिदिन बढ़ता हुआ तुम्हारा तेज न सह सकने के कारण ही वह यहाँ भाग आयी थी। अब वह घोड़ी के वेष में उत्तर कुरु के हरे मैदान में दिन काट रही है। तुम चाहो तो हम तुम्हें अति सुन्दर बना दें-तुम्हारा रूप बदल दें। सूर्य राजी हुए। विश्वकर्मा ने उनकी देह पर हाथ फेरा। फलतः वे अधिक रूपवान हो गये। उनका चेहरा लाल हो गया और देह से द्वादश आदित्य प्रादुर्भूत हुये। इन बारह आदित्यों को देखकर सूर्य बहुत प्रसन्न हुये।

विश्वकर्मा बोले, "वत्स अब तुम अपनी पत्नी के पास उत्तर कुरु जाओ।

आत्म-शक्ति से सूर्य ने शांख्य को पहचान लिया और उसे पकड़ लिया। किन्तु शांख्य को कुछ पता न था कि वे उसी के पति हैं। वह भागने की कोशिश करने लगी; पर सफल न हुई।

अश्व और अश्विनी के इस योग से अश्विनी कुमार का जन्म हुआ। ये देवताओं के वैद्य हुए।

★

परिचय और प्रभु मिलन

एक बार कोई राजकुमार हिमालय में राम के पास आया और यह प्रश्न किया—"स्वामीजी, स्वामीजी, ईश्वर क्या है? "यह एक बड़ा गम्भीर प्रश्न है, एक कठिन समस्या है। यह ऐसा विषय है जिसके बारे में सभी धर्म और सम्प्रदाय खोज के लिये प्रेरणा देते हैं, और तुम यह सब कुछ इतने थोड़े से समय में जान लेना चाहते हो। उसने कहा—"हाँ, श्रीमान्, हाँ स्वामीजी। इस समस्या का समधान मैं कहाँ पा सकता हूं। मुझे समझा दीजिये।" उससे पूछा—"प्रिय राजकुमार, तुम यह जानना चाहते हो कि भगवान् क्या है? तुम भगवान् से जान-पहचान करना चाहते हो लेकिन क्या यह तुम जानते हो कि यह एक नियम है कि जब कोई बड़े आदमी से मिलना चाहता है तो उसे पहले अपना परिचय-पत्र भेजना पड़ता है, उसे अपना नाम और पूरा पता भेजना पड़ेगा। तुम भगवान से मिलना चाहते हो। अच्छा यह होता कि भगवान् के पास तुम भी अपना परिचय-पत्र पहले भेज देते, भगवान् को पहले यह बता देते कि तुम क्या हो? उन्हें अपना परिचय-पत्र दे दो। राम उसे भगवान् के हाथों में सीधे ही दे देगा, तब भगवान् तुमसे मिलने आ जायेंगे और तब तुम भगवान् को देख सकोगे। तब राजकुमार ने कहा—"अच्छा, यह ठीक है, यह एक न्यायपूर्ण बात है। मैं सीधे आपको बता दूँगा कि मैं क्या हूं। मैं अमुक राजा का पुत्र हूं, उत्तर भारत में रहता हूं, यह मेरा नाम है।" उसने यह विवरण एक कागज के टुकड़े पर लिख दिया। उसे राम ने लेकर पढ़ा। यह सीधे भगवान् के हाथों में नहीं रखा गया, बल्कि उस राजकुमार को ही वापस दे दिया, और राजकुमार से पूछा—"ए राजकुमार! तुम अपने बारे में कुछ नहीं जानते। तुम अपढ़ के समान हो, तुम अपने पिता, राजा के बारे में क्या कहते हो, अपना नाम क्यों नहीं लिखते। क्या तुम्हारे पिता, राजा भगवान् से मिलना चाहते हैं। राजकुमार तुम अपना नाम नहीं लिख सकते। तुम्हें भगवान् कैसे मिलेंगे। पहले, ठीक-ठीक मुझे अपने बारे में बता दो और तभी भगवान् तुम्हारे पास आ सकते हैं और अपनी बाहें फैलाकर तुमसे मिलेंगे।"

राजकुमार ने विचार किया। वह इस विषय पर बार-बार मनन करने लगा। तब उसने कहा—"स्वामीजी, स्वामीजी, मैं अब देखने लगा हूं। मैंने अपना नाम लिखने में भूल की थी। मैंने आपको केवल अपने शरीर का पता ही लिखा था, मैं इस कागज पर अपने बारे में कुछ नहीं लिख सका।

—स्वामी रामतीर्थ

शक्ति और शक्तिमान

श्री स्वामी निजानन्द जी 'त्यागी', पुखरायाँ, कानपुर

जिसकी विद्यमानता से पदार्थ का अस्तित्त्व रहे, और जिसकी अविद्यमानता से पदार्थ न हों वही उस पदार्थ की शक्ति है। यथाहि–जल में रस, अग्नि में तेज, पृथ्वी में गन्धादि। 'गीता' शास्त्र में इसी रहस्य का उद्‌घाटन है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्व वेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु:॥

अर्थ–यह कि हे अर्जुन जल में रस, सूर्य–चन्द्र में प्रभा, सर्व वेदों में ॐकार, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व 'मैं' हीं हूँ। आशय यह कि सम्पूर्ण सृष्टिकणों में शक्ति रूप से एक 'मैं' ही अद्वितीय पुरुष सब में आत्म–रूप हूँ। अर्थात् शक्ति पूजक भौतिकवादी का 'यह' (संसार) भक्त का 'वह' (भगवान्) और ज्ञानी का 'मैं' (आत्मा) हूँ। उपाधि भेद से एक शक्ति के भिन्न–भिन्न नाम रूप हो सकते हैं जैसे–एक ही विद्युत–प्रकाश बल्ब व शीशे के रंग के अनुसार हरा, पीला, नीला तथा सफेद प्रतीत होता है, परन्तु विद्युत में किंचितमात्र भी हेर–फेर नहीं।

एक अचिन्त्य चिन्मात्र शक्ति, जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में नाना रूपात्मक प्रपंच में व्याप्त हो कर स्थित है, भिन्न–भिन्न नाम रूप होने से यद्यपि उस एक अद्वितीय शक्ति के भेद प्रतीत होते हैं, परन्तु उन सम्पूर्ण नाम और रूपों के नीचे वह एक ही अद्वैत शक्ति है। "दुर्गा सप्त सती" में उस शक्ति की इस प्रकार महिमा वर्णित है।

या देवी सर्व भूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धि रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवि सवभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवी सर्वमूतेषु विष्णु मायेतिशब्दिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवी सर्वभूतेषु कांति रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मी रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवी सर्वभूतेषु भ्रांति रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

सब में सर्व रूप से वह एक ही 'शक्ति' अप[illegible] खेल खेल रही है। वही शक्ति प्राणिमात्र के लिये उपा[illegible] है। विष्णु की उपाधि से उसी का नाम 'वैष्णवी' (लक्ष्मी) शिव की उपाधि से उसी का नाम 'शिवा' (भवानी) गणेश की उपाधि से उसी का नाम 'गणेशी' (सिद्धि) और सूर्य की उपाधि से उसी का नाम 'सौरी' है। उपा[illegible] भेद से उसके नाम मात्र में भेद है, किन्तु शक्ति [illegible] नहीं। विष्णु आदि देवताओं की प्रतिमाओं में उन[illegible] शक्ति को उनके वामांग में विराजमान किया गया [illegible] उनकी शक्ति की सम्पूर्ण चेष्टाएँ उन देवों के कृपा–कटा[illegible] के आधीन वर्णन की गई हैं। परन्तु इसके विपरीत [illegible] की मूर्ति में वह सर्वदेव उसी देवी के आधीन शक्ति [illegible] उपासना करते हुए दर्शाए गए हैं। "यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र [illegible] मरुतःस्तुवन्ति दिव्यैःस्तवैर्वेदैः। साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गा[illegible] यं सामगाः"॥ अर्थात् जिस शक्ति का ब्रह्मा, वरुण, [illegible] रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों द्वारा स्तुति करते हैं। [illegible] लोग इस तात्पर्य को नहीं समझ पाते वह भ्रमित हो [illegible] हैं। परन्तु इसके मूल–विरोध में किसी प्रकार की आ[illegible]

नहीं ।

विश्व पर्यंत शक्ति और शक्तिमान दो ही पदार्थ हैं, और दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा है । शक्ति से भिन्न शक्तिमान का किंचितमात्र भी अस्तित्व नहीं रहता, जैसे रस के विना जल का अस्तित्व नहीं है । किसी शक्तिमान रूप आधार के बिना केवल शक्ति कोई कार्य नहीं कर सकती । जैसे विद्युत या भाप बिना आधार के कोई कार्य नहीं कर सकते । आधार भेद के द्वारा इनसे भिन्न कार्य होते हैं । आधार भेद से वही विद्युत टेलीफोन द्वारा सन्देश पहुँचा कर 'कासिद' (पोष्टमैन) का काम करती है, पंखे में पंखा–कुली का काम करती है और वही विद्युत ग्लोब में रोशनी करती है । यद्यपि विचार दृष्टि में तो शक्ति और शक्तिमान का भेद नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णता परस्पर अभिन्न हैं । जिनके मत में शक्ति और शक्तिमान का भेद है, और उस भेद को सम्मुख रखते हुए जिनके मन में शक्तिमान की मुख्यता है उनके लिये विष्णु गणेश और शिव को यथा रुचि 'कारण ब्रह्म' से निरूपण किया गया है, जिनकी भिन्न–भिन्न शक्तियों को उनकी कृपा कटाक्ष के आधीन दर्शाया गया है । जिनके मन में शक्ति की मुख्यता है उनके लिये देवी को कारण 'ब्रह्म रूप' से निरूपण किया गया है । विष्णु शिवादिकों को उस शक्ति देवी के आधीन उसकी उपासना करते हुये उससे शक्ति प्राप्त करते हुये दर्शाया गया है । जिसकी जिसमें रुचि हो, वास्तविकता को समझ कर चिन्तन करे, मूल में कोई भेद नहीं । इन सर्व झाँकियों में एक ही अजिर विहारी विहार करते हैं । इसलिये किसी एक झाँकी से प्रेम करना और दूसरे से द्वेष करना उस विहारी ही से द्वेष करना है । अभिनय करने वाले अभिनेता के रूप विशेष पर रीझना और खीझना दोनों प्रकार का भाव एक ही अभिनेता को स्पर्श करेगा । ठीक इसी प्रकार जो लोग एक भगवान् से प्रेम कर दूसरे की आलोचना करते हैं, तो भगवान् मुस्करा कर कहता है:–"इन लोगों ने अभी मुझको नहीं जाना" फिर आगे की क्या कहूँ, उलझ गये बावले मेरे नाटक में" ।

"मरीजे इश्क पर दवा ज्यों–ज्यों की मर्ज बढ़ता ही गया" । कंटकाकीर्ण पथ पर कातर क्रन्दन करने वाले राही ! छोड़ दे उस राह को तभी तुझे राहत मिलेगी । घूँघट भी है आँखें भी हैं, पर्दा भी है अज्ञान भी है । आग भी लगी है दौड़ना भी चाहता है, मजबूरी भी है । अज्ञान से ज्ञान होने वाले प्राणी की यह हालत है ।

सत, रज और तम भेद से उस शक्ति के तीन रूप हो सकते हैं । विश्व सँहारकारिणी तमोगुण शक्ति है, जो कि काली रूप से वर्णन की गई है । विश्वोत्पादक रजोगुण शक्ति है, जो लक्ष्मी आदि रूप से निरूपण की गयी है । स्थितिकारिणी रजोगुण शक्ति है, जो कि गौरी (पार्वती) आदि रूप में सौम्य रूप से वर्णन की गई है । चतुर्भुज और अष्ट भुज रूप दर्शाए गए हैं, वह उसकी अनन्त शक्ति के सूचक हैं । सिंह वाहन भी इसी अनन्त शक्ति का सूचक है । चर रूप प्राणियों में सिंह एक अद्वितीय शक्तिधारी है; किन्तु वह शक्ति उसकी अपनी शक्ति नहीं, उस पर अधिकार उस शक्ति का है । सरस्वती गायत्री आदि को हंसवाहिनी कहा गया है । यह उसकी ज्ञान की सूचना है । अर्थात् हंस जिस प्रकार क्षीर नीर को पृथक् कर केवल क्षीर का ही ग्रहण करता है, वैसे ही उस शक्ति ने जड़ चेतन रूप संसार के मिश्रण में सद् वस्तु को निकाल लिया है ।

सारांश यह कि इन भावमयी शक्तियों में कोई अंग उस परदेव की अनोखी शक्ति की सूचना देते हैं, कोई उसके विचित्र नीति युक्त कार्य को और कोई अंग उस परमात्मा की प्राप्ति के उन साधनों को दर्शाते हैं, तो कोई उसके वास्तविक स्वरूप की पंच देवों की मूर्तियों में जो वास्तविक भाव है उसका सूक्ष्म दिग्दर्शन हुआ, शेष में तो भाव का कोई अंत नहीं है ।

"नास्त्यंतो विस्तरस्य मे" ।

★

मौसमी-फूल

श्री मंगल विजय 'विजय', भोपाल

देवार्चन के लिए माली क्यारी सजाता है, फुलवारी उगाता है। पानी पिलाता है, पौध जिलाता है। उसे चिन्ता रहती है मौसम के प्रहारों से पुष्पों के बचाव की। वह रात–दिन एक कर देता है, श्रमको वर लेता है। खाना हराम हो जाता है, सोना हराम हो जाता है। मानो उसका जीवन वही हो। मानो तन क्यारी ही हो, मानो मन फुलवारी ही हो। सुमनों को सांसों सा सँवारता है, उभारता है। पर पुष्प तब तक ही अबेरे जाते हैं, तब तक ही सँवारे जाते हैं जब तक कि वे इष्ट को अर्पित नहीं कर दिये जाते। इष्ट को पुष्प समर्पित कर वह अपनी मौसमी क्यारी को, फुलवारी को धन्य मान उठता है। अपने सतत श्रम को, अपनी सात्विक साधना को अनन्य मान उठता है। पर फिर मौसमी फूलों को अपने इष्ट को अर्पित कर वह इति श्री सी मान क्यारी की ओर से, फुलवारी की ओर से निश्चिन्त सा हो जाता है। पुष्पों पर भी उसकी उतनी दृष्टि नहीं रह जाती। तदनन्तर तो वे पुष्प उसकी दृष्टि में निर्माल्य मात्र ही रह जाते हैं। परमेष्ट प्राप्ति के साथ दृष्टि एवं सृष्टि की भी इति श्री सी हो जाती है। फिर निर्माल्य रूपी पावन प्रसाद का वितरण शेष रह जाता है जन–जन को।

अतः तुम भी अपनी इस पंचभौतिक क्यारी को, इस अन्तः करण चतुष्ट रूपी फुलवारी को तब तक ही विशेष रूप से अबेरो, सँवारो, निखारो जब तक कि इस जन्म के मौसमी फूल के रू अहंकारादि को परमेष्ट आत्मानन्द, आत्मदर्शन समर्पित न कर दो। सम्पूर्ण अहं को समर्पित धन्य मानो इस जन्म की मौसमी फुलवारी इस पंच भौतिक क्यारी को। और अनन्य सांसों की साधना को, अविरल आराधना बस फिर स्वरूप दर्शन के रूप में परमेष्ट कर भौतिक दृष्टि एवं भौतिक सृष्टि की इति ही समझो। तदनन्तर तो इसे निर्माल्य मानकर पावन प्रसाद को सर्वार्थ के रूप में जन को बाँट दो।

पर यह बांटना प्रसाद के बांटने जैसा होगा। और न ही पुष्पों को निर्माल्य मा सड़ाया–गलाया जायेगा। अब तो यह नि तुम्हारी क्यारी से उठकर, तुम्हारी फुलवा उठकर, सबकी क्यारी में, सब की फुलवारी फूलेगा–महकेगा। अब यह प्रसाद तुम्हारे हा बँटकर, सब के द्वारा फिर वैसा ही 'फूल से फल से फूल' वाला क्रम हो, क्यारी के सँवरेगा, फुलवारी के रूप में निखरेगा। पावन प्रसाद बन फिर वही क्रम 'ओम् पू पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुद्रच्यते। पूर्णस्य पूर्ण पूर्ण मेवावशिष्यंते' की बात को सगुन–सा बनाता रहेगा।

हाँ ! तो आराध्य को इस जन्म का मौ उपहार चढ़ाने के लिये, तत्पर हो जाना चा

तुम्हें। तो उठो ! मन माली ! तन की क्यारी को सात्विक श्रम से तैयार करो। पुरुषार्थ से पावन बनाओ उसे। साधना, संयम, तपस्या से उपजाऊ बनाओ उसे। फिर सत्य की बेलें लगाओ, श्रद्धा का स्वच्छ सात्विक जल पिलाओ, और अन्तःकरण चतुष्ट के पावन पुष्पों को प्रेमपराग से परिपूरित कर सात्विक अहं के हाथों आत्मतत्व को समर्पित कर दो वह उपहार। समर्पण कर आत्म स्थित हो जाओ, परमार्थ लाभ करो। तत्पश्चात् तन की क्यारी पर से, मन की फुलवारी पर से स्वार्थमयी भेद दृष्टि हटा, स्वप्न सृष्टि मिटा उसे निर्माल्य मात्र मानकर, पावनप्रसाद मात्र मानकर, स्वार्थ की नहीं सर्वार्थ की धरोहर मानो। फिर तो लग जाओ सर्वार्थ में। गिरतों को सँभालो डूबतों को उबारो। चक्षुहीनों को दृष्टि दो, प्यासे-दीनों को वृष्टि दो। अन्धकार को प्रकाश दो निराशा को आश दो।

इस प्रकार परमार्थ लाभ होने तक ही अतःकरण चतुष्ट आदि को अवेरो, सँवारो, और तत्व ज्ञान के रूप में परमार्थ लाभ होते ही उन पर उतनी दृष्टि न रखो केवल उनसे सर्वार्थ मात्र सधने दो। तब सदा सर्वत्र एक ही अद्वैत, अभिन्न, एकरस आत्मानन्द की लहरों को साक्षीवत् निहारो, ब्रह्म विलासवत् निहारो। ★

एक बार एक व्यक्ति भारी वजन अपने कन्धे पर उठाकर ले जा रहा था। वह वृद्ध और कमजोर था, तथा भारत के गरम भाग में रहता था। वह एक पेड़ की छाया में बैठ गया और अपना बोझ कन्धे पर से उतारकर फेंक दिया और विश्राम करने लगा तथा कहने लगा—"ओ मृत्यु, ओ मृत्यु, आ जाओ। मुझे इससे छुटकारा दिलाओ।" थोड़ी देर में उसी जगह मृत्यु के देवता यमराज प्रकट हुए। जब उसने उनकी तरफ देखा तो आश्चर्य में पड़कर कांपने लगा। यह कौन सा भयानक और दानवी पुरुष आ गया। उसने मृत्यु के देवता से पूछा—"आप कौन हैं ?" यमहाज ने कहा—"मैं वही हूँ जिसे तुमने बुलाया है, अभी तुमने मुझे पुकारा था और तुम्हारी इच्छा की पूर्ति करने आया हूँ। तब वह वृद्ध आदमी कांपते हुए कहने लगा—"मैंने तुम्हें इसलिए नहीं पुकारा था कि तुम हमें मार डालो। मैंने केवल इसलिए बुलाया था कि तुम इस बोझ को उठाकर मेरे कन्धों पर रख दो।"

ऐसा ही सब लोग करते हैं। तुम्हारी सभी मुसीबतें और कठिनाइयां जिन्हें तुम दुःख कहते हो, सब तुम्हारे द्वारा ही बुलाई गयी हैं; तुम अपने भाग्य के स्वयं विधाता हो, लेकिन जब कोई चीज़ आती है तो रोते-चिल्लाते हो; तुम मृत्यु को आमन्त्रित करते हो, और जब वह आती है तब चिल्लाने लगते हो। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। नीलाम में जब एक बार सबसे ऊँची बोली बोल देते हो तो तुम्हें वस्तु लेनी ही पड़ती है।

—स्वामी रामतीर्थ

सामान्य, निष्काम एवं भागवत कर्म

श्री रामकृष्णदास, श्री अरविन्द आश्रम, पाँडिचेरी

साधारण कर्म शुभाशुभ होने के कारण सुख-दुःखादि भोग-रूप परिणाम उत्पन्न करता है। निष्काम कर्म भगवदर्थ एवं भगवदर्पित होने से फलादि-भोक्तृत्व-भाव का अभाव कर देता है यद्यपि कर्तृत्व-भाव विद्यमान रहता रहता है। परन्तु भागवत कर्म तो वह है जो स्वयं भगवान् के द्वारा ही परिचालित होता है; मानव द्वारा सम्पादित होने पर भी इसके कर्ता एवं भोक्ता स्वयं भगवान् ही होते हैं। भगवदर्पित किये बिना देश-सेवादि सभी सात्विक कर्म सकाम कर्म हैं।

यह पृथ्वी कर्म-क्षेत्र है। कर्म प्रधान होने के कारण ही यह मर्त्य-लोक स्वर्ग में तथा मानव शरीर देवत्व में परिणत हो सकता है और इसी की चरितार्थता के निमित्त मनुष्य इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करता है। अग्नि एवं दाहिका शक्ति के सदृश ही मानव तन तथा कर्म परस्पर ओत-प्रोत हैं। यदि मनुष्य से किसी तरह कर्म पृथक् कर दिया जाय तो मनुष्य का पूर्णत्व ही खण्डित हो जायगा। जड़ मृत्तिका-पिंड की तरह वह मन्दिर में अशुभवत् पड़ा रहेगा, अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकेगा, दूसरों के कल्याण-साधन की बात तो दूर रही।

"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता)

मनुष्य का व्यक्तित्व 'अहं' द्वारा निर्मित है। अतः उसके अन्दर कर्म-प्रेरणा स्वाभाविक हो जाती है। कर्म से निवृत्त होना तो उसके लिए प्रायः असम्भव-सा ही है— "शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येद कर्मणः।" कर्म की अनिवार्यता का एक और भी मूल कारण है। भगवान् स्वयं ही अपने संकल्प से जगत् और जीव के रूप में प्रकट हुए हैं—"एकोऽहं बहुस्याम्'। इस रूप को भूलने से ही जीव अपने मन-प्राण-अहं-युक्त शरीर को अपना मान लेता है और इस जगत् को दिव्य लोक में तथा इस शरीर को देवत्व में परिणत करने का कर्म-रूप उद्देश्य भी भूल जाता है। परन्तु मानव की स्थूल इन्द्रियाँ—नेत्र, श्रवण, हस्तादि, सूक्ष्म इन्द्रियों—मन, चित्त अहंकारादिसे स्वतः परिचालित होती रहती हैं। फलस्वरूप, देखना, सुनना, रस लेना आदि क्रियायें स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं। यहाँ तक कि मनुष्य स्थूल इन्द्रियों की क्रियायों से शून्य होकर जब सो जाता है उस समय भी श्वास-प्रश्वास; हृदयगति आदि स्वतः चलायमान रहती हैं। और इसीलिये मनुष्य जीवित भी रहता है। अतः जब तक श्वास चलती है तब तक मनुष्य को अनिवार्यतः तथा विवशतः कर्म करना ही पड़ता है। एक क्षण भी वह कर्म के बिना नहीं रह सकता। अतएव यदि कहा जाय कि जीव ही कर्म है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

कर्म में एक दोष है। वह स्वावलम्बी नहीं होता। जिस मनुष्य के द्वारा वह संपादित होता है उसके मनोभाव तथा उद्देश्य पर वह अवलंबित होता है। यदि कर्म करने का उद्देश्य कर्म की सिद्धि हो, कर्म कर्म के लिये हो, कर्म इसलिए हो कि कर्म करना स्वभाव अथवा आनन्द की दृष्टि से उचित प्रतीत होता हो, तो वह कर्म सर्वोच्च सत्ता भगवान् को प्रकट करने वाला होता है। वह शरीर को भगवान् का यंत्र बना कर दिव्यरूप बना देता है। अन्यथा स्वार्थसिद्धि के लिए, अपने निजी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अहं-प्रेरणा से कर्म करने पर भयंकर यंत्रणाप्रद जन्म-मृत्यु रूप चक्र का भोग करना पड़ता है। शुभ कर्म से सुख तथा अशुभ से दुःख प्राप्त होते हैं। आखिर कर्मों के ऐसे फल-भेद का कारण क्या है?

कर्मों में कौशल ही फलान्तरकारी है। कौशल ही भगवत्-प्राप्ति तक सिद्ध कर देता है। कौशल ही वास्तव में कर्म-फल का सूचक है। कर्म स्वरूपतः एक होने पर

राष्ट्र की एकता और आध्यात्मिक चेतना की जागृति के लिए

अखण्ड वेदांत सम्मेलन

गत वर्ष अक्टूबर में आयोजित सम्मेलन के दो चित्र जिसकी प्रेरणा पाकर दिनाङ्क २, ३ और ४ अक्टूबर, १९६४ को अखिल भारतीय द्वितीय अखण्ड वेदान्त सम्मेलन आयोजित है।
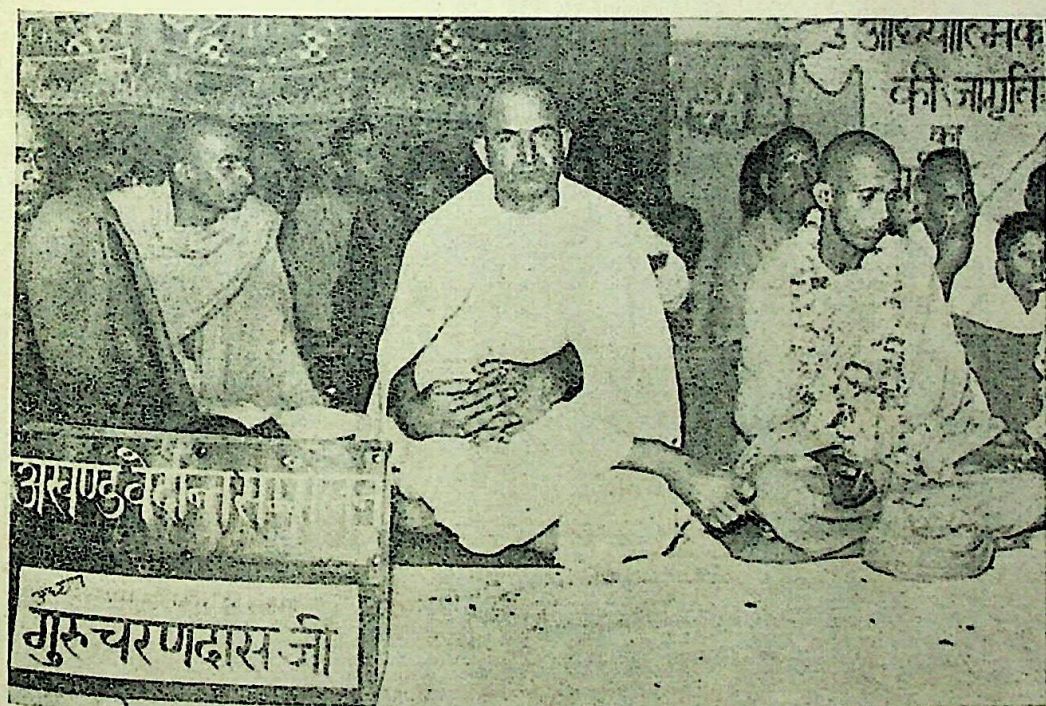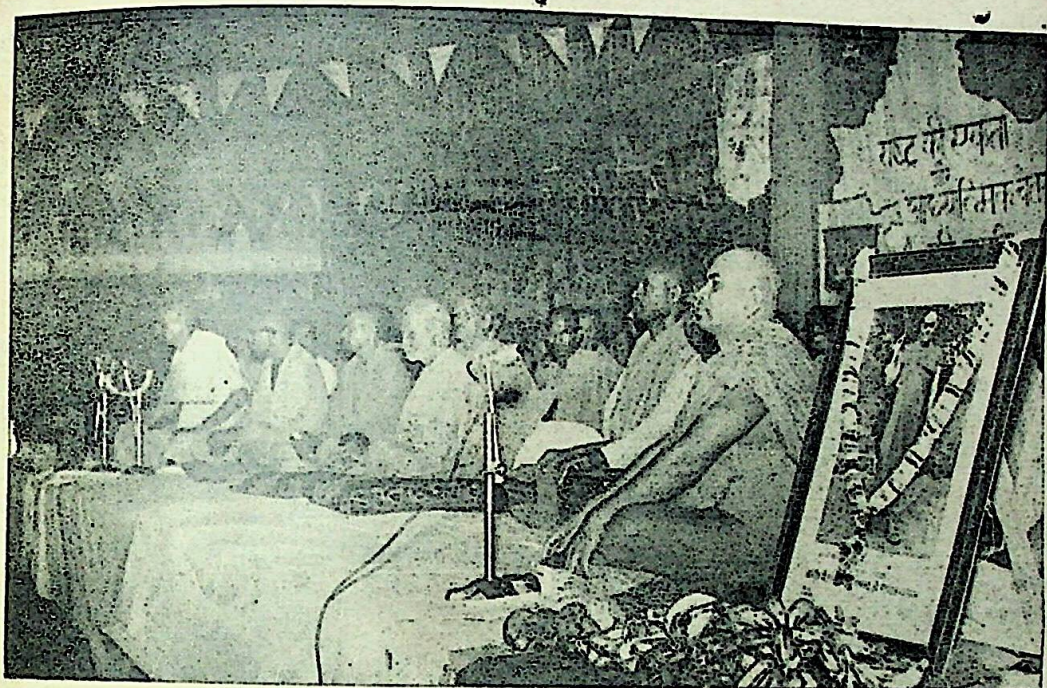
भी अपने पीछे के अवस्थित मनोभाव, उद्देश्य, आंतरिक विधि-अवस्था के अनुरूप विभिन्न फल देने वाले हो जाते हैं। सर्वोच्च कौशल के साथ कर्म करने पर सर्वोच्च फल ही सुलभ फल ही सुलभ होता है। परिवार के निमित्त, अहंकार की प्रेरणा अथवा स्वार्थ की दृष्टि से कर्म करने पर जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखादि चक्र ही मिलता है। यह हैं कौशल का कौशल।

जिन लोगों की चेतना कुछ विकसित है वे कहते हैं कि वे स्वार्थ छोड़कर परमार्थ की दृष्टि से, अशुभ कर्मों को छोड़कर सदाचार, देश-सेवा आदि कार्य करते हैं, जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, स्वयं-सेवक, देशनेता प्रभृति। अतः उनके कार्य निष्काम कर्म हुए। वेतन तो शरीर निर्वाहार्थ लेते हैं, जैसे साधु संत भी शरीर निर्वाहार्थ अर्थ ग्रहण करते हैं। अतः यह निष्काम कर्म का बाधक नहीं।

किन्तु कर्म की सकामता या निष्कामता, कर्म के स्वरूप, वेतन आदि पर निर्भर नहीं करती वरन् उसके पीछे के उद्देश्य और भाव पर। स्वार्थ की प्रेरणा होने से ही कर्म बंधन-कारक हो जाता हैं। शास्त्रानुसार शुभा शुभ कर्म स्वर्ण एवं लौह की बेड़ियां हैं। राज्य-शासन जैसा कठिन कर्म करके राजा अम्बरीष की तरह तथा भयानक हत्या करके भी अर्जुन की तरह कर्म फल से मुक्त हो सकते हैं, पर देश-सेवा, मानव-सेवा में जीवनोत्सर्ग सदृश पुनीत कार्य का फल भोगना पड़ सकता है। कर्म भगवान् के निमित्त, भगवान् का यंत्र बनकर, भगवान् के द्वारा परिचालित होकर करने पर ही कर्म-फल से मुक्ति मिलती है।

मानव अपने आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर मन-प्राण-शरीर को ही अपना व्यक्तित्व मानता है तथा अहं-प्रेरित हो निजोद्देश्य की पूर्त्ति के लिये कार्य करता है। इस अवस्था में कर्त्ता, कर्म, एवं क्रिया से उसका अपना संबंध रहता है। मैं और मेरा का राज्य रहता है। इस राज्य की चेतना में होने वाले सभी कर्म सकाम ही होते हैं चाहे वे कर्म यज्ञ-जागादि अथवा देश-सेवा प्रभृति सात्विक कर्म ही क्यों न हों। इस प्रकार के कर्म सात्विक एवं शुभ होते हैं, और अशुभ कर्मों से उत्तम होते हैं पर जन्म-मरणादि से छुटकारा नहीं दिला सकते, भगवत्प्राप्ति नहीं करा सकते। अहं के स्थान पर भगवान् को रखकर, भगवान् का संचालन ग्रहण कर, यंत्रवत् कर्म करने से लोक-कल्याण कार्य भी होगा और भगवत्प्राप्ति भी। अन्यथा वे सब सकाम ही हैं—"यज्ञार्थकर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।" कर्म को निष्काम रूप देने के लिये केवल "भगवान्" शब्द उच्चारण ही पर्याप्त नहीं वरन् वहाँ पर भगवान् तथा भगवान् के निमित्त का भाव प्रधान होने चाहिये कर्म और फल गौण। कर्म संपादन यथा संभव सुंदर एवं पूर्णरूप से होगा क्योंकि वह भगवत्पूजा ही है, फिर भी कर्म में दृष्टि, कर्म की प्रधानता पूजा-अर्पण की अपूर्णता ही मानी जायगी। और कर्म की प्रधानता के अभाव में फलाफल, निन्दास्तुति आदि द्वंद्वों में स्वाभाविक समता होगी। इस प्रकार भगवत् निमित्तार्थ कार्य करने में भगवान् का चिन्तन-स्मरण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। आत्मा एवं सच्चिदानन्द से तादात्म्य तथा प्रकृति-कार्य-मन-प्राण-शरीरादि से पृथकतत्व सुलभ होता जाता है। कर्म फल की प्राप्ति होने पर आनन्दोन्मतता असमता और लोभ के स्थान पर शांति, समचित्तता, भागवत यंत्र होने का आनन्द और शरीर-कर्म-क्रिया से अलिप्तता का बोध होगा।

> भगवान् के अस्तित्व के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क बुद्धि द्वारा उपस्थित किए हुए दलीलों को तौल कर भगवान् का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। यह तो केवल आत्मातिक्रांति, परम आत्म-निवेदन, अभीप्सा और अनुभूति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।
>
> —श्री अरविन्द

कुछ लोगों ने त्याज्य और बंधन का कारण माना—"त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः," तथा जीवन के अधिकाशं कर्म छोड़े। केवल शरीरधारणार्थ अत्यंत अनिवार्य कार्य ही किये और अंत में इस अनिवार्य कार्य से भी मुक्त होने के लिए मन-प्राण-शरीर से पृथक होकर

अनिर्वचनीय सत्ता में लीन हो गये। उन्हें जन्म-मरण के द्वंद्व से मुक्ति मिली पर जीवन-समस्या का समाधान तो नहीं हुआ। जीवन का अर्थ है आत्मा, मन, प्राण और शरीर। केवल आत्मा और परमात्मा से मिलन हो जाने से ही जीवन की पूर्णता नहीं होती। मन-प्राण-शरीर त्यागना ही था तो जन्म-मरणादिके असंख्य असह्य दुःखों में आने का प्रयोजन ही क्या था ? इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर वे नहीं दे सके।

हाँ भक्ति मार्ग ने जगत् को यों मिथ्या नहीं माना, जगत् को भगवान् का स्वरूप माना। तथापि उसने भी इस संसार से दूर साकेत बैकुंठादि लोकों में परमानन्द, परम शांति, परम लावण्यादि गुणालय, नित्यशाश्वत परमपिता परमेश्वर की सेवा में रहना ही पसंद किया। उसने शरीर निर्वाह के अतिरिक्त भगवत् पूजादि कर्मों को स्वीकार किया। अतः भक्तों के लिये ये भगवदर्पित कर्म बंधनकारण नहीं हो सके, बल्कि मुक्तिप्रद ही हुए। अर्पण करने का कौशल उन लोगों ने आदत्त किया। इतना होने पर भी संसार की पूर्णता साधित करने का प्रयत्न उनके विचार में नहीं आ सका, आखिरकार संसार छोड़ना ही है तो इसकी पूर्णता में समय लगाना निरर्थक है। वे भी संसार की समस्या हल नहीं कर सके।

संसार-सृजन की प्रेरणा है 'एकोऽहंबहुस्याम्' की आनन्दमय उक्ति में। भगवान् ही जीव तथा जगत् रूप में में प्रकट हुए तो फिर माया, अन्धकार, अज्ञानादि का प्रश्न रह जाता है। भगवान् को अर्पित करने से कर्म बन्धन रूप नहीं रह जाता, तो फिर जीव क्यों बन्धन में पड़ा, भगवान् को जानना ही तो ज्ञान है तो फिर जीव अन्धकारग्रस्त क्यों हुआ, आदि प्रश्न हैं।

कुछ भावुक लोगों का कथन है कि जगत् लीला मात्र है, भगवान् लीला का आस्वादन करने जीव-रूप में आते हैं और दुःखादि का भोग कर लौट जाते हैं। परन्तु लीला का तो कोई परिणाम प्रकट नहीं होता। अतः यह कारण उपयुक्त नहीं जान पड़ता। जगत् दुःखमय है, इससे मुक्त होने में ही सुख है, जगत् की उत्पत्ति का प्रयोजन जानना निरर्थक है—यह उत्तर भी संतोष नहीं देता। इसके समाधान के लिये मूल तथा परिणाम का निरूपण करना उचित है। यात्रा के मध्य में यात्रा का लक्ष्य भूल जाने पर दूसरा कोई उपाय ही नहीं दिखेगा, सिर्फ अपने यात्रा-प्रारंभ के स्थान पर लौट जाना ही सूझेगा। बिना लक्ष्य के ज्ञान के यात्रा जारी रखना भयावह तथा दुःखद अवश्य प्रतीत होगा। यही बात यहाँ भी लागू है। सृजन की मूल-प्रेरणा तथा अन्तिम लक्ष्य भूल जाने से आज जीव इस जगत् को मिथ्या तथा दुःखरूप मान रहा है और एक मात्र यहाँ से लौट जाना ही श्रेयस्कर समझ रहा है।

> भय एक प्रकार की अपवित्रता है, एक बहुत बड़ी अपवित्रता है, ऐसी अपवित्रताओं में से एक है जो पृथ्वी पर होने वाले भगवत्कार्य को नष्ट करने की इच्छा रखने वाली भगवद्विरोधी शक्तियों से सीधी आती हैं, और जो केवल सचमुच में योग करना चाहते हैं उनका पहला कर्तव्य है अपनी शक्ति और सच्चाई और धैर्य के द्वारा अपनी चेतना से भय की छाया तक को निर्मूल कर देना।
>
> —श्री माताजी

किन्तु श्री अरविन्द ने अपने साक्षात् अनुभवों एवं दर्शनों द्वारा बताया है कि भगवान् स्वेच्छा से जीव होकर पृथ्वी पर आए हैं। जीव के साथ विशेष उद्देश्य निहित रहता है। 'एकोऽहंबहुस्याम्' ही उनका संकल्प है, जिसके अनुसार सारे जगत् को दिव्यत्व में, पृथ्वी को स्वर्ग में तथा मनुष्य को देवत्व में बदलना है। अतः यही है कर्म की सार्थकता। निवर्तन-क्रम से सच्चिदानन्द अपने परात्पर स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए अवतरण के मार्ग जड़तत्व में परिवर्तित हुए। ज्ञान अज्ञान में, प्रकाश अन्धकार में, प्रेम घृणा में, नित्यत्व मृत्यु में परिणत हो गया। ऐसा करके ही बहुत्व की संभावना हो सकी। पुनः अपने स्वरूप में—विभिन्नताएँ सुरक्षित रखते हुये— के लिये प्रेम स्वरूप जीव बनकर इनमें अवतरित हुए। स्वरूप विकास का क्रम जारी हुआ। सर्वप्रथम पेड़

पैदा हुए, तब जलचर, पशु आदि। पर अभी वर्तमान काल में मानव सृष्टि हैं। किंतु 'एकोऽहं बहुस्याम्' की चरितार्थता के लिए मानवता ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए मानव से अतिमानव, दिव्य-मानव होने की जरूरत है। अभी तक मन के विकास की पराकाष्ठा हो चुकी है, पर स्पष्टतः भासित होता है कि अधिकतम विकसित मन भी, जीव, जगत्, जीवन, शरीर आदि की समस्यायों का समाधान नहीं कर पा रहा। जहाँ वह विकास करता है, नवीन अविष्कार करता है, वहाँ उसका खतरा, नाश भी उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ देखिये धर्म, वैज्ञानिक आविष्कारादि से जितने लाभ हुए उससे कहीं अधिक नाश, प्रलय की संभावना सिर पर हावी हो गयी हैं। इसका कारण है कि मन में सामंजस्य, प्रेम पूर्ण ज्ञान अखंडता आदि का सर्वथा अभाव है। ऐसी परिस्थिति में आज अतिमानस का साम्राज्य आवश्यक प्रतीत हो रहा है। अतिमानव में स्वाभाविक ही व्यापकता, एकत्व, पूर्णता सर्वग्राहिता प्रेम, आनन्द आदि की भावना होती है। अतिमानस का राज्य ही संसार की सभी समस्याओं का समाधान है। नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक आदि सभी उपाय आज निष्फल जा रहे हैं, यह स्पष्ट-रूप से विदित है। मूल सच्चिदानन्द परब्रह्म को जड़ जगत् में अभिव्यक्त करना होगा। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की चरितार्थता करनी होगी। भागवत सामंजस्य, अखंडता स्थापित करनी होगी। मनुष्य स्वभाव को दिव्य स्वभाव में पूर्ण-आमूल रूपांतर करना होगा। बाहरी मानसिक दबावों की जगह भीतरी आध्यात्मिक प्रकाश लाना होगा। श्री अरविन्द बतलाते हैं कि आज अतिमानस की की अभिव्यक्ति विकास क्रम में स्वाभाविकतया अनिवार्य हो गई हैं। और श्रीमाताजी के संरक्षण में यह कार्य बहुत हद तक स्थापित हो चुका है। सिर्फ भौतिक जड़-तत्व में अभिव्यक्ति की देर है। जड़तत्व में अतिमानस सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति होने पर ही 'एकोऽहं बहुस्याम्' की सफलता दिखाई पड़नी शुरू होगी। भागवत आनन्द, ज्ञान, शांति, शक्ति, प्रेम, एकत्व, नित्यत्व का साम्राज्य प्रारम्भ होगा। मन तथा मन के कार्य में, प्राण तथा प्राण की क्रिया में, शरीर तथा शरीर के व्यापार में भगवान् प्रकट होना शुरू करेंगे। भगवान् और मनुष्य के बीच की खाई पर सेतु बन जायगा। पृथ्वी स्वर्ग-रूप हो जायेगी। यही है संसार में जीव के आने का उद्देश्य तथा कर्म का रहस्य और सार्थकता।

श्री अरविन्द सर्वांगीण योग में कर्म का प्रधान रूप से अभ्यास किया जाता है। ज्ञान तथा भक्ति की पूर्णता की कसौटी, आधार और उद्गार कर्म ही है। शरीर-मन-प्राण के सभी कर्म भगवान् को अर्पित करने तथा भागवत शक्ति से ही परिचालित होने का प्रधान अभ्यास करना होता है। कर्म में भगवान् तथा भागवत शक्ति के साथ एकत्व प्राप्त करने से ही अहं का शुद्ध रूप से विलीनीकरण संभव होता है। निम्न प्रकृति, जड़ तत्व तथा शरीर में भागवत चेतना के अवतरण के लिये, उनमें भगवत्-संकल्प की सक्रियता के लिये कर्म एक प्रधान आवश्यक अंग होता है। स्थितिशील एकत्व से रूपांतर संभव नहीं। अतः गतिशील एकत्व परमावश्यक है। और गतिशील पूर्णता के लिये कर्म अत्यावश्यक हैं। और यही है जीव के पृथ्वी पर आने का उद्देश्य तथा कर्म की सार्थकता। यह प्राप्त होता है भागवत कर्म के द्वारा।

★

साधना का अर्थ है योग का अभ्यास करना। तपस्या का अर्थ है साधना का फल पाने तथा निम्न प्रकृति को जीतने के लिये संकल्प-शक्ति को एकाग्र करना। आराधना का मतलब है भगवान् की पूजा करना, उन्हें प्रेम करना, आत्मसमर्पण करना, उनके लिये अभीप्सा करना, उनका नाम-जप करना, उनसे प्रार्थना करना। ध्यान है चेतना का भीतर में केन्द्रीभूत हो जाना। भीतर समाधि में चले जाना। ध्यान, तपस्या और अराधना ये सभी साधना के अंग हैं। —श्री अरविन्द

मैं क्या हूं

श्री पुष्पा "ज्योति", जालन्धर

सन्देह मृत्यु ही है "संशयात्मा विनश्यति"। सन्देह मृत्यु को लाता है और मृत्यु सन्देह को मिटाती है। सन्देह से विक्षिप्त हुए हृदय पर कोई भी उपदेश नहीं लिखा जा सकता। आज के अशान्त और विक्षिप्त युग में वेदान्त ही एक ऐसी फ़िलासफ़ी है, जिसको पाकर जिज्ञासु तमाम इच्छाओं, वासनाओं, दीनता हीनता को मिटा लेता है, और उसका हृदय और मस्तिष्क नयी ज़िन्दगी नयी चमक और नये संस्कारों को पाकर अन्धकारमय वातावरण को प्रकाशमान ज्योतिष्मान् ज्योति रूप का आविष्कार कर लेता है। "तरति शोक मात्मवित्" आत्मवेत्ता तमाम शोकों को तैर जाता है।

दर पै जो तेरे आ गया।
अब न कहीं मुझे उठा,
गर्दिशें—मेहरो मा भी।
देख चुका हूं मैं॥

×

जो साकी ने दिया है खालिस है। यह विश्वास कर।

इस मन का स्वभाव है कभी स्पर्श के घाट पर बैठता है, कभी रूप के घाट पर बैठता है, कभी रंग के घाट पर। मन में अज्ञान का बल होने के कारण इन्द्रियों में वेग होता है। इन इन्द्रियों की इच्छाओं, वासनाओं का शिव तांडव जीव को व्याकुल कर देता है। जहर तो एक जन्म में तड़पाता है परन्तु यह विषय रूप विष जन्म जन्मान्तरों में तड़पाते हैं। यह विषय, विष से भी भयानक हैं।

महानपुरुष आवाज़ देते हैं कि:—

तू हुस्न की महफिल में रूदादे-ब्रलब क्यों है?

वह आत्मा तो अपने स्वरूप में पूर्ण स्वत[illegible] अलग और असंग है, तो भी वह ख्यालों मनों औ[illegible] इन्द्रियों में चमकता है और उन्हें प्रकाशित कर[illegible] है। बेचारा अनजान जीव इसको न जानता हु[illegible] आत्मा को मन के ख्यालों और इन्द्रियों से पृथ[illegible] नहीं कर सकता। इसलिए उसे देखता हुआ [illegible] नहीं देखता, उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता औ[illegible] उसे जानता हुआ भी नहीं जानता।

ये अजब तमाशा है के पर्दों पै है पर्दों का ज़हू[illegible]
दिल जहाने—राज़ में और दिल में जहाने राज़ है

×

जिस-जिस ख्याल में ये निश्चय और प्रती[illegible] हैं, उसी—उसी ख्याल और दिल में उन्हें यह आ[illegible] ज्योति प्रकाशित कर रही है। ख्याल और आ[illegible] के इम्तियाज़ के राज़ को हासिल करते ही हा[illegible] हसूल उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति में सन्देह [illegible] रहता।

अविनाशी आत्म अचल,
जग ताते प्रतिकूल।
ऐसो ज्ञान विवेक है,
सब साधन को मूल।

विवेक से ही वैराग्य होता है। वैराग्य [illegible] मतलब है "रागरहित" होना। जब भी विवेक [illegible] है तभी जीव देह की आसक्ति में आ जाता है।

भावना बनी रहना यही एक मानसिक दोष है। यह आध्यात्मिक धन, वेदान्त का पवित्र तरलामृत जिसके हिस्से में आ जाता है, वह मानव बादशाहों का बादशाह जन्म-जन्मान्तरों के दुष्कर्मों का नाश करके संसार की छत पर खड़ा हो जाता है।

रमण महर्षि तथा महर्षि अरविन्द जी ने निश्चयात्मक रूप से कहा है कि तमाम योग के रास्ते मैं से शुरू होते हैं और यही हम सब का लक्ष्य है। अहं को ही लेकर उठना है। "मैं मैं हूँ" इस हूँ को जानने के लिये कहीं और से हूँ को लाना नहीं। इस "मैं" को जानना ही, आत्मा की पहिचान है। जो यह कहते हैं कि जो मैं देखता हूँ, यह भी वह क्यों नहीं देखता यही अज्ञान और दुःख की जड़ है। मैं मैं हूँ और यह यह है। यही सीधी नज़र है। "जन्म-जन्म की सोई जागी" आत्मा अनात्मा का यही विवेचन है। जगत के कार्य कारण का जब पता लग जाये तो तमाम मलिन अहंकृतियों का नाश हो जाता हैं। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम रज्जु के ज्ञान से उड़ जाता है। रज्जु अधिष्ठान है और सर्प उसमें अध्यस्त है, अध्यस्त का अधिष्ठान में प्रवेश नहीं होता।

अधिष्ठान ते भिन्न नहीं जगत निवृत्ति बखान।
सर्प निवृत्ति रज्जु जिमि भये रज्जु का ज्ञान ॥

ऐसे ही यह देह चन्द दिन ही साथ रहती है वैसे तो जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति में भी यह जीवात्मा तमाम लिबासों को उतार देता है, अपनी असंगता का भान करवाता ही रहता है परन्तु इसका ठीक इम्तियाज़ मानव तत्, त्वं तथा तत् पद के शोधन के बिना नहीं कर सकता। यह लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ के भेद का पता लगने से, यह ऐन्द्रिक खेल जात में बिलकुल कल्पित ही प्रतीत होता हैं। सौ का नोट तो चाहे कुली का हो चाहे सेठ का नोट तो एक जैसा ही है परन्तु सेठ और कुली की नजर में फर्क है। चित्रकार चित्र बनाकर अपनी कला का जहूर करता है। मूर्तियों की तारीफ ही मूर्ति बनाने वाले की तारीफ है।

यह जहाँ तस्वीर है मौजो-सरूरो-जात की,
या कहीं मयनोशियों में रश्क की आवाज है।

×

यह संसार प्यारे की बनाई हुई तस्वीर है, यह उसका जहूर है। त्रिगुणों का पसारा है सत्व, रज और तम। हरे, लाल तथा सफेद रंग के चश्मों से सभी जगत को देख रहे हैं। ब्रह्मवेत्ता भक्त, साधक, कामी, क्रोधी, लोभी तथा त्यागी सब अपनी-अपनी नजर से देख रहे हैं, नजर का फर्क है। गल्त किसको दिखाई दे रहा है? किसी को भी नहीं। यह है दृष्टिकोण का अन्तर, गल्त की भावना ही खराब है इस नुक्ते पर आ जाओ कि सब ठीक है। रजोगुण तथा तमोगुण के रास्ते से तो हमारे लक्ष्य का हल नहीं होता।

> **संसार के लिए प्रभुता और निर्भयता में तो सिंह के समान बनो, धैर्य और सेवा में ऊंट के समान तथा शान्ति, सहनशीलता और मातृत्व पूर्ण परोपकार में गाय के समान बनो। शेर जसे अपने शिकार पर टूट पड़ता है, वैसे ही तुम भी भगवान् की सारी आनंदानुभूतियों को लूट लो, परन्तु प्रचुर आनन्द के उस अनन्त क्षेत्र में सारी मानव जाति को भी ले आओ जिससे कि वह वहां सुख से लोटे और चरे।**
>
> **—श्री अरविन्द**

इसलिए महान् पुरुष कहते हैं कि तुम सत्व गुण को बढ़ाओ इस सत्व गुण के कोने में आकर ईद के चाँद परिपूर्ण ब्रह्म स्वरूप का दर्शन करो। नुक्ते समझ में आने से रत्न दिखाई देते हैं।

हमने ऐसा न कोई देखने वाला देखा,
जो यह कहदे के तेरा हुस्न सिरापा देखा।

यह विद्या भाग जाओ या यह छोड़ दो इस तरह की नहीं। यह तो है जहाँ बैठे हो वहीं से ठीक रूप से देखना है।

तेरा इलाज नजर के सिवाय कुछ और नहीं।
खिरद के पास होश के सिवाय कुछ और नहीं।।

पति के सामने पत्नी जाएगी तो वह पति है, उसी के सामने बहन चली जाए तो वह भाई, और उसी के सामने माँ चली जाए तो वह पुत्र है असल में है तो वह एक ही, इसलिए ऋषि कहते हैं शुद्ध सतोगुण के भाव में आकर देख कि वास्तव में मैं क्या हूँ ? इसलिये अपने हृदय में यही जिज्ञासा पैदा करो इश्क पैदा करो।

इश्क सब बल निकाल देता है।
इश्क साँचे में ढाल देता है।।

मैं फक़ीर हूँ मेरे साकी के घर कमी क्या है। जो बल्ब फ्यूज़ हो गया है उसकी क्या कीमत है। इसलिए अपनी बुझी हुई शमां को ज्ञान की ज्योति से उद्दीप्त करके अपने अंधकार-मय दुःखी जगत को खूबसूरत तथा प्रकाशमान बनाओ। ऊँची आवाज़ से ऊँचे मस्तिष्क और विशाल हृदय से अहं ब्रह्मास्मि सोऽहमस्मि "मैं हूँ मैं", देहोनाऽहम् श्रोत्रवाकादिक नाऽहम् बुद्धिर्नाऽहम् अध्यासमूलनाऽहम् सच्चिदानन्द रूप चिदात्मा माया साक्षी कृष्णमेवास्मि, सही आवाज़ पैदा करो।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

★

रुकावटें और बाधायें रास्ते के बीच रखी गई हैं महज तुम्हारी शक्ति की जाँच करने के लिये ही नहीं वरन् उसे शिक्षित बनाने के लिए, उसे बढ़ाने के लिए, उसे अनुशासित करने के लिए। कठिनाइयाँ पर्याप्त मात्रा में ठीक इसी कारण आती हैं कि उन्हें पार कर लेने पर तुम अपनी पूर्णता के पूर्णत्व को प्राप्त कर लेते हो। तुम उन्हीं तत्त्वों और शक्तियों से गठित हुए हो जो ठीक उस कार्य के अनुरूप हैं जिसे उनके द्वारा पूरा किए जाने की आशा तुमसे की जाती है। तुम उन अवस्थाओं और परिस्थितियों के मध्य अवस्थित हो जो पूर्णतः उस कार्य के अनुरूप हैं जिसे तुम्हें सिद्ध करना है। सच पूछो तो तुम अपने अंदर उन सभी कठिनाइयों को वहन करते हो जो तुम्हारी सिद्धि को स्वयं पूर्णत्व में परिणत करने के लिए आवश्यक हैं।

—श्री माता जी

सुखानुभूति

वेदान्ताचार्य श्री स्वामी सोमानन्द "परिब्राट्" (वाराणसी)

महलों से झोपड़ियों तक का दुनियां का हर वासिन्दा धनी व निर्धन सभी दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए अहर्निश बेतहाशा दौड़ लगा रहा है किन्तु जिन भौतिक वस्तुओं की ओर भाग रहा हैं, उन आपातरमणीय पदार्थों में सुख कहाँ ? ये जल बुद्‌वुद् के समान क्षणभंगुर हैं, क्षणिक सुखप्रद हैं—No pleasure in transition. जो क्षणिक है अल्प है, नश्वर है, उसमें सुख नहीं। श्रुति भगवती की भी यही गर्जना है—"नाल्पे सुखमस्ति" अल्प भूतों से होने वाला सुख चिरस्थायी नहीं हो सकता क्योंकि— Transitory pleasure results in Pain. क्षणिक सुखप्रद वस्तु दुःखरूप है। शास्त्र का भी प्रमाण है "यदल्पं तदार्तम्" जो अल्प सुख रूप है वह अन्ततः दुःख रूप है। अध्यात्मवाद के उच्चतम उपदिषद् दर्शन से ही निरतिशय सच्ची शांति उपलब्ध हो सकती है।

"अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थं दर्शनम् ॥"

आध्यात्मिक ज्ञान में ही सतत् स्थिति एवं तत्त्वज्ञान रूप परात्पर निज स्वरूप का निरन्तर विचार और चिन्तन ही निःशेष सुख शान्ति का मूलाधार है। तत्त्वज्ञान की पवित्रता का प्रसिद्ध स्मृतिकार भी इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इस धरातल में अध्यात्म ज्ञान के सदृश और कोई भी वस्तु पावन नहीं। आत्मज्ञानी ही 'आत्मक्रीड' 'आत्मरति' शास्त्रों द्वारा पुकारा गया है। आत्मज्ञान ही महान् है तथा सुख स्वरूप है, जो महान् है वही सुख है—

'Happiness is in permanence.'

जो सबसे महान् है, शाश्वत है, दृढ़ है, स्थिर है वही सुख शान्ति का केन्द्रस्थल है। "यो वै भूमा तत्सुखम्" जो बृहद ब्रह्म है वही सुख शान्ति तथा आनन्द का केन्द्र विन्दु है, अतः बृहद वस्तु की प्राप्ति की ही गवेषणा करनी चाहिए, 'भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः' बृहत् सुख शान्ति स्वरूप निज स्वरूप के जानने का प्रयास करें। आनन्द-घन निजात्मा का ज्ञान कौन करेगा ? शास्त्रों की घोषणा है—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परि
प्रश्नेन सेवया'।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं
ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

तत्त्वदर्शी सन्त सद्‌गुरुओं द्वारा ही यह आध्यात्मिक रहस्य जाना जाता है क्योंकि वही आत्मसाक्षात्कार कराने में पूर्ण समर्थ है, जरूरत है श्रद्धा, विश्वास, धारणा और भव्य—भावना पूर्ण विनम्रता की, क्योंकि यह सुख शान्ति का पुञ्जीभूत अध्यात्म ज्ञान, तत्त्वज्ञानियों की सेवा से ही सम्भाव्य है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः' अभ्युदय का

अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का अर्थ मोक्ष है। पुरुषार्थ का तात्पर्य जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान तथा मोक्ष की जानकारी हो या तत्त्वज्ञान पूर्वक निज स्वरूप का बोध हो। बन्ध मोक्ष का विवेक आत्म-ज्ञान द्वारा ही जाग्रत होता है; तत्त्वज्ञान होने से मोह ध्वंस होता है, मोह के अभाव से पदार्थ में राग या आसक्ति नहीं रहती जो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर सके। वैराग्य होने से कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, आसक्ति ही प्रवृत्ति का कारण है। 'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधि गच्छति' आपातरमणीय क्षणिक पदार्थों की अहंता और ममता रहित जीवन ही निरतिशय सुख-शान्ति और आनन्द की अनुभूति रखता है।

आनन्द शब्द सुख का वाची है "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" 'आनन्दं ब्रह्मणो-विद्वान्" 'एष परम आनन्दः' इत्यादि श्रुतियां हैं। तत्त्वज्ञानी ही तत्त्ववित् है क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित' तत्त्वदर्शी आत्मवित् सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है। आत्मा और ब्रह्म एक ही वस्तु है। ब्रह्म से जो भेद प्रतीत हो रहा है वह विचारादि साधनों द्वारा अत्यन्त निवृत्त हो जाता है। भेद ही अविद्या है, अविद्या की निवृत्ति विद्या से, अविवेक की निवृत्ति विवेक से तथा अन्धकार की निवृत्ति प्रकाश से ही सम्भव है, अर्थात् अविद्या का अस्तमय ही मोक्ष है। वस्तुतः विद्या वही जो जीते जी आनन्दित करती है, जिससे मानव कृतकृत्य हो बोल उठता है—

'कर गई चश्म-मस्त काम हो गया नशा तमाम।
मयकशो अब मेरा सलाम हाजते मयकशी नहीं॥

अनन्त काल से यह प्राणी जिस सुखानुभूति के लिए भ्रमित हो रहा है यदि नुकता समझ आ जाय तो बात बड़ी आसान है—

"इक नुकते विच गल मुकदी है।"

सदगुरु के एक इशारेमात्र से जिन्दगी कृत्यता से भर उठती है, जिज्ञासु जीवन और की सीमा को पार कर जाता है, आनन्दित जाता है। वस्तुतः अध्यात्म ज्ञान व्यक्ति को नहीं अपितु मानव को खिलखिलाकर हँसाता है वह वेदान्त कैसा तथा वह सद्गुरु कैसा साक्षात्कार होने पर मुमुक्षु आनन्दातिरेक निमग्न न हो सके? सन्त सद्गुरु छोटे दायरे से उठा श्रद्धा और धारणा वाले को एक ऐसे उच्च

> जब कोई खाई हमारी सच्ची सत्ता को भौतिक सत्ता से अलगकर देती हैं तब तुरन्त प्रकृति उस खाई को सब प्रकार के विरोधी सुझावों से भर देती है, जिनमें अत्यन्त प्रबल होता है भय और अत्यन्त अनिष्टकारी होता हैं सन्देह। —श्री माताजी

पर स्थित कर देते हैं जहाँ से वह सबको और जानने लगता है, जिसके लिए श्रुतियों भी घोषणा की है:—"एकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति" जिस एक भूमा के जान लेने यह सब कुछ जाना जाता है तथा जिस निजात्मा का ज्ञान न होने से कुछ भी नहीं जाता। इस शरीर के रहते हुए ही यदि आत्मा को जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गए और स्वस्वरूप के साक्षात्कार से वञ्चित रह गये जाना तो 'महती विनष्टि' तब बहुत बड़ी होती है, जो उस निजस्वरूप आत्मा को जानते हैं, अमृत हो जाते हैं किन्तु जो नहीं जानते दुःखों को उठाते हैं। वह अन्य है; 'मैं' अन्य

ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता, जो देवताओं को अपने से भिन्न समझता है, देवता उसे परास्त कर देते हैं, 'मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति" जो यहाँ नाना देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः निरन्तर एकरूपता का वर्णन सभी शास्त्र कर रहे हैं।' 'सर्वमात्मानं पश्यति' "आरम्भ में यह एक ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना, इसलिये वह सर्व हो गया" "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' जो यहां है वही परलोक में है और जो परलोक में है, वही यहाँ है।' "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" वह चलता है, और वह नहीं चलता, वह दूर है और वह समीप भी है। स्मृतिकार भी अपनी आवाज बुलन्द कर रहे हैं 'मत्स्थानि सर्वभूतानि" सर्वभूत मुझ में स्थित हैं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना कि "मैं" ब्रह्म हूं। 'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, और इससे भिन्न कोई श्रोता भी नहीं है, अतः सत्य का सत्य है, यह परम उपनिषद् निज आनन्द स्वरूप सुख स्वरूप आनन्द स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूं।

अलमस्त हूं और मस्तों का पैमाना भी मैं हूं।
साकी भी मैं सागरी-मैखाना भी मैं हूं॥
गर मुझ से मिला चाहै तो कर सिजदा बुतों की।
बुत मेरा ही जल्वा है और बुतखाना भी मैं हूं॥

इस प्रकार अपनापद (रहस्य) जब तत्त्ववेत्ता सद्गुरु ने दर्शा दिया। सोचा कि मेरा तो लक्ष्य प्यारा अभिलषित पदार्थ तू है, तो फिर मैं बुतों की क्यों पूजा करूँ? इस प्रकार का तत्त्व जब समझ में आ गया तो फिर हर एक के नेत्रों में उसका ही नजारा है। यदि कोई इस रहस्य से वञ्चित रह गया तो उसके समान और कौन दुर्भागी हो सकता है। सद्गुरु अपने साथ एक बहुत बड़ा रहस्य छिपाये रहते हैं, वह इंसान के हृदय से चिंता, शोक, मोह निकाल कर, लक्ष्य का चिंतन रख देते हैं। असत् को निकाल कर सत्यात्मा को जागरुक कर देते हैं। माया असत् जड़ दुःख रूप है, जब कि आत्मा सत् चित् सुख और आनन्द स्वरूप है।

आत्मा तो हासिले-हसूल है। हासिल (उपलब्ध) नहीं करना, अत्यन्त समीप अर्थात् तू ही है तत्त्वमसि अनल-हक'।

'पन्जा दा कलबूत बनके, विच वड बैठा आयोवे।
आयेधीयाँ आये पुत्र, आये बनाया माये वे॥

> एक क्षण के लिए भी परम सत्य को जीवन में उतारने का मूल्य उसे पाने की पद्धतियों या प्रक्रियाओं से सम्बन्धित सैकड़ों पुस्तकें लिखने या पढ़ने से कहीं अधिक है।
>
> —श्री अरविन्द

मैं समस्त जगत् में परिपूर्ण हूं। मसि (स्याही) जिस प्रकार अक्षरों के अन्दर भी और बाहर भी है, इसी प्रकार, मेरी सत्ता से ही सब कुछ है।

मानव! नश्वर की उपासना करते-करते तुझे बहुत दिन गुजर गए, अब तो अपने निज स्वरूप आत्मा की ओर मुड़, इसको इस प्रकार निश्चय कर कि इसकी अविच्छिन्न धारा रोम-रोम में सन्निविष्ट होकर जीवन बिन्दु सिद्धान्त के महासमुद्र में मिलकर तद्रूप हो जाये। उपासना का वास्तविक रूप है कृत्रिम को त्याग अकृत्रिम की ओर, अनात्म को छोड़ आत्मा-साक्षी की ओर

और अंत में इसी साक्षी रूप में हो तदाकार हो जाना।

सुखाभिलाषी मानव ! आंख उठा कर देख दुनियाँ कितनी गमगीन और दुःखों से पीडित है, जिस प्यार और मुहब्बत की खुशबू के लिए प्रयत्नशील है उधर तो परवाने भी भटकते नजर आ रहे हैं; इसी लिये सदगुरु के उपदेश और शास्त्र के सदभ्यास से महापुरुष साँसारिक सुखों को अल्प और नश्वर होने के कारण उपेक्षा कर भूमा (ब्रह्म) तथा निज स्वरूप का अन्वेषण करते हैं। तत्वज्ञ महापुरुष ब्रह्म के स्वात्मिक लाड़ में नित्य निरतिशय आनन्द की अनुभूति करते हैं।

★

क्षण भर का मिलन

ऐसा मिलना भी किस काम का जहाँ मिलने का आनन्द तो मिले परन्तु बिछड़ने का दुःख उससे भी अधिक अखरे। सब कुछ अच्छा-अच्छा खा लेने के बाद कहीं अन्त में स्वाद बिगाड़ दिया जाय तो सारे स्वाद का मजा बिगड़ जाता है। जिस सुख के बाद दुःख का प्रवेश होता है उसे न चाहने पर भी लोग उसके पीछे पड़े रहते हैं।

एक बार किसी राजा ने ऐसे ही सुख को पाने के लिए अपना राज-पाट छोड़ दिया जिसके पाने के बाद फिर दुःख न भोगना पड़े। इसी सुख के पाने की आशा में वह जंगल-जंगल भटकता रहा। बहुत दिनों तक भटकने के बाद भी जब कहीं भी उस सुख का पता न लगा तो वह निराश हो गया। अपने सारे राज्य में तो कभी ऐसा सुख मिला नहीं, सोचा शायद जंगल के उस एकान्त में कहीं वह मिल जाय तो अच्छा। परन्तु इतना भटकने पर भी जब वह न मिला तो उसने निश्चय किया कि अब यह किसी प्रकार से भी नहीं मिल सकता। इसी प्रकार घूमते-फिरते एक दिन किसी सन्त के दर्शन हुए। सन्त के समक्ष बड़ी विनम्रता और श्रद्धा से अपना प्रश्न रखा। सन्त ने सांकेतिक रूप में अपने साथ चलने को कहा। बहुत दूर तक साथ चलने पर भी जब सन्त ने प्रश्न का कोई समाधान न किया तो राजा ने फिर अपने प्रश्न को दोहराया—"भगवन् ! शाश्वत सुख मुझे कहाँ मिल सकता है ? राज्य में सुख न मिला और जंगल के एकान्त में भी भटकने पर शान्ति न मिल सकी।"

सन्त ने गम्भीरता से उत्तर दिया—"संसार के पदार्थों से तुम्हारा क्षणभर का मिलन होता है क्योंकि कोई भी विषय अपनी प्रकृति के वशीभूत हुआ अधिक देर तक स्थिरता से ठहर नहीं सकता। और बिछुड़ने के बाद मिलन दुःखरूप ही होता है। इसीलिये किसी भी अवस्था को सुखरूप माना ही नहीं जा सकता। हर समय चलने, बदलने, क्षणभर के मिलन में सुख हो ही नहीं सकता। यदि शाश्वत सुख चाहते हो तो पीछे चलना, विषयों के क्षणिक मिलन को बन्द करो। अपने आप की खोज करो, तुम देखोगे कि तुम्हारे प्रश्न का समाधान कहीं और नहीं है।" राजा के हृदय में ज्ञान के प्रकाश का स्फुरण हुआ और वह परम शान्ति का अनुभव करने लगा।

—'चिन्मय...'

मोह के झकोरे

श्री गणेशदत्त सारस्वत, एम० ए०, रिसर्चस्कॉलर,
बिसवाँ, सीतापुर

(१)

जड़–देह–गेह में निवास करता है जो कि
आत्म–तत्व का स्वरूप, मुक्त है, प्रमाता है।
रंग-रूप-हीन जो कि नित्य है, अखण्ड भी है
ब्रह्म है कहीं तो कहीं 'हंस' कहलाता है।
श्वास-गति-यति का नियन्ता है सचेतन जो
विधि का विधाता वही ध्यान-ध्येय-ध्याता है।
सुप्ति–स्वप्न–जागृति में एकरस निर्विकार
अटल, अनूप कहीं जाता है न आता है।

(२)

जाने किस मोह में पड़ा है मूढ़ मानव तू
'मैं-मैं' और 'तू-तू' का विचित्र राग गाता है।
रज्जु–मध्य सर्प प्रतिभासित जगत सारा
जानता हुआ भी भ्रम को ही अपनाता है।
स्वप्न की प्रतीति को यथार्थ मान, सत्य जान
'मैं ही सब कुछ' सोच फूला न समाता है।
जिस बल पै तू इतराता घूमता है यहाँ
वह बल बोल तेरे काम कब आता है।

(३)

ज्ञान–जल–सिंचित विकचमान जीवन की–
कलिका विकास पा नवीन रंग लाएगी।
श्रवण—मनन—तप—आतप अभीष्ट पाके
इसकी सुरभि जन–जन को लुभाएगी।
गाएगी विमल गुण संसृति प्रफुल्लित हो
पथ–भ्रष्ट मानव को मार्ग दिखलाएगी।
अतएव मोह के झकोरों से बचाना है इसे
वृन्त से अलग हो न, गन्ध उड़ जाएगी।

★

पूर्ण और तब भी विकास

श्री स्वामी परमानन्द
(अध्यक्ष—'अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र')

जिसका आन्तरिक विकास नहीं होता वह प्रगति शून्य जड़ मुर्दा है। आप कहेंगे आत्मा अन्तरतम है, उसका विकास नहीं होता तो क्या मुर्दा है, नहीं। वह है पूर्ण, पूर्ण का विकास नहीं होता। वह ज्यों का त्यों रहता है विकास तो अपूर्ण का होता है। वृद्धि क्षति अपूर्ण की होती है परन्तु ध्यान रखने योग्य बात यह है कि अपूर्ण का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं होता। वह तो पूर्ण का ही अंश है। हाँ बात चल रही थी कि आत्मा का विकास नहीं होता और सही में नहीं होता। इतना ही नहीं लोगों के कहने-सुनने और विकास प्रतीत होने पर भी उसका विकास नहीं होता, क्योंकि उसका विकास नहीं होता। यदि कोई इस पर विश्वास न करे तो न करे, परन्तु इसका विकास नहीं होता क्योंकि आत्मा सत्य है और सत्य का विकास नहीं होता। एक बार वैज्ञानिक ने खोज की कि पृथ्वी घूमती है पर कुछ मूर्खों को जो प्रत्यक्ष के आधार पर निर्णय करने वाले थे उन्हें बुरा लगा क्योंकि वह कहते आये थे कि पृथ्वी नहीं घूमती। मूर्खों ने सोचा कि यदि पृथ्वी घूमती होती तो हमारे मकान का दर्वाजा पूर्व की अपेक्षा पश्चिम को क्यों नहीं हो जाता। कुछ कहते हैं सूर्य पूर्व को छोड़कर पश्चिम में क्यों नहीं निकलता परन्तु वैज्ञानिक ने फिर भी तर्क से सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी घूमती है। तब सबने मिलकर कहा हम तुम्हें मार डालेंगे यदि ऐसा कहोगे इस कागज में हस्ताक्षर करो और लिखो कि पृथ्वी नहीं घूमती है। उसने लिखा कि "पृथ्वी नहीं घूमती है" ऐसा मेरे प्रमाणित करने व लिख देने पर भी वह नहीं मानती, घूमना बन्द नहीं करती क्योंकि वह सही में घूमती है तो मेरा कहने का तात्पर्य है कि सत्य पर विश्वास करो या न करो पर वह तो सत्य ही होता है इसी प्रकार आत्मा को भी जीव कहो ब्रह्म न कहो, पापी बन्दा नित्य शुद्ध बुद्ध अहं ब्रह्म न कहो और ऐसा कहने को शूलियों पर चढ़ाया गया अगर वह शूली में न जाते डर कर जीव कह देते तो क्या यह आत्मा ब्रह्म बजाय जीव हो जाती। नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो था। हाँ मैं कह रहा था कि आत्मा का विकास नहीं है परन्तु इस बात से इन्कार नहीं कि विकास प्रतीत भी नहीं है आत्मा का विकास प्रतीत तो होता और इसी विकास की प्रतीति का जगत है। और इसका भान भी चाहिए परन्तु इस प्रतीति में यह समझ लेना जरूरी है कि विकास कभी नहीं होता। यदि न जानेंगे तो विकास को बढ़ा की, आगे बढ़ने की, तृष्णा कामना रूपी भूतनी प्रविष्ट जायगी, जो चैन न लेने देगी, कितने ही अनर्थ कर वासनायें नचा डालेंगी। ये पिशाचिनी तुम्हें पिशाच देगी। कहा है "हविश की हविश इंसान को हैवान देती है, हविश की कमी इंसान को इंसान बना देती अगर हविश से बचे जीवन भर तो इंसान को बना देती है"। और आत्मज्ञ पुरुष पूर्ण तृप्त पूर्ण रहता है और फिर भी देखता है अपने जीवन में जीवन में नित नूतनता तथा दिनोदिन अधिक दिव्यता। वह यह देखता है कि कल से मैं आज अ

वह फिर देखता है कल से मैं आज और भी अच्छा हूँ वह पुनः-पुनः हर दिन देखता है कि अब मैं बहुत ही नवीन और दिव्य हूँ, इतना ही नहीं वह यह भी देखता है कि मैं पूर्ण शुद्ध पूर्ण नूतन अनन्त दिव्य हूँ ऐसा दिनोदिन उन्नत देखता है परन्तु उसे बड़ा बनने की, आगे बढ़ने की चाह रूपी चुड़ैल सवार नहीं होती क्योंकि वह जानता है कि आत्मा बढ़ती घटती नहीं परन्तु फिर प्रश्न वहीं आ टपकता है कि जब मैं पूर्ण दिव्य पूर्ण आनन्द हूँ यह देख लेता है तो फिर विकास बन्द हो ही जाता होगा। क्योंकि पूर्णता के बाद विकास कैसा। नहीं। नहीं। ऐसा कदापि नहीं होता, क्योंकि विकास तो तब बन्द हो जब विकास होता रहा हो। विकास तो होता ही नहीं। विकास की प्रतीति होती है सो वह तो होती ही रहती है। क्योंकि मिथ्या प्रतीतियां, खराबियाँ, और अदिव्यतायें शून्य मात्र अस्तित्व-हीन अनादि और अनन्त सी हैं। प्रतीति मिथ्यता शून्यता कितनी होती है, उसकी नाप नहीं। माने झूठ कितना होता है चाहे जितना। कहा है 'शेरा माठा दोनो बराबर चाहे जितना कोउ लेय बढ़ाय'। अतः उस शून्य-वत कल्पनामात्र अनादि अनन्त सी भासित होने वाली अदिव्यता असत्यता को प्रतिदिन अधिकाधिक न्यून सा देखता रहता है। जिससे उसे अपनी एकरस दिव्यता और पूर्ण नवीनता में भी दिव्यता, नवीनता, शुद्धता, सूक्ष्मता का विकास प्रतीत होता है और इसी से आनन्द में, प्रसन्नता में भी वृद्धि प्रतीत होती है। जैसे राम स्वयं प्रसन्न। राजतिलक की बात सुनकर और प्रसन्न। वनवास की बात सुनकर आज्ञा पाकर और अधिक प्रसन्न हुए और भागे, जैसे जाल से छूटकर कोई जंगली जानवर भागे। इन अवस्थाओं को सत्य मानने वाले भला कब राजतिलक के बाद वनवास की बात सुनकर प्रसन्न होंगे। हाँ इसे प्रतीति मात्र समझने वाला ही उत्थान व पतन में भी अपने को आगे बढ़ा हुआ ही पायेगा। जैसे बनावटी राम, रावणादि या अन्य कोई खेल का प्रदर्शन करने के लिये पहले तो बनने में ही प्रसन्नता होती है और फिर मरने और मारने में तो और भी प्रसन्नता होती है अर्थात् इस जगत को जो स्वप्न, सिनेमा अथवा नाटक समझता है उसे हर समय ही अधिकाधिक प्रसन्नता व विकास का भान होता है जैसे नाटकियों को एक के बाद दूसरी अवस्था प्रिय लगती है, एक नाटक के बाद पुनः दूसरा नया नाटक। चाहे पहले बादशाह बना हो दुबारा उसे भले ही गरीब या नौकर बनना पड़े पर उसे अच्छा ही लगता है, इस प्रकार यह जगत परिवर्तनशील प्रतीति मात्र अनन्त प्रवाह रूप नाटक है। जिसमें सही में तो आत्मा कुछ नहीं होता है। पर प्रतीति रूप में सब कुछ होता है। हाँ इन सामान्य नाटकों में कोई अपने को भूलता नहीं इसलिए ही उसे दुःख नहीं होता। यदि किसी को नाटक में कोढ़ी का पार्ट करना है, किसी को वैद्य का दोनों बराबर प्रसन्न, पर दिखावा में अन्तर। वैद्य ने दवा दी, कष्ट ठीक हो गया। वैद्य भी खुश, रोगी भी, रोगी वैद्य की प्रशंसा भी करेगा। वास्तविक आनन्द तो उन्हें सदैव रहा न्यूनाधिकता दिखावा मात्र थी। बाद में कोढ़ी से पूछे कि भाई जब वह तेज दवा लगाई गई थी तुम तड़प रहे थे, छटपटा रहे थे तब तुम्हें बड़ा असह्य दर्द हो रहा होगा। वह कहेगा केवल दिखावा था। मैं तो रोगी ही नहीं था फिर दवा कैसी और दर्द कैसा। वह दूध ही पी गया। तुम मठा की चर्चा करते हो। कोई आत्मवेत्ता से पूछो क्यों, "जन्मत मरत दुसह दुःख होई" तो वह कहेंगे जन्म होता हो तब दुःख होगा। मैं तो मरणादि का द्रष्टा हूँ यह जगत प्रतीति मात्र है। "रजत सीप

भावावेग योग के लिए एक अच्छी चीज है; परन्तु भावावेग जन्य कामना सहज ही विक्षोभ का एक कारण और एक बाधा बन जाती है।

अपने भावावेग को भगवान् की ओर मोड़ दो, उनकी शुद्धि के लिए अभीप्सा करो; तब वे योगपथ के सहायक बन जायेंगे और फिर कभी दुःख-कष्ट के कारण नहीं होंगे।

भावावेग को मार डालना नहीं, बल्कि उसे भगवान् की ओर मोड़ देना ही योग का समुचित मार्ग है।

—श्री अरविन्द

महँ भाष जिमि यथा भानु कर वारि, यदपि मृषा तिहुँ काल महँ "भ्रम ना" सकै कोउ टारि ॥ इस भ्रम को कोई ही टार सकता है, सब नहीं। "मोह निशा सब सोवनि हारा देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा"। "जेहि जग जागहिं जामिनि जोगी, परमारथी प्रपञ्च वियोगी"। "सपनेहु होई भिखारि नृप, रंक नाक पति होय। जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपञ्च जिय जोय"। तो भाई इस संसार में जागने की आवश्यकता है। एक स्त्री थी, उसे किसी ने बहका कर मांस खाने को कहा, उसने एक दिन जमींदार का बकरा गार बनाया। जमीदार ने उसके पता लगाने के लिये इनाम रखा। जिस स्त्री ने इसे बहकाया था उसी ने जाके जमीदार से कह दिया, उन्होने कहा भाई वह ब्राह्मणी बड़ी सरल सज्जन है वह नहीं खा सकती। तब स्त्री ने कहा आप ढोल डलवाकर टट्टी की जगह छिप जाइये हम उसके मुख से ही कहलवा देंगे। वैसा ही हुआ। टट्टी होते ही होते चर्चा छिड़ गई! हाँ बहन कैसे बनाया, उसने कहा ऐसे। तब साथिन इशारा करती है, 'सुन रे ढोल बहू के बोल। फिर क्या डाला था यह–यह। पुनः सुनरे ढोल......। तिबारा फिर कैसा बना उत्तर में बहुत अच्छा। फिर पति ने भी खाया या नहीं। उत्तर में नहीं। क्यों? क्यों क्या इतने में मेरी नींद खुल गई, मैं तो स्वप्न देख रही थी, सही थोड़ा है। वास्तव में बुद्धि ही यह स्त्री है अविद्या ने इसे बहकाया यह बहक कर कर्ता भोक्ता मानने लगी। परन्तु जब यह जान गई कि अविद्या मुझे फँसाने की चेष्टा में है तो ज्ञान प्राप्त किया मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ। और आत्मा रूपी पति तो कर्ता भोक्ता हो नहीं सकता, यह तो मेरा भ्रम था। यह है बोधि की अवस्था। हाँ बात थी मुझे यह बतानी कि यह बोध कैसे होता है? इसके लिये चाहिये तीव्र जिज्ञासा और यह होती है जब अपने में पहले कमी दिखाई देती है। यहीं से प्रारम्भ होती है साधना। और क्रमशः विकास प्रतीत होने लगता है वह भी वाह्य और स्थूल फिर क्रम से आन्तरिक सूक्ष्म होता जाता है। जो कल से आज अच्छा नहीं होता उसका विकास बन्द समझो। साधक को कल से आज में उत्कृष्टता का भान होना चाहिये। जिसको कल की अपेक्षा आज के सुख में विशेषता, सूक्ष्मता, स्थिरता नहीं दिखाई पड़ती तो समझो अभी विषयों के स्तर से नहीं उठा, आध्यात्मिक विकास बन्द है। [illegible] प्रतिदिन अपने में नूतनता उत्कृष्टता का अनुभव करने लगे हो तो अब तुम्हें हर घंटे अधिक उन्नत अधिक प्र[illegible] और अधिक दिव्य होना चाहिये। यदि हर घंटे में प्र[illegible] देखने लगे हो तो हर क्षण में दिव्य देखो फिर दिव्य[illegible] और फिर दिव्यतम और इतना दिव्यतम, यहाँ त[illegible] दिव्यतम जिसकी कि अभी तुम कल्पना भी नहीं क[illegible] सकते। तुम्हें वहाँ तक प्रगति करनी है। कहाँ तक। व[illegible] तक जहाँ तक अभी तुम सोच नहीं सकते। इसलिये क[illegible] मैं उसका नाम नहीं लेता। नहीं तुम उसे कोरी कल्प[illegible] कहने लगोगे। मुझे भी पागल कहने लगोगे, कहोगे [illegible] सब गप है। सही, ऐसा ही कहोगे। वहाँ तक तुम्हें प्र[illegible] करनी है। नहीं मैं यह भी नहीं कहता कि तुम्हें प्र[illegible] करनी है। मैं यह भी नहीं कहता कि प्रगति होगी ही

> जिसकी कभी मृत्यु नहीं होती, वह जीवित भी नहीं हो सकता। जीवन और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जीवन मृत्यु का ही दूसरा नाम है और मृत्यु जीवन का। अभिव्यक्ति के एक पहलू का नाम जीवन है, दूसरे का नाम मृत्यु है।
>
> —स्वामी विवेकानन्द

पर जो मैं कहना चाहता हूँ वैसा तुम अपने को देखे[illegible] अवश्य इसके बीच तुम कहीं ठहर नहीं सकते। और [illegible] इस बात को जब तुम समझोगे तब तुम्हारे सामने [illegible] यह दीख रहा है, जिसे लोग संसार कहते हैं ऐसा न हो[illegible] इस प्रकार का न होगा हाँ होगा अवश्य परन्तु वैसा होगा जैसी आज तुम्हें कल्पना भी नहीं। हाँ, यों आप [illegible] लो, वह ऐसा ही होगा जैसा तुम चाहते हो, इतना [illegible] नहीं, यही वह होगा जिसे तुम ढूँढ़ रहे हो। नहीं। [illegible] भी नहीं। भाई तुम देखोगे कि यह तुम्हीं हो। जो तुम्हा[illegible] सामने है यह तुमसे भिन्न नहीं है। परन्तु यह तुम्हीं [illegible] यह तभी देख सकोगे, जब यह देख सकोगे कि यह [illegible] नहीं है जैसा देख रहे हो। यह है वैसा ही जैसा तुम दे[illegible]

नहीं, अनुभव करोगे अपने को यदि कल से आज तुम अधिक पवित्र नहीं किन्तु गन्दे देख रहे हो तो चिन्ता न करो वल्कि अधिक खुश हो और समझो कि अब हम अच्छे होने लगे तभी हमें गन्दगी दीख रही है साथ में कोई साफ वस्तु भी देख चुके हैं। नहीं गन्दगी का पता ही न पड़ता। परन्तु उनके मिटाने में शक्ति का अपव्यय न करो क्योंकि वह कुछ नहीं है वह केवल स्वच्छ वस्तु का दर्शन कराने के लिये है। केवल अपने में दिव्यता का दर्शन करो, पवित्रता, महानता, अमरता का दर्शन करो, विरोधी तत्त्व केवल प्रतीति मात्र हैं। यह आपकी समझ में आ जायगा और यह खराबियां अच्छाइयों की पूरक मात्र हैं। यह भी देख लोगे और कमियों का कोई अस्तित्व ही न रहेगा। यदि कल की अपेक्षा आज के आनन्द में जीवन में सूक्ष्मता, दिव्यता, स्थिरता, विशेषता नहीं दीखती तो तुमने भले ही गीता रामायण का अध्ययन किया हो बड़े किसी महात्मा के शिष्य हो। चाहे आपने कितने ही बड़े-बड़े महात्माओं का सत्संग किया हो, कितनी योग साधनायें की हों पर आप खड़े वहीं हैं जहाँ पहले थे। उन्हीं विषयों में और उसी संसार में हैं। आप सोचेंगे कि कोई-कोई दूसरे संसार में चले जाते होंगे पर ऐसा नहीं है। स्वर्ग आदि में नहीं जाते। यही संसार बदल जाता है। जिसमें तुम्हें कल सुख मिला था यदि आज उसी में मिल रहा है तो या तो वह पूर्ण सत्य ही होगा या तुम भ्रम में पड़े हो जिसे तुम्हें दूर ही करना होगा। यदि कल से आज सत्संग में अधिक रुचि है, यदि कल की अपेक्षा आज अध्यात्म विचारों में अधिक रुचि है तो विकास समझो, कुछ मिला है। यदि पहले की अपेक्षा समझ में सरलता है तो प्रगति समझो। यदि कल की अपेक्षा आज तुम्हारा जीवन ठोस और अधिक ठोस और तब भी फूल के सदृश सुन्दर हलका और आकर्षक है तो सत्संग का अवश्य लाभ हुआ समझो। यदि सत्संग में भी आकर जीवन भार, संसार दुःखद, मन अशान्त और विषय ही सुख कर लगते हैं, तो बौद्धिक कसरत हो रही है सत्संग नहीं।

यदि परलोक की अपेक्षा इस लोक में, पूर्व जन्म की अपेक्षा इस जन्म में, पूर्व युगों की अपेक्षा इस युग में वचपन की अपेक्षा जवानी में, जवानी की अपेक्षा बुढ़ापे में, पर साल की अपेक्षा इस साल, कल की अपेक्षा आज, आज की अपेक्षा अब अपने को दुःखी नहीं, दीन नहीं देखते। हाय-हाय नहीं करते। इससे तो पहले ही अच्छा था ऐसा कह-कह कर नहीं रोते हो, किन्तु इसके विपरीत दिनों दिन प्रसन्न हो शुद्ध हो तो अवश्य आन्तरिक विकास का सूत्र मिल गया आप सच्चे आध्यात्मिक पुरुष हो सच्चे सुधारक हो। क्योंकि बचपन की अपेक्षा बुढ़ापे में वही सुखी होगा जिसका आन्तरिक विकास होगा भौतिक पदार्थों से असम्भव है। चाहे राम् शिव कृष्ण नाम की मालायें भले ही न घुमाई हों पर तुम अवश्य घूम गये। तुम भले ही सब तीर्थों में न गये हो पर सब तीर्थ तुम्हारे पास अवश्य आ गये। और तुमने गीता रामायण भले न पढ़ी हो वेद न पढ़े हों पर वह तुम्हें ही पढ़ रहे हैं यह देख लोगे। इतना ही नहीं तुम सब कुछ देख लोगे। यदि इसके विपरीत पूर्व की अपेक्षा अब रोते हो अधिक कुढ़ते हो जीवन भार जीवन मरण से भी अधिक दुःखद लगता है संसार बन्धन है तो तुम प्रकाश में नहीं अंधकार में जा रहे हो सूक्ष्म से स्थूल में जा रहे हो अध्यात्म से भौतिकता की गोद में प्रपञ्च में जा रहे हो। सतसंग में नहीं कुसंग में पड़ गये। तुम्हें चाहिए यदि कल विषयासक्त थे तो आज विरक्त हो यदि विषय सुख ले रहे थे तो आज इन्द्रिय संयम का सुख लो। यदि इन्द्रिय संयम का सुख मिल गया है। सही में मिल गया है। तो अब आत्मानन्द का ही अनुभव करो यही परमानन्द में विलीन होने का सहज उपाय है।

यदि कल तक समय शक्ति धन पदार्थों के दुरुपयोग में सुख ले रहे थे तो अब समय शक्ति धनादि के सदुपयोग का सुख लो जो बुद्धि शक्ति व्यसनों में भोग की पूर्ति में लगाते थे वह शुभ चिन्तन में लगाओ यदि आत्मानुभूति चाहते/हो, यही है सुगम पथ यदि यह साधना चलती रही तो अभी-अभी देखोगे कि यह सब आत्मा ही है जिसे अभी नाशी और संसार कहते थे।

अपने असली रंग में आजा

श्री स्वामी प्रेमानन्द, एम० ए०, जालन्धर

मेरी बन्दगी का कसूर था जिसने बन्दा मुझे बना दिया।
मैं अपने आप से था बेखबर जो मैंने सिर को झुका दिया॥
था शक का पर्दा जो दरम्यां कुछ न पाया तेरा निशां।
मुझे क्यों यकीं पे यकीं न हो मुझे जिसने तुझसे मिला दिया॥

अगर सच देखा जाय तो ऐ इन्सान तेरे और उसके बीच में यदि कोई दूरी है अगर कोई पर्दा है तो शक का ही है। यह शक कि वह तुझसे दूर है यह शक कि तू मजबूर है यह शक कि उसको मिलने के लिए तुझे कुछ करना पड़ेगा या कहीं जाना पड़ेगा। यह शक ही तो जुदाई की दीवार बन रहा है और सत्य तो यह है कि जब तू उसको जुदा मान रहा है जब तू अपने आप को भिखारी, दीन और दुखी समझ कर परेशान हो रहा है तब भी तेरे से दूर नहीं और फिर दूर होगा कौन? कोई तेरे से अलग हो तभी न कोई तेरे से जुदा हो तब न; जब तू वही है, तब यह दूरी का शक, यह जुदाई का ग़म, यह इन्तजार की घड़ियां, यह सब क्यों? यह बेचैनी और परेशानी क्यों?

मैं तो सदा वासले हक था न जाना ख़ाबे ग़फलत में।
तू ही है, तू ही है, आवाज़ा साकी ने लगाया है॥

तू तो सदा ही उससे मिला हुआ था, मिला हुआ है और मिला रहेगा लेकिन आलस्य की नींद में, भ्रम की नींद में तू अपने आप को जान नहीं रहा। जब वेदान्त टंकार से कहता है कि तू वही है, तू वही है, तू वही है, तू जाग ए इन्सान और देख कि यह जितनी परेशानी तुझको हो रही है यह अपने आपको न जानने से और अपने आपको वह मान लेने से जो तू है नहीं।
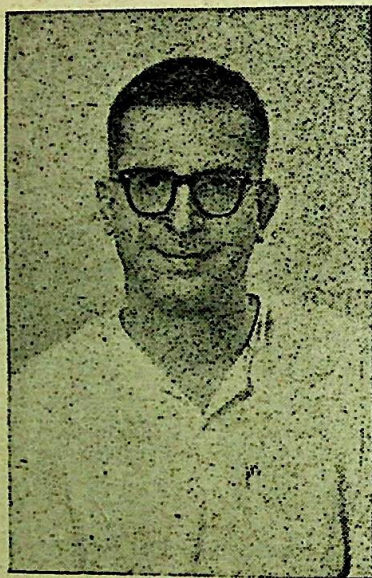
"तेरी जात वही जो मालिक की,
तेरी बात वही जो मालिक की।
ओ बन्दे कैसे भूल गया,
औकात वही जो मालिक की॥
भूल के परस्तिश हक की ओर,
लाश पुजारी बन बैठा तू क्या।
अजब हालत बना दी तूने अपनी,
क्या रूप से कुरूप कर दिया॥"

अपनी कीमत को इतना घटा दिया कि जिन पदार्थों की कीमत तेरे से थी उन पदार्थों से तू अपनी कीमत मानने लगा। यह धन दौलत, यह ओहदे अधिकार यह वह सब जिनका वैभव तेरे रहने से था तू इनकी चमक में अपनी चमक को खो बैठा इनकी दमक से अपनी दमक मानने लगा जिन पदार्थों को तेरे जीवन से रोशनी मिलती थी उन पदार्थों से तू अपने जीवन को रोशन मानने लगा। मकान इसलिए बना कि तू था लेकिन

मकान बन कर तू अपने आपको मकान वाला मानने लगा और मकान के न- रहने पर अपने आपको उजड़ा बरबाद मानने लगा और इन पदार्थों को पाकर अभिमान में आ गया।

भूल इबादत हक की जब लाश की परस्तिश होने लगी,
बिलख उठी यह ज़िन्दगी तेरी और खून के आंसू रोने लगी।
दिल ग़म की रौं में डूब गया, और घर में अँधेरा छा गया,
यह ज़िन्दगी सस्ती बिकने लगी इन्सान में तकुब्बर आ गया॥

और इस अभिमान के कारण तेरी आंखों पे ऐसा पर्दा पड़ा कि जहां तुझे सुख मिला वहां मोह कर बैठा, जहाँ से दु:खी हुआ वहां द्रोह कर बैठा जहां कामना पूरी हुई वहां लोभी हो गया, जहां कामना पूरी न हुई वहां क्रोधी हो गया। इस मोह जाल में फँसा हुआ द्रोह की आग में जलता रहा। वासनायें नचाती रहीं और तू मचलता रहा।

किसी को अपना मान बैठा किसी को गै़र जान लिया।
किसी को दोस्त समझा तूने किसी को दुश्मन मान लिया॥

कहीं ज़ात के झगड़े बना बैठा, कहीं पात के फन्दे में फँसा कहीं मज़हब के नाम पर गला कटा, कहीं भाषा के झगड़ों में मानवता तक को भूल गया। उठ अब भी होश में आ, बिगड़ी हुई तस्वीर बना ले, उलझी हुई तकदीर सुलझा ले, अपने घर को वापिस आ, जो तू है अपने आपको जान इस एकता को पहिचान सबमें अपना आप देख तेरी ही तस्वीर सबमें झलक रही है।

दुई की जड़ जब से काट कर गिराई हैं,
जिधर देखता हूं सनम सूरत दिखाई है।
गुलशन में जाकर हर गुल को मैंने सूँघा,
हर फूल में मुझे खुशबू ओउम् की ही आई हैं॥

इस एकता को जानते ही, अपने आप को पहिचानते ही तेरे यह ग़म के बादल छँट जायेंगे, चिन्ता की चिता बन जायगी, जुदाई खुदाई में बदलेगी, खुदी में खुदा दिखेगा। शर्त यह है कि जो कुछ तू अपने आपको मान रहा है, जो शक की दीवार खड़ी कर दी है तूने इसको एक ही विश्वास के झटके से गिरा दे फिर जो कुछ बनने से पहले मानने से पहले जो तू है वही रह जायेगा और तू वही है, फिर किसी से कैसी नफरत; कैसी जुदाई; फिर तो वही हाल होगा।

हमें देखो क्या से क्या हो गए हैं,
मर्ज़ से गर्ज़ अब दवा हो गए हैं।
नहीं इसमें शक मेरी जान प्यारे,
पहले बाखुदा थे अब खुदा हो गये हैं॥

इसलिए वेदान्त की इस टंकार को, इस गर्ज को सुन। अपनी तस्वीर को इतना साफ कर कि तू खुद ही उस पर शैदा हो जाय। जब तक तुझे अपनी तस्वीर ही पसन्द न होगी जब तक तू यही न पहिचानेगा कि तेरी इस बनी हुई तस्वीर में कितने सुन्दर रंग भरे हुए हैं कि इस हर रंग में दिलवर का रंग दिखाई पड़ता हैं तब तक तू इस तस्वीर को कच्चे रंगों से भरता रहेगा और जब वह रंग उतरेंगें और उतरेंगें वह जरूर तो तू आंसू बहाता रहेगा। आजा प्यारे अपने असली रंग में आजा। वही रंग तेरा सुन्दर रंग है। वह रंग तेरा दिलवर का रंग है, प्रीतम का रंग है और इस असली रंग में आकर रंग ले इस ज़िन्दगी को जो बहुत अनमोल है ताकि ज़िन्दगी में ज़िन्दगी आ जाय और मौत को मौत मिले।

★

अखण्डवचनामृतम्

हमें आत्मा की प्राप्ति नहीं करनी है। प्राप्ति तब की जाय जब कि आत्मा प्राप्त न हो। आत्मा है और आत्मा मैं हूं, अविनाशी हूं, अजर हूं, अमर हूं,। यह नहीं कि हमें भगवान् से मिलना है। हमसे भगवान् जुदा हो तो खोज करने जायं। मैं में यह ताकत नहीं कि वह जुदा हो जाय। अगर वह जुदा हो जाय तो उसका नाश हो जायगा। आत्मा की प्राप्ति जब करोगे तो तुम कौन हो जो आत्मा की प्राप्ति करोगे। आत्मा से हम जुदा हों तो करें। आत्मा खुद ही खुद है। परमात्मा, परमेश्वर, हैं, हम खुद हैं। प्राप्ति प्राप्त वस्तु की नहीं की जाती। आत्मा हमें प्राप्त नहीं करना है। आत्मा से भिन्न कोई दूसरी आत्मा नहीं है। आत्मा वह है जो सबमें होकर सबका मैं है। आत्मा की प्राप्ति करते हो तो अनात्मा की प्राप्ति करते हो। जो सर्व की गवाह दे रहा है, सबको जान रहा है उसको कैसे जान सकते हो ?

* * *

लोग कहते हैं कि महाराज! मेरा मन चला गया। किसने देखा कि वह चला गया। किसने देखा, वह तुमने देखा। देखकर कहते हो या बिना देखे। फिर कहते हो मन स्थिर नहीं, हमारा मन शान्त नहीं है। फिर बताओ मन कहां गया। ऐसी कोई जगह है जहाँ मन चला गया हो। मन के चले जाने के देखनेवाले तुम हो। मन में तुम हो, कार्य में कर्म में तुम हो, सबमें तुम हो इसलिये तुम्हारा नाम भगवान् है। जो सबका मैं मैं न हो तो नाशी हो जाय।

* * *

भगवान् हमारी आत्मा है। देखो, अध्यारोप तुम्हीं ने किया है कि ईश्वर है। देवी, देवता सब तुम्हारे बनाए हुए हैं। जितने भगवान् देवियों वाले हैं वे सब अलग-अलग हैं। ईश्वर ने माया रूपी ईश्वरानी से जगत् बनाया। यह जगत् माया से बना। जितने मतवादी हैं ये पहले देवियों का नाम लेते हैं फिर देवता का नाम लेते हैं। जितने देवता हैं सब देवियों वाले हैं और यह सब तुम्हीं से हुए हैं। भगवान् वह है जो सबमें होकर सबको प्रकाशता है, यह देवी वाला नहीं। इसीलिये भगवान् है। माया वाले माया को त्याग दें तो भगवान् का नाम ही न रहेगा। भगवान् सबमें हैं, उसे ढूंढ़ने कहीं जाना नहीं है। भगवान् हमारे में हैं। भगवान् हमारी आत्मा है, इसलिये भगवान् की गवाह कौन दे ? कथा सुनाने वाले कहते हैं कि यह सब न कहो। अपना बनाने के लिये कहते हैं कि यह सब न कहो। अपना बनाने के लिये कहते हैं कि 'सोऽहम्' न कहो, 'शिवोऽहम्' न कहो, यह अभिमान है। तो बताओ क्या कहें ? जिससे अभिमान न हो। यह यथार्थ ज्ञान है, इसी का नाम भगवान् है।

* * *

सर्व का मूल आत्मा है। सर्व जिस पर ठहरा, भास रहा है, जानने में आ रहा है। सब में न हो तो सबको देखें कैसे ? गवाही कैसे दें ? जिससे वह स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और ब्रह्माण्ड यह सब देखा जाता है, जो सब में होकर सबको जानता है, जिसमें पिण्ड और ब्रह्माण्ड हैं, यह सर्व का आत्मा परमात्मा है और हम परमात्मा की आत्मा हैं।

* * *

विचार करो, यह शरीर मैं नहीं हूं, शरीर मेरा नहीं है, मैं अजय, अमर, अखण्ड हूं, सच्चिदानन्द स्वरूप हूं। काल, देश, वस्तु से नहीं इसलिए अनन्त हूं, अच्छेद्य हूं। इस तत्व को न जानकर हम मनमानी बातें व [illegible] करते हैं कि कोई अधिष्ठान है परमात्मा हैं। तुम्हारा आत्मा परमात्मा गवाही दे रहा है कि यह अच्छा है बुरा है, यही भगवान् है।

परम जिज्ञासा

श्री पं० सूरजचन्द 'सत्य प्रेमी' (डाँगी जी), राजस्थान

यह विश्व कहां से आया ?
किसने इस अनन्त अभिनय का चलता चित्र बनाया।
यह विश्व कहां से आया ?

हास करुण वीभत्स भयानक शान्त वीर शृंगार।
अद्भुत आदिक विविध रसों का है यह पारावार ॥
कहीं आरम्भ कहीं अवसान, कहीं उच्छ्वास कहीं मुस्कान।
कहीं अभिशाप कहीं वरदान, कहीं अपराध कहीं अहसान ॥
इस नाटक के सूत्रधार का हमने पता न पाया ॥
यह विश्व कहां से आया ?

खोजत-खोजत ऋषि मुनि हारे, हारे बुद्ध रसूल।
तीर्थंकर पैगम्बर हारे, पर न किसी की भूल ॥
हार भी यहाँ विजय का मान, इसी से हारे वेद कुरान।
सभी धीमान बने अनजान, सृष्टि का लगा न अनुसंधान ॥
क्या है तत्व महान, याकि भगवान, सत्य की माया।
यह विश्व कहां से आया ?

स्थावर जंगम जड़ चेतन में क्या है मौलिक भेद।
भेद हुए तो क्या कारण था ? यहाँ मौन हैं वेद ॥
इधर तो सत्य ब्रह्म की तान, उधर फिर नेति नेति का गान।
पड़े दुविधा में बुद्धि निधान, कहें क्या सभी बने अज्ञान ॥
पर बन कर अज्ञान यहाँ पर पाया ज्ञान सवाया।
यह विश्व कहाँ से आया ?

निराकार सर्वाकृति धारी निर्गुण सब गुण खान।
पिण्ड और ब्रह्माण्ड उसी की लीला का सामान ॥
हुआ सबको इतना ही भान, मिला बस अलख अनादि निशान।
बुद्धि की पंगु हुई पहिचान, मिटा सब तर्कों का अभिमान।
जिनकी जितनी उड़ी कल्पना बता गये मनभाया ॥
यह विश्व कहाँ से आया ?

जिसके अणु-अणु में बसते हैं कोटि-कोटि संसार।
छोटे से जन जन्तु कहीं पा सकते उसका पार ॥
किन्तु कहलाते मनु सन्तान खोजना रही सदा की ठान।
बुद्धि की कैसे खो दें शान मिटा दें क्यों मन के अरमान ॥
ढूंढ निकालें कब किसने क्यों सूर्य चन्द चमकाया।
यह विश्व कहाँ से आया ?
किसने इस अनन्त अभिनय का चलता चित्र बनाया।
यह विश्व कहाँ से आया ?

★

प्रक्षेपणास्त्र-युग और अध्यात्म-ज्ञान

श्री प्रेम चन्द्र मिश्र, एम० ए०, इटावा

इस भौतिक जगत का एकमात्र नियम योग्य-तम की विजय (Survival of the fittest) रहा है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और बौद्धिक क्षेत्र इसी नियम की क्रीडास्थली रहे हैं। प्रगति के साथ—साथ प्रकृति क्रीडा भी योग्यों द्वारा ही क्रीड़ित हुई हैं। जिस प्रकार जीवन संघर्ष (Struggle for existence) में बड़ी मत्सिका छोटी मत्सिका ग्रसण करना चाहती हैं, उसी प्रकार मानव-जगत में भी ऐसी पशुतुल्य दानवी प्रवृत्ति रही है। प्रगति की होड़ में अधिक बुद्धि वाला कम बुद्धि वाले पर, बड़ा धनी कम धन वाले पर और शक्तिशाली पहलवान कम शक्ति वाले पहलवान पर विजयी होता रहा है। इस प्रगति की होड़ में मानव द्वारा मानवता की पराजय में अनेक कारणों का हाथ रहा है। सर्वप्रथम इस क्षेत्र में मानव की कभी तृप्त न होने वाली मुमुक्षा एवं महात्वाकांक्षा को स्थान दिया जा सकता है, जिससे वह अपने को सबसे श्रेष्ठ देखना चाहता हैं और इसी से मानव के हृदय अंतस में दानवी प्रवृत्ति अंकुरित होकर उद्भव और विकास का मार्ग ढूंढती हैं। राजनैतिक क्षेत्र में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का विकास फूटी आखों भी नहीं देख सकता।

प्रगति की होड़ में बड़ी—बड़ी भीषण तैयारियाँ होती हैं और नैतिक अनैतिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग होता है। समाज की सामयिक आवश्यकता पूर्ति की ओर ध्यान न देकर दूसरे को नीचा दिखाना और अपने को उन्नत शिखर पर बैठा देखना ही एक मात्र ध्येय रह जाता है। इस हेतु सैन्य—शक्ति, परमाणु-शक्ति की बड़ी भीषण तैयारियाँ होती हैं, जो मानवता के लिये काल का निमंत्रण देने वाली और इस विराट् जगतीतल को श्मशान भूमि में परिणत करने में समर्थ सिद्ध होती हैं।

प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों की भयावनी नग्न चित्रलेखा मानव हृदय में दहन एवं कम्पन पैदा करती है, जिसमें ऐसे अस्त्र—शस्त्रों का निर्माण हुआ जो इस मेदिनी के सौंदर्य को पलमात्र में एक विराट् श्मशान भूमि में परिणत करने में सक्षम हैं। और युद्ध के पश्चात्वर्ती काल में भी अनेक प्रक्षेपणास्त्रों का निर्माण हुआ, जिनके विध्वंसकारी सामर्थ्य को सोचकर मानवता आतंकित हो उठती है। अणुबमों, उद्जनबमों तथा अंतर्देशीय प्रक्षेपणास्त्रों के युग में इतना तो सुनिश्चित है कि यदि युद्ध छिड़ गया तो विजित और विजेता का प्रश्न ही न उठेगा, इस वसुमती से मानवता कम से कम हमेशा के लिये मिट जाएगी। महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के हेतु मानव ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की है वहां उसके हृदय में युगों से सुषुप्त दानवी प्रकृति भी जाग उठी और उसने हिंसात्मक एवं विध्वंसकारी शस्त्रास्त्रों का निर्माण करना आरम्भ कर दिया। आज विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र एक दूसरे को एक क्षण में मिट्टी में मिलाने के लिये उद्यत बैठे हैं, मानवता भयभीत होकर काँप रही है और त्राण चाहती है।

जापान देश के हीरोशिमा और नागासाकी जो विश्व के सुन्दरतम सर्ववैभव पूर्ण शहर थे। जिनकी अन्तरिक्ष को चुम्बन करने वाली रजतमयी अट्टालिकाएँ, पावन बसंती छटा वाले उद्यान जहाँ शीतल—मंद—सुगन्ध समीर के झकोरे सदैव लगा करते थे, कोयलों की मधुर बोली और मयूरों की कर्णप्रिय कुहुक से सम्पूर्ण व्योम मण्डल को एक अपूर्व आनन्द की लहर से सराबोर करती रहती थी, झर—झर करने वाले झरने, उत्ताल तरंगों वाली झीलें एवं प्रकृति की अवर्णित सौम्य छटा एक क्षण में विलीन हो गई, और वहाँ के कण—कण में विध्वंसकारी विनाशकारी एवं भयावने अस्त्र—शस्त्रों का विध्वंसक नर्तन झलक—झलक पड़ता है। हीरोशिमा का

वैभव, मृत्यु के भयावने दृश्य आज भी मानवता के कलंक हैं। वह सन् १९४५ की ६ अगस्त और ९ अगस्त का शंकर के त्रिनेत्र खोलकर तांडव नृत्य की भांति भयावना एवं मनहूस दृश्य मानव हृदय गाथा से अवर्णित हैं। इन अलकापुरी के यक्षों की सुसज्जित नगरी की छटा वाले हीरोशिया और नागाशाकी में प्रक्षेपणास्त्र के एकही अक्रोश से ७८००० और ७६००० जनजाति एकदम मृत्यु देवी की गोद में चिरकाल के लिए शयन कर गई फिर और प्राणियों का कहना ही क्या। भैरव के इस प्रलयकारी तांडव नृत्य में जो जो राग अलपे थे वे रेडियमधर्मीधूल से तुलना करने योग्य हैं, जिससे आज भी मानव जाति प्रक्षेपणास्त्र के प्रभावित क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो पाई है और वहां के समीपवर्ती क्षेत्र में मानव संतति अपंग्व, नानारोगों से युक्त, व्यथाओं को लेकर जन्मित होती है जवान और हृष्ट पुष्ट विश्वमाता के लाल उस प्रक्षेपणास्त्र की विषाक्त वायु की झकोर एवं उस क्षेत्र की सब्जी आदि उत्पन्न वस्तुओं के खाने से असमय में ही काल कवलित हो जाते हैं।

अतः ये दानवी प्रक्षेपणास्त्र आज तो मानवता के भक्षक हैं ही पर आगे आने वाली संतति को भी तरह तरह के कष्ट देने वाले हैं। इन दानवी काल को दावत देने वाले अस्त्र-शस्त्रों का विशाल भंडार संसार के एक दूसरे के खून की प्यासी शक्तियों के पास एकत्रित हैं, जिसके विध्वंसकारी सामर्थ्य को अनुमान से कह सकते हैं कि एक निमिष में सारा ब्रह्माण्ड डोल जाये और टूक टूक होकर रसातल में समा जाय। प्रकृति की यह संपदा, ब्रह्मा के सुन्दर गुड्डे गुड़ियाँ, आकाश की सुन्दर नीलिमा इन शक्तियों के एकही अक्रोश में नष्ट हो जावें। दानवता के इन जीवित राक्षसों की, जिनकी संख्या और शक्ति मानव ही बढ़ा रहा हैं के शांति पूर्ण प्रयोग के लिये तृषित मानव की अंतरात्मा पुकार पुकार कर अपील कर रही है। आज मानव ईर्ष्या और द्वेष की इस स्वनिर्मित अग्नि में जलने की अपेक्षा सुख से रहना चाहता है, "Live and to let live other" 'जीओ और जीने दो' की बात चाहता है। इसलिए आज संसार के कोने कोने से शस्त्रों की होड के विरुद्ध आवाज़ बुलंद होने लगी है, निशस्त्रीकरण पर जोर दिया जाने लगा है, परमाणु परीक्षण पर रोक लगाने और उनके मानवो उपयोग के लिये निरंतर यत्न किए जा रहे हैं।

अब देखना यह है कि इन भैरवी विध्वंस के रोकने में मानव को कहाँ तक और कैसे सफलता मिल सकती है। उपरोक्त परिस्थिति से निराकरण पाने तथा इस जगतीतल को तृतीय महायुद्ध की लपटों से बचाने के लिये हमें वेदों की सिंह गर्जना—

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" (ऋग्वेद) के आदर्श का अनुशीलन करना होगा। वेद भगवान् के इस आदर्श की देशना इस प्रकार है कि, "मनुष्यों को एक साथ चलना चाहिए, एक साथ बोलना चाहिये और एक दूसरे के मन को अच्छी तरह समझना चाहिए" यदि इस उक्ति को व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ न किया गया तो यह तो अनुभव सिद्ध है कि शस्त्रों की यह प्रतियोगिता समस्त मानव समाज के लिये मृत्यु का निमंत्रण है और जो अपार धन राशि इन राक्षसों पर व्यय की जाती रही, तो संसार से भुखमरी और बदनीयता का का उन्मूलन दुराशा मात्र है। यही मानवता और मानवता के सजग प्रहरियों एवं ठेकेदारों, सभ्य एवं विकसित राष्ट्रों का पुनीत कर्तव्य है कि एक बार फिर इस ईर्ष्या-द्वेष से भभकती भट्टी के मानिंद वसुन्धरा पर रामराज्य को लाया जाय। जिससे रामराज्य की तरह "दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य कहुहि नहिं व्यापा"। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापों का कोई भी शिकार न बने।

> जो कुछ भी बुद्धि के द्वारा सोचा गया है वह सीमित है। इसलिए, 'पूर्ण ब्रह्म को जानना' इसका स्वयं में विरोध है। यही कारण है कि इस प्रश्न का समाधान आज तक नहीं हो सका। जाना हुआ ईश्वर ईश्वर नहीं हो सकता, वह हम लोगों की तरह ही सीमित हो जायगा। वह जाना नहीं जा सकता, वह हमेशा न जानने योग्य एक ही है।
>
> —स्वामी विवेकानन्द

उपर्युक्त मूर्धन्य आदर्श की वेदी पर विश्व—माता के अनेक लालों ने अपने जीवन को न्योछावर एवं कुर्बान किया। इसी रामराज्य की प्राप्ति हेतु महाराजा हरिश्चन्द्र डोम के घर बिके पर सत्य को न छोड़ा, वे मानव समाज को सत्य का पाठ पढ़ा गये "चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत् व्यवहार। पै दृढ़ श्री हरिचन्द को टरै न सत्य विचार॥" दधीचि ने हड्डियों का दान दिया, मंसूर "अनलहक्क, अनलहक्क" का ढिंढोरा पीटते हुये शूली पर चढ़े, मीरा ने विषपान किया, ईसा को अंगच्छेदन कर शूली पर चढ़ाया गया; सुकरात और दयानन्द को विष के घूंट पीने पड़े, गांधी जी को भी गोली का निशाना बनाया गया, और आधुनिक विश्व नौका के मुख्य नाविकों में सर जॉन कनेडी जो पिछड़ी हुई और तिरस्कृत नीग्रो जाति को समकक्षता का स्तर प्रदान करने के हिमायती थे, को भी गोली का शिकार बनना पड़ा और पंचशील के द्वारा इस वसुमती पर रामराज्य लाने के हिमायती नेहरू और चाऊ को भी अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा, श्री विनोबा भावे रात दिन इसी लक्ष्य प्राप्ति हेतु एक कर रहे हैं।

दर्शन का लक्ष्य भी यही हैं कि मनुष्य जाति का दुःख मिटे और उसे सुख मिले "The end of human life is happiness and happiness consists in the acquisition of pleasure and avoidance of pain" उस सुख की प्राप्ति के लिए संकुचित दायरे को छोड़कर विश्वव्यापी विस्तृत दायरे में आना पड़ेगा और "अयं निजा परोवेति' के संकुचित दृष्टिकोण (Narrow-outlook) को छोड़ "वसुधैव कुटुम्बकम्" (Universal brothenhood, Cosmopolitan-outlook) के विस्तृत दायरे में पदार्पण करना होगा। हमारा दर्शन इस बात में एक कदम, एक सीढ़ी और आगे की बात कहता हैः—

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्" ॥

अर्थात् 'कुल की भलाई के लिए एक व्यक्ति के हित को छोड़ देना चाहिए, ग्राम की भलाई के लिए परिवार के हित को छोड़ देना चाहिये, जिले एवं प्रान्त की भलाई के लिए गांव के हित को छोड़ देना चाहिए और आत्मा के हित के लिए पृथ्वी भी छोड़नी पड़े तो छोड़ देनी चाहिए'। यहाँ उत्तर—उत्तर वाले के हित को अधिक महत्व दिया है। हमें इसी भावना से ओतप्रोत होकर परम शुभ (Summum bonum) को प्राप्त करना हैं। इसी भावना को अपने जीवन में उतार कर श्री शंकराचार्य जी ने कहा था कि, "धन्योऽस्ति को यस्तु परोपकारी" वह धन्य हैं जो कि परोपकार में रत है। और सत्य वही हैं जिसमें प्राणिमात्र का हित हो "सत्यं हि किं भूतहितं सदैव"। ऋषि-प्रणीत ग्रंथों के अवलोकन से सभी शास्त्र इस परोपकारी भावना (Philanthropic-outlook) से ओतप्रोत मिलते हैं। जैसेः—

"न तत्त्ववचनं सत्यं ना तत्त्ववचनं मृषा।
यद्भूतहितमत्यन्तं मेतत् सत्यं मतं मम्॥

अर्थात् सत्य वही हैं जिसमें प्राणिमात्र का अत्यन्त हित संपादन हो। जो मानव प्राणिमात्र के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है उसकी शास्त्रों ने भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये सहस्त्रों साधुवाद दिये हैं उदाहरणार्थ "स्वार्थो यस्य परार्थं एव स पुमानेकः सतःमग्रणीः" अर्थात् स्वार्थ ही जिस मनुष्य का परार्थ हो वह सौ मनुष्यों में पहले गणनीय है। इसी आदर्श को तुलसीदास जी ने भी बड़े सुन्दर शब्द पुष्पों में चुना है—"परहित सरि

> जो आवश्यक समझ में आता है उसी के अनुकूल वुद्धि बन जाती है और धीरे—धीरे वह इसी प्रकार रहना सीख लेता है। इसी प्रकार समाज का मस्तिष्क भी सिखाया जा सकता है जिससे वह परम्परागत विचारों को या विरोधी विचारों को ग्रहण करे। वास्तव में ये दोनों ही आवश्यकता, आशा, भय, आराम और शक्ति की कामना के ही फल हैं।
>
> —जे० कृष्णमूर्ति

धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई" । हमारे यहाँ के सभी ऋषियों ने अपने हित से दूसरे के हित को अधिक महत्व दिया हैं । एक विद्वान ने पाराशर नन्दन व्यासकृत अठारह पुराणों का सारभूत अर्थ दो शब्दों में कहा हैः—

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥

यानी परोपकार ही पुण्य हैं और परपीड़न ही पाप हैं । कुछ लोग आज भी यह मानते हैं कि 'Service to man is service to god" मानव की सेवा ही ईश्वर की सेवा है ।

यदि उपर्युक्त आदर्श प्राप्त न करो तो कम से कम अपना हित संपादन करते हुए दूसरे के हित में बाधा न बनिए । अंग्रेजी दार्शनिक जॉन लाक (Locke) कहता है कि "तुम दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो, जिसकी तुम दूसरों से अपने प्रति आशा रखते हो" उदाहरणस्वरूप कह सकते हैं कि यदि किसी की गाली आपको बुरी लगती है तो आप भी किसी को गाली न दें । यही नैतिक शासन की रूपरेखा है । भारतीय मनीषी इस बात को इस प्रकार कहते हैं कि—

"श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

मानव को आत्मा के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए । इसी नैतिक मार्ग के आरोही बन बुद्ध ने इसी पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना की थी तथा उनके उच्च सिद्धान्तों का अनुशीलन कर अशोक जैसे महान् सम्राट् ने सत्य और अहिंसा द्वारा ४० वर्ष तक शांति-पूर्वक शासन किया ।

यदि मानव आत्मानुकूल आचरण करने लगे तो यदि धर्म और ईश्वर को नहीं भी माने तो भी परम लक्ष्य तक पहुंच सकता है । गांधी जी के पास केवल सत्य और अहिंसा ही दो अस्त्र थे जिनके सामने 'कभी सूर्य न अस्त होने वाले ब्रिटिश साम्राज्य' को घुटने टेक देने पड़े । उनके अन्दर आत्मा की अपूर्व शक्ति थी । आत्मानुकूल कर्मों के आचरण से मनुष्य तपस्या, शास्त्रारण्य और ईश्वरविषयक किसी भी वाद विवाद में बिना फँसे मंजिले मकसूद पर पहुंच सकता हैं । 'कर्म का रहस्य' नामक शीर्षक में स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि "आत्मानुकूल आचरण करने से मनुष्य वही प्राप्त कर सकता जिसे बुद्ध ने भीषण तपस्या के द्वारा तथा ईशा ने प्रार्थना द्वारा पाया था ।" कार्लाइल, एक पाश्चात्य दार्शनिक कर्म के रहस्य का वर्णन करते हुए कहता है कि "Work is worship" यानी काम ही पूजा है । कर्म एक सुनहरी निश्रेणी (सीढ़ी) हैं जो आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर करती है । यही बात रस्किन (Ruskin) ने अपने 'Unto this Last' में निम्न प्रकार कही है कि—

The welfare of individual lies in the weal of all; the job of a barber is as valuable as that of a lawyer, because each has equal right by making a living by dint of industry."

"जो कर्म करते हुए अपने मस्तिष्क को प्रशान्त रख सकता है, और जो, जब कि कोई वाह्य कार्य नहीं भी करता है, फिर भी उसमें ब्रह्म के चिंतन की धारा सक्रियता पूर्वक प्रवाहित होती है, वही मनुष्यों में प्रज्ञावान है, वही वास्तव में योगी है, वही वास्तव में पूर्ण कर्मठ है"—।
—स्वामी विवेकानन्द

अर्थात् व्यष्टि का हित समष्टि के हित में है, नाई का कार्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि एक वकील का क्योंकि प्रत्येक को परिश्रम द्वारा जीवन-यापन करने का अधिकार है । इन शब्दों का गाँधी जी पर बड़ा ही मंत्रमुग्धकारी प्रभाव पड़ा और उन्होंने सर्वोदय के विशाल भवन को भावना की नीव पर खड़ा किया है, और कर्म का लक्ष्य भारतवासियों को बताया है कि—"India is essentially a Karmabhumi (land of duty) in contradistinction to a Bhogbhumi (land of enjoyment) भारत एक कर्मभूमि है, भोगभूमि नहीं है ।

अब प्रश्न उठता है कि कर्म क्या है ? इस पर स्मृति वाक्य इस प्रकार है कि "किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः" क्या कर्म है क्या अकर्म है इस पर बड़े—बड़े पंडित भी मोहित हो जाते हैं। कर्म की गति बड़ी गहन है "गहना कर्मणो गतिः"। इस प्रश्न का समाधान ऊपर हो चुका है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" आत्मा की टंकार के विरुद्ध आचरण न किया जाय। श्रुति भगवती गीता कहती है कि "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" बिना कर्म किये कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता प्रकृति तो उससे डंडा मारकर कर्म करा लेती हैं। शास्त्रों में और भी कहा है कि "नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते" बिना कर्म किये कोई एक मुहूर्त भी नहीं रह सकता। इस लोक में किसी के घड़ी भर के लिए भी कर्म नहीं छूटते। सूर्य चन्द्र भी कर्म बद्ध हैं अतः कर्म ही सृष्टि है और सृष्टि ही कर्म है इसी तरह वन पर्व में द्रोपदी युधिष्ठिर से कहती है कि "अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन।" अर्थात् कर्म के बिना प्राणिमात्र का निर्वाह नहीं।

जब स्वयं भगवान् कृष्ण "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" के लिये कर्म करते हैं तभी महाभारत में कहा है कि "यः क्रियावान् स पण्डितः"। असंगभाव अनासक्ति भाव से कर्म करने से ज्ञान प्राप्त होने पर कर्म अपने आप छूट जाते हैं। जैसा कि लिङ्ग पुराण में कहा है कि—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्"।

ज्ञानामृत पीकर कृतकृत्य हो जाने वाले पुरुष का फिर आगे कोई कर्तव्य नहीं रहता और रह जाय तो वह तत्त्ववित् अर्थात् ज्ञानी नहीं। कर्म से ही सृष्टि अपनी गति में चालित हो रही है। कर्म बंधन का हेतु न होकर मुक्ति प्रदाता हैं। यद्यपि महाभारत में कहा है कि "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्ययातु प्रमुच्यते" यह बात दूसरे ही दृष्टिकोण को लेकर कही गई है। जिन कर्मों से प्राणी बँधता है वे शास्त्र विरुद्ध कर्म हैं। यदि ऐसा अर्थ न लिया जायगा तो विद्या प्राप्ति में भी कर्म ही करना पड़ता हैं, बिना क[illegible] के विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। तभी गीता में क[illegible] हैं कि—

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंङ्गः समाचरः॥"

यहाँ यज्ञ का अर्थ "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् वि[illegible] के लिये कर्म करे तो बंधन का हेतु नहीं होगा। आधु[illegible] युग में भारत के नोबिल पुरष्कार विजेता रवीन्द्रना[illegible] ने अपनी पुस्तक "गीताँजली" में भगवत् प्राप्ति का [illegible] ही सुगम मार्ग दर्शाया है। उनकी शब्द गर्जना इस प्र[illegible] है कि "ईश्वर वहाँ रहता है जहाँ किसान कड़ी धू[illegible] अपनी चोटी का पसीना एड़ी तक बहता है, जहाँ स[illegible] बनाने वाला पत्थर तोड़ता है, वह उनके साथ है जो [illegible] और पानी में कर्म करने से नहीं डिगते, अतः कर्म[illegible] में आइये और ये अपने काषाय वस्त्र फेंकिये। क्या [illegible]

> "अद्वैतवाद और द्वैतवाद सारभूत रूप में एकही हैं, भेद तो कथन में दीखता है। जैसे कि द्वैतवादी कहते हैं कि पिता और पुत्र दो होते हैं, अद्वैतवादी कहते हैं कि वास्तव में वे एकही होते हैं। द्वैत-भाव प्रकृति और स्पष्टीकरण में है, सारूप में अद्वैतवाद ही शुद्ध आध्यात्मिकता है।"
>
> —स्वामी विवेकानन्द

होगी यदि आपके वस्त्र गंदे और धब्बों युक्त हो जा[illegible] यह बात देश काल और परिस्थिति को देखते हु[illegible] ही सुन्दर लगती है। जब तक शरीर रूपी खेत [illegible] द्वारा कसकर अच्छा नहीं बनाया जायगा त[illegible] ज्ञान रूपी बीज उसमें उत्पन्न ही नहीं हो [illegible] शंकराचार्य जी ने भी कर्म की परिभाषा यों [illegible] "किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारे" "कार्याप्रिया कः शि[illegible] भक्ति" अर्थात् कर्म वही है जिसमें शिव और [illegible] भक्ति हो। यह अर्थ गीतोक्त कर्म के अर्थ को [illegible] ही है जहाँ पर कहा गया है कि 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्य[illegible] के अलावा कोई कर्म नहीं है और यज्ञ का अर्थ विष्णु[illegible]

कतिपय विद्वानों का ऐसा भी मत है कि कर्म छोड़कर जंगल में एकाकी और निर्जन रूप से वास किया जाय तो शान्ति मिलेगी पर यह बात देश काल और परिस्थिति के अनुकूल नहीं हैं। आज मानव का उद्देश्य विश्वामित्र बनना नहीं हैं बल्कि राजा जनक बनना हैं जो कि परम ज्ञानी होते हुये भी राज्य करते थे। विश्वामित्र की कई वर्षों की तपस्या पर मेनका (इन्द्र की अप्सरा) ने एक क्षण में पानी फेर दिया। राजर्षि जनक के सम्बन्ध में कहा जाता हैं कि एक बार मिथिलापुरी में आग लगी। यह सूचना जैसे ही जनक जी को मिली तो उन पर कोई उस आग का प्रभाव न पड़ा। लोगों ने कहा आग तो महल के पास आ गई तो राजा जनक उत्तर देते हैं कि हमारी आत्मा, चाहे सारी मिथिलापुरी अग्नि में प्रदग्ध हो जाय, तो भी नहीं प्रदग्ध हो सकती। उनके अंग—अंग से अद्वैत निष्ठा टपकती थी तभी वे जीवनमुक्त और विदेह कह—लाये। अतः पलायनवादी विचारधारा से कभी शान्ति नहीं मिल सकती। इस पलायनवाद से तो पश्चाताप ही विश्वामित्र की तरह हाथ लगेगा। सवाल का उत्तर निकाल कर ही हल हो सकता, इबारत मिटा करके नहीं। यदि मिटाओगे तो फिर कहीं सामने आ गया तो वही परेशानी होगी अतः सवाल हल करके ही उत्तर मिलने पर शान्ति प्राप्त हो सकती है।

अतः जीवन संघर्षमय है और संघर्ष से ही जीवन का मार्ग प्रशस्त होता हैं, जब तक क्रिया प्रतिक्रिया दो चीजों के टकराने से नहीं होगी तब तक तीसरी चीज नहीं हो सकती। जैसे दो हथेलियाँ आपस में टकराने से आवाज होती है। समुद्र में दो लहरों की टक्कर से फेन तैयार होता है। इसी प्रकार जीवन संघर्ष से शान्ति रूपी प्रशम पीयूष प्राप्त करना होगा। जीवन के सुख—दुःख, हर्ष—प्रमर्ष, राग—द्वेष, मान—अपमान, शीत—उष्ण और शत्रु—मित्र आदि द्वंद्वों के बीच का ही मार्ग ढूँढना हैं यही बुद्ध को शिक्षा मिली थी। जिस समय बुद्ध अपने जीवन की भीषण तपस्या में निमग्न थे और मृत्यु के निकट पहुँच गए उस समय कुछ अप्सरायें यह राग अलापती हुई निकलीं कि 'वीणा के तार इतनी जोर मत खींचो कि टूट जायें और इतना ढीला भी मत करो कि स्वर ही न निकले। इसी में बुद्ध को मध्यम मार्ग मिला जिसे "मज्झिमा परिपदा" कहते हैं। अरस्तू ने इसी को (Golden mean) "सुनहरा मध्यवर्ती" मार्ग कहा है। यही गीता में समत्व योग के नाम से अभिहित हैं। ऐसे भीषण काल में जब कि मानवता अपने पथ से विचलित हो रही हो तो उपर्युक्त आदर्शों के पालन से ही त्राण पा सकती है "पद्मपत्र मिवाम्भसा" यानी कीचड़ में रहते हुए कमल के पत्ते की भांति निर्लेप रहने में ही अभीष्ट सिद्धि हैं। चलते हुए रहँट में ही घोड़े को पानी पिलाना होगा। आणविक आयुधों के युग में ही शान्ति प्राप्ति का मार्ग ढूंढ़ना पड़ेगा जिससे ६ और ९ अगस्त १९४५ के दिन पुनः न देखने पड़ें। यदि ये गमगीन और मनहूस दिन पुनः आ गए तो सारी सृष्टि नष्ट—भ्रष्ट और छिन्न—भिन्न हो जायगी। और यदि उपरोक्त आदर्शों का अनुसरण किया गया तो तृतीय महायुद्ध की लपटों में विश्व को झुलसने का मौका न आएगा। यदि ऐसा न होगा तो मानवता का सत्यानाश अवश्यंभावी है।

एतदर्थ मानव को ऐसे कर्म करना होगा जिससे स्वार्थ परमार्थ, इहलौकिक और पारत्रिक सुख मिले। सत्कर्मों से ही देवत्व प्राप्त हो सकता है "ते स्वकर्मणा देवत्वमभिषितं" वेदों में भी कर्म करते हुये अभीष्ट सिद्धि बताई हैं "ईशावास्यमिदं सर्वं" अर्थात् संसार में जो कुछ हैं उसे परमेश्वर से अधिष्ठित करें अर्थात् ऐसा समझें कि मेरा कुछ भी नहीं हैं उसी का हैं और इस निष्काम बुद्धि से—

कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् कर्म करते ही रहकर सौ वर्ष अर्थात् आयुष्य की मर्यादा के अंत तक, जीने की इच्छा रखें एवं ऐसी ईशावास्य बुद्धि से कर्म करेगा तो उन कर्मों का तुझे लेप नहीं लगेगा। इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पाश

डॉ० मुंशीराम शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
संचालक 'वैदिक शोध संस्थान', कानपुर

प्रभु निकट–तम हैं, वे सयुजा और सखा हैं, फिर भी दिखाई नहीं देते, अनुभव में नहीं आते, और जैसे कोई अपरिचित दूरस्थ व्यक्ति सम्पर्क से पृथक् रहता हो वैसे ही वे भी हमसे रहते हैं। अपना होते हुए भी बिराना, निकट होते हुए भी दूर, अन्तर्यामी होते हुए भी प्राप्ति से परे, ऐसा क्यों है ? वेद कहता है, "प्रभु दूर भी है और समीप भी। समीप उनके लिए हैं जिनके पाश भग्न हो चुके हैं। दूर उनके लिए हैं जो पाशों में जकड़े हुए हैं। ये पाश भी दो प्रकार के हैः—यज्ञिय और अयज्ञिय । अयज्ञिय पाशों में तमोगुण एवं रजोगुण से सम्बन्धित दोषों की गणना है। यज्ञिय पाशों में सत्वगुण के बन्धन हैं। जब तक हम इन तीनों पाशों से मुक्त नहीं होते तब तक प्रभु का साक्षात् करने के अधिकारी नहीं हैं। तमोगुण और रजोगुण के बन्धनों को अयज्ञिय पाश कहा गया है क्योंकि इनसे मानव पाप में लिप्त होता है, दुष्कर्म करता है और परिणामतः पतित होता है। अघ जब पीछे पड़ गया तो भद्र, का हस्तगत होना कठिन ही नहीं असम्भव है। भद्र, शुभ या सत् उन्नयन की आधार शिला है। जब तक हम सत्व की स्थिति में नहीं पहुंच पाते तब तक अधोगति ही अधोगति है। उर्ध्वगमन सत्व की अवस्था में ही सम्भव है इसके लिए प्राणपण से उद्योग करना पड़ता है। उद्योग द्वारा हम पाप के संसर्ग से हटकर, अन्ध प्रकृति से विमुक्त होकर प्रकाश में पहुंचते हैं और सन्धिनी शक्ति के सहयोग द्वारा उस परम तत्त्व के साथ संयुक्त होने के अधिकारी बनते हैं।

सत्व को जो यज्ञिय पाश कहा गया है उसका भी एक कारण है, सत्वगुण शुभ या भद्र का प्रापक है। यह अहंकार से भी मिला हुआ है। मैं सत् पुरुष हूं, सच्चरित्र से सम्पन्न हूं, धर्मिष्ठ हूं ऐसी भावना भी जीव और प्रभु के बीच में आवरण का कार्य करती है। सत्व हमें उठाता है, पर एक अन्य दृष्टि से शुभ कर्मों के फल से समन्वित करके हमें भोगवादी भी बनाता है। देवताओं की स्थिति इसी प्रकार की है। वे स्वर्ग में भोग भोगते हैं, कामचारी होते हैं, स्वच्छंदता से सर्वत्र भ्रमण करते हैं, काल और देश दोनों का व्यवधान उनके सामने से हट जाता है। वे निर्द्वन्द्व सुख का उपभोग करते हुए विचरण करते हैं, यह स्थिति भी आर्य संस्कृति में सर्वोत्कृष्ट स्थिति नहीं समझी गई है। देवों से नीचे पितृलोक के निवासी हैं वे भी भोगवादी हैं। कर्म करने से दूर केवल भोग में पड़े हुए व्यक्ति अपने भावी जीवन के लिए किसी प्रकार का अर्जन नहीं कर पाते। इसीलिये पितर और देव दोनों की स्थिति को अच्छा तो कहा गया है पर सर्वोत्तम नहीं। परागति की संज्ञा इनसे ऊपर है।

परमगति को कुछ ऋषियों ने व्यक्तित्व के विनाश की अभिधा प्रदान की है। व्यक्तित्व ही हमें प्रभु के साथ संयुक्त नहीं होने देता। सुषुप्ति

में हम तम और रज से दूर रहते हैं परन्तु चेतना तो वनी ही रहती है। संप्रज्ञात समाधि में भी इसका अक्षुण्ण रहना सिद्ध है। हाँ असंप्रज्ञात समाधि में सब कुछ विस्मृत हो जाता है। मोक्ष में इस स्थिति की पराकाष्ठा है। अतः मोक्ष या ब्रह्म रूपता अपने आपे का खो देना है जिसमें 'मैं' नहीं रह पाता, केवल एकमात्र परमतत्व रह जाता है। भूतकाल के लिए शोक मनाने का तथा भविष्य के लिए मोह करने का कोई कारण नहीं रहता। फिर हम न विगत से चिपटते हैं और न किसी अनागत की आकांक्षा करते हैं। जो न भूत है और न भविष्य है, केवल वर्तमान ही वर्तमान है, वही तो हमारे निखिल पुरुषार्थ का एकमात्र लक्ष्य है।

अयज्ञिय पाश छुड़ाते नहीं, कसकर जकड़ लेते हैं। यज्ञिय पाश अशुभ से छुड़ाते हैं पर शुभ से जकड़ते भी हैं। दोनों के नाना रूप अवनत एवं उन्नत चेतना सम्पन्न प्राणियों में देखे जा सकते हैं। दोनों से ही छूटना मुक्ति है अथवा चेतन गति की पराकाष्ठा है। परमतत्व प्राप्ति की स्थिति भी अशुभ एवं शुभ दोनों से पृथक् है। यदि हम इस स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अयज्ञिय एवं यज्ञिय, अशुभ एवं शुभ दोनों प्रकार के पाशों से मुक्त होना होगा। वेद ने अयज्ञिय पाशों को अधम एवं मध्यम और यज्ञिय पाशों को उत्तम पाश कहा है। पाश तो पाश ही है, बन्धन तो बन्धन ही है, बेड़ी तो बेड़ी ही है फिर चाहे वह लोहे की हो अथवा स्वर्ण की। बेड़ियों में जकड़ा हुआ आनन्दी नहीं कहा जाता। जो स्वतन्त्र है वही आनन्दी है। यह स्वातंत्र्य प्रकृति के तीनों गुणों से पृथक् होने में है। बन्धन भी प्राकृतिक ही हैं। जीव का अपना विशुद्ध रूप प्राकृतिक नहीं चेतन है। यह चेतन आनन्दांश से वञ्चित है। अतः आनन्द की उपलब्धि ही मुक्ति है। अथर्ववेद के शब्दों में "अन्तिसंतं न जहाति अन्त सन्तं न पश्यति"—जीव निकट चिपटी प्रकृति को छोड़ता नहीं और निकट ही विद्यमान प्रभु को देखता नहीं, यही उसकी सबसे बड़ी विपत्ति है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति को छोड़ो और प्रभु का दर्शन करो। इसी में कल्याण है।

★

जैसे ही कोई खड़ा होकर यह कहता है कि वह ठीक है, उसका चर्च ठीक है और बाकी दूसरे सब गलत हैं तो वह स्वयं ही गलत होता है। वह यह नहीं जानता कि दूसरे सब लोगों के प्रमाण पर ही उसका अपना प्रमाण आधारित है। 'सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए प्रेम और दान'—वास्तव में यही सच्चे धार्मिक होने की परीक्षा है। मेरा मतलब उस भावुक विचार से कि 'सभी लोग भाई हैं' नहीं है, वल्कि सबको मानव-जीवन की एकता का अनुभव करना चाहिए। जहाँ तक वे बाहर नहीं हैं, मैं देखता हूँ कि सभी सम्प्रदाय और सिद्धान्त मेरे हैं, और वे सभी अच्छे हैं। सभी मानव के सच्चा धर्म पाने के लिए सहयोगी हैं। मैं इतना और कहूँगा कि चर्च में पैदा होना तो अच्छा है लेकिन उसी में मर जाना अच्छा नहीं। बच्चे के रूप में पैदा होना तो अच्छा है, लेकिन बच्चे ही बने रहना अच्छा नहीं।

—स्वामी विवेकानन्द

अध्यास एवं अविद्या

डॉ० राम स्वरूप सिंह नौलखा, एम० ए०, पी–एच० डी०

मकान, दुकान, कोट, पैंट, कुर्सी, मेज, पंखा, पलङ्ग घड़ी, छड़ी आदि जिन किन्हीं पदार्थों को हम जानते हैं वे हमसे पृथक् या भिन्न होते हैं। वे निश्चय ही हम नहीं और हम वे नहीं। इसी को, दूसरे शब्दों में, हम यों कह सकते हैं कि ज्ञाता (जानने वाला) ज्ञेय (जानी हुई या ज्ञात वस्तु) अथवा ज्ञेय ज्ञाता नहीं होता। ब्रह्मसूत्र भाष्य के उपोद्घात का श्री गणेश करते हुए जगद्गुरु श्री आदि शंकराचार्य ने ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी और विषय के विरोध या भेद को प्रकाश और अंधकार के दृष्टांत द्वारा प्रकट किया है। परन्तु कोई–कोई अल्पाक्षर महाशय इस दृष्टांत को असमीचीन कहने का दुःसाहस भी करते हैं। वे कहते हैं कि विषयी और विषय का सम्बन्ध प्रकाश और अंधकार का जैसा नहीं हो सकता। क्योंकि अंधकार प्रकाश के सामने नहीं ठहरता जब कि इसके विपरीत विषयी और विषय या ज्ञाता और ज्ञेय नामक प्रत्यय सदैव परस्पर सापेक्ष या अन्योन्याश्रित हैं। परन्तु ऐसा कहने से वे श्री शंकराचार्य द्वारा दिये हुए दृष्टांत को तो दूषित नहीं कर पाते, किन्तु दृष्टांत के स्वरूप विषयक अपनी अनभिज्ञता का परिचय अवश्य देते हैं। न्याय के अनुसार दृष्टांत का दार्ष्टान्त के साथ अत्यन्त या पूर्ण साम्य आवश्यक नहीं होता, उनमें केवल विविक्षितांश में ही (अर्थात् जिस बात को लिया गया हो या स्पष्ट किया जा रहा हो उसमें) सादृश्य होना चाहिए (नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तियोः अत्यन्त साम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। केवलं विविक्षितांशे सादृश्यं) और विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय तथा प्रकाश एवं अंधकार में विविक्षितांश में सादृश्य है ही। जैसे प्रकाश अंधकार नहीं और अंधकार प्रकाश नहीं, वैसे ही ज्ञाता ज्ञेय, विषय विषयी और ज्ञेय ज्ञाता, विषय विषयी नहीं होता। इस प्रकार का पारस्परिक विरोध विचारान्तर्गत दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों ही में मौजूद हैं। अस्तु, उपर्युक्त दृष्टान्त की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता विषयक बात छोड़िये। केवल ज्ञाता तथा ज्ञेय या विषयी और विषय के स्वरू[illegible] भेद के प्रश्न पर ही विचार कीजिये। क्या कोई भी विचारशील व्यक्ति कभी ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय के विरोध या भेद को अस्वीकार कर सकता है? मेरे विचार में तो श्री शंकराचार्य द्वारा दिये हुए दृष्टान्त को दोषपूर्ण ठहराने वाले महाशय भी ऐसा नहीं करें[illegible]। हम मकान, दुकान, कोट, पैंट आदि को व्यवहार के लिए अपने भले ही कह लें, परन्तु हम में से किसी का भी यह कहना कि मैं मकान या पैंट हूं अथवा मकान या पैंट मैं हूं नितान्त हास्यास्पद या प्रमादपूर्ण कथन ही कहलाएगा। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि प्रा[illegible] सभी मनुष्य ज्ञेय को ज्ञाता, और ज्ञाता को ज्ञेय, विष[illegible] को विषयी और विषयी को विषय समझने की भूल किया करते हैं। क्या हमारे शरीर, इन्द्रियाँ मन एवं बुद्धि मकान दुकान आदि ही की तरह, हमारे ज्ञेय और हम उनके ज्ञाता नहीं हैं? क्या हम उनके विकारों या उन[illegible] विभिन्न अवस्थाओं के साक्षी नहीं? परन्तु फिर भी [illegible] हम उनके गुणों या धर्मों को अपने नहीं मान लेते हैं? क्या अपने आपको कृष्णवर्ण या गौरवर्ण, अथवा सु[illegible] वाला देखने वाला अथवा अन्ध बधिर आदि मा[illegible] शरीर एवं इन्द्रियों के धर्मों को अपने धर्म मानना नहीं है? और कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो देहेन्द्रियादि के इन तथा अ[illegible] धर्मों को अपने धर्म न मानते हों। यद्यपि देहेन्द्रिया[illegible] ज्ञेय पदार्थों के धर्मों को अपने अर्थात् ज्ञाता के धर्म मा[illegible] अथवा ज्ञाता अपने आपको देहेन्द्रियादि मानना नितान्त भूल है, फिर भी सभी मानव या प्राणी इस प्रकार की [illegible] करते ही हैं।

दार्शनिक भाषा में जो वस्तु जो न हो उसको [illegible]

मानना अथवा एक वस्तु के गुणों या धर्मों को उस वस्तु से भिन्न वस्तु के धर्म समझना अध्यास कहलाता है। और इस अध्यास को कभी-कभी अविद्या भी कहते हैं। शरीरादिक में अपना अध्यास होना अथवा अपने में शरीरादिक का अध्यास होना वस्तुतः अविद्या ही है। इसीलिये तो श्रीमद्भागवत में देह आदि में अहं भाव रखने वाले को मूर्ख (मूर्खोदेहाद्यहं बुद्धिः) और श्रीमद्रामानुजाचार्य जी ने भी शरीर को विषय करने वाली अहं बुद्धि को अविद्या ही बतलाया है (शरीरगोचराचचाहं बुद्धिः रविद्यैव) परन्तु इस प्रकार की अविद्या प्रायः सभी मानवों में स्वभावतः पाई ही जाती हैं। हम नहीं कह सकते कि यह अविद्या मनुष्य में कब और कहाँ से आई। वास्तव में किसी भी प्रकार की अविद्या का आरंभ नहीं जाना जा सकता। उदाहरणार्थ–आपको मेरी इस लेखनी का मूल्य जिससे कि मैं लिख रहा हूं ज्ञात नहीं अर्थात् आपको उसके मूल्य की अविद्या (अज्ञान) है, परन्तु आप यह नहीं बतला सकते कि आपको मेरी लेखनी के मूल्य की अविद्या कब आरम्भ हुई। यदि आप अपनी इस अविद्या का प्रारंभ किसी भी दिन या वर्ष से बतलाते हैं तो इसका अभिप्राय यही होता है कि आपको उस दिन या वर्ष के पहले उसके मूल्य का ज्ञान था, जो कि सही बात नहीं हो सकती। उसके मूल्य के विषय में आप केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह आपको ज्ञात नहीं, परन्तु यह कदापि नहीं कह सकते कि वह कब से ज्ञात नहीं। क्योंकि तब से 'ज्ञात नहीं' यह कहने का मतलब निस्संदेह ही यही होगा कि पहले ज्ञात था। इसी बात को, दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि आपकी मेरी लेखनी के मूल्य की अविद्या अनादि है, परन्तु उसके अनादि होने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता है कि यह अनन्त भी है, क्योंकि यदि मैं आपको अपनी लेखनी का मूल्य बतला दूं तो निश्चय ही आपकी उसके मूल्य विषयक अविद्या का अन्त तुरन्त ही हो जायगा। ठीक यही बात देहेन्द्रियादि में आत्मा के अध्यास और आत्मा देहेन्द्रियादि के अध्यास के विषय में कही जा सकती है। किसी भी व्यक्ति के लिये यह कह सकना कि यह अविद्या कब उत्पन्न या आरम्भ हुई, संभव नहीं परन्तु देहेन्द्रियादि से पृथक् अपने आपको समझ लेने पर इसका अन्त तो अवश्य हो ही जाना चाहिए। अतः कुछ व्यक्तियों का ऐसा समझना कि जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है, ठीक नहीं कहा जा सकता। अनादि वस्तु का अन्तवाली वस्तु होना न केवल अविद्या के दृष्टान्त से ही प्रमाणित होता है किन्तु नैयायिकों एवं वैशेषिक मतावलंबियों द्वारा स्वीकृत प्रागभाव नामक पदार्थ के दृष्टान्त से भी। उन्होंने अभाव को एक पदार्थ माना और साथ ही साथ प्रागभाव को अनादि एवं शान्त। वे असत्कार्यवादी या आरम्भवादी होने के नाते कुम्हार द्वारा घड़े को बनाए जाने से पूर्व घड़े का अभाव मानते हैं और इस अभाव को अनादि भी स्वीकार करते हैं परन्तु साथ ही साथ उन्हें घड़े का सृजन होते ही इस अभाव का अंत भी मानना ही पड़ता है। इस प्रकार अनादि अविद्या का भी अन्त होता ही है। और इस अंत का करना ही मानव का चरम लक्ष्य कहा जा सकता है क्योंकि शरीरादि में अहं बुद्धि रूपी अविद्या से ही सब अनर्थों का हेतु कहा जा सकता हैं।

> "प्राकृतिक और अद्वितीय शांति के वास्तविक ज्ञान का अलगाव होने से वह सभी बंधनों का नाश करती है और जहां न तपस्या, न ब्रह्म, न आकाश, न काल, न निर्देश, न समागम, न नाश, न पृथकत्व, न कथन, न दिन-रात का घटना चक्र, न अवसान, न आदि, न मध्य, न आभ्यन्तर और बाह्य, न इन सबों का संघात ही होता है"।
>
> महर्षि रमण

संसार में मनुष्य जितने भी अन्याय और अत्याचार आदि पाप कर्म करता है वे सब शरीरादि में अहंबुद्धि होने के कारण ही किया करता है। प्रायः ये पाप कर्म या तो सुख के प्रलोभन से या दुःख के भय से किए जाते हैं और इन सुख और दुःख दोनों का ही संबंध शरीरादि के साथ होता है। यदि मनुष्य शरीरादि के सुख को अपना सुख और उनके दुःख को अपना दुःख न मानता

होता तो वो न तो अपने लिये और न अपने कुटुम्बी और संबंधियों के लिये पापकर्म में प्रवृत्त होता। अतः शरीरादि में हुए आत्माध्यास को सब पापकर्मादि अनर्थों का मूल कारण कहा ही जा सकता है इसलिये इस अध्यास या अविद्या का अंत किस प्रकार हो यह प्रश्न विचारशील मानव के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न बन जाता है और जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य जी के अनुसार वेद-उपनिषदादि सारे ही शास्त्र मानव के इसी प्रयोजन की सिद्धि करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। हम यहाँ इन शास्त्रों द्वारा बताए हुए मानव की सर्वानर्थमूलक अनादि अविद्या के अंत करने वाले प्रमुख साधनों या उपायों का संक्षेप में वर्णन करेंगे, परन्तु ऐसा करने से पूर्व हमें शरीरादि में आत्माध्यास और आत्मा में शरीरादिक के अध्यास से संबंधित एक आपत्ति पर भी विचार कर ही लेना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा में शरीरादिक का और शरीरादिक में आत्मा का अध्यास बन ही नहीं सकता। वे कहते है कि आत्मा ज्ञान का विषय नहीं और जिन वस्तुओं में एक दूसरी का अध्यास हुआ करता है वे हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हुआ करती हैं, जैसे कि रज्जु सर्पादि। परन्तु, जैसा कि श्री आदि स्वामी शंकराचार्य जी ने इस अपत्ति का निराकरण करते हुये कहा है, यह आवश्यक नहीं कि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त या ज्ञात वस्तुओं में ही अध्यास हो। आकाश को हम किसी भी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा नहीं जानते परन्तु उसमें भी बाल-बुद्धि व्यक्तियों को तलमलिनतादि का अध्यास होता ही है। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि आत्मा किसी भी प्रकार के ज्ञान का विषय नहीं। ऐसा कौन व्यक्ति हैं जिसे अपने अस्तित्व का ज्ञान न हो? अपना ज्ञान तो अपरोक्ष रूप से सबको होता ही है। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' ऐसा अनुभव करता है कोई भी यह अनुभव नहीं करता है कि 'मैं नहीं हूँ'। और यदि 'मैं नहीं हूँ' यह असंभव अनुभव भी संभव मान लिया जाय फिर भी तो यह आत्मानुभव ही होगा। सभी प्रकार के ज्ञान और अनुभवों में ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान अथवा अनुभव अनिवार्य रूप से वर्तमान रहता है।

यह दूसरी बात है कि हम आत्मा या अपने आपको संसार के अन्य ज्ञात पदार्थों की तरह न जान सकें। परन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम अपने आपको किसी प्रकार से नहीं जानते, जैसा कि कनोपनिषद् में बतलाया है आत्मा विदित और अविवित दोनों ही प्रकार के पदार्थों से भिन्न, है "अन्यदेव तद्विदितादथोअविदितादधि"। वह विदित से भिन्न है यह कहने का अभिप्राय केवल यही है कि वह अन्य ज्ञात पदार्थों की तरह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता, परन्तु साथ ही साथ वह अविदित या अज्ञात पदार्थों से भी भिन्न है, क्योंकि ज्ञात पदार्थों के साक्षी अथवा ज्ञाता रूप से उसका ज्ञान सबको सदैव होता ही है। तभी तो उसे केनोपनिषद् ही में 'प्रतिबोधविदितं' (प्रत्येक ज्ञान में ज्ञात) कहा है। उसका ज्ञान कभी भी किसी अन्य के द्वारा नहीं होता या हो सकता है क्योंकि वह स्वयं ही सबका ज्ञाता या साक्षी स्वयं प्रकाश अथवा

> "विश्व के सम्पूर्ण दृश्यमान आकर्षण सिवा उसके दिव्यत्व के और कुछ नहीं हैं, और वह जो कि तुमको एकमात्र प्रियतम के रूप में प्रतीत होता है, वही पेड़ों पर्वतों और पहाड़ियों के रूप में भिन्न २ पोशाक पहनता है। उसका साक्षात्कार करो, और जिस किसी प्रकार तुम भौतिक प्रेमालापों और इच्छाओं से ऊपर उठो। यही संसारिक इच्छाओं के आध्यात्मिक प्रयोग और उनका अपनी आत्मरक्षा के लिए प्रयोग का मार्ग है।"
>
> —स्वामी रामतीर्थ

स्वसंवेद्य परमतत्व है। तभी तो बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य ने उसके विषय में 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजनीयात् विज्ञातारमरे-केनविजानीयात्'। ऐसा कहा है। अतः यह कहना कि आत्मा का शरीरादि में और आत्मा में शरीरादि का अध्यास नहीं हो सकता निर्मूल सिद्ध होता है।

सच पूछिये तो शरीरादि में आत्मा के तथा आत्मा में शरीरादि के अध्यास की संभवता असंभवता का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि संभवता असंभवता तो उन

की विचारणीय होती हैं जो हमारे ज्ञान का विषय न हो। परन्तु उपर्युक्त अध्यास हमारे जीवन का एक उतना ही ठोस तथ्य है जितना कि देहेन्द्रियादि का अस्तित्व तथा उनकी चलने फिरने उठने बैठने सूँघने सुनने आदि की क्रियाएं। उसके होने के विषय में शंका या सन्देह करना वैसा ही है जैसा कि रात्रि के अंधकार और दिन के प्रकाश के विषय में शंका या सन्देह करना। किसी भी तर्क या युक्ति द्वारा उसकी असंभवता प्रदर्शित कर देने से भी उसके होने का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। अतः आइये अब हम इस निराधार एवं अप्रत्युपस्थापितव्य प्रश्न को छोड़ और अपने अविद्यात्मक अध्यास को सदा—सदा के लिए समाप्त करने की विधि पर विचार करें जिससे कि हम इस सर्वानर्थमूलक महान् रोग की जड़ काटकर अपने प्रतिदुर्लभ मानव जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करने में समर्थ हो सकें।

किसी भी रोग का सही—सही उपचार करने के लिए यह आवश्यक और वांछनीय होता है कि हम पहले उस रोग का ठीक—ठीक निदान करलें अर्थात् उसके मूल कारण या कारणों को ठीक—ठीक समझ लें। इसी प्रकार इस अविद्यात्मक अध्यास रूपी महान् रोग को मिटाने के लिए भी यह आवश्यक है कि हम उसके मूल कारण को जानें और फिर तदनुकूल उसको मिटाने की अभीष्ट चेष्टा करें। और इसके लिए हमें अध्यास के स्वरूप का विश्लेषण करना होगा और पता लगाना होगा कि वह कैसी परिस्थिति में हुआ करता है। उदाहरण के लिए रज्जु में सर्प के अध्यास को ही ले लीजिये। इस पर विचार करने से पता चलता है कि इसका मूल कारण हमारा रज्जु और सर्प के स्वरूप भेद का अज्ञान ही है। यदि हमें, रज्जु में सर्प का अध्यास होने के काल में रज्जु और सर्प के स्वरूपों का स्पष्ट ज्ञान होता तो एक में दूसरे का अध्यास नहीं होता। अतः यह ज्ञात होता है कि अध्यास वहीं हुआ करता है जहाँ हमें अध्यस्त तथा अध्यास के अधिष्ठान के वास्तविक स्वरूपों का सही—सही स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इससे हम कह सकते हैं कि शरीरादि में आत्मा के अध्यास का मूल कारण भी हमारा अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान ही है। इसलिये इस अध्यास को मिटाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को यथार्थतया तथा असंदिग्ध रूप से पहिचानें अर्थात् अपने स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करें। अतः शरीरादि में जो आत्मा का अध्यास है उसको मिटाने के साधन भी वही हैं जो कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के साधन।

उपनिषदों में आत्म—ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीन अति आवश्यक साधन बतलाये हैं। श्रवण से तात्पर्य किसी श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ महात्मा से श्रद्धापूर्वक आत्मविषयक शास्त्रीय चर्चा सुनने से है तथा मनन का अभिप्राय उनके दिये हुए उपदेश पर विचार करने से है जिससे कि वह उपदेश हमारी बुद्धि में पूरा—पूरा भर जाय और निदिध्यासन का तात्पर्य श्रवण तथा मनन किए हुए तथ्य को बार—बार अपने ध्यान में लाना है। परन्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन से पूर्व कुछ अन्य बातों का होना भी परम आवश्यक है और वे हैं चरित्र तथा विचारों का शुद्ध होना, सांसारिक भोगों में अनासक्ति का होना, कर्म-फल की इच्छा का परित्याग करके स्वधर्म पालन करना तथा आत्मस्वरूप को जानने के लिए पूरी—पूरी लगन से अन—वरत प्रयत्न करना। जब तक ये बातें न होंगी तब तक श्रवणादिक साधन सफल नहीं हो सकते। जिस प्रकार मलिन

(शेष पृष्ठ ६९ पर)

> "आज का सामान्य पापी महात्मा बन सकता है, कुछ ही समय में पवित्र मानव बन सकता है। याद रक्खो कि यदि कोई मनुष्य गलती कर रहा है, आपको उसके प्रतिकार में खड़े होने और घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। उसमें दिव्यत्व का दर्शन करो, ईश्वर का सबमें और सर्वत्र दर्शन करो। यदि कोई आदमी तुम्हारे संबन्ध में बुरे विचार सोचता है, यदि अन्य आदमी तुम्हारे में दोष देखते हैं, क्या तुम्हें उनका प्रतिकार करना चाहिए? नहीं, नहीं। कभी नहीं"!
>
> —स्वामी रामतीर्थ

मेरा-जलवा

श्री मंगल विजय 'बेताब', भोपाल

मेरी अदा से अदाओं ने अदा पाई है ।
मेरी शम्मा ही ज़माने में जगमगाई है ॥ १ ॥

शबे महताब की चिलमन में छुपा नूर मेरा ।
चांदनी मेरे तबस्सुम से मुस्कुराई है ॥ २ ॥

गुलशनों में है मेरी ही तो हसरतों का क़याम ।
बहार मेरे मदीने से उठ के आई है ॥ ३ ॥

मेरी मस्ती समाई मंज़रों की मस्ती में ।
अपनी अंगड़ाइयों को अपनी मय पिलाई है ॥ ४ ॥

दिले 'बेताब' भी निहाल हुआ है, जब से ।
मेरी सूरत मेरी नज़रों को नज़र आई है ॥ ५ ॥

तस्वीरे हुस्न पर शैदा हो मुसव्वर क्यों, जब ।
मेरे हसीन मुसव्वर ने ही बनाई है ॥ ६ ॥

★

मुक्तक

प्रीति का विश्वास

श्री श्रीश कुमार शर्मा, बाँदा

(१)

नीत की निष्ठुर तुला में तोल कर,
शब्द के जंजाल में फांसी गई,
कह उठी अनुभूति दुनियाँ व्यर्थ है,
जब कहीं भी प्रीति परिभाषी गई ॥

(२)

स्वाति की वो बूँद ये युगों की प्यास,
एक पागल मन और उसकी आस,
तू न समझेगा कुछ न कह साथी,
है अनोखी बात प्रीति का विश्वास ॥

(३)

स्वप्न साकार करो या न करो,
मन का व्यापार करो या न करो,
प्यार से दूर जिन्दगी ही नहीं,
चाहे स्वीकार करो या न करो ॥

★

(६७वें पृष्ठ का शेषांश)

दर्पण में यह क्षमता नहीं होती कि वह किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रतिबिम्ब को स्पष्टतया प्रदर्शित कर सके। इसी प्रकार काम, क्रोध, राग, द्वेष, लोभ, मोहादिक से कलुषित अन्तःकरणयुक्त व्यक्तियों में भी अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने की योग्यता भी नहीं हो सकती। अतः आत्मस्वरूप दर्शन के लिए अन्तःकरण का शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है। कठोपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो व्यक्ति दुश्चरित्र से मुक्त नहीं होता और जिसका चित्त शुद्ध होकर शान्त नहीं बन जाता वह आत्मविज्ञान द्वारा दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति रूप परम पद की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी प्रकार श्री मद्भगवत् गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है कि मुझ परमात्मा को वे ही व्यक्ति प्राप्त करते हैं जिसके सारे पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं और जो लोभ मोह आदिक सभी प्रकार के द्वन्द्वों से अपने आपको मुक्त कर लेते हैं। मुझे दुराचारी लोग कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। अतः यदि हम अपने सर्वानर्थमूलक अध्यास की आत्यंतिक निवृत्ति के लिए आत्म—ज्ञान की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम अपनी प्रवृत्ति को पापकर्मों से रोकना हैं और इसके रोकने के लिये तथा अपने चित्त को शुद्ध करने के लिए सदैव अनासक्ति पूर्वक तथा फलेच्छा का परित्याग करके स्वधर्म परायण होना है। परन्तु यह काम आसान नहीं। भगवान् की माया बड़ी प्रबल और दुरत्यया हैं। साधारण लोगों का तो कहना ही क्या वह शिव विरंचादिक को भी मोहित कर देती है। इसके अतिरिक्त हमारी इन्द्रियां और मन पता नहीं कितने दीर्घकाल से सांसारिक भोगों में लिप्त चले आ रहे हैं। उनको उन भोगों से पराङ्मुख करना और अपने आप को सदैव श्रेष्ठाचरण तथा विचारों में मग्न रखना बड़ा ही कठिन कार्य है, जिसका कि सम्पादन कर सकना साधारण पामर जीवन के लिये यदि असम्भव नहीं तो दुर्घट अवश्य हैं। बिना मायाधिपति भगवान् की कृपा के यह कार्य नहीं हो सकता। अतः आत्मज्ञान प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य के लिये यह परमावश्यक हो जाता है कि वह देवाधिदेव सकलमंगल मूर्ति, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान, आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र का आश्रय ले, और अपने सारे क्रियाकलापों और विचारों को उनके समर्पण कर दे तथा उन्हीं एक को अपनी परमगति समझे। जो कुछ करे वह उनके लिये करे, उन्हीं को अपना सर्वस्व समझे और अपने मन और चित्त को सदैव उन्हीं में लगाए रक्खे। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है:—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्व भूतेषु यः स मामेति पाण्डवः॥

अर्थात् जो व्यक्ति अपने सारे कर्म मेरे लिये करता है, मुझे अपना परम धन समझता है, मेरी भक्ति करता है, संसार से असंग रहता है, और किसी भी प्राणी से वैर नहीं रखता वह अवश्य ही मुझे प्राप्त कर लेता हैं, और कृष्ण को प्राप्त करने का अभिप्राय अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति करना ही हैं क्योंकि उनके ही अंश होने के नाते हमारे और उनके वास्तविक स्वरूप में कोई अंतर नहीं।

"देखो जब तुम सुषुप्ति की दशा में होते हो, उस समय तुम सब एक होते हो। सुषुप्ति समता लाने वाली स्थिति है। जहाँ राजा और रंक का कोई भेद नहीं रह जाता। राजा मखमली गद्दों पर सो रहा है, शानदार बेशकीमती चद्दरें ओढ़े है और गरीब भिखारी गली में पड़ा है, दोनों की स्थिति एक है। दोनों की सुषुप्ति दशा पर विचार करो। भेद कहाँ है? दोनों एक और वही हैं। तुम अपनी सुषुप्ति अवस्था में एक होते हो, और जागृत की अवस्था में तुम्हारे सबके शरीर एक हैं, और तुम्हारे मष्तिष्क तथा भावनायें जो कि स्वप्निल जगत में रहती हैं, सब एक हैं। अब हम वास्तविक आत्मा के सम्बन्ध में सोचते हैं, जो कि वास्तविक सत्य है। ओह, एक ही आत्मा, जो कि वास्तविक सत्य है, वह वास्तव में अपना आप है।"

—स्वामी रामतीर्थ

कहानी

अन्तरिक्ष के पार

श्री 'चिन्मय'

रात्रि के उस नीरव वातावरण में एक विचारमग्न वैज्ञानिक आकाश की ओर एकटक निहार रहा था। आज पता नहीं किस उधेड़–बुन में पड़ा हुआ इतनी रात बीत जाने पर भी वह सो नहीं सका। सोता भी कैसे ? यदि अपने द्रुतगामी वायुयानों के द्वारा वह अन्तरिक्ष तक नहीं पहुँच पाता तो अपनी कल्पना के वायुयान में तो वह पहुँच ही सकता है। लेकिन कल्पना भी उस समय कुण्ठित हो जाती है जब सोचते-सोचते वह थक जाती है और ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। आखिर कल्पना भी तो बुद्धि से बाहर नहीं जा पाती। विचारों की इस उलझन में उसे जब कुछ न मिला तो वह अपनी प्रयोगशाला में आ गया और अन्यमनस्क सा अपने यंत्रों से खेलने लगा। उसने अपनी प्रयोग–शाला में ही सौर–मण्डल का निर्माण किया था, इनकी गति को यंत्रों द्वारा संचालित किया था। जिस विश्व का चित्र उसकी बुद्धि की सीमा में आ चुका था उसी का ढाँचा उसने अपनी प्रयोगशाला में तैयार किया था। जिस समय वह अपने यंत्रों के संचालन को बड़े ध्यान से देख रहा था उस समय अचानक एक विस्फोट हुआ, यंत्रों के टूटने की खड़खड़ आवाज हुई। चारो तरफ एक धुँआ फैल गया और वह धुँए के बादलों में कुछ न देख सका। एक घुटन पैदा होने लगी और उसे बाहर आना पड़ा। बहुत देर बाद जब धुँआ बन्द हुआ तो उसने अन्दर जाकर देखा कि जिस यंत्र को उसने अन्तरिक्ष के पार पहुँचने के लिए तैयार किया था वही टूट गया है। उसकी आशा के स्वप्न साकार न हो सके। वर्षों के परिश्रम से बनाया हुआ वह यंत्र अब किसी काम का नहीं रहा।

प्रकृति के विधान को वह समझना चाहता था। बहुत दिनों के अथक परिश्रम पर उसे अंत में हाथ लगी निराशा और असफलता। परन्तु महापुरुष असफलता को सफलता में, निराशा को आशा में बदलना जानते हैं। उसके मन में भी एक बार तो असफलता का विकल्प उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने दृढ़ निश्चय किया कि कुछ भी हो इस रहस्य को जानना अवश्य है। द्रुत-गामी राकेटों में उड़ान भर कर भी वह अंतरिक्ष को नहीं छू सका। पृथ्वी से जो अंतरिक्ष दिखाई पड़ता है उसका पार करना कोई कठिन नहीं लेकिन इस विस्तृत आकाश के मध्य पहुँचने पर जाने कितने अंतरिक्ष दिखाई पड़ते हैं। इन सब के पार पहुँचना चाहता है वह—विज्ञान की कठिन परीक्षा है। कदाचित् अब उसके लिये यह कुछ कर पाना सम्भव नहीं। इस देश के भौतिक-वादी वातावरण से वह बहुत कुछ निराश हो चुका था। भारत के योगियों का चमत्कार कई बार उसे सुनने को मिला था। एक तीव्र लालसा हुई कि शायद इस चमत्कार के द्वारा ही मेरी उलझन मिट सके। एक बार तो इसे भ्रम समझ कर उसने टाल दिया, परन्तु पुनः आन

प्रेरणा हुई। कुछ तो इसमें रहस्य होगा ही। कौन जानता है विधि के विधान को—उसने भारत आने का निश्चय कर लिया।

हिमालय की गुफाओं में किसी ऐसे योगी की खोज करता रहा जो उसकी बात को समझ सके और उसका उचित समाधान मिल जाय। कई मिले भी लेकिन उसे कोई भी समझा न सका। यहाँ भी उसे ऐसा लगा कि उसके जीवन का यह प्रश्न अधूरा ही बना रह जायगा। जब तक उसे उचित समाधान नहीं मिलता तब तक उसे एक क्षण के लिये भी चैन नहीं। एक नदी के किनारे वह इसी उधेड़-बुन में टहल रहा था। एक पत्थर पर थक कर बैठ गया। आसपास कोई भी नहीं था। हृदय में प्रश्न की उलझन थी। अचानक उस निराशा के क्षण में उसने निश्चय किया कि इस प्रकार यदि अंतरिक्ष के पार नहीं जा सकते, मरने पर तो पहुँचना कोई कठिन नहीं। जैसे ही उस जल—प्रवाह में बह जाने के लिये वह खड़ा हुआ कि किसी के हाथ का स्पर्श उसने अपने कन्धे पर अनुभव किया। वह चौंक कर पीछे हट गया। उस दिव्य—मूर्ति सन्त की ओर वह एकटक निहारने लगा।

सन्त ने गम्भीरता से उसकी ही भाषा में कहा—'मेरे हाथ का स्पर्श जब तुम्हें चौंका सकता है तो उस अनन्त सत्ता के संस्पर्श को तुम चेतन होकर भला कब संभाल सकोगे? और मृत्यु की गोद में जाकर तो तुम अपनी ही दशा को भूल जाओगे। तुम्हारे जीवन का यह उद्देश्य नहीं है।'

सन्त के चरणों में झुककर उसने विनम्रता से कहा—'भगवन्! मेरे मार्ग का निर्देशन कीजिये। आप सब कुछ जानते हैं। मैं अपने प्रश्न का समाधान कैसे पा सकता हूं?'

"बुद्धि रूपी हाथों में जिस अनन्त को समेटना चाहते हो वह उतना ही आ सकेगा जितनी चौड़ी तुम्हारी हथेली"—सन्त कहते गए—"और जितना पा सके हो वह भी तो उसका ही अंश है, वही है। तुम अपने वैज्ञानिक नियम का ही पालन क्यों नहीं करते? एक औंस जल के रहस्य को जानने के लिये अपने टेस्ट—ट्यूब में सारे समुद्र को खौलाकर क्यों भाप बनाना चाहते हो? तुम्हारे लाखों जन्मों में भी यह सम्भव नहीं हो सकता। जिस अंतःकरण में प्रवेश कर तुम अंतरिक्ष की सीमा तक पहुँच सकते हो उसके लिये इतने बड़े बाह्य अंतरिक्ष को जानने के लिये क्यों परेशान हो? अपने आप को ही क्यों नहीं जानते, फिर तुम्हारी अज्ञान की हृदय—ग्रंथि टूट जायगी और सभी संशय नष्ट हो जायेंगे।'

> **"यदि तुम मन से सोच—समझकर निर्णय करना बन्द कर दो तो तुम सत्य के एकदम ठीक ज्ञान को अधिकाधिक प्राप्त करने लगोगे और संसार की विपदाओं का नव-दशांश विलीन हो जाएगा।"**
>
> **—श्री माताजी**

वैज्ञानिक की ज्ञान—चेतना जागृत हुई और वह संत के चरणों में नत मस्तक हो गया। अपने अन्तःकरण में झाँककर देखा कि जाने कितने अंतरिक्ष सामने आ आकर चले जाते हैं। उन सबसे ऊपर उठकर ही वह सबको देख रहा है।

★

एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मुझसे बुरा कौन ?

श्री प्रेमचन्द्र मिश्र, एम० ए०, इटावा

जो व्यक्ति परछिद्रान्वेषण करता है वह यदि अपनी वृत्तियों को अंतर्मुखी करके देखे, तो उसे यह पता चल जाएगा कि मुझसे बुरा कोई नहीं है। जब हम दूसरे के दोषों का दर्शन करें तो उलट कर यह गवेषणा करनी चाहिये कि वास्तव में उसमें दोष है या हमारे दोष के कारण दीख रहा है। यह बात निश्चित है कि यदि आपको किसी का दोष दीख रहा है वह आपका ही दोष है। यदि आपमें न हो तो दिखाई कैसे दे। जिस सवाल का उत्तर हम नहीं जानते तो यह कैसे कह सकते हैं कि वह गलत है या सही। यदि आपका अंतःकरण सर्वरूप से परिशुद्ध है तो दोष दर्शन ही नहीं होगा। एक स्त्री विधवा है, उसकी गोद में चार महीने का बच्चा है। स्त्री अपने सतीत्व से डिगकर पुंश्चली हो जाती है उसके घर में गंदे लोगों का प्रवेश होना प्रारम्भ हो जाता है। समय के साथ—साथ बच्चा बड़ा होता जाता है। क्या वह पता लगा सकता है कि हमारी माँ में यह दोष हैं? कभी नहीं। जब तक वह दूसरे के घर की रीति रश्म को न जानेगा, तब तक उसे यह पता न चलेगा। यदि हम दूसरे के दोष या गुणों को किसी पर आरोप नहीं न करें तो उसके दोषी या गुणी होने का पता नहीं चल सकता और मतलब भर का आवश्यक व्यवहार चलेगा, जिससे जीवन में शांति स्रोत की अजस्त्रधारा प्रवाहित होगी। आध्यात्मिक पुरुष तो वही है जिसे दोष दिखाई ही न पड़े, यदि दिखाई पड़े हैं तो उसे और ही कुछ कहा जा सकता है। दूसरों के दोष न देखकर अपने दोष न देख[illegible] यह साधकावस्था की बात है और अपने दो[illegible] न दीखना सिद्ध पुरुष के लक्षण हैं। अतः जब हमें अपने और दूसरों के गुण दोष न दीखें तो समझना चाहिए कि अब गन्तव्य प्रशस्त हुआ है। यह मूढ़ता की अवस्था नहीं समझना चाहिए। मूढ़ों को बाद में कुछ ज्ञान होने पर दोष दीख [illegible] सकते हैं पर ज्ञानी, सिद्ध पुरुष जो मूढ़ता आ[illegible] की सीढ़ियों को पार करके आया है उसे [illegible] दूसरों के दोष नहीं दीख सकते। यही स्थि[illegible] प्रज्ञता का लक्षण है।

मनुष्य के अन्तःकरण के अनुरूप ही गु[illegible] और दोषों का दर्शन होता है। यह भले [illegible] सकता है कि हम अपने ही दोष के का[illegible] दूसरों से घृणा करने लगें। एक स्त्री विधिवि[illegible] में आकर रोगग्रस्त हुई। वृद्धावस्था तो थी [illegible] रोग ने और आ दबाया। आस पास के [illegible] वैद्य डाक्टर उसके रोग का निदान न दे पाये। [illegible] वृद्धा का पुत्र बड़ा ही मातृभक्त था। उ[illegible] यौवन मातृभक्ति से और भी निखरता जा [illegible] था। उसने सोचा कि माँ को कहीं बाहर दि[illegible] चलूँ और वह एक नगर में गया। कुछ ही दि[illegible]

में उसकी माँ स्वस्थ होने लगी। डाक्टर की राय से वह माँ को अपने घर औषधि लेकर चला। मार्ग कुछ लम्बा था, माँ भी पूर्ण स्वस्थ नहीं थी उधर कड़ी धूप से श्रम बिन्दु टपक रहे थे अतः एक नदी के किनारे बरगद के पेड़ के नीचे थकावट दूर करने बैठ गए। माँ अधिक परिश्रांत हो गई थीं अतः लेट गईं। और उसकी झपकी लग गई। उसके मातृभक्त पुत्र को याद आई कि डाक्टर का आदेश है कि मध्याह्न को एक खुराक दवा देना। अतः वह बोतल लेकर माँ के सिर को गोद में रख दवा पिलाने लगा, कैसी परमअनुशीलनीय मातृभक्ति का आदर्श वह उपस्थित करने लगा। उधर कुछ दूर पर नदी के किनारे से एक नाला दक्षिण को जाता था। उसके किनारे–किनारे एक सन्यासी जी जा रहे थे। उनकी दृष्टि इस दृश्य पर पड़ी, फिर क्या था जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि की सर्जना होने लगी। उन्होंने समझा कि एक कामुक मदनातुर हो किसी चरित्रभ्रष्टा स्त्री के साथ कामक्रीड़ा कर रहा है, हाथ में बोतल देखकर और भी दृढ़ता विचारों में आने लगी कि शराब की बोतल लिए है निश्चय ही ये इस दुष्कृत्य कर्म को कर रहे हैं। इतना सोचना ही था कि दूर से कर्णकटु चीख सुनाई दी मानो वहुत से लोगों को अनेक शेर उनके शरीरों को विदीर्ण कर रहे हों। आवाज़ बढ़ती ही गई। इधर सन्यासी जी भी धीरे-धीरे आवाज़ की ओर बढ़ने लगे। उधर उस मातृभक्त बालक ने सन्यासी के देखते-देखते बोतल फेंकी और आवाज़ की ओर दौड़कर बढ़ते देखा तो एक नौका सरिता में निमग्न हो गई। लोग डूबने लगे, उस मातृभक्त बालक ने बड़ी द्रुतगति से नदी में कूद सबको बाहर निकाला। यह दृश्य देख सन्यासी जी दंग रह गए कि जिस व्यक्ति को मैं कामुक आदि घृणित दूषणों से संबोधित कर रहा था वहक्याइतना परोपकारी भी हो सकता है? उसके पास पहुँचे तो उसने हाल बताया कि मेरी वृद्धा माँ बरगदके नीचे पड़ी है। जब मैं दवाई बोतल से पिला रहा था उसी समय आवाज़ मिली और यहाँ आया हूं। यह सब सुन सन्यासीजी को बड़ी ही अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर आत्मग्लानि हुई। उनके मिथ्या दंभ का भंडा-फोड़ हुआ और उन्होंने कहा कि मैं सन्यासी हो गया हूं पर अभी दोष दृष्टि नहीं गई। उसी दिन से वे यह साधना करने लगे कि किसी के दोष दिखाई न दें और एक दिन वे बड़े उच्चकोटि के संत और समाज सुधारक हुए। उन्हें उस मातृभक्त बालक ने ऐसी नसीहत दी जिससे वे मंजिलें मकसूद पर पहुंच गए। वास्तव में कोई दोषी नहीं है न गुणी ही।

> "हम शत्रु के अन्दर दिव्यत्व क्यों नहीं पाते हैं? क्योंकि हम उसमें दोष देखते हैं। मनुष्यों को दोष न देखकर दिव्यत्व ही चारों ओर देखना चाहिए। विश्वास रखो कि दिव्यत्व प्रत्येक के अन्दर विद्यमान है, प्रत्येक में अनन्तता का दर्शन करो"।
>
> —स्वामी रामतीर्थ

गांधी जी ने तभी इस बात की घोषणा की थी कि "ऐ मानव तू पाप से घृणा कर पापी से नहीं" "You must hate the sin not the sinner." क्योंकि आपत्ति आने पर मनुष्य को कुछ ऐसे कार्य करने के लिये बाध्य होना पड़ता है जो कि दूसरों की दृष्टि में दोष दीखें। कहा भी है कि "आपत्ति काले मर्यादा नास्ति" इसी से मिलती–जुलती बात अँग्रेजी विद्वान ने कही है जो कि कहावत की

तरह चरितार्थ होती है "Necessity needs no law" जैसे कोई व्यक्ति बहुत ही भूखा हो तो उसे बाध्य होकर क्षुधातृप्ति हेतु कुछ करना ही पड़ेगा और यदि अच्छे साधनों से भोजन न मिला तो चोरी भी कर सकता है यहां चोरी उसका दोष नहीं है। पुराणों में एक कथानक में कहा गया है कि विश्वामित्र एक बार तीन दिन भूखे रहे, और जब कहीं से भोजन न मिला तो कसाई के यहां से कुत्ते का मांस चुराकर खाया। जब कसाई ने उनसे उनके कार्य की भर्त्सना की, तो विश्वामित्र ने उसे डांटा और कहा कि यदि प्राण बचे रहेंगे तो और धर्म कर लेंगे। अतः प्राणरक्षा के समय कोई अनैतिक कार्य दोष नहीं होता है।

एक बार राजा भोज ने दो तोते खरीदे। उनमें एक शास्त्रीय चर्चा करता था तथा दूसरा कुचर्चा और गाली बकता था। एक दिन भोज एक दूसरे राजा पर चढ़ाई करने चलें। उसी समय दूसरे तोते ने अपशकुन किया। राजा ने उसे मार डालने की आज्ञा दी। जैसे ही मारने चले तो पहला तोता एक श्लोक पढ़ते हुए कहता है:—

"अहं मुनीनां वचनं श्रृणोमि,
गवासनानाँ सवचा श्रृणोति।
न मे गुणोऽयं नहि चास्य दोषा,
संसर्गजा दोष गुणा भवंति॥"

हे! राजन् इसको मत मारिये। "मैं मुनियों के आश्रम में पला था वहाँ उनके वचनों का श्रवण करता था और यह कसाइयों के यहाँ पला था अतः इसने कसाइयों के बचन सुने। न मेरा कोई गुण है, न इसका कोई दोष। गुण दोष तो संगति से हुआ करते हैं।"

उपर्युक्त तोते के वचनों में बहुत ही सत्यता का सार है। जाने कब कौन बुरा आदमी अच्छा बन जाय। बाल्मीक जी डाकू से कितने बड़े साधु हुए। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि:—

"उलटा नाम जपत जग जाना,
बाल्मीक भए ब्रह्म समाना।"

अतः जो परछिद्रान्वेषण करता ही है वही दोषी होता है नहीं तो दोष देख ही नहीं सकता। अँग्रेजी में एक कहावत है कि

"Those who live in the glass house should not throw stones at others."

जो कांच के मकान में रहता है जिसकी पूर्णता अपूर्णता, सफलता असफलता सब दीखती है उसे दूसरों पर पत्थर नहीं फेंकना चाहिए। क्योंकि खुद कांच का है। इसी बात को गोस्वामी तुलसीदास जी ने नवधा भक्ति में शबरी से कहा कि "आठँव जथा लाभ संतोषा, सपनेहु नहिं देखहिं पर दोषा।" परदोषदर्शन आध्यात्मिक एवं नैतिक दृष्टि से जघन्य पाप है। सबको इस पाप से बचकर भद्र की प्राप्ति करनी चाहिए तभी नैतिक जीवन की अभीष्ट सिद्ध होगी।

भावावेग योग के लिए एक अच्छी चीज हैं; परन्तु भावावेग जन्य कामना सहज ही विक्षोभ का एक कारण और एक बाधा बन जाती है।

अपने भावावेग को भगवान की ओर मोड़ दो, उनकी शुद्धि के लिए अभीप्सा करो; तब वे योगपथ के के सहायक बन जायेंगे और फिर कभी दुःख-कष्ट के कारण होंगे।

"श्री अरविंद"

एक संस्मरण

वृक्षों वाले बाबा

श्री वासुदेव शर्मा, एम० ए०, सा० रत्न, इन्दौर

बुन्देलखण्ड में श्री सद्गुरुदेव दयानिधि को 'वृक्षों वाले बाबा' के नाम से भी पुकारा जाता हैं कारण कि श्री स्वामीजी महाराज को वृक्षों के नीचे विश्राम करना अच्छा लगता है। चित्रकूट में भी पू० स्वामीजी पीली कोठी में नहीं ठहरते। दूर एक पर्णकुटी या किसी वृक्ष तले एक छोटा सा तम्बू, फिर भी उस दिव्यमूर्ति को आप किसी सघन वृक्ष की कुंज में ही प्रसन्न मुद्रा में पायेंगे। जन कोलाहल से श्रीचरण दूर रहना पसन्द करते हैं किन्तु भक्तों की भावना इस हद तक बढ़ जाती हैं कि वे अपने स्वार्थ के पीछे यह भी नहीं सोचते कि दयाघन के शरीर को भी कुछ विश्राम की जरूरत है।

भोजन के समय सभी कोई एकांत चाहते हैं किन्तु तपोघन को उस समय भी लोग—बाग घेरकर खड़े हो जाते हैं। यदि कभी ध्यानस्थ मुद्रा में वे होंगे तो भी दूर से बिना आहट किये चुपचाप प्रणाम न करते हुए उनके चरणों को जाकर छू लेंगे। पलंग पर मिठाई लाकर रख देंगे। हम दिखावा करना चाहते हैं। प्रसाद कुछ वहीं बिखर जाता है और चद्दर पर मक्खियाँ भिन—भिनाने लगती हैं। हम यह सोचते भी नहीं कि हमारी श्रद्धा भक्ति का यह कौन सा स्वरूप हैं! चरणामृत बनाने जावेंगे तो पदाम्बुज के अंगूठे को खूब—खूब गीला कर देंगे, उसे नोच तक डालेंगे। चद्दर गीली हो जाय कोई चिंता नहीं। पास में विराजमान संत महात्माओं की भी लोग नहीं सुनते। एकाध फटकार के बाद फिर वही क्रम चलता है। कहेंगे, स्वामीजी की फटकार किसके भाग्य में है?

किन्तु वह फटकार जो हमारे अन्तःकरण के तमस् को नष्ट कर दे, अनादि काल से चलते आ रहे इस अहम् को चूर—चूर करदे वह फटकार हम कहाँ चाहते है?

अब पुष्प मालाओं को लीजिये—श्री सद्गुरुदेव का कथन है कि फूलों की सुन्दरता तो लताओं पर और वृक्षों पर है उन्हें वहीं बने रहने दो। इन फूल की बड़ी—बड़ी मालाओं पर रुपया खर्च करने की जगह खाने—पीने की वस्तुयें जैसे भुने हुए चने, लाई, मूंगफली आदि ले आना अच्छा है। अमीरी फल अंगूर, नासपाती, केला, संतरा, मौसम्बी आदि एक ओर धरे रहते हैं, प्रसाद रूप में आप हम या अन्य संत महात्मा उन्हें प्रेम से पाते हैं। एक बार मैं कुछ पेके हुए टेमरू ले गया। पूज्य स्वामी जी ने मेरी ओर एक वात्सल्य भरी दृष्टि डाली और मुस्करा दिये।

अगर आप हम रामफल, खिरनी, खरबूजा, अचार, (चिरौंजी) अर्पण करें तो ये अवश्य समाहृत होंगे। जो महाभाग अपने जीवन का अधिकांश भाग एकान्त, सुनसान, बीहड़ गिरि, कन्दराओं में तपस्या रत रहा हो भला उन्हें बन के कन्द मूल फलों से क्यों कर प्रसन्नता न होगी। हरे चने (बूट) का होना तो सचमुच ही प्रिय स्थान पाता है। यदि होला भूनने में कोई त्रुटि पाई जाय तो वे स्वयं आकर बतलावेंगे कि किस प्रकार उसे भूना जाता है। वे दिन भी कैसे आनन्द से परिपूर्ण रहे हैं जब हम अपने हाथों गरम—गरम होला छीलकर आनन्द घन के कर कमलों में देते थे!

एक जगह यह देखा कि जिस रसोईघर में संत महात्माओं के लिये भोजन बनता था उसमें हल्दी, नमक, जीरा इत्यादि द्रोण में रात भर से खुले पड़े थे और उन पर बरसाती जीव जन्तु स्वच्छंदता पूर्वक रेंग चुके थे। भोजन की हरिहर होने पर जब मैंने स्वामी असंगानन्द जी महाराज से कहा कि भगवन्! साधु बनना बड़ा कठिन काम है, उन्होंने पूछा कि ऐसी कौन सी त्रुटि तुम्हें दिखाई

देती है ? मैंने उनसे कीड़े—मकोड़ों की कहानी सुनाई तो वे हँसने लगे, किन्तु जिन सज्जन की ओर से उस दिन निमंत्रण था वे नाखुश हुए। नौकर चाकरों पर अवलंबित रहकर जहाँ ठेके पर काम कराया जाता हो वहाँ इसके सिवा और क्या हो सकता है। बड़े आदमी अक्सर इसी प्रकार लकड़ी से मलहम लगाते हैं स्वयं अपनी काया को वे कष्ट नहीं देते।

एक बार बड़े स्वामीजी महाराज को एक ठिकाने-दार ने अपने शिकार महल के ऊपरी भाग में ठहरा दिया। रात हो चली थी। शिकार महल गाँव से दूर जंगल में था। उसके निचले भाग में सुअर बंधे थे। प्रातःकाल वे दर्शनार्थ आये। शिकार महल पर से शिकार की बात चल पड़ी और वे बोले भगवन् शिकार करना तो क्षत्रियों का धर्म है। भगवान् रामचन्द्र भी तो मृगया के लिये जाते थे—"पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं दिखावहिं आनी॥" इस पर सद्गुरु भगवान् ने जो उस समय शिकार महल से दूर एक वृक्ष तले विराजमान थे एक छोटा सा कंकड़ उठाया और कहा कि आप भी तो उन्हीं के वंशज हैं। भगवान् राम ने तो पहाड़ों को तैरा दिया था आप इस कंकड़ को ही इस कमण्डल के जल पर तैरा दीजिये। ठिकानेदार चुप थे। रासक्रीड़ा में कुलवधू गोपियों के बीच कान्ह बनना तो बहुत चाहते हैं किन्तु यदि उनको गोवर्द्धन धारण कराया जाय तो क्या गति होगी ?

एक ठिकानेदार की विशाल कोठी में पूज्य स्वामीजी को संत महात्माओं के साथ ठहराया गया। स्वामीजी ने उनके यहाँ का भोजन नहीं किया। दर्शनार्थ आने पर भोजन के लिये उन्होंने पूछा तो बतलाया "यह शरीर माँस—मिट्टी खाने वाले के यहाँ का भोजन नहीं पाता।" उन्होंने कहा मैं सिर्फ दशहरे के दिन ही थोड़ा सा प्रसाद लेता हूँ यह मेरे गुरुदेव का आदेश है। स्वामीजी ने कहा 'इतना भी क्यों लेते हो वह भी छोड़ दो यह हमारा आदेश है।' उन्होंने तर्क दिया—"कुल देवी जगदम्बा का वह प्रसाद कैसे छोड़ा जा सकता है ?" स्वामीजी ने कहा "जगदम्बा अपने बच्चों को नहीं खा सकती। यह तो तुम्हारी जीभ है जो प्रसाद के नाम पर सब चाट जाती है और यदि गुरु ने ऐसा कहा है तो वह भी सच्चा गुरु नहीं।"

सचिव बैद गुरु तीनि जौं, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर, होहिं बेगही नास॥

ठिकानेदार नाखुश हुए और कहने लगे, क्षत्रिय यदि गोश्त नहीं खावें तो ताकतवर कैसे बने—स्वामीजी ने चुनौती दी कि आओ इस शरीर के बराबर दौड़ लगाओ या चाहो तो कुश्ती लड़ लो अगर ताकत की अजमाइश करना हो। ताकत गोश्त खाने में नहीं ब्रह्मचर्य में है। आबी खाओ पेशाबी मत खाओ (अर्थात् वे वनस्पतियां कन्द मूल फल खाओ जो पानी से उत्पन्न होती हैं, जल सींचने से फलती फूलती हैं आबी कहलाती हैं। पेशाबी अंडा, मुर्गी, बकरा बकरी आदि हैं जो पेशाब से पैदा होती हैं) परमात्मा ने तुमको सिंह चीते जैसे दाँत और नाखून नहीं दिये हैं, फिर पेट को क्यों कब्रस्तान बनाते हो।

ठिकानेदार के चेहरे पर रोष झलकने लगा स्वामीजी ने उनके अन्तर में झाँक कर कहा हमें इन बड़े बड़े पलंग और गादी तकियों का और इस क्षणिक वैभव का कोई प्रलोभन नहीं है। हम तो वृक्षों के तले निवास करने में परम सुख का अनुभव करते हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल कोठी सूनी पड़ी थी और संत महात्मा अपना—अपना सामान अपनी पीठ पर लाद कर पैदल ही प्रस्थान कर चुके थे।

क्या कारण है कि बहुतेरों को स्वामीजी की अमृत सी सीख नहीं सुहाती ? आत्मज्ञान का उपदेश क्यों नहीं टिकता कारण कि अध्यात्म—ज्ञान सिंहनी का दूध है जो स्वर्ण—पात्र में ही रह सकता है। आत्मज्ञान के इस दिव्य अमृत के लिये पात्र बनना भी आवश्यक है।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यते'

★

मैं हूँ लक्ष्मणधारा
दिलाता हूँ रोगों से छुटकारा
हैजा, के, दस्त, पेटदर्द, जीमिचलाना
कफ, खासी, जुकाम, बुखार आदि अनेक
रोगों की एक दवा हमेशा पास रखिये
रूप बिलास कम्पनी कानपुर

अखण्डप्रभा प्रकाशन

के उपयोगी ग्रंथ

१– मैं क्या हूँ ? —वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द	२.००
२– प्रकाश–किरण	१.००
३– प्रकाश–कीर्तन	१.००
४– मैं और परमात्मा —स्वामी परमानन्द	१.००
५– अखण्डवचनामृतम्	१.२५
६– ब्रह्मानन्द कीर्तन संग्रह (भाग १)	०.७५
७– ब्रह्मानन्द कीर्तन संग्रह (भाग २)	०.२५
८– आत्म–माला	०.५०
९– अखण्डानुभव	०.५०
१०– अखण्डप्रभा विशेषांक (वर्ष ४)	१.००

(डाक–व्यय अतिरिक्त)

सभी पुस्तकों को मँगाने के लिए लिखिए—

अखण्डप्रभा प्रकाशन
११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

"ज्ञान को यदि उपयुक्त और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त न किया जा सका तो उसे कोई नहीं स्वीकार करता"—

और कितना ही अच्छा लेख क्यों न हो अस्पष्ट, अशुद्ध और भद्दी छपाई से उसका कोई मूल्य नहीं रहता।

यदि अपनी छपाई का सही मूल्यांकन करना चाहते हैं तो एक बार

अखण्डप्रभा प्रेस

में आकर इसकी परीक्षा लीजिए।

—कार्यालय—

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

'अखण्डप्रभा प्रकाशन' की एक
अनुपम भेंट

'मैं और परमात्मा'

लेखक
श्री स्वामी परमानन्द जी

जिसे पढ़कर आप आत्मानुभूति के दिव्य–प्रकाश की झलक पा सकेंगे। भाषा सरल और सुबोध है। शैली आकर्षक और प्रभावपूर्ण है।

पॉकेट साइज—मूल्य १.०० (डाक व्यय अतिरिक्त)

आज ही पुस्तक मँगाने के लिए लिखिए—

अखण्डप्रभा प्रकाशन
११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

"यह उन अतिथियों का सूचीपत्र है जो इस हृदय व मस्तिष्क में कभी-कभी दर्शन दे गए हैं और यह कह गए हैं कि 'हम सबके हैं'।"

—वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द

हाँ, 'अखण्डप्रभा प्रकाशन' की यह उद्धरण–रूप में प्रकाशित पुस्तक

'प्रकाश–किरण'

आपके चित्त को लुभाए बिना न रहेगी

ईश्वर, गुरु, आत्मा, उपदेश, मोक्ष, मन, साधन, ज्ञान, भक्ति, कर्म, त्याग आदि शीर्षकों में संकलित इन उद्धरणों का मूल्य किसी रत्न से कम नहीं।

पॉकेट साइज, मूल्य १.०० (डाक व्यय अतिरिक्त)

–अखण्डप्रभा प्रकाशन
११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

अखण्डप्रभा
आत्मज्ञान का फल
जनवरी, १९६५
वर्ष ६ – अङ्क ५

आवश्यक निवेदन

समस्त प्रेमी पाठकों को अखण्डप्रभा प्रत्येक मास १-२ तारीख़ को भेजी जाती है। भेजने से पहले इसकी दो बार जाँच कर ली जाती है कि सब ग्राहकों को अखण्डप्रभा ठीक प्रकार से प्रेषित की जा रही है। फिर भी यदि किसी को पत्रिका न पहुँचे तो १५ तारीख के बाद तुरन्त भेजना चाहिए जिससे अगले अङ्क के साथ दुबारा अङ्क भेजा जा सके।

जिन प्रेमी ग्राहकों ने वर्ष ६ सितम्बर १९६४ से अगस्त १९६५ का वार्षिक चन्दा अभी तक नहीं भेजा है वे शीघ्र ही अपना चन्दा भेजने की कृपा करें अन्यथा अगला अङ्क वी० पी० द्वारा उनकी सेवा में भेजा जायगा जिसमें पाठकों के लगभग ७५ पैसे अधिक व्यय होंगे।

अखण्डप्रभा के ग्राहक आप किसी महीने से बन सकते हैं, परन्तु पत्रिका वर्ष के प्रारम्भ से ही भेजी जायेंगी। वार्षिक चन्दे के साथ विशेषांक भी सम्मिलित है, इसके लिए अलग से मूल्य नहीं लिया जाता। समस्त प्रेमी पाठक इसे अपनाकर 'अखण्डप्रभा' के व्यापक प्रचार में अपना सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

विषयानुक्रमणिका

चन्दा
आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति (साधारण) ३७ पै.
एक प्रति (सम्मेलन अङ्क) ७५ पै.
एक प्रति (विशेषाङ्क) १) रुपया

संस्थापक
ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी
ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

सभी प्रकार के [illegible]
चन्दा आदि [illegible]
व्यवस्थापक—[illegible]
११२/२३५, [illegible]
कान[illegible]

'येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'

सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

वर्ष ६ } कानपुर, जनवरी १९६५ { अङ्क ५

अपने को सुधारो !

यदि हम अपने अन्दर के क्षुद्र जगत को, जो कि हमारा अपना है, जैसा चाहें वैसा सुधार और गढ़ न सकें तो फिर हम अधिक विशाल बाहरी जगत् को सुधारने या बदलने की आशा कैसे कर सकते हैं ? स्वयं अपने को तो वैसे ही छोड़ देना और दूसरों को बदलने की कोशिश करना स्पष्ट ही एक मूर्खतापूर्ण और स्व–विरोधी सिद्धान्त है । दूसरी ओर, यदि सबसे पहले हम अपने आपको सुधारने का काम करें तो हम देखेंगे कि संसार में बहुत कम ही सुधारने की चीज है, प्रत्येक चीज अपने आप ही सुधर गयी है और इससे हमें बहुत अधिक आश्चर्य और सन्तोष होगा ।

प्रत्येक मनुष्य को उसके अन्दर उसका एक छोटा सा राज्य दिया गया है और वह उस राज्य का स्वयं मालिक है । किसी मनुष्य को कोई बड़ा (यहाँ तक कि छोटा भी नहीं) राज्य नहीं दिया गया है जिसका वह सफलतापूर्वक प्रबन्ध न कर सके : सबको ठीक-ठीक उसकी क्षमता के अनुपात में ही कार्य भार सौंपा गया है । अवश्य ही यदि कोई स्वयं चाहे तो वह 'केवल नाम का राजा' बन सकता है; परन्तु मनुष्य के लिए यह अनिवार्य भवितव्यता नहीं है; वह वास्तव में शासन करने वाला राजा बन सकता है और पूर्ण रूप से अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है ।

—श्री माँ, पाण्डिचेरी

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उद्बोधन

कुछ साधक कभी-कभी यह विचार करने लगते हैं कि शायद जो कुछ इस समय मैं कर रहा हूँ वह ठीक नहीं है और किसी दूसरे के साधनों को देखकर यह सोचते हैं कि यदि इस साधन को मैं कर पाता तो अधिक अच्छा होता। इसी प्रकार के विचारों में फँसे हुये साधक अपनी साधना को स्थिरता से नहीं चला पाते और न उन्हें अपनी स्थिति पर किसी प्रकार का विश्वास ही जम पाता है। जिस साधना पर विश्वास दृढ़ करने से उन्हें कुछ फल मिल सकता है उसी से उनका अपने अविश्वास के कारण कोई फल नहीं मिल पाता। इस आध्यात्मिक साधन में संस्कार, ज्ञान, अनुभव, देश, काल, परिस्थिति आदि के कारण इतना वैचित्र्य रहता है कि हो सकता है कि एक का साधन दूसरे के लिए अनुपयुक्त हो। बाह्य बातों को देखकर जो सहज आकर्षण होता है उसी के प्रभाव में आकर लोग अपने मार्ग को छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसी ही बाह्य स्थितियों अथवा बाह्य साधनों के चमत्कार की मान-प्रतिष्ठा को देखकर लोग अपनी दशा को हीन समझने लगते हैं। ऐसी हीन भावना उन्हें अन्तर्दशा की ओर देखने के लिए प्रेरित नहीं करती और वे चाहे अपनी दशा में कितने ही ठीक हों फिर भी बाहरी मान-प्रतिष्ठा के आकर्षण में आकर दूसरों की बातों एवं साधनों को अपनाने के लिए लालायित रहते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि लोगों को अपनी दशा पर ही तरस आने लगता है और निराशा में भरकर अपने को ही कोसते रहते हैं। इस प्रकार कोसते रहने से वे और अधिक कमजोर होते जाते हैं। इसी कमजोरी से वे जो कुछ कर भी सकते हैं उसे भी छोड़ बैठते हैं।

यदि दूसरे के किसी विशिष्ट साधन को अपनाकर ही किसी का कल्याण हो सकता है तो साधारण जनों के प्रति इस प्रकृति का अन्याय ही समझना चाहिए; परन्तु प्रकृति के द्वारा ऐसा अन्याय नहीं हो सकता। सभी को आगे बढ़ने के लिए प्रकृति ने यथेष्ट सुविधा दे रखी है और प्रत्येक के लिए अपनी वर्तमान स्थिति से ही आगे बढ़ने के लिए अनेक साधन उपलब्ध हैं। यदि किसी को इच्छानुसार कोई वस्तु उपलब्ध नहीं तो यह समझना चाहिए कि उसके बिना भी उसका काम चल सकता है। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि कोई अपने ही उपलब्ध साधनों को लेकर तथा सही स्थिति की परख कर आगे बढ़ने के लिए विश्वासपूर्वक अपने साधनों में स्थिर रहे। यदि किसी रूप में वे साधन उपयुक्त न होंगे तो प्रकृति स्वतः ही उसे नयी दिशा की ओर मोड़ देगी। किसी भी प्रकार से अपने लिए हीन-भावना नहीं उत्पन्न करना चाहिए। साथ ही किसी बाह्य साधनों के आकर्षण से भी दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी के लिए क्या उपयोगी है यह प्रकृति ने पहले से ही प्रदान कर रखा है। निरपेक्ष श्रद्धा और दृढ़–विश्वास लेकर निरन्तर आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

उत्तर वैदिक चिन्तन धाराएँ

श्री अरविन्द, पाण्डिचेरी

जबतक हम अपने को इन्द्रियों की गवाही तथा भौतिक चेतना के घेरे के अंदर ही बंद किये रहेंगे तबतक हम स्थूल जगत और उसके व्यापारों के सिवा और कुछ समझ और जान नहीं सकते परन्तु हमारे अन्दर कतिपय ऐसी वृत्तियां हैं जो हमारे मनको ऐसी धारणायें बनाने की योग्यता प्रदान करती हैं जिनके विषय में हम भौतिक जगतों के तथ्यों का युक्तियुक्त विचार करके या अपनी कल्पना - शक्ति की योजना के द्वारा अनुमान तो कर सकते हैं, पर जिनका समर्थन वास्तव में कोई भी सर्वथा भौतिक तथ्य या कोई भौतिक अनुभव नहीं करता। इन वृत्तियों में सबसे पहली वृत्ति है विशुद्ध बुद्धि।

मानव-बुद्धि में द्विविध क्रिया होतीहै, मिश्रित या पराश्रित, विशुद्ध या स्वाश्रित। बुद्धि जब हमारे इन्द्रियानुभव के वृत्त के अन्दर ही बन्द रहती है, जब वह इन्द्रियों के धर्म को ही अंतिम सत्य मान लेती है तथा जब वह बाह्य घटना के अध्ययन के साथ ही, अर्थात् चीजें अपने संबंधों, प्रक्रियाओं और उपयोगिताओं में जैसी दीखती हैं उस दृश्य रूप के साथ ही मतलब रखती हैं तब वह मिश्रित क्रिया को मानकर चलती है। यह तार्किक क्रिया, जो कुछ है उसे नहीं जान सकती, वह जो कुछ है केवल उसी को जानती है, उसके पास सत्ता की गहराई की थाह लेने के लिए कोई यंत्र नहीं होता, वह केवल संभूति के क्षेत्र की पैमाइश ही कर सकती है। दूसरी ओर, बुद्धि अपनी विशुद्ध क्रिया को तब प्रस्थापित करती है जब कि वह हमारे इन्द्रियानुभवों को एक आरंभिक स्थल तो मानती है, पर उन्हीं में बंधे रहने से इन्कार कर उनके पीछे चली जाती है तथा वहीं से उनका निर्णय करती, स्वतंत्र रूप से कार्य करती तथा उन सार्वत्रिक और अपरिवर्तनीय धारणाओं तक पहुँचने की चेष्टा करती है जो वस्तुओं के बाह्य रूपों के पीछे रहता है। परन्तु विशुद्ध बुद्धि के बोध भी मात्र एक बहाने के तौर पर आरंभिक इन्द्रियानुभव का प्रयोग कर अपने परिणाम तक पहुँचने के बहुत पहले उसे रास्ते में ही छोड़ दे सकते हैं—और यही उनकी विशिष्ट क्रिया है—इतनी अधिक दूरी पर छोड़ सकते हैं कि प्राप्त परिणाम उस बात के सर्वथा विपरीत मालूम हो सकता है जिसे हमारा इन्द्रियानुभव हम पर लादना चाहता है। यह क्रिया न्यायसंगत और अनिवार्य है, क्योंकि हमारा साधारण अनुभव जागतिक तथ्य के केवल एक अतितुच्छ भाग का ही स्पर्श नहीं करता, बल्कि अपने निजी क्षेत्र की सीमाओं में भी ऐसे उपकरणों का प्रयोग करता है जो सदोष होते हैं और इसलिए वह हमें इस क्षेत्र का मिथ्या तौल और नाप ही देता है। इसलिए यदि हम वस्तुओं के सत्य की अधिक पर्याप्त धारणाओं तक पहुँचना चाहें तो हमें इस साधारण अनुभव का अतिक्रमण करना होगा, इसे दूर फेंक देना होगा और इसके हठों का बारंबार तिरस्कार करना होगा। बुद्धि के प्रयोग के द्वारा इन्द्रियाश्रित मन की भूलों को सुधारना उन अत्यन्त बहुमूल्य शक्तियों में से एक है जिन्हें मनुष्य ने विकसित किया है और समस्त पार्थिव जीवों में उसकी श्रेष्ठता का यही प्रधान कारण है।

परंतु हमारी प्रकृति वस्तुओं को सदा दो दृष्टियों से देखती है, भावना के रूप में और तथ्य के रूप में, इसलिए प्रत्येक धारणा हमारे लिए अपूर्ण होती है तथा हमारी प्रकृति के एक भाग के लिए तब तक असत्य ही होती है जब तक कि वह एक अनुभव नहीं बन जाती, परन्तु जिन सत्यों पर हम विचार कर रहे हैं वे ऐसी कोटि के हैं जो हमारे साधारण अनुभव के आधीन नहीं हैं। वे अपने स्वभाव में "इन्द्रियानुभव के अतीत पर

बुद्ध्यानुभव के द्वारा ग्राह्य हैं"—(बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्—गीता)।

एक अर्थ में हमारे सभी अनुभव मानसिक हैं, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ हम ग्रहण करते हैं उनका भी हमारे लिए कोई माने या मूल्य तब तक नहीं होता जब तक कि वह हमारे इन्द्रियाश्रित मन के सांचे में नहीं ढल जाता—इसी मन को भारतीय दार्शनिक परिभाषा में मनस् कहा गया है। मनस्, हमारे दार्शनिक कहते हैं कि छठी इन्द्रिय है। परंतु हम यह भी कह सकते हैं कि यही एक मात्र इन्द्रिय है और यह कि दूसरी इन्द्रियाँ जो रूप, रस, गंध शब्द और स्पर्श को ग्रहण करती हैं और कुछ नहीं बल्कि उसी इन्द्रियाश्रित मन के विशेष प्रकाश हैं, और यह मन, यद्यपि साधारण अवस्था में अपने अनुभव के आधार के रूप में इन्द्रियों का प्रयोग करता है, फिर भी वह इनको अतिक्रम करता है और इनके माध्यम के बिना भी विषयों का सीधा अनुभव प्राप्त करने की क्षमता रखता है तथा यही उसकी स्वभाव सिद्ध यथार्थ क्रिया है। फलतः मानसिक अनुभव, बुद्धि के बोध की ही भाँति, मनुष्य में दोहरी क्रिया कर सकता है—मिश्रित या पराश्रित, विशुद्ध या स्वाश्रित। इसकी मिश्रित क्रिया साधारणतया तब होती है जब मन बाह्य जगत् को अर्थात् विषय को जानने की चेष्टा करता है और विशुद्ध क्रिया तब होती है जब कि वह अपने आप को, अर्थात् विषयी को जानने की कोशिश करता है। पहली क्रिया में वह इन्द्रियों के आश्रित होता है और अपने बोधों को उनकी गवाही के अनुसार ही गढ़ता है, दूसरी में वह स्वयं अपने अंदर क्रिया करता है और वस्तुओं के साथ एक प्रकार का तादात्म्य स्थापित कर बिना किसी सहारे के उनको सीधे जान लेता है। इसी प्रकार, अर्थात् तादात्म्य के द्वारा ही, हम अपने भावावेगों को जानते हैं, हम अपने क्रोध को जानते हैं, क्योंकि, जैसा कि मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा गया है, हम खुद ही क्रोध बन जाते हैं। इसी प्रकार हम अपने निजी अस्तित्व को भी जानते हैं और यहाँ तादात्म्य द्वारा प्राप्त किए हुए ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट समझ में आ जाता है। वास्तव में सभी अनुभव अपने गुह्य स्वरूप में तादात्म्य के द्वारा प्राप्त ज्ञान ही हैं, परन्तु उनका सच्चा स्वभाव हमसे इसलिए छिपा रहता है कि बहिष्कार के द्वारा, इस भेद के द्वारा कि हम स्वयं तो विषयी और दूसरी सभी चीजें विषय हैं, हमने अपने-आपको बाकी दुनियाँ से अलग कर लिया होता है, और इसलिए हम ऐसी प्रक्रियाओं और उपकरणों को विकसित करने के लिए विवश हो जाते हैं जो हमारा सम्बन्ध उन सबके साथ फिर से करा दें जिनका कि हमने बहिष्कार कर दिया था। हमें सचेतन तादात्म्य के द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थान पर उस अप्रत्यक्ष ज्ञान की स्थापना करनी होती है जो शारीरिक संस्पर्श और मानसिक सहानुभूति से उद्भूत हुआ प्रतीत होता है। यह परिच्छिन्नता अहंकार की एक मौलिक सृष्टि है तथा आदि मिथ्यात्व से, आरम्भ कर और उससे जन्मे हुए उन अन्यान्य मिथ्यात्वों से, जो हमारे लिए वस्तु सम्बन्ध के व्यावहारिक तथ्य बन जाते हैं, वस्तुओं के सच्चे सत्य को ढककर मिथ्यात्व जिस ढंग से आदि से अंत तक चलता आ रहा है उसका निदर्शन है।

हम साधारणतया जिन पाँच इन्द्रियों का उपयोग करते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों को विकसित करने के लिए भी इन्द्रियाश्रित मन की स्वाधीन क्रिया का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि हम एक ऐसी शक्ति तो विकसित कर लें जो हमारे हाथ में उठाई हुई चीज का वजन, बिना किसी भौतिक साधन के ठीक—ठीक बता दे। यहाँ स्पर्श और भार के बोध का प्रयोग केवल एक आरम्भिक उपकरण के तौर पर ही किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विशुद्ध बुद्धि इन्द्रियों के अनुभव का उपयोग करती है, किन्तु वास्तव में मन को उस वस्तु का वजन बताने वाली चीज उसकी स्पर्शेन्द्रिय नहीं होती, वह उस वस्तु के ठीक वजन को अपनी स्वतन्त्र अनुभव शक्ति के द्वारा जान जाता है और स्पर्श का प्रयोग तो वह केवल उस वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए करता है। और, जैसा

कि विशुद्ध बुद्धि करती है, वैसे ही इन्द्रियाश्रित मन भी इन्द्रियानुभव का प्रयोग मात्र एक प्राथमिक आधार के रूप में कर सकता है, जहाँ से वह उस ज्ञान की ओर अग्रसर होता है जिसका इन्द्रियों से कोई सरोकार नहीं और जो बहुधा उनकी गवाही के विपरीत पड़ता है। और मानस ज्ञान वृत्ति का यह प्रसारण केवल विषयों के बहिर्भागों और उपरितलों तक ही सीमित नहीं रहता। एक बार जहाँ हमने किसी बाह्य विषय के साथ किसी इन्द्रिय के माध्यम के द्वारा सम्बन्ध स्थापित कर लिया कि यह सम्भव हो जाता है कि हम अपने मन का प्रयोग करके यह ज्ञान लें कि उस विषय के भीतर क्या है—जैसे, दूसरों के विचारों और मनोभावों को, उनके कथन, हावभाव, क्रिया या मुखाकृतियों की सहायता बिना भी और यहाँ तक कि इन सर्वदा आंशिक और बहुधा भ्रामक सूचनाओं के विपरीत पड़ते हुए भी, हम ग्रहण कर सकें या जान सकें। अन्त में, आँतरिक इन्द्रियों का उपयोग करके, अर्थात् हमारी इन्द्रिय, शक्तियाँ अपनी भौतिक क्रिया से पृथक् अपने-आपमें, अपनी विशुद्ध मानसिक अथवा सूक्ष्म क्रिया में जैसी हैं, उनका उपयोग करके—इनकी भौतिक क्रिया तो बाह्य जीवन के कार्यों के लिए इनकी समग्र और सर्वसाधारण क्रिया में से केवल एक चुनी हुई क्रिया है—हम ऐसे इन्द्रियानुभवों का, वस्तुओं के ऐसे दृश्य रूपों और मूर्तियों का बोध प्राप्त कर सकते हैं जो हमारी जड़ प्राकृतिक परिस्थिति के संगठन के इन्द्रियानुभवों, दृश्य रूपों और मूर्तियों से भिन्न होते हैं। ज्ञान कृति के इन सभी विस्तारों को यद्यपि भौतिक मन दुविधा और अविश्वास के साथ ग्रहण करता है, क्योंकि हमारे साधारण जीवन और अनुभव की अभ्यस्त योजना के लिए ये असाधारण होते हैं, इनको कार्य में उतारना कठिन होता है और इससे भी अधिक कठिन होता है इनको इस प्रकार विन्यस्त करना जिससे कि इनसे सुव्यवस्थित और उपयोगी यंत्रों का काम लिया जा सके, फिर भी इनको हमें स्वीकार करना होगा, क्योंकि हमारी बाह्य भाव से सक्रिय चेतना के क्षेत्र को विस्तीर्ण करने के इस प्रयास के ये अनिवार्य फल होते हैं, भले ही वह प्रयास किसी प्रकार की अज्ञ चेष्ठा तथा आकस्मिक दुर्व्यवस्थित प्रभाव के द्वारा किया गया हो या किसी वैज्ञानिक और सुनियंत्रित साधना के द्वारा।

वस्तुओं का सत्य सदा इन्द्रियों की पहुँच के परे रह जाता है। फिर भी विश्वजीवन की स्वयं बनावट में ही यह सारगर्भित नियम अंतर्निहित है कि जहाँ-कहीं भी बुद्धिग्राह्य सत्य हैं वहाँ ही इस बुद्धि को धारण किए हुए देहयंत्र में कहीं कोई ऐसा साधन होना ही चाहिए जिसके द्वारा हम उनतक पहुँच सकें या अनुभव के द्वारा उन्हें जाँच सकें। बुद्धि के अलावा जो एकमात्र साधन हमारे सब को प्राप्त है वह है तादात्म्य ज्ञान के उस विशिष्ट रूप का विस्तार जो हमें अपने निजी अस्तित्व का बोध कराता हैं। वास्तव में स्वयं अपने विषय में थोड़ा-बहुत सचेतन होने पर ही, थोड़ा-बहुत धारणा बनाने पर ही हम यह जान पाते हैं कि हमारे अंदर क्या-क्या वस्तुएँ हैं। अथवा इस बात को अधिक साधारण सूत्र के अंदर लाकर यों कह सकते हैं कि आधार के ज्ञान के अंदर ही आधेय का ज्ञान निहित होता है। इसलिए यदि हम अपने मानसिक आत्म बोध की वृत्ति को, हमसे परे और बाहर जो आत्मा या उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म है, वहाँ तक आगे बढ़ा ले जायं तो हम उन सत्तों को अनुभव के द्वारा प्राप्त कर सकेंगे जो आत्मा या विश्वव्यापी ब्रह्म में आधेय रूप से हैं। इसी संभावना को भारतीय वेदान्त ने अपना आधार बनाया है। उसने आत्मा के ज्ञान के द्वारा ही विश्व के ज्ञान को खोजने की चेष्टा की हैं।

वेदान्त ने सदा ही यह माना है कि मानसिक अनुभव तथा बुद्धि की धारणाएं, अपनी उच्चतम अवस्था में भी, मानसिक तादात्मय के अन्दर प्राप्त वस्तुओं के सत्य के प्रतिबिम्ब हैं, न कि परम स्वयं तादात्म्य। हमें मन और बुद्धि के परे जाना होगा। हमारी जाग्रत चेतना के अन्दर क्रियाशील जो बुद्धि है वह तो सर्व ब्रह्म के दो पदों के बीच का एक माध्यममात्र है—एक वह जो अवचेतन सर्व है जहां से हम अपने ऊर्ध्वमुखी विकास में आते हैं और दूसरा वह जो अविचेतन सर्व है जिसकी ओर हम इस विकास के

द्वाराप्रेरित होते हैं, अवचेतना और अतिचेतना उस एक ही सर्व ब्रह्म के दो रूप हैं। अवचेतना की मुख्य बात है प्राण और अतिचेतना की मुख्य बात है प्रकाश। अवचेतना में ज्ञान या चैतन्य प्रच्छन्न भाव से कर्म में समाया हुआ रहता है, क्योंकि कर्म ही जीवन का सार है, अतिचेतना में कर्म पुनः प्रकाश में प्रविष्ट होता है और अब वह किसी प्रच्छन्न ज्ञान को धारण नहीं किए रहता, बल्कि स्वयं ही एक परम चैतन्य के द्वारा धारित होता है। इन दोनों में ही जो वस्तु समान रूप से विद्यमान है वह है अन्तः स्फुरित ज्ञान, और अन्तः स्फुरित ज्ञान की नीव है ज्ञाता ज्ञेय में सचेतन या सक्रिय तादात्म्य, सामान्य आत्म स्थिति की यह वह अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञान के द्वारा एक रहते हैं। परन्तु अवचेतना में जो स्फुरित ज्ञान है वह अपने आपको कर्म में, कार्य क्षमता में प्रकट करता है तथा ज्ञान या सचेतन तादात्म्य पूर्ण मात्रा में या अल्पाधिक मात्रा में कर्म में छिपा रहता है। दूसरी ओर, अतिचेतना में प्रकाश ही वहां का धर्म और मूलतत्व होने के कारण—अन्तः स्फुरणा अपने सत्य स्वभाव में, अर्थात् सचेतन तादात्म्य से उदित ज्ञान के रूप में अपने आप को प्रकट करती है और कार्यशक्ति, यों कहें कि उसके साथ लगी रहती या उसका आवश्यक परिणाम होती है और अब अपने को प्रधान तथ्य कहने का झूठा दावा नहीं करती। इन दो पदों के बीच बुद्धि और मन माध्यम के रूप में कार्य करते हैं जिससे सत्ता के लिए यह संभव होता है कि वह अपनी मूलगत प्रधानता को फिर से पा ले। जब आधार और आधेय पर, अपने—आप पर और दूसरों पर, प्रयुक्त मनका आत्मबोध एक ज्योतिर्मय स्वयं—प्रकाश तादात्म्य में उन्नत हो जाता है तब बुद्धि भी स्वयं-प्रकाश अतः स्फुरित ज्ञान के रूप में धर्मान्तर हो जाता है। यही हमारे ज्ञान की उच्चतम संभाव्य अवस्था है और यह तब प्राप्त होती है जब मन अति मानस में जाकर अपनी परिपूर्णता प्राप्त करलेता है।

विश्व के सम्बंध में वैदान्तिक विश्लेषण की दृष्टि जिस अन्तिम धारणा को प्राप्त होती है वह है एक सद्ब्रह्म अर्थात् विशुद्ध, अवर्णनीय, अनन्त, केवल सत, यही वह मूलगत सद्वस्तु है जिसे वैदान्तिक अनुभव ने उन सब जातियों और रूपों के पीछे पाया है जो कि हमारे लिए दृश्य सद्वस्तु हैं। यह स्पष्ट है कि जब हम इस धारणा को अपना लेते हैं तब हम उन सब चीजों के परे चले जाते हैं जिन्हें हमारी साधारण चेतना, हमारी साधारण अनुभूति अपने अन्दर धारण किये हुए हैं या सत्य करती है। इन्द्रियां या इन्द्रियाश्रित मन किसी विशुद्ध या निर्विशेष अस्तित्व के बारे में कुछ भी नहीं जानता। इन्द्रियानुभव हमें केवल रूप और गतिका ही बोध कराता है। रूप हैं, किन्तु उनका अस्तित्व विशुद्ध नहीं है, बल्कि यों कहें कि वे सदा ही संमिश्र, संयुक्त, एकत्रित और आपेक्षिक होते हैं। जब हम अपने अन्दर प्रवेश करते हैं तब हम रूपसे तो छुटकारा पा सकते हैं, किन्तु गति से, परिवर्तन से छुटकारा नहीं पा सकते। देश के अन्दर जड़ तत्वकी गति, काल के अन्दर परिवर्तन की गति ही, मालूम होता है कि जीवन कि शर्त हैं। अवश्य ही, हम चाहें तो यह कह सकते हैं कि यही जीवन है और स्वयं सत्ता की भावना का किसी ऐसी वास्तविकता से मेल नहीं खाता जिसे हम यहाँ खोजकर पा लें। अधिक से अधिक यह होता है कि मानसिक आत्म-बोध की क्रिया में या उसके पीछे, कभी—कभी हमें किसी अचल और अक्षर वस्तु की झाँकी मिल जाती है, हमें कुछ ऐसी अस्पष्ट अनुभूति या कल्पना होती है कि हम समस्त जीवन और मृत्यु से, समस्त परिवर्तन, रूपायन और कर्म से परे वही वस्तु हैं। यहाँ हमारे अन्दर एक ऐसा द्वार है जो किसी परतर सत्य की ज्योति—गरिमा में कभी—कभी खुल पड़ता है और फिर बन्द हो जाने के पहले उस ज्योति की एक किरण को हमारा स्पर्श करने देता है—यह एक जाज्वल्य-मान सूचना होती है जिसे हम, यदि हममें शक्ति और दृढ़ता है तो, अपनी श्रद्धा में पकड़ कर रख सकते हैं और इन्द्रियाश्रित मन की क्रीड़ा के स्थल पर किसी दूसरी ही चेतना की क्रीड़ा का, अर्थात् अन्तः स्फुरणा की क्रीड़ा का आरम्भ-बिन्दु बना सकते हैं।

कारण, हम यदि बारीकी से जांच करें तो हमें पता चलेगा कि अन्तःस्फुरणा ही हमारी पहली शिक्षिका

है। अन्तःस्फुरणा सदा ही हमारी मानसिक क्रियाओं के पीछे परदे की आड़ में छिपी रहती है। अन्तःस्फुरणा अज्ञेय के उन उज्ज्वल संदेशों को मनुष्य तक पहुँचाती है जिनसे उसके उच्चतर ज्ञान का आरम्भ होता है। बुद्धि तो केवल बाद में ही यह देखने के लिए आती है कि इस चमचमाती पैदावार से उसे क्या लाभ मिल सकता है। अन्तःस्फुरणा हमें, हम जो कुछ जानते या दिखाई देते हैं उसके पीछे और परे की उस वस्तु की धारणा कराती है जो सदा मनुष्य की निम्नतर बुद्धि तथा उसके समस्त साधारण अनुभवों का प्रत्याखान करती हुई उस (मनुष्य) का पीछा करती है और उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह अपने निराकार अनुभव को अधिक भावात्मक भावनाओं में रूपान्तरित करे—अर्थात् ईश्वर, अमृतत्व, स्वर्ग और अन्यान्य भावनाओं में रूपान्तरित करे जिनके द्वारा हम उसे मन के सामने व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि अन्तःस्फुरणा उतनी ही बलवती है जितनी कि स्वयं प्रकृति और यह प्रकृति आत्मा से ही निकली है और बुद्धि के विरोधों और अनुभव के इनकारों की जरा भी परवाह नहीं करती। जो कुछ है उसे यह जानती है, क्योंकि वह स्वयं उसी की है और उसी से आयी है, और जो कुछ महज हुआ है या प्रतीत होता है उसके निर्णय के अधीन वह उसको नहीं होने देती। अन्तःस्फुरणा हमें जिसका ज्ञान देती है वह उतना बाह्य अस्तित्व नहीं होता जितना कि अस्तित्व रखने वाला सत्तत्व होता है, क्योंकि हमारे अंदर प्रकाश का जो एक बिन्दु है, हमारे आत्म बोध के अन्दर जो कभी कभी एक द्वार खुल जाता है, उसी से वह निर्गत होती है और इसीलिए इसको ज्ञान प्राप्ति की यह विशेष सुविधा प्राप्त है। प्राचीन वेदान्त ने अन्तःस्फुरणा के इस सन्देश को पकड़ा था और उसे उपनिषदों के इन तीन महावाक्यों में व्यक्त किया था—'सोऽहम् (मैं वह हूँ)', तत्त्वमसि श्वेतकेतो (हे श्वेतकेतु, तू वही है),' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म' (यह सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है)।

परन्तु अन्तः स्फुरणा की जो क्रिया मनुष्य में होती है उसका स्वयं स्वभाव ही चूंकि परदे के पीछे से और खासकर मनुष्य के प्रायशः अप्रबुद्ध और स्वल्प विकसित अंगों में काम करना ही है और चूंकि परदे के बाहर उसका काम हमारी जाग्रत् चेतना के संकीर्ण प्रकाश में उन यंत्रों द्वारा होता है जो उसके संदेशों को पूर्ण रूप से आत्मसात् करने में अक्षम होते हैं, इसलिए अंतःस्फुरणा हमें सत्य को उस व्यवस्थित और सुव्यक्त रूप में नहीं हो सकती जैसा कि हमारी प्रकृति चाहती है। प्रत्यक्ष ज्ञान की किसी ऐसी पूर्णता को सिद्ध करने के पहले अन्तःस्फुरणा को खुद ही हमारे आधार के ऊपरी तह में संगठित होना होगा और वहाँ के प्रमुख कार्य को अपने अधिकार में कर लेना होगा। पर हमारे आधार के ऊपरी तह में जो चीज सुसंगठित है और जो हमारे अनुभवों, विचारों और क्रियायों के व्यवस्थापन में सहायता करती है, वह अन्तःस्फुरणा नहीं, बल्कि बुद्धि है। इसलिए अन्तः स्फुरित ज्ञान के काल के बाद—जिसका परिचय हमें उपनिषदों के प्राचीन वेदान्तिक चिन्तन में मिलता है—बौद्धिक ज्ञान का काल आया, अनुप्रेरित शास्त्रों की जगह बौद्धिक दर्शन शास्त्रों ने ली, जैसे कि पीछे चलकर बौद्धिक दर्शन शास्त्रों की जगह को परीक्षणात्मक जड़ विज्ञान ने दखल कर लिया। अन्तः स्फुरित चिन्तन अति चेतन सत्ता के यहाँ से आने वाला एक दूत है और इस कारण हमारी एक उच्चतम वृत्ति हैं, पर उसका स्थान विशुद्ध बुद्धि ने लिया, जो केवल एक प्रकार की सहायक वृत्ति है तथा हमारी सत्ता की मध्य ऊँचाइयों की चीज है, और फिर उसके बाद कुछ काल के लिए विशुद्ध बुद्धि के स्थान को भी बुद्धि की मिश्रित क्रिया ने ले लिया जो हमारी चेतना के समतल क्षेत्रों तथा निम्नतर ऊँचाइयों पर रहती है और जिसकी दृष्टि अनुभव के उस क्षितिज के परे नहीं जाती जिसे भौतिक मन और इन्द्रियाँ या उनके लिए आविष्कृत वैसी ही चीजें हमें प्रदान करती हैं।

वेद और वेदांत के द्रष्टा ऋषि अन्तःस्फुरण और आध्यात्मिक अनुभव पर ही पूर्णतया निर्भर करते थे

वे पंडित लोग भूल ही करते हैं जो कभी-कभी यह कह बैठते हैं कि उपनिषदों में बड़े-बड़े वाद-विवाद और शास्त्रार्थ भरे पड़े हैं। जहाँ कहीं भी विवादग्रस्त विषय का प्रसंग सा आया है वहीं उपनिषदें शास्त्रार्थ के द्वारा, तर्क के द्वारा या युक्ति के प्रयोग के द्वारा नहीं, बल्कि विभिन्न अन्तःस्फुरणाओं और अनुभवों की तुलना करने के द्वारा अग्रसर हुई हैं जिसमें स्वल्प प्रकाशमय अन्तःस्फुरणायें और अनुभूतियां अधिक-प्रकाशमय के आगे, संकीर्णतर, सदोष या अल्प-सार-गर्भित अन्तःस्फुरणायें विशालतर, पूर्णतर और अधिक सार गर्भित के आगे नत हो गयी हैं। वहाँ एक मुनि दूसरे से प्रश्न करते हैं, "भगवन् ! अमुक विषय में आपको क्या विदित है ?" न कि अमुक विषय में आपका क्या विचार है," न यही कि "अमुक विषय में आपकी बुद्धि किस निर्णय को प्राप्त हुई है ?" उपनिषदों में इस बात का जरा भी पता नहीं चलता कि वैदन्तिक सत्यों के समर्थन में युक्ति का आश्रय लेने को कहा गया है। ज्ञान पड़ता है कि ऋषियों का यह विश्वास था कि अन्तःस्फुरणा की कमी किसी पूर्णतर अन्तःस्फुरणा के द्वारा ही पूरी की जा सकती है, युक्ति-संगत तर्क उसका विचार नहीं कर सकता।

और फिर भी मनुष्य की बुद्धि की यह माँग है कि उसका संतोष उसकी अपनी पद्धति से ही हो। इसलिए जब बौद्धिक चिन्तन का काल आया तब भारतीय दार्शनिकों ने, जो अतीत काल में विरासत के रूप में मिली हुई संपत्ति के प्रति श्रद्धा रखते थे, सत्य सम्बन्धी अपनी शोध में दोहरा रुख रखा। उन्होंने अन्तःस्फुरणा द्वारा प्राप्त प्राचीन फलस्वरूप श्रुति अर्थात् वेद को-और वे अन्तःस्फुरणा को श्रुति कहना ही अधिक पसन्द करते थे-बुद्धि की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाण माना। परन्तु उसके साथ-ही-साथ उन्होंने बुद्धि से ही आरम्भ किया और उसके निर्णयों की खूब जाँच की, किन्तु अन्त में केवल उन्हीं निर्णयों को सत्य माना जिनका समर्थन इस परम प्रमाण श्रुति में मिला। इस प्रकार बौद्धिक दर्शनशास्त्रों के सहज ही फँसा देने वाले दोष से अर्थात् बादलों में संघर्ष करने की वृत्ति से किसी हद तक बच गये, क्योंकि बौद्धिक दर्शन शब्दों को इस प्रकार लेते हैं मानों वे ही प्रामाणिक तथ्य हों, वे यह नहीं समझते कि शब्द तो वे प्रतीक हैं जिनकी आवश्य[कता] के साथ सदा छानबीन करनी होगी और जिन्हें निरन्[तर] उसी वस्तु के अर्थ में ग्रहण करते रहना होगा जिसे [वे] सूचित करते हैं। आरम्भ में उनके अनुमान अपने केन्द्र [में] उच्चतम और गभीरतम अनुभव के आसपास बने [रहे] और बुद्धि और अन्तःस्फुरणा इन दो महान् प्रामाणि[क] वृत्तियों की संयुक्त समिति को लेकर ही अग्रसर हु[ए] परन्तु अन्त में अपनी प्रधानता स्थापित करने की [जो] बुद्धि की स्वाभाविक वृत्ति है उसने विजय पायी [और] अपने को गौण समझने के सिद्धान्त को ठुकरा दिया। [इस] कारण परस्पर विरोधी संप्रदाय निकल पड़े और प्रत्ये[क] संप्रदाय ने एक ओर तो सिद्धान्ततः वेद को अपना आ[धार] बनाया तथा दूसरी ओर उसकी ऋचाओं का प्रयोग ए[क] दूसरे के खंडन में अस्त्र-शस्त्र के तौर पर किया। इस[का] कारण यह है कि उच्चतम अन्तःस्फुरित ज्ञान वस्तुओं [को] उनकी अखण्डता में, उनकी विशालता में देखता है [और] ब्योरों को तो वह उस अविभाज्य अखण्डता की वि[भिन्न] दिशायें मात्र जानता है, उसकी प्रवृत्ति ज्ञान के अ[न्दर] समन्वय और ऐक्य की ओर रहती है। परन्तु [बुद्धि] विश्लेषण और विभाजन को लेकर ही चलती है [और] अपने तथ्यों को एकत्र कर एक समग्र वस्तु का नि[र्माण] करती है, किन्तु इस प्रकार निर्मित समग्रता में वि[परीत] वैपरीत्य और युक्तिसंगत असंगतता रह जाती है और [बुद्धि] की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इन तथ्यों में से कुछ [को] स्वीकार करना और अपने चुने हुए निर्णयों के वि[रुद्ध] पड़ने वाले तथ्यों को अस्वीकार करना, जिसमें [कि वह] कोई निर्दोष यौक्तिक शास्त्र की रचना कर सके। [इस] प्रकार प्राचीन अन्तःस्फुरित ज्ञान की एकता खण्डि[त हो] गई और तार्किकों के बुद्धिचातुर्य ने सदा ऐसे उपायों, भाष्यप्रणालियों और विभिन्न-मूल्यात्मक मानदण्डों [का] आविष्कार किया जिनके द्वारा वेद-वेदान्त के [...] का उनके मतानुसार अर्थ करना कठिन मालूम [...]

उन्हें करीब-करीब रद्द कर दिया गया तथा इस प्रकार अपने दार्शनिक चिन्तन के लिए उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गयी।

फिर भी इन विभिन्न बौद्धिक दर्शनशास्त्रों में प्राचीन वेदान्त की प्रधान धारणायें अंशतः बनी रहीं और समय-समय पर इन धारणाओं को प्राचीन औदार्य तथा अन्तःस्फुरित भावना के ऐक्य की किसी प्रतिमामें फिर से संयुक्त कर देने की चेष्टा भी होती रही। और भिन्न-भिन्न प्रकार से उपस्थित की हुई सभी चिन्तन-धाराओं के पीछे पुरुष, आत्मा या सद्ब्रह्म का, उपनिषदों के "शुद्ध सत्" का अस्तित्व मूल धारणा के रूप में बना रहा और यद्यपि बहुधा तर्क के साँचे में ढालकर उसे किसी मानसिक भावना या अवस्था का रूप दे दिया गया, पर फिर भी इसमें अनिवर्चनीय सद्वस्तु की प्राचीन भावना अंतः सलिला फल्गु की भांति सदा बहती रही। जिस संभूति को हम जगत् कहते हैं उसकी क्रिया का क्या सम्बन्ध इस निरपेक्ष एकत्व के साथ है; अहंकार, फिर चाहे उस क्रिया से पैदा हुआ हो या उसका कारण हो, वेदान्त-घोषित सच्चे आत्मा, परमात्मा या सद्वस्तु को किस प्रकार पुनः प्राप्त हो सकता है-बस ये ही वे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रश्न हैं जिनका भारतीय चिन्तन पर सदा अधिकार रहा है।

जीवन और उल्लास

महाकवि श्री परमेश्वर द्विरेफ, चिड़ावा (राजस्थान)

जलदों में हँसता तड़ित् नृत्य
होते रहते दिग्-मंडल में
काले मेघों के कृष्ण कृत्य
गाढ़ान्धकार के बाहु-पाश
चपला को लेते हैं समेट
उसके स्मित आनन का उज्ज्वल
देता है तम उल्लास मेट

उस क्षण होता यह ज्ञात, ज्योति
का होने वाला है विनाश
पर, तम का बन्धन छिन्नभिन्न
कर हँस उठता है महोल्लास
जीवन में नव उल्लास सत्य
जलदों में हँसता तड़ित् नृत्य

★

साहसी और ईमानदार बनो, फिर चाहे कोई रास्ता पूरे ध्यान के साथ अपनाओ और तुम पूर्णता को पा लोगे। यदि किसी जंजीर की एक कड़ी पकड़ लेते हो तो क्रमशः पूरी जंजीर तुम्हारे हाथ में आ जायगी। किसी पेड़ की जड़ में पानी दो अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करो और सारा पेड़ ही हरा भरा हो जायगा, परमात्मा को पाकर हम सब कुछ पा लेंगे।

—स्वामी विवेकानन्द

योग

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द

योग के ऊपर मुझे नई बात नहीं कहनी है। चित्त वृत्ति को रोककर अपने द्रष्टा स्वरूप को जानकर द्रष्टा के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता यह समझते ही चित्तवृत्ति जो अपने बारे में ही कुछ का कुछ मानकर किसमें स्थिर होना इसका निश्चय न कर चंचल जो थी—उसकी स्थिरता हो जाती है। और बाद में केवल एक ही यम-नियम के ऊपर विचार करते हुये अपने स्वरूप में निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। जिस पर किसी का असर नहीं पड़ता यह सबसे बड़ी सिद्धि हाथ आ जाती है।

यद्यपि हर तरफ सिद्ध ही सिद्ध भरे पड़े हैं, क्योंकि द्रष्टा सर्वत्र है। बीज, वृक्ष, पहाड़ शरीरों की रचना सर्वत्र सिद्धियां भरी पड़ी हैं। कमी यही थी कि स्वतः को असिद्ध माना था। योग का तात्पर्य है कि सर्वत्र सिद्धि देखने वाला स्वयम् अपने सिद्ध स्वरूप को ज्ञातकर निश्चय करके इस कल्पना के लिये निर्विकल्प हो जाये, कि और सिद्ध तो हैं मैं नहीं हूँ।

क्या योग बहुत समय में पूर्ण होने की शर्त है? नहीं। केवल समझकर अपने पूर्व के योगी स्वरूप की स्मृति करना है। हर एक योगी है। योग की सम्पूर्ण सिद्धियों का अनन्त बार प्रयोगकर चुका है। फर्क इतना है कि भूला है। और मैं योगी नहीं हूँ इस स्मृति के कारण सब साधन करते हुए भी अपनी सिद्ध कलाओं को देख नहीं पाता। अपने मन की सब कोई जानता है। दूसरे के मन की भी तभी जानेगा जब उसके मन की अपने मन में आयेगी। इसका अर्थ अपने मन को जानना ही अपने पराये के मन की जानना है। अनेकों बार शरीरों को छोड़ने पर काया प्रवेश करते, छोटे बड़े शरीरों को धारण करते गुप्त प्रकट होते, सर्व रूपधारी, इच्छाचारी, वृक्ष, पशु, पक्षी, लोक लोकान्तरों में जाने का अनुभव करता रहा। अपने सूक्ष्म शरीर के ही सब करिश्मे हैं ये जो योग में विभूतियाँ हैं जिसका कितने बार अनुभव कर चुका है! फिर भी मैं योगी नहीं हूँ यह धारणा ही होते हुए का भान नहीं करने दे रही है। योग कहता है—तुम्हें योगी बनाना नहीं स्मृति जगाना है। तुम्हें द्रष्टा बनाना नहीं—द्रष्टा तो हो ही जो अपने तन मन बुद्धि को देख रहे हो। करना यही है कि जिसे देख रहे हो उस ओर न देखकर माने उसका मूल्य घटाकर देखने वाले अपने आपका जो एकरस सर्वत्र है—उसे देखें अर्थात् समझें। क्योंकि देखने वाले को देखने वाले के सिवा कौन देखे? अर्थात् देखने वाले दो नहीं हैं। केवल मैं ही देखने वाला हूँ, यह निश्चय करना है।

तो क्या द्रष्टा, न देखने या देखने से कुछ और हो जायेगा? नहीं। तो फिर यह समझते हैं अपने आपके एकरस स्वरूप के लिये अब तक

अर्थ के विकल्प अर्थात् संदेह माने थे वे समाप्त होकर निर्विकल्प हो गया। सब कुछ देखने वाला द्रष्टा सर्व व्यापक और सर्व शक्तिमान है और सर्वज्ञ भी। द्रष्टा का द्रष्टा नहीं है अतः द्रष्टा एक और सबमें पूर्ण है यही तो आनन्द है। द्रष्टा आनन्द स्वरूप है।

योग का प्रश्न जाग्रत के झमेले में अपने आपको शान्त रखने का है, न कि स्वप्न, निद्रा, व सामर्थ्य या बेहोशी का है। सर्व अवस्था में अपना स्वरूप द्रष्टा ही तो है। फिर उसमें तो कोई फर्क होता नहीं। और बाकी जिनमें फर्क होता है वह मैं हूं नहीं, न उनका फर्क न होने का कोई योग आजतक निकला न वह वह इतना माननीय ही है। तो मुझ द्रष्टा में यदि एकरसता है ही तो चाहे कोई अवस्था आवे शान्ति तो है, अशान्ति होती तो कुछ जरूर बदल जाता परन्तु मनके हर विकारों में द्रष्टा शान्ति से देखता ही रहता है। यही द्रष्टा ईश्वर कहा गया है जो एकरस रहता है। अब फिर शम, दम, यम नियमादि किसलिए हैं? और इनके लिए कितना समय लगता है? देखो ये क्या हैं? हम कहेंगे यदि द्रष्टा मैं ही हूँ यह समझ में आ गया हो तो सारे साधन एक ही दिन में हो सकेंगे।

भेद द्रष्टा में है ही नहीं, द्रष्टा दूसरा हुआ ही नहीं, हो ही नहीं सकता तो दूसरेपन की प्रतीति ही जो चञ्चलता है, इसे मिटाने के लिए 'शम' की अब जरूरत ही न रही। शम हो गया। शम का शम हो गया। 'शम' हो जाने से इन्द्रियों का वेग स्वभाविक ही स्थिर हुआ। अर्थात् दम भी हुआ। दम का दम तो शन है। और शमदमादि वृत्तियों का दम है भेद वृत्ति। यदि वह गई तो शमदमादि का दम ही निकल गया। यदि कोई नाशवान है ही नहीं सिवा द्रष्टा के और कहीं न कोई था न है न रहेगा, और द्रष्टा यदि अविनाशी है ही तो नाश होने का डर किसका और कौन किसका नाश करे? अतः अहिंसा हो ही गई। बाकी कहाने वाली अहिंसा भी हिंसा ही समझो। सत्य एक द्रष्टा (आत्मा) ही है। यह वाणी सत्य है बाकी मन वाणी काया का सत्य जो देश काल परिस्थिति, शक्ति, सुविधा व्यक्ति के अनुसार बदलता रहता है—वह सत्य ही नहीं है। द्रष्टा के सिवा और जो कुछ भी प्रतीति है वह मिथ्या है इसकी सत्यता स्वीकार करना ही चोरी है। यह न स्वीकार करे तो अस्तेय। बाकी तो अस्तेयता की नकल होगी।

ब्रह्म रूप द्रष्टा का नित्य ही निजरूप से निश्चय करना ही ब्रह्मचर्य है; और वीर्यवान हो सकते हैं ब्रह्मचारी नहीं। वीर्यवान होना साधन है साध्य नहीं। साध्य है ब्रह्म, अतः साधन की सफलता ब्रह्म स्वरूप का चिन्तन ही है जिसे ब्रह्मचर्य कहा है। अपने द्रष्टा स्वरूप के सिवा किसी अन्य का चिन्तन न करना ही अपरिग्रह है। क्योंकि अन्य ग्रहणीय है ही नहीं। अपने आपकी पवित्रता किसी के द्वारा नहीं नित्य ही सहज है। द्रष्टा सदैव द्रष्टा ही है जो सर्व का द्रष्टा होने से सदैव असंग शुद्ध ही है। अतः यही शौच है। द्रष्टा ने अपनी पवित्रता किसी को दी ही नहीं तो ऐसी उपर्युक्त अनुभूति होने पर अन्य में प्रीति जो न होना, उसे ही संतोष कहते हैं। अपना—आप न और कुछ हुआ है न होता है। ज्यों का त्यों वहीं रहता

है, यह स्वरूप का संतोष नहीं तो क्या है ? द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है क्या उसका यह एकरस रहना संतोष नहीं है ? मैं द्रष्टा ही हूँ इसकी जब तक निष्ठा न बने तब तक इसी चिन्तन का नाम तप है। अन्य तप की पत नहीं रहती यदि यह ज्ञान न हो। द्रष्टा नित्य ही द्रष्टा रूप से है। क्या उसकी यह दृढ़ तपस्या नहीं है ? 'स्व', क्या है केवल द्रष्टा। तो इसी स्व का ही अध्ययन करते रहना स्वाध्याय है। अध्ययन करने वालों का बन्धन वे ग्रन्थ ही होते हैं, उनका साध्य स्वरूप तो नहीं, ग्रन्थ ज्ञानाभिमान जरूर हो जाता है। यह सारा विश्व स्व का ही अध्याय है। इस सारे विश्वाध्याय में केवल यही लिखा है कि यह केवल स्वरूप ही है। और यही पढ़ना स्वाध्याय है।

सम्पूर्ण इच्छा, संकल्प कल्पना विचार भाव क्रियाओं का जो स्वामी–नियन्ता अर्थात् जिस पर इनका प्रभाव न पड़े परन्तु जो सबको आकाशवत् आश्रय देते हुये स्वयम् द्रष्टा ही रहे वही ईश्वर है। तो द्रष्टा ही ईश्वर है इसका ही प्रणिधान अर्थात् अनुसंधान करते हुये दृढ़ता करना ईश्वर प्रणिधान है अन्य का चिन्तन तो योग का लक्ष्य ही नहीं है। योग तो स्वतः के द्रष्टा स्वरूप में अन्य चित्त के चिन्तन की समाप्ति चाहता है। अब जब अपने आप में यों दृढ़ता हो गई तो अपने आप में आसन लग गया। चित्त का आसन अपने आप में ही सदैव था, है और रहेगा। चित्त का ही आसन अपने में है फिर शरीर का क्या सोचना ? क्योंकि शरीर बाधक नहीं है, चित्त संयम् लक्ष्य है योग का। योग सबका मूल शरीर नहीं मानता। चित्ता और चित्त ही योग का शरीर है। अतः चित्त द्रष्टा में या चित्त में द्रष्टा की व्यापकता प्रतीत हुई [illegible] सारी ही आ–सन के बराबर हो गई। अब [illegible] सम्यक् प्रकार से चित्त द्रष्टा में आ–सन प्रविष्ट [illegible] गया है। वृत्ति का आवागमन जो हो रहा है, द्रष्टा [illegible] दोनों में पूर्ण है यह पूरक होते ही प्राणायाम [illegible] हो गया।

यही चिन्तन तो पूर्व के मिथ्या चिन्[illegible] रूप आहार के विरुद्ध आहार—प्रत्याहार—[illegible] को खिलाया जा रहा है। या द्रष्टा ही अपने [illegible] को ऐसा चिन्तन कर रहा है कि मैं द्रष्टा ही [illegible] तो मैं द्रष्टा ही हूँ यह चिन्तन पूर्व देहादिक [illegible] धारणा के विरुद्ध एक नवीन एवं सत्य धार[illegible] निष्ठा करायेगा। मैं द्रष्टा ही हूँ यही धारणा [illegible] का लक्ष्य है। सर्व रूपों में पंचतत्व, तीन गुण [illegible] व्यक्ताव्यक्त सर्व रूपों से मैं ही हूँ यह धारणा [illegible] योग की धारणा है। और यही ध्यान हो [illegible] कि मैं ही आत्मा हूँ। ध्यान में और कोई [illegible] यही ध्यान हुआ। और सर्वत्र अपने ही रूपों [illegible] अपना आप है। यदि यह निष्ठा हो गई तो [illegible] सर्वत्र एक अपने आप की सत्ता की स्थिति [illegible] हीं निर्विकल्प—निःसन्देह—स्थिति का नाम [illegible] समाधि है।

इस धारणा में सर्व विभूतियाँ भी, [illegible] गुणात्मक स्वभाव भी और नित्य आनन्दादि [illegible] समाधियाँ सहज हो जाती हैं। चाहे या न [illegible] परन्तु आपने आप के सिवा अन्य सब कुछ [illegible] ही कल्पना है यह ध्यान होते ही, ऐसा योगी [illegible] रमता हुआ भी, नित्य अपने मुक्त स्वरूप में [illegible] स्थित है। ऐसा योग एक दिन में एक मिन[illegible] भी हो सकता है। और योग्य ज्ञानी न मिले

हजारों वर्ष और हजारों जन्म भी यही योग दिला सकता है अतः ऐसी यह योग की स्थिति और ज्ञान की स्थिति एक ही हो जाती है। सांख्य, योग और वेदान्त जिस द्रष्टा पद में आकर द्रष्टा का द्रष्टा भाव रहित द्रष्टापन दिखाकर छुट्टी पाते हैं, वह यही अपना आप है। देखने की इच्छा या वृत्ति ही द्रष्टा भाव है।

योग का तात्पर्य था द्रष्टा का द्रष्टाभाव चित्ताकारिता लौटाकर केवल द्रष्टा की दृष्टि अपने आप में ही लौटाना द्रष्टा तो है ही ज्यों का त्यों। द्रष्टा का द्रष्टा भाव ही–वृत्ति थी। इसी वृत्ति से संसार रूपता धारण की थी। वह वृत्ति द्रष्टा ने अपनी व्यापकता देखकर मिटा दी। अर्थात् अपने में लीन कर ली जो ऐसा द्रष्टा कोई और नहीं तुम ही हो 'तत्त्वमसि', बोलो 'अहम् ब्रह्मास्मि'।

वियोग, कुयोग, सुयोग, सबमें जिसका नित्य ही रहता है योग वह द्रष्टा निजरूप ही योग का लक्ष्य है, जो आपको सहज प्राप्त ही है। अब तो इसका प्रयोगात्मक जीवन ही बिताइये। किसी में रमते हुए भी अपने स्वरूप के सिवा किसी का मूल्य चित्त में न बसे, यही योगियों की सहज लीला है। द्रष्टा बनता नहीं मिटता भी नहीं। सोई आप हैं। मैं हूँ। शिवोऽहम्।

तत्कथनं तच्चिन्तनं तदन्योन्यं प्रबोधनम्।
एतदेक परत्वंच ब्रह्माभ्यास विदुर्बुधः॥ श्रुति॥

बच्चे ठंडी में भूतों की बातें करते हुए डरते हैं। घर से बुलाए जाने पर स्वतः के बनाये भूत से डरने वाले वे पहले साथी के भरोसे, फिर शब्द के भरोसे, फिर अपने ही शब्द के भरोसे, फिर अपने ही भरोसे, अपने घर पहुँचते हैं। फिर सब कुछ छोड़ देते हैं। यहाँ योग का रहस्य भी इसी प्रकार है। गुरु शास्त्र के शब्दों के द्वारा, फिर अपने चिन्तन द्वारा, फिर अपने आपकी अनुभूति से, सबको छोड़ निज में स्थिति करना। यदि यह न समझ पड़े तो यही यम–नियम–यमराज बनकर अन्तर ही अन्तर अपने चित्रविचित्र गुप्त हृदय चित्रों का चित्रगुप्त बनकर रेकार्ड करता है और दुःखों की लिस्ट बनाकर पूरा भोगवा लेता है। इस बताये यम को समझें तो यम के भय से छुट्टी होगी और वे नियम अपने आपका स्पष्ट दर्शन होगा।

*

यदि पाप लोहे की जंजीर है तो पुण्य सोने की जंजीर है, दोनों ही जंजीरें हैं। स्वतंत्र हो जाओ, और हमेशा के लिए यह जान लो कि तुम्हारे लिए कोई जंजीर नहीं है। लोहे की जंजीर को ढीला करने के लिए सोने की जंजीर पकड़ लो, फिर दोनों को छोड़ दो। पाप का काँटा हमारे शरीर में चुभा हुआ है, एक दूसरा काँटा उसी झाड़ी में से लेकर पहला काँटा निकाल डालो, इसके बाद दोनों को फेंककर स्वतंत्र हो जाओ।

—स्वामी विवेकानन्द

भगवत्प्राप्ति के साधन

आचार्य रामप्रताप शास्त्री, करहिया, बाँदा

सृष्टि के मूल में विराट् पुरुष के मुख से सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओं से सत्त्व-रजप्रधान क्षत्रिय, जांघों से रज–तम प्रधान वैश्य, और चरणों से तमः- प्रधान शूद्रों की उत्पत्ति होती है और उन्हीं विराट् पुरुष भगवान् के जानुओं से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षस्थल से वानप्रस्थ और मस्तक से सन्यास ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इस प्रकार वे परमात्मा ही इन चारों वर्णों और आश्रमों के जनक हैं। अतः उन्हें छोड़कर जो मानव विषयों का सेवन करते हैं, वे अपने स्थान वर्ण, आश्रम और उस मानव-योनि से भी च्युत हो जाते है जो ज्ञान-विज्ञान का मूल–स्रोत है।

मनुष्यों के कल्याणार्थ अधिकारी–भेद से शास्त्रों में तीन प्रकार के योगों का विधान मिलता है। प्रथम-ज्ञान, द्वितीय-कर्म और तृतीय-भक्ति। मानव मात्र के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं बताया गया। जो लोग कर्मों से विरत हो जाते हैं—वे 'ज्ञान योग' के अधिकारी हैं। जो कर्मों और उनके फलों से विरत नहीं हैं—वे व्यक्ति 'कर्म–योग' के अधिकारी हैं। जो न विरत हैं और न आसक्त ही हैं तथा जो स्वभावतः भगवत्कथा आदि में अभिरुचि रखते हैं—वे 'भक्तियोग' के अधिकारी हैं। उन्हें भक्तियोग के द्वारा ही परम सिद्धि मिल जाती है

कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधि-निषेध हैं उनके अनुसार मनुष्य को तब तक कर्म करना योग्य है जब तक उन कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से, भोगों से उसे पूर्ण विरक्ति न हो जायं। इस प्रकार अपने वर्ण, आश्रम में रहते हुए निष्काम भाव से अपने धर्म का आचरण करता रहे। अपने धर्म में निष्ठावान् पुरुष निषिद्ध कर्मों का परित्याग करते हुए विधिकर्मों के अनुष्ठान मात्र से ही पवित्र हो जाता है फिर वह स्वर्ग तथा नरक से सर्वथा असंपृक्त हुआ इसी शरीर से अनायास ही आत्म-साक्षात्कार रूप विशुद्ध तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

यह मानव जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। स्वर्ग और नरक दोनों लोकों के निवासी जीव इसकी प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं क्योंकि मानव-योनि में ही जीव अन्तः-करण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान-विज्ञान स्वरूपा भक्ति की प्राप्ति कर सकता है। स्वर्ग-नरक में तो कोई साधन ही नहीं बन पाते। यद्यपि मानव शरीर अत्यन्त ही क्षण भंगुर है, परन्तु इसके द्वारा वास्तविक स्वार्थ–परमार्थ [illegible] सत्यवस्तु की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह मृत्यु से पूर्व ही सावधान होकर [illegible] साधना में तत्पर हो जाये ताकि जन्म-मृत्यु के भय से [illegible] सदा के लिए छूटा जाए।

यह शरीर एक वृक्ष है। इस वृक्ष में जीव [illegible] पक्षी का निवास है जिसे यमदूत प्रतिक्षण काटते रहते हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्ष को छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे ही अनासक्त जीव इसे छोड़कर परम-निवृत्ति-सुख प्राप्त करते हैं। जो आसक्तिवश नहीं छोड़ता उसे अवश्य ही दुःख भोगना पड़ता है। जब पुरुष संसार के पदार्थों में दुःख [illegible] को देखने लग जाता है, तब वह संसार से सर्वथा [illegible] होकर अपने आत्म स्वरूप के ही चिन्तन में संलग्न [illegible] है जिससे शीघ्र ही उसका मन शान्त होकर [illegible] चाञ्चल्य वृत्ति जो अनात्मा शरीर आदि में आत्म [illegible] करने से होती है, छोड़ देता है।

इस मानव-जीवन की सार्थकता ईश्वर की [illegible] कर लेने में ही है। भगवान् में प्रेम होने से भगवान् [illegible] प्राप्ति होती है। प्रेम भी उसी से होता है जिसका [illegible] चिन्तन या कीर्तन करते हैं। यदि हम विषयों का [illegible]

करते हैं तो विषयों की ही प्राप्ति होगी, परमात्मा का चिन्तन या स्मरण करते हैं तो परमात्मा की प्राप्ति होगी। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हैं। अस्तु ! इस प्रकार भगवान् के स्मरण, कीर्तन चिन्तन करने से उनके चरणों में प्रेम, राग या आसक्ति होती है। परन्तु यह स्थिति बिना सत्संग के दुर्लभ है बल्कि असम्भव है। वह सत्संग क्या है ? 'सत्' का संग। यहाँ सत् शब्द से तात्पर्य परमात्मा से ही है क्योंकि गीता के अनुसार तो 'ओं तत्सदिति निर्देशो-ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।' वह सत् परमात्मा ही है। सत् का संग अर्थात् भगवान् का संग। भगवान् कहाँ मिलेंगे ? भगवान् सर्वत्र हैं, सारे जीवों के अन्दर वह ही समाये हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ प्रभु का ही तो स्वरूप है—

"पुरुष एवेदँ सर्वयद्भूतं यच्च भाव्यम्"

हमारे प्रभु एक प्रसिद्ध देव हैं, सबके अन्दर छिपे हैं, सर्वव्यापी हैं, जीवों के अन्तरात्मा हैं, कर्मों के अध्यक्ष हैं, सबके अन्दर उनका वास है, सबके साक्षी हैं सबके चेतना देने वाले हैं, केवल वही हैं और निर्गुण हैं। कुछ भी उनके अतिरिक्त नहीं हैं। परन्तु हमारी बुद्धि इतनी सुदृढ़ कहाँ है कि हम इस निश्चय के अनुसार सर्वत्र भगवान् का दर्शन प्राप्तकर सकें। इसीलिए भगवान् स्वयं कहते हैं कि—

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

भगवान् भक्तों के हृदय में रहते हैं। भक्तों का हृदय विशाल होता है तभी तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में समाये रहने वाले इतने बड़े भगवान् भक्तों के हृदय में रहते हैं—समा जाते हैं। अर्थात् भक्तों का संग ही सत्संग है। उनके संग में सर्वदा भगवत्कथा, भगवत्कीर्तन होता रहता है जिससे विषयी-पुरुषों का संग, उनकी वार्ता, मोह, भ्रम, अज्ञान आदि से सर्वथा मुक्ति मिल जाती है। फिर तो भगवान् के चरणों में दृढ़राग की उत्पत्ति सहज ही हो जाती है। ऐसी स्थिति ही जीवनमुक्त की होती है।

"सत्संगत्वे निःसंगत्वं निःसंगत्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं निश्चल तत्त्वे जीवन्मुक्तः ॥"

भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं : उद्धव। सत्संग से मनुष्य आसक्ति का त्याग करके मुझे जैसा वश में कर लेता है, वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न इष्टापूर्त्त और न दक्षिणा। अधिक क्या ? व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥"
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ॥"

गीध, गणिका, व्याध, गजेन्द्र, कुब्जा आदि ने किन वेदों का स्वाध्याय किया था ? कौन सी उपासना की थी ? केवल सत्संग के प्रभाव से ही उन्हें भगवान् की प्राप्ति हुई थी। सत्संग से ही भगवान् की कथा का उदय होता है और उनके पवित्र यश के गायन, श्रवण, कीर्तन का अवसर प्राप्त होता है जो कि संसार-सागर से पार उतरने के लिये एक मात्र नौका है। भगवान् के पवित्र यश के संकीर्त्तन का बड़ा महत्त्व है। कलियुग में तो केवल संकीर्त्तन से ही भगवान् की प्राप्ति बतलायी गई है। इसीलिए इस युग के गुणों को जानने वाले सारग्राही पुरुष कलियुग का समादर करते हैं और इससे स्नेह करते हैं। देहाभिमानी जीव अनादि काल से भवाटवी में भटक रहे हैं उनके लिये भगवान् की लीला, गुण, और नाम कीर्तन से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ लाभ नहीं हैं क्योंकि संकीर्तन मात्र से ही प्राणी को परम शान्ति-सुख की प्राप्ति हो जाती है। कीर्तन का बड़ा महत्त्व है। नाम की महिमा अपार है।

"सुमिरि पवन सुत पावन नामू।
अपने वश करि राखे रामू ॥"

भक्तवर हनुमान जी ने तो इसीलिए मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम से इसी वर की याचना की थी कि मैं आपका सदा स्मरण–कीर्तन करता रहूँ क्योंकि मैं उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। भगवान् ने उन्हें यही वर दिया था कि तुम सदा पृथ्वी पर मेरे नाम का स्मरण करते हुए स्थिर रहोगे। नाम की महिमा विचित्र है, वहाँ वाणी की गति नहीं है—

"यतो वाचो विनिवर्तन्ते"

भगवान् स्वयं भी उसकी महत्ता का गायन करने में असमर्थ हैं—

"कहौं कहां लग नाम बड़ाई,
रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥

जो अत्यन्त ही मन्द मति हैं जो जिह्वा पाकर भी कीर्तनीय भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन नहीं करते वे मोक्ष की सीढ़ियों को पाकर उस पर नहीं चढ़ते, वे निश्चय ही दुर्मति हैं।

"जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत। लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणी स नारोहति दुर्मतिः ॥" अतः मानव जीवन की उपयोगिता इसी में है कि शीघ्र ही हम अपने जीवन के लक्ष्य भगवत्प्राप्ति के लिए उपर्युक्त साधनों को अपनायें ताकि त्रिविध तापों से शान्ति मिल सके जिनसे हमारी अत्यन्त ही शोच्य दशा हो रही है।

अविनाशी !

श्री ओम प्रकाश शुक्ल "अविनाशी" ककवारा, झाँसी

लखो निज रूप को भाई कटेगी कर्म की फाँसी।
मिटा दो जन्म का चक्कर बनो तुम ब्रह्म के वासी ॥
नहीं वह जाल माया में नहीं परलोक का वासी।
नहीं वह एक देशी का सभी वह ठौर का वासी ॥
करो दिल स्वच्छ भीतर का उदय हो ज्ञान परकासी।
मिटेगी कल्पना मन की न ढूँढ़ेगा उसे कासी ॥
करो नित आत्म चिन्तन को वही आनन्द का रासी।
मिटा दो भेद भक्ति को यही है ज्ञान सुखरासी ॥
जपो नित जाप सोऽहम् का यही है गर्जना खासी।
हटे अज्ञान तम सारा कटेगी मोह की गाँसी ॥
तुम्हीं हो निर्विकारी और परमानन्द घनरासी।
बताया रूप सतगुरु ने लखा जब "आप अविनासी" ॥

★

अखण्डवचनामृतम्

बैठो तो सोऽहम्, चलो तो सोऽहम्, खाओ पीओ तो सोऽहम्। अगर पापी बना हुआ है तो सन्मूख आया ही नहीं और दास भी नहीं हुआ। दास हो तो सेवा करो, सारे विश्व, जगत् की सेवा करो तो सेवक हो। स्वामी बनने में तो कोई देर नहीं।

o o o

कुछ कहते हैं कि ज्ञान हो गया है तो रोटी न खाओ। फलाना काम न करो। और तुम्हारे भगवान् ने रोटी खाई कि नहीं, रावण को मारा कि नहीं, भाई लक्ष्मण के शक्ति लगी तो रोये कि नहीं। क्या इन बातो के करने से भगवान् मिट गया। ज्ञान कोई मन्द अग्नि नहीं नहीं कि कुछ खाये नहीं, क्या लकवा है कि चले फिरे नहीं। मतवादियों ने ऐसी बातें बना ली हैं। तुम्हारा जन्म भेदवादियों के घर में हुआ है, संग भी उनका करते हो इसलिए सन्तों की बातें नहीं ठीक लगतीं। विवेक की आँख फूटी हुई है।

o o o

मैं मेरा प्राणों तक है इसे जल्दी से जल्दी खतम करो। शरीर भौतिक है, मैं अभौतिक हूँ। शरीर मिट्टी का है, मिट्टी में मिल जाना है। जीव का मतलब चेतन से है जो सबके बीच होकर जीवित रखता है। 'इश्वर अंश जीव अविनाशी।' अंश भेद के लिए नहीं है, अभेद के लिए है। 'चेतन अमल सहज सुखराशी।' इन चार विशेषणों वाला ईश्वर है और चार ही विशेषण वाला जीव है। इन दोनों के बीच गांठ पड़ गयी है; लेकिन यह गांठ मृषा जान लेना ही छूटना है। कमी को करोगे तो भोगना ही पड़ेगा।

o o o

भगवान् की माया शरीर की रक्षा करने वाली है। कहीं माया, कहीं काल, कर्म, ईश्वर की आड़ लेकर क्रर्म न करो। सब कुछ तुम ही करने वाले हो। घर घर में विद्या का प्रचार करो, यह नहीं कि इसे छोड़ बैठो। जब तक तुम सन्यास आश्रम में नहीं पहुँच जाते तब तक संध्या, तर्पण, हवन करो; व्यवहार में सिद्धि रहेगी।

o o o

आनन्द कहीं से आता नहीं। कारण यह है कि मन ठीक तौर से लगा नहीं। जब लग जाता है तो कहते हैं कि आनन्द आया। आनन्द आता नहीं खुद से ही होता है। सारा ढकोसला मन का है। मन ऐसा बना है जैसा तुमने बनाया है, मनाया है। मन कोई भी अपना मनमाना नहीं करता। जैसा तुमने मनन कराया है वैसा ही करता है। अब तुम दूसरा काम करना चाहते हो तो उसको आदत पड़ गई है और तुम्हारे और करने पर नहीं करता। परन्तु यदि बार—बार मनन करोगे तो फिर निकलेगा ही नहीं। सुख, दुःख आदि सब मन के धर्म हैं। बार—बार इसी बात का मनन करो कि शरीर पंचभौतिक है। यह मैं नहीं और यह मेरा नहीं। प्राण, मन, बुद्धि, चित्त मैं नहीं और ये मेरे नहीं। संकल्प, विकल्प, निश्चय, अनिश्चय आत्मा के धर्म नहीं।

o o o

ये अन्तःकरण के धर्म तुमने अपने आत्मा में आरोप कर लिया है। जाग्रत, स्वप्न अवस्थायें मन, बुद्धि में रहती हैं। सुषुप्ति अवस्था में जहाँ लय हो गया, विश्राम ले लिया उस समय सुख — दुःख का भान नहीं रहता।

o o o

प्रभु राम तथा सन्तदर्शन

वेदान्ताचार्य श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी, दिल्ली

सन्त-निष्ठानुसार साकार और निराकार रूप से दो प्रतिमाएँ संसार में अनुस्यूत हैं। साकार रूप में यह सारा विराटरूप और निराकाररूप में अखिल ब्रह्माण्ड का आधारभूत होते हुए भी साक्षीरूप में वही सर्वगत अनुस्यूत है। भगवान् राम का स्वरूप सगुण होते हुए भी चेतनसाक्षी होकर अभिन्नरूप से जीवमात्र को निश्चय होता है। इसी ज्ञान-दृष्टि द्वारा अपनी आत्मा में सर्वव्यापी राम की एकता का अनुभव ही सन्त-दर्शन माना गया है। सन्त-सत्पुरुष अपने ज्ञान-निश्चय के द्वारा श्री राम की सेवा-अर्चना और ज्ञान-दर्शन तो साकाररूप में किया ही करते थे परन्तु उनका दर्शन एक तिथि का न होकर नित्य अबाधगति से सर्वरूप हुआ करता है। उनका प्रभु एकदेशीय न होकर सर्वव्यापी अर्थात् अणु-अणु में व्याप्त है। अनेक पर्दे नामरूप के पहनने पर भी निरावरण-दर्शन सहज तथा सुलभ उनको प्राप्त हो जाते हैं। यह तो ध्रुव सत्य है कि जो जिसके मन में होता है, वही वह अपने मन, वचन और कर्म में करता है। अपने अन्तर राम-तत्त्व का अनुभव कर वाणी के द्वारा भी सन्त निम्न उद्गार प्रकट करते हैं।

"मैं हूँ तेरा, तू है मेरा, तू है शमा मैं परवाना,
तू गुलगुलशन मैं बुलबुल हूँ, तू बेपरवाह मैं दीवाना।
मैं दिल तू दिलरुबा मेरा, तू नूर आँखों का मैं आँखें।
तू गौहर मैं सदफ़ तेरा, तू घर वाला मैं हूँ खाना।
तू मैं हुआ, मैं तू हुआ न तू बाकी न मैं बाकी।
न चकताई न दोताइ, यगाना है न बेगाना ॥
विसालोहिज्र से बरतर, इक हैरत छाई है दिल पर,
यह मैं तौहीद है जिसमें न साकी है न पैमाना ॥

जिस प्रकार किसी भी सार-पदार्थ को ग्रहण करने के लिए उनके बाह्य रूपों को उतारकर फेंकना पड़ता [illegible] बादाम की गिरि और उसमें भी सारतत्त्व बादामतैल [illegible] प्राप्त करने के लिए बाहर की गुठली, छिलके [illegible] नामरूप को त्यागकर यदि तरावट लेनी हो तो [illegible] प्रयोग करना होगा। सर्वप्रथम बादाम की गिरि [illegible] निकसित उस बादाम-तैल की भी कुछ मात्रा, रूप [illegible] होगा परन्तु तत्पश्चात् उसके द्वारा प्राप्त सुख तो [illegible] अनुभवमात्र ही होता है। ठीक उसी प्रकार उस पर[illegible] तत्व के प्राप्त्यर्थ विधि-निषेध द्वारा जिसने नामरूप [illegible] होकर देहअध्यास से हटकर उस परमतत्व को [illegible] किया, वही उस परमतत्व स्वरूप की महिमा को [illegible] सकता है।

व्यापक राम के दर्शन जिज्ञासु को अन्तर्ज्ञान [illegible] द्वारा ही होते हैं। जल तरंग अपने अधिष्ठाता [illegible] अपने रूप में जिस क्षण अनुभव करती है उसी क्षण [illegible] व्यापक आधाररूप जल से अपने को अभिन्न पाती है [illegible] व्यापकता तो तरंग के न जानने से पूर्व भी सिद्ध है [illegible] जानने से जो अभेदता का अनुभव होता है, वह उसे [illegible] में मिलाकर सहज ही अभिन्नता का अनुभव करा दे[illegible] इसी प्रकार अपनी ही भावना द्वारा सर्वघट राम के [illegible] प्राप्त होने के फलस्वरूप पृथक्ता की भ्रान्ति सदैव [illegible] निवृत्त होकर एकता ही प्रतीत होती है।

प्रसादरहित सिद्ध-गण भगवान् राम को [illegible] अद्वितीय, सबके आदिकारण और प्रकृति के गुणों [illegible] परे बतलाते हैं तथा वे अहर्निश उनका भजन करते [illegible] पद भी प्राप्त करते हैं! परन्तु कुछ लोग कहते हैं [illegible] परब्रह्म होने पर भी अपनी माया से आवृत होने [illegible] अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानते थे, इसलिये गुरु [illegible]

आदि के उपदेश से उन्होंने आत्म–तत्व को जाना। अतः प्रश्न उठता है कि यदि वे आत्म–तत्व को जानते थे तो उन परमात्मा ने सीता ज़ी के लिए इतना विलाप क्यों किया ? और यदि उन्हें आत्मज्ञान नहीं था, तो वे अन्य सामान्य जीवों के समान ही हुए, फिर उनका भजन क्यों किया जाना चाहिए। भगवती पार्वती के इस प्रश्न पर श्री महादेव जी श्री राम के स्वरूप का परमगूढ़ तत्व बताते हुए कहते हैं–

'रामः परात्मा प्रकृतेरनादिः,
आनन्द एकः पुरुषोत्तमो हि'

अर्थात् श्री राम जी निःसन्देह प्रकृति से परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दघन, अद्वितीय और पुरुषोत्तम हैं।

स्वमायया कृत्स्नमिदं हि सृष्ट्वा,
नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः।
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ़ आत्मा
स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे।

अर्थात् वे राम अपनी माया से ही इस सम्पूर्ण जगत को रचकर इसके बाहर–भीतर सब ओर आकाश के समान व्याप्त हैं तथा वे ही आत्मरूप में सबके अन्तःकरण में स्थित हुए इस विश्व को परिचालित कर रहे हैं! इन परमात्मा–रूप राम को वे मूढ़–जन जिनका हृदय आत्मा के अज्ञान से ढँका हुआ है, वे नहीं जान सकते। प्रकाश–रूपता का कभी व्यभिचार न होने से जिस प्रकार सूर्य में रात दिन का भेद नहीं होता–वह सदा एकसा ही प्रकाश करता है, उसी प्रकार शुद्धचेतन घन भगवान् राम में ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रह सकते हैं ? ! अतएव हे पार्वती ! उन परानन्दस्वरूप विज्ञानघन अज्ञान–साक्षी कमलनयन भगवान् राम में अज्ञान का लेश भी नहीं है; क्योंकि वे माया के अधिष्ठान हैं, अतः माया उन्हें मोहित भी नहीं कर सकती। यही तत्व भगवती सीता हनुमान जी को 'राम हृदय' में बताती हैं कि 'वत्स हनुमान ! तुम राम को साक्षात् परमब्रह्म समझो और मुझे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली मूल–प्रकृति जानो।

"मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम् !'
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता !!

मैं ही निरालस्य होकर इनकी सन्निधिमात्र से इस विश्व की रचना किया करती हूँ। रघुकुल में जन्म लेना, यज्ञ–रक्षा, धनुष–तोड़ना, मारीचि वध, मायामयी सीता जी का हरा जाना, इनका विलाप करना, रावण–वध कर विभीषण को राज्याभिषिक्त करना–फिर श्री राम जी का स्वयं राज्यपद सँभालना–इत्यादि समस्त कर्म यद्यपि मेरे ही किए हुए हैं तो भी अज्ञानी लोग उन्हें इन निर्विकार सर्वात्मा भगवान् राम में आरोपित करते हैं।

समय–समय पर यह निर्गुण राम तो विशेष कार्य सिद्धि के लिए ही सगुण अवतार का रूप धारण करते हैं। कार्यसिद्धि देहोपाधि के बिना नहीं होती। जिस प्रकार बिजली सब स्थानों में पूर्ण है पर भिन्न–भिन्न उपाधि व रूपों को धारण करने से ही भिन्न–भिन्न कार्य सिद्ध कर रही है, इसीप्रकार वह निर्गुण राम सत्ता अपनी शक्ति का कौतुक दिखाने के लिए रामकृष्णादि संज्ञा को लेकर प्रकट होती है।

"जब–जब होइ धरम कै हानी,
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी,
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी,
सीदहिं विप्र धेनु, सुर, धरनी।
तब–तब प्रभु धरि विविध सरीरा,
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

सगुणरूप में ही वह राम अपने भक्तों की रक्षा कर भक्तों के हृदयों में दिव्य प्रकाश का परिनिवेश करते हुए सन्त–परम्परा को स्थिर रखते हैं। अब भगवान् के सगुणरूप को धारण करने के उद्देश्य को जानने के अनन्तर प्रश्न उठता है कि उस परमज्ञानमय स्वरूप के दर्शन किस प्रकार किए जाएँ। शास्त्रकार कहते हैं–

"महाजनो येन गतः स पन्थाः" महापुरुष जिस

मार्ग से जा चुके हो, वही वास्तव में अनुकरणीय मार्ग है। महापुरुषों ने किस प्रकार उस तत्व का अनुशीलन किया, यह हमें देखना है। इस मनुष्य जन्म की सार्थकता वस्तुतः भगवत्-प्राप्ति में ही है। भगवान् में परम प्रेमयुक्त होकर भक्तिपरायण रहना ही भगवत्प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
गीता—११।५४

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्व से जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभाव से प्राप्त भी किया जा सकता हूँ॥

श्रीमद्भागवत् में श्री कपिलदेव जी कहते हैं:—

'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयन्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥"
३।३२।२३

भगवान् वासुदेव के प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसार से वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्कार रूप यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करा देता है। भगवन्नाम रस की महत्ता और संसार के अन्य रसों की निःसारता को दर्शाते हुए परमहंस परमानन्द जी कहते हैं:—

पियो राम सुधारस प्यारे।
अमृतनाम हरि का अचवो, अपना आप सँभारे।
विष सम विषय जानकर त्यागो निशिदिन फुरना मारे
अन्त समय कोई काम न आवे, जो है जगत मँझारे।
राम का नाम जपो हृद अन्तर, परमानन्द पुकारे॥

उपासना का प्रयोजन वस्तुतः विक्षेप को निवृत्त कर अन्तःकरण की शुद्धि ही है। बाह्य विषयों से उपराम होकर जब जिज्ञासु निरन्तर रामचिन्तन में प्रवृत्त हो मन से सब प्रकार के संकल्पों का निरोध करता है, तो स[...] ही सत्वशुद्धि हो प्रभुराम के दर्शनों का अधिकारी बन[...] साधक ज्ञान से उस तत्व का साक्षात्कार करता है। क्योंकि:—

नाविरतोदुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ, २।१।२४)

जब तक विषयों से युक्त दुर्गुण तथा दुराचार [...] त्याग होकर चित्त का विषयों में भटकना बन्द नहीं होता[...] जब तक इन्द्रियनिरोध होकर मन का संकल्प बन्द नहीं हुआ, तब तक बहुत शास्त्राभ्यास से अथवा बहुत श्र[...] था तर्क से आत्मज्ञान नहीं होता। ज्ञान की प्राप्ति के लि[...] अन्तःकरण को वासना शून्य करना होगा क्योंकि जब त[...] एक भी भोगवासना अन्तःकरण में पड़ी रहेगी, तब त[...] प्रभुराम के हस्तामलक दर्शन साधक प्राप्त नहीं क[...] सकता।

इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरण से निरन्तर श्र[...] सर्वोत्कृष्ट प्रेमास्पद राम के स्मरण, ध्यान व चिन्तन [...] पश्चात् जब मन दिव्यप्रेम से भर गया तो गुह्य प्रेम[...] प्रकट्रूप धारण कर लिया और प्रेमासिक्त कंठ से ये [...] लगे।

"मिल्या अचरज यार यगाना है,
जिसदा घट–घट चंगाना है।
नामरूप दा घुण्ड उठायुम,
हस रस राम गले सु लायम।
प्रीतम होके प्रीतम पायुम,
नहिं अपना बेगाना है।

कहते हैं हमें तो ऐसे अभिन्न और विचित्र ह[...] को विश्राम देने वाले राम की प्राप्ति हुई जिसकी सर्वोत्कृ[...] घट–घट में व्यापक है। जिस समय हमने बाह्य ना[...] का पर्दा उठाया उसी समय हमने अपने प्रीतम से मि[...]

एकता का अनुभव किया ।

'अन्दर वड़ के पायुम झाती,
सिफ़ती छोड़ लहुम विच जाती,
रहचुम न रवदशा मेति हयाती,
नहिं आना नहिं जाना है ।
हर मजहब दा राह संजातुम,
हर मार्ग दा पन्थ पछातुम,
घट-घट वड़ के झाती पायुम,
एको राम निशाना ए ।
मस्त अलमस्त होई दिल मेरी,
विसर गई सब मेरी तेरी,
ना गुरु पीर न दासी चेरी,
ना साकी पैमाना है ।

इस प्रकार राम रस का जब पान किया तो आत्ममस्ती व आत्मतन्मयता की ऐसी खुमारी चढ़ी कि अपने बेगाने, शत्रु मित्र का रंचक मात्र भी भेदभाव न रहा । अब तो न हर्ष मन को उद्वेलित करता है और न ही शोक से चित्त विक्षिप्त करता है । सब बाह्य कल्पनाओं और भ्रान्तियों का नाश हो गया है । इसी अभिन्नता से आत्मविभोर होकर गुरुदेव कहते हैं ।

ये यार ते गैर न रह्या कोई,
जद आप नूँ आप सँभारिया मैं ।
द्वैतरूप प्रपंच न रह्या कोई,
जद इक नूँ इक विचारिया मैं ।
भेद भाव अभाव दा नाश होया,
जद सत नूँ सत चितारिया मैं ।
हेमराज न ऊँच न नीच कोई,
जद सर्व ही राम निहारिया मैं ।

प्रिय-मिलन की यही तो निशानी है कि सर्वत्र उन्हें अपने प्यारे राम का दर्शन होता है । इस प्रकार वे आत्मस्थित होकर सर्वप्राणियों में उस सच्चिद् ,परमानन्द स्वरूप राम का दर्शन अनुभव करते हैं । हृदय में द्वैत का कहीं स्थान नहीं । जब इस विराट् दर्शन द्वारा पूर्णतया उसी रामतत्व में एकता प्राप्त हो गई तो दुविधा व द्वैत का नामोंनिशान न रहा, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व मात्र तक की प्रतीति न रही ।

हेमाँ हिम थी गल सिधाना,
बाकी रहुम न नाम निशाना ।
अपने बिच वह आप समाना,
ज्यों पानी बिच पानी है ।

अन्ततः संक्षेपरूप में श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज ने किस प्रकार अपने प्यारे राम का सर्वत्र दर्शन किया, यह आपके सम्मुख रखा गया है । आशा है कि विद्वज्जन इस रामनवमी के शुभावसर पर हो रहे ज्ञान—यज्ञ की विमल धारा पर इस विचार विमर्श से मनन द्वारा ज्ञान लाभ करेंगे ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

जानना केवल सापेक्ष हो सकता है । हम ईश्वर हो सकते हैं लेकिन उसे कभी जान नहीं सकते । ज्ञान एक निम्न स्तर की वस्तु है । आदम जब 'जानने' लगा तभी च्युत हुआ इसके पहले वह ईश्वर था; वह सत्य था; शुद्ध था । हम अपने स्वरूप में हैं, लेकिन उसकी छाया देख सकते हैं कभी सत्य वस्तु को नहीं ।

—स्वामी विवेकानन्द

शिष्टाचार व्यक्तित्व का माप दण्ड है

श्री शिवनारायण सक्सेना, एम० ए०, विद्यावाचस्पति, मेघनगर

अपने चेहरे को दर्पण में देखकर ही सुधारने का प्रयास करते हैं क्योंकि कुरूपता, गन्दगी, अस्वच्छा जसी सभी बातें वह हमें सही-सही बता देता हैं। कहने का तात्पर्य यह है हमारा ही चेहरा वास्तविक रूप से उस दर्पण में आ जाता है, वैसे मानव जीवन में शिष्टाचार एक दर्पण के समान है जिसके सम्मुख रहते ही उसके व्यक्तित्व का ज्ञान भलीभाँति मालूम पड़ता है। मनोवैज्ञानिक, दर्शन शास्त्री, और वकील इत्यादि व्यक्ति से प्रथम भेंट में ही सारी बातों का पता लगाते हैं। हमारी बातचीत, हमारे शिष्टाचार से कोई कितना प्रभावित हुआ है इसे हम आसानी से जान लेते हैं। दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करने से आत्मीयता, प्रेम, सहयोग और सहानुभूति प्राप्त होती है। मित्रता में वृद्धि है, प्रथम भेंट में ही लोग अपना मित्र बना लेते हैं और अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो १०-२० बार मिलने पर भी अपनी शिष्टता की छाप नहीं छोड़ पाते। समाज में प्रसिद्धि और कीर्ति भी प्राप्त होती है, लोग पीछे बड़ी प्रशंसा भी करते हैं, और दूसरे के शिष्टाचार, मिलन, सारिता आदि बातों की दूसरों से चर्चा भी करतें हैं।

इसके विपरीत जो अशिष्ट और असभ्यता पूर्ण व्यवहार में कुशल होते हैं, उनसे तो मिलना ही हराम हो जाता है, ऐसे लोगों से इतनी अधिक घृणा हो जाती है कि मिलने के अवसर आने पर भी नहीं मिलना चाहते, और आँख बचाकर निकल जाते हैं। अपने मित्र, परिवार के आत्मीय जन, और अन्य परिचित भी किसी प्रकार का सहयोग देने के लिए तैयार नहीं होते और असमर्थतावश समाज में एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ता है। चाहे व्यक्ति में कोई आकर्षण न हो, और गुणों की खान भी न हो, फिर भी अपनी शिष्टतावश दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर काम निकाल लिया जाता है, अच्छे व्यवहार से सद्भावनाएँ, शुभकामनाएँ और प्रोत्साहन प्राप्त कि[illegible] जा सकता है जिससे जीवन में उन्नति की जा सके। शिष्टता, के द्वारा पराये अपने बनाये जा सकते हैं, शत्रुओं को मित्र बनाया जा सकता है, और लड़ाई झगड़ों को शान्त किया जा सकता है। नीतिकार ने कहा भी है:-

उपायेन जये यादृग रिपोस्तादृङ् न हेतिभिः।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः चरिभूयते ॥

अर्थात् शत्रु जिस प्रकार उपाय से जीता जाता है उस प्रकार शस्त्र से नहीं जीता जा सकता। चतुर आदमी छोटे शरीर या अल्पबल वाला होकर भी शत्रु द्वारा पराभूत नहीं होता।

यह वह मिष्टान्न है जिसके खाने से मुँह [illegible] कड़वापन दूर हो जाता है, यह वह चिनगारी है जि[illegible] दिखाने से पत्थर हृदय भी मोम की तरह पिघल जाते[illegible] यह एक प्रकार का अमृत है जो विषैले, और कटु व्यवहार को भुलाकर प्रेम का वातावरण उत्पन्न करता है। शिष्टा[illegible] देखने में भले ही छोटा शब्द लगता हो पर इसके अन्[illegible] एक दूसरे को सम्मान देना, बातचीत करने का ढंग, से[illegible] सहायता, सम्बोधन और प्रेम आदि अनेक गुण आ [illegible] हैं। शिष्टाचार के द्वारा व्यक्ति की सारी गहराइयों, [illegible] उसके आचार विचार का पता लगाते हैं, समाज [illegible] व्यवस्था, संस्कृति की विशेषता और सभ्यता की अनु[illegible] का मापदण्ड यही है। व्यक्तियों के आचरण और व्य[illegible] से ही किसी देश की नैतिकता और चरित्रबल की जान[illegible] मिल जाती है। नम्रता, विनयशीलता, और वा[illegible] इसकी ही शाखायें मानी जा सकती हैं।

अब्राहमलिंकन अमेरिका का राष्ट्रपति नीग्रो [illegible] हाथ उठाकर अभिवादन करने पर सिर झुकाता था।[illegible]

बार जब उनके मंत्री ने पूछा "श्री मान् इन पिछड़े वर्ग के व्यक्तियों के लिए आपके द्वारा सिर झुकाना शोभा नहीं देता।" तो उन्होंने बड़े गजब का उत्तर दिया "मंत्री महोदय! राष्ट्रपति में जब देश वासियों से सभी प्रकार के गुण अधिक होते हैं फिर अमेरिका का राष्ट्रपति नम्रता में भी साधारण व्यक्तियों से पीछे क्यों रहे?" हमारे परिचय के साथ-साथ ही शिष्टाचार भी बढ़ता जाता है, परिवार माता, पिता, भाई, बहिन, पति, पत्नी, बच्चे, चाचा, चाची, दादी तथा अन्य निकटस्थ सम्बन्धियों से लेकर अन्य सब व्यक्तियों तक जिनसे भले ही हमारा साधारण परिचय हो, फिर शिष्टाचार की महती आवश्यकता पड़ती है। एक तरह से हमारा सारा जीवन इसी कार्य प्रणाली पर आधारित रहता है। शिष्टाचारी सदैव उदार हृदयी, और सदाचारी होता है। वह दूसरे के हृदय पर अपना कब्जा कर लेता है, उसमें सरलता तथा शिष्टता द्वारा दूसरों को अपना बनाने की क्षमता होती है और इसीलिए परिवर्तन भी ले आता है, ऐसे व्यक्ति स्वयं तो प्रसन्न चित्त रहते ही हैं साथ ही दूसरों को भी अपने व्यवहार से प्रसन्न रखते हैं तथा लाभान्वित करते रहते हैं।

अपनी वाणी तथा कर्म द्वारा कभी भी किसी को दुःख न पहुँचाना, शिष्टाचार का प्रमुख अंग है। जिन कार्यों से किसी का हृदय दुखता हो, अथवा मन में चिन्ता होती हो, ऐसे अशिष्ट कार्यों से सर्वत्र बचना ही चाहिए। तभी वह अपने में मनोविकारों को निकाल कर अभिमान के स्थान पर नम्रता, और अहं के स्थान पर विनयशीलता, और कटुता के स्थान पर मधुरता को बढ़ाता रहता है। ऐसी कोई बात नहीं कि शिष्टाचार का गुण सन्त, महात्माओं अथवा महापुरुषों में ही होता हो, आत्म-निरीक्षण, सतत् प्रयास और निरन्तर अभ्यास के द्वारा मधुरता बढ़ाई जा सकती है, सोच समझकर दूसरों से व्यवहार किया जावे तथा आदर सम्मान दें तो निर्धन, और निम्न परिवार में जन्म लेकर भी लोगों के गले का हार बन सकते हैं।

इन दिनों समाज में शिष्टता के स्थान पर अशिष्टता बढ़ती दिखाई दे रही है, बड़ों का सम्मान करना, उनको आदर से बिठालना, उनके हृदय की पूछना अब लोग अपमान समझने लगे हैं। आदर के स्थान पर अनादर उल्टे जवाब देकर जीवन के कार्य कलापों में उच्छृंखलता बढ़ती जा रही है, यह भारतीय समाज के लिए कलंक ही माना जाना चाहिए। स्वार्थ में पड़ना, मनचाहे ढंग से बातें करना, और व्यवहार करना अशोभनीय है। गालियाँ देना, दूसरों की गलती निकालकर उस पर हँसना, बड़े बूढ़ों की मजाक बनाना, अश्लील बातें करना, सड़क पर चलते हुये व्यक्तियों, अथवा परेशान जीवधारियों के प्रति व्यंग्य कसना, और बड़ों की उपेक्षा करना एक फैशन सा बन गया है। आज के पढ़े-लिखे व्यक्ति तो सभा, सोसायटियों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, और सिनेमा आदि में भी अपने आसपास के बैठे हुए व्यक्तियों पर ध्यान न दिये हुए गन्दे ढंग से ऊटपटांग बकते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती।

ध्यान रखिये व्यावहारिक अशिष्टता किसी भी प्रकार से ठीक नहीं मानी जा सकती। इससे परिवार, समाज, और राष्ट्र सबको ही किसी न किसी प्रकार से हानि होती है, और दूसरे देशों के प्रतिलज्जित होना पड़ता है शिष्टाचार की कमी हमें हर जगह परास्त कराती है और असभ्यता तथा जंगलीपन का परिचय दिलाती है। इससे दूसरे व्यक्तियों के बीच हमारा कोई सम्मान नहीं होता और उनकी दृष्टि में ऐसे व्यक्तियों की कोई कीमत नहीं रहती है। इसलिए आज इस बात की बहुत आवश्यकता है कि अशिष्टता के स्थान पर अपने व्यवहार में शिष्टता की वृद्धि करें, इससे ही हमारी तथा हमारे समाज की प्रगति हो सकेगी, अपने दैनिक जीवन से लेकर बड़े कार्यों तक सदैव शिष्टता का प्रयोग करें, यदि हमारे जीवन में बोलने, चालने, उठने, बैठने, खाने, पीने के ढंग ठीक तरह से आगये तो परिवार के बच्चे स्वतः ही उनका अनुकरण कर अपने को सुधार लेंगे, तो लोगों कथन 'कि आज समाज में अनुशासन हीनता, उद्दण्डता, और निरादर की जो भावना बढ़ती जा रही है' अपने आप समाप्त हो जायेगी।

★

अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र के विविध समाचार

सत्सङ्ग के विशेष आयोजन

केन्द्र की ओर से दिनांक ४ से ६ दिसम्बर, १९६४ को श्री स्वामी प्रेमानन्द जी एम० ए० के सत्सङ्ग का विशेष आयोजन किया गया। दिनांक ४ को सायं बी० एन० एस० डी० कालेज हाल, ५ को सायं आर्यनगर धर्मशाला तथा ६ को प्रातः श्रीमती भूपरानी भार्गव के निवास-स्थान पर सत्सङ्ग में बहुत से प्रेमीजनों ने भाग लेकर आत्मलाभ प्राप्त किया। श्री स्वामी जी ने केन्द्र के विभिन्न कार्यक्रमों को देखकर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की तथा इसके सर्वतोमुखी विकास के लिए आशीर्वाद प्रदान किया।

गीता स्वाध्याय मण्डल, प्रयाग के तत्वावधान में कानपुर में होने वाले दिनाँक १५ से २० दिसम्बर तक गीता जयन्ती समारोह में केन्द्र के स्थानीय सदस्यों ने सक्रिय भाग लिया। पण्डाल की व्यवस्था तथा सजावट केन्द्र के सदस्यों ने ही सम्पन्न की। दिनांक १९ को सायंकालीन सभा में श्रीमती रतन भार्गव द्वारा 'मेरा सत चित आनन्द रूप......' कीर्तन प्रस्तुत किया गया। इस समारोह के विशिष्ट सन्त थे—राष्ट्र सन्त तुकड़ो जी, श्री वेद व्यास जी, स्वामी विद्यानन्द जी, जगद्गुरु श्री स्वामी शान्तानन्द जी आदि।

केन्द्र की नवीन शाखा

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज ने अपने कार्यक्रमानुसार कानपुर, जालौन, भिण्ड तथा हमीरपुर जिलों के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। सभी स्थानों में सत्सङ्ग के सफल आयोजन किए गए। लखनऊ शाखा के मंत्री श्री जय नारायण मेहरोत्रा के सद्प्रयास से दिनांक २४-२५ को सत्सङ्ग का सफल आयोजन हुआ। जनसमाज पर श्री स्वामी जी के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा।

माधोगढ़ (जालौन) में श्री स्वामी जी द्वारा केन्द्र की नवीन शाखा स्थापित की गयी। इसके कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए श्री केदारनाथ दूरवार-अध्यक्ष; श्री गुरुदत्त शुक्ल-मंत्री; श्री राम सेवक राठौर-कोषाध्यक्ष मनोनीत किए गए। इस शाखा के सर्व श्री कृष्ण गोपाल समाधिया, राम स्वरूप द्विवेदी, वृजेन्द्र सिंह, सीताराम शिवहरे, मथुरा प्रसाद शिवहरे, राम स्वरूप गुप्त, दया शंकर मिश्र, रूपराम गुप्त, वृज विहारी मिश्र, रामसनेही गुप्त, सदस्य बने जिन्होंने इसके उद्देश्यों को लेकर कार्य करने का संकल्प किया।

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी का कार्यक्रम

८ जनवरी से ७ फरवरी, १९६५ तक

जनवरी ८ से १० —बम्हौरी (छतरपुर)
११ से १२ —लौंड़ी (छतरपुर)
१३ से १५ —मलहरा महराजपुर (छतरपुर)
१६ से १९ —छतरपुर
२० से २३ —चरखारी (हमीरपुर)
२४ से ३१ —कानपुर
फरवरी १ से ७ —झाँसी

अखण्डप्रभा वेदान्त परीक्षा

अखण्डप्रभ वेदान्त विशारद की प्रथम परीक्षा २४ से २७ दिसम्बर तक सम्पन्न हुई। इसका परीक्षाफल फरवरी अंक में घोषित किया जायगा। १९६५ में होने वाली वेदान्त-विशारद तथा वेदान्त-प्रभाकर परीक्षा के आवेदन-पत्र २८ फरवरी, १९६५ तक स्वीकृत किये जायेंगे। परीक्षा में भाग लेने वाले प्रेमीजन आवेदन-पत्र के लिए कार्यालय को शीघ्र ही लिखें।

व्यवस्थापक
—अखण्डप्रभा वेदान्त परीक्षा

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र – अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

Govt. Regd. No.
R. N. 6873/59
अखण्डप्रभा
जनवरी, १९६५
रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक ५

कामना-ज्ञान : प्रेम-साक्षात्कार

धर्म, एक दुधारू गाय, ने बहुत लातें मारी हैं लेकिन कोई परवाह न करो, यह बहुत दूध देने वाली है। ग्वाला ऐसी गाय की लातों की परवाह नहीं करता जो दूध अधिक देती है। धर्म सबसे बड़ा बच्चा है जो पैदा होना है, यह एक बड़ा 'साक्षात्कार का चन्द्रमा' है; हमें इसका पालन-पोषण कर इसकी प्रगति में सहयोग देना चाहिए जिससे यह बहुत बड़ा हो जाय। "कामनारूपी राजा और ज्ञानरूपी राजा में युद्ध छिड़ गया, और जब ज्ञान-राजा की हार होने लगी तो उसने उपनिषद्-रानी से सन्धि कर ली। दोनों से साक्षात्कार नामक पुत्र पैदा हुआ जिसने लड़कर अपने पिता को बचा लिया।"

प्रेम बिना किसी प्रयास के इच्छा-शक्ति को एकाग्र कर देता है। उपासना का मार्ग भी प्राकृतिक एवं सुखद है। दर्शन-शास्त्र पर्वतीय झरने को शक्ति लगाकर उसके आदि स्थान में पहुँचाना चाहता है। यद्यपि यह जल्दी का रास्ता है, लेकिन बड़ा कठिन है। दर्शन-शास्त्र कहता है—"हर एक को नियंत्रित कर दो"। उपासना कहती है—"सब कुछ उस झरने को ही दे दो, शाश्वत आत्मसमर्पण कर दो।" यद्यपि यह लम्बा रास्ता है लेकिन सरल और सुखद है।

"मैं आपका सदैव के लिए हूँ, इसलिए जब जो कुछ करता हूँ, उसे आप ही करते हैं। अब मैं और मेरा नहीं रह गया है।"

"देने के लिए कोई धन नहीं, सीखने के लिए कोई बुद्धि नहीं, योग-साधन के लिए कोई समय नहीं; ऐ मेरे प्रियतम! तुम्हें मैंने अपने को सौंप दिया है, तुम्हारे लिए ही मेरा शरीर और बुद्धि है।"

किसी मात्रा का अज्ञान हो अथवा गलत विचार हों जीव और परमात्मा के बीच में रुकावट नहीं डाल सकते। यदि कोई परमात्मा न हो फिर भी पूरी दृढ़ता से उससे प्रेम करो। परमात्मा की खोज में प्राण गँवा देना कहीं अच्छा है बजाय इसके कि कुत्ते की तरह केवल मुर्दे के माँस के लिए खोज करे। उच्चतम आदर्श का चुनाव कर लो और अपना सम्पूर्ण जीवन उसी में लगा दो। "मृत्यु जब इतनी निश्चित है तो यही सबसे बड़ी बात है कि किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए सारा जीवन लग जाय।"

—स्वामी विवेकानन्द

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

फरवरी, १९६५
वर्ष ६, अङ्क ६

आत्मस्वरूप

यह विपश्चित्–मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ (अर्थान्तररूप से) बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर स्वयं नहीं मरता।

प्रेमी पाठकों से नम्र निवेदन

'अखण्डप्रभा' का प्रकाशन सुचारु रूप से नियमित होता रहे, इसके लिए समस्त प्रेमी पाठकों का हार्दिक सहयोग वांछनीय है। इसके प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य है जनसमाज में आध्यात्मिक चेतना को जागृत करना। इसके लिए सभी सम्भव कठिनाइयों का सामना करने के लिए तत्पर रहने की आवश्यकता है। यदि उदारमना पाठकगण इस महत्त्वपूर्ण कार्य में योगदान देने का संकल्प करें तो इसके पूरा होने में कोई कठिनाई नहीं आ सकती। इससे प्रेमी पाठकगण ही नहीं अपितु पूरा समाज ही लाभान्वित होगा।

'अखण्डप्रभा' आपके ही विचारों की प्रेरक पत्रिका है। अपनी ही पत्रिका को सभी प्रकार से सहयोग एवं प्रोत्साहन देना प्रत्येक प्रेमी पाठक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अखण्डप्रभा के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं परन्तु वर्तमान वर्ष के प्रारम्भ से ही अङ्क भेजे जायेंगे। कुछ प्रेमी पाठकों ने वर्ष के प्रारम्भ सितम्बर मास के पूर्व ही ग्राहक न रहने की सूचना न भेजकर बाद में भेजी है जबकि उन्हें अखण्डप्रभा नए वर्ष के कई अङ्क प्राप्त हो चुके हैं। इससे अखण्डप्रभा को व्यर्थ की आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। आशा है कि जिन प्रेमी ग्राहकों ने अभी तक अखण्डप्रभा के इस वर्ष (सितम्बर १९६४ से अगस्त १९६५) का वार्षिक चन्दा न भेजा हो तो वे शीघ्र ही भेजने की कृपा करेंगे जिससे अखण्डप्रभा को व्यर्थ की हानि न उठानी पड़े।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

विषयानुक्रमणिका

—०—

चन्दा
आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति (साधारण) ३७ पै.
एक प्रति (सम्मेलन अङ्क) ७५ पै.
एक प्रति (विशेषाङ्क) १) रुपया

संस्थापक
ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी
ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

सभी प्रकार के पत्र तथा
चन्दा आदि भेजने का पता–
व्यवस्थापक—'अखण्डप्रभा'
११२/२३४, स्वरूपनगर,
कानपुर–२

'येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'
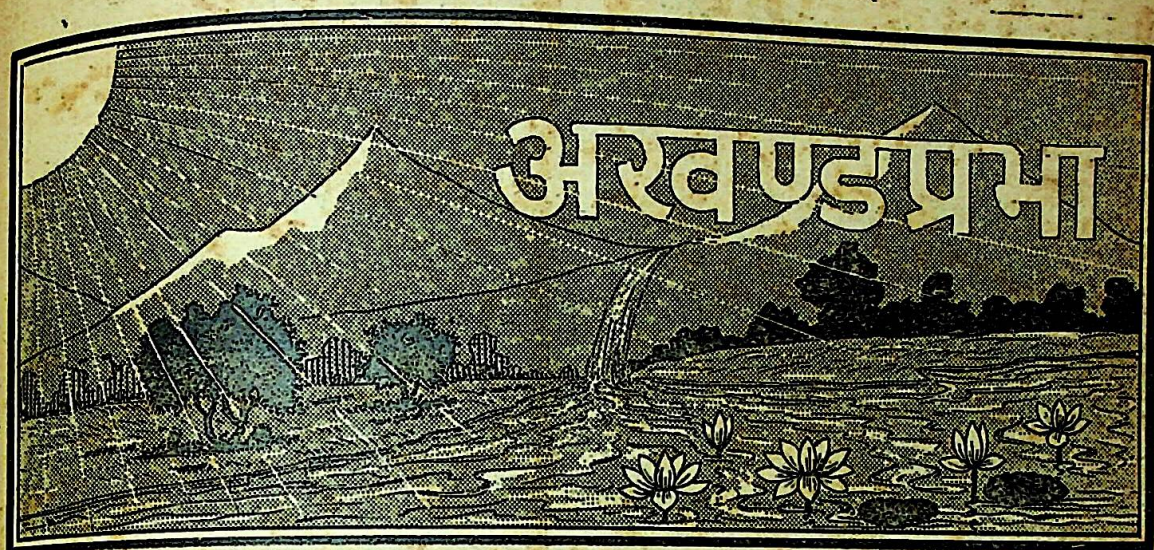
सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

वर्ष ६ | कानपुर, फरवरी १९६५ | अङ्क ६

तुम्हीं अपने विधाता हो !

तुम्हारी सभी यातनायें इसलिए आती हैं कि तुम दो विरोधी इच्छायें करते हो, तुम्हारी इच्छाओं में सामञ्जस्य नहीं होता बल्कि एक दूसरे में युद्ध होता है। तुम जानते हो कि विभाजित किया हुआ मकान स्वयं गिरता है। इसलिए अपने अन्तःकरण और मस्तिष्क का निरीक्षण करो और यह देखो कि उसमें कहाँ तक शान्ति है। यदि तुम्हारा एक ही लक्ष्य है और उद्देश्य में एकता है तो तुम्हें कोई कठिनाई न होगी, तुम यातना नहीं भोगोगे; लेकिन यदि इसमें संघर्ष और असामञ्जस्य होगा तो मकान अवश्य गिरेगा, तुम्हें अवश्य यातना सहन करनी पड़ेगी।

यही तुम्हारी यातनाओं का कारण है जो कि तुम्हारे द्वारा ही लाया गया है। तुम अपने भाग्य के स्वयं विधाता हो। मनुष्य में निम्न और उच्च दोनों ही इच्छायें होती हैं। दोनों में संघर्ष होता है, लेकिन विकासवाद के सिद्धान्तानुसार इस संघर्ष में उसी की विजय होती है जो योग्यतम होता है। योग्यतम की सत्ता होना ही प्रकृति का विधान है।

—स्वामी रामतीर्थ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

कभी–कभी साधकों को ऐसा लगता है कि हमने बहुत प्रयास किया है लेकिन साधना में कोई प्रगति नहीं दिखाई पड़ती । इसके लिए कोई विशेष ध्यान भी नहीं दिया जाता । इसी प्रकार धीरे–धीरे समय बीत जाता है और फिर उस समय का हिसाब देखा जाता है कि इतने समय तक साधन किया लेकिन कोई फल नहीं दिखाई पड़ा । वास्तव में साधन के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति में कितनी तीव्रता है अर्थात् साधन में गुण–दृष्टि कितनी है । संख्या दृष्टि बनी रहने पर इसी ओर ध्यान बना रहता है कि कितना किया है; दूसरी ओर गुण–दृष्टि अर्थात् कितनी तीव्रता और लगन के साथ किया है इस पर ध्यान नहीं रहता । कार्य करने में संख्या की अपेक्षा गुण का ही अधिक महत्त्व रहता है । साधना में तो गुण–दृष्टि को ही महत्ता प्रदान करना चाहिए । किसी पत्थर के टुकड़े को यदि छोटी हथौड़ी से धीरे–धीरे हजारों बार चोट लगायी जाय तो हो सकता है कि टूटना तो दूर रहा उस पर कोई निशान भी न पड़ सके । यदि किसी बड़े हथौड़े से जोर से चोट लगायी जाय तो वह एक बार में ही टूट सकता है । पहले में संख्या–दृष्टि है और दूसरे में गुण–दृष्टि । इसी प्रकार बिना किसी तीव्रता और लगन के मशीन की तरह ही यदि शरीर–इन्द्रियों की साधन–क्रियायें होती रहीं तो सम्भव है कि उसमें कोई प्रगति न दिखाई पड़े । ऐसी दशा में साधक यह सोचने लगता है कि यह साधन ठीक नहीं है, इसे छोड़ देना चाहिए अथवा इससे हमें कोई लाभ नहीं हुआ है । इस प्रकार उचित प्रकार से किए हुए साधन से जो लाभ होना चाहिए वह नहीं हो पाता ।

यह संख्या–दृष्टि वास्तव में बाह्य रूपों के आकर्षण से है । यह आकर्षण इसलिए और भी अधिक होता है कि व्यक्ति इस प्रकार साधन करने से मान्यता प्राप्त कर लेता है । कोई दान बहुत अधिक देता है लेकिन भावना ठीक नहीं है तो लोग इधर ध्यान नहीं दे पाते । भावना से युक्त दान थोड़ा होने हर किसी को आकर्षित नहीं कर पाता । कोई कितना दान देता है यही लोगों की दृष्टि में आ पाता है । इसी प्रकार आध्यात्मिक साधनों में यही सहज–दृष्टि रहती है । इसी प्रकार बाहर से दिखाई पड़ने वाले साधनों से लोग आकर्षित होते हैं इससे जो मान्यता मिलती है वह व्यक्ति को बाहरी दिखावे में ही लगाए रखती है । बाद में फिर यह कहना व्यर्थ होता है कि हमें इस साधन से कोई लाभ नहीं हुआ । जब तक पूर्ण भावना से काम नहीं किया जायगा तब तक कोई लाभ नहीं मिल सकता । इसलिए अपने आध्यात्मिक साधन में इस बात पर ही अधिक ध्यान रखना चाहिए कि हम कहाँ तक लगन और तीव्रता से साधना करते हैं, क्योंकि प्रगति केवल इसी प्रकार सम्भव हो सकती है, इसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है ।

★

राग-त्याग-अनुराग

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी

सांसारिक जीवन में अति सहज रूप से आने वाले जिनके बिना जीवन में कोई भी सुख शान्ति या चैन नहीं, और जिनके न समझकर इधर उधर करने पर ही या अनादर करने पर ही अव्यवस्था, अशान्ति व अस्वस्थता होने का भय है वह ये ही तीन वृत्तियाँ हैं राग, त्याग और अनुराग।

राग कब, कितना, कहाँ, त्याग कब कितना, कहाँ और विराग होने पर अनुराग कितना किससे और कब लगता है या लगना चाहिए इसका ज्ञान होते ही सब ठीक हो जाता है। इसके पूर्व इनका स्वरूप और इनकी आवश्यकता हमें देखना जरूरी है। हम कभी तो जानकर कभी अनजाने इनमें भूलते हैं और कभी स्वयम् इनका रूप बन जाते हैं। राग माने ग्रहण करने या ग्रहण किए हुये को अपना मानने का नाम है। त्याग कहते हैं अपनी मानी हुई चीज को सम्बन्ध को या किसी भी शारीरिक या मानसिक, ऐन्द्रिक या बौद्धिक कार्यों को छोड़ देना। और अनुराग–उपर्युक्त दोनों से जब दोनों के रहस्य को समझ लें या उनका महत्त्व व उपयोग समझ लें, भौतिक पदार्थों व उनके स्वरूप का पता लगाने पर उनसे हुये विराग के बाद अपने आपसे शुद्ध प्रेम का नाम है। ये सब अन्तःकरण की वृत्तियों के नाम हैं।

अब राग होता ही क्यों है? राग का विषय दोनों ओर है अन्तर और बाहर। अन्दर ही होता तो राग-वृत्ति बाहर ही न आती। और यदि बाहर ही होता तो कभी अन्दर न जाती। पर जाती क्यों है? बिना भूख लगे जैसे न नेत्र ही इधर उधर देखते हैं, न हाथ पैर चंचल होते हैं। और यदि ऐसे समय वस्तु दिखाई दे तो पंगु पेट अपनी पूर्ति के लिए नेत्र मुख व हाथों पैरों को प्रेरित करेगा ही। माने भूख प्यास बिना लगे उसकी पूर्ति करने वाली तत्तत् इन्द्रियाँ कभी प्रेरित ही न होंगी। भूख प्यास माने क्या? शरीर की अपनी चालना शक्ति की कमी होने पर उसकी माँग। इस तरह जिस समय जहाँ भी जो कमी होगी और उसका जब भान होगा तब बुद्धि के सहारे उसकी पूर्ति करने के लिए तत्तत पदार्थों को पकड़ने वाली इन्द्रियाँ व उसका साधक मन अवश्य ही कार्यशील होगा।

आप कहेंगे हो ही न? यह नहीं हो सकता। यह तो मृत्यु में ही न होगा। जीवित शरीर में माँग होगी और बरबस संघात (शरीर व उसके अन्तर बाह्य इन्द्रिय) कार्यरत होंगे। तो यह स्वाभाविक राग तो कभी बाधित हो ही नहीं सकता। फिर एक बात है कि यदि तृप्ति हो गई तो? क्या मन या इन्द्रियाँ प्रवृत्त होंगी? करके देखो, कभी नहीं। फिर राग का निरोध क्यों किया? किस राग का? यदि वस्तु दिखाई ही न दे तो कभी चाह भी नहीं होगी। जिसका जब भी कमी अनुभव कर लिया होगा और जिसकी शरीर में माँग होगी, कमी देखकर उसकी पूर्ति करने के लिए अवश्य ही इनमें हलचल होगी।

जहाँ राग का त्याग करने के लिये कहा जाता है असल में वह राग नहीं वरन् ममता या वासना होती है जो वस्तु प्राप्त होने पर उत्पन्न होती है। राग तो प्राप्त होने के पूर्व और वासना प्राप्त होने के बाद हुआ करती है। दुखदायी राग नहीं, जो माँग के बाद ही होता है और जीवन की रक्षा के हेतु ही यह हुआ करता है। वासना पूर्ण ही नहीं होती क्योंकि यह तो प्राप्त वस्तु प्राप्त होने पर उससे हुई प्रीति का फल है। तो इतना सोच लिया जा सकता है कि वासना न होने पावे और राग भी उन्हीं चीजों-भावों विचारों इन्द्रियों से उतना ही किया जाय जितने से शरीर इन्द्रिय की सुरक्षा, वृद्धि व दीर्घायु हो।

पर क्या केवल राग से ही जीवन की रक्षा होती

है ? यदि हम खाते ही खाते जायें और मल की निवृत्ति न करें तो ? तो लेने के द्वार पर ताला लग जायेगा। इन्द्रियां बाहर से पाये संस्कार को मस्तिष्क तक न पहुँचने दें, अपना पुरुषार्थ समझ कर स्वतः ही उसका भोग लेना चाहें तो न भोग ही सकेंगे न कार्यरत ही रह सकेंगे–अर्थात् जीवन दूमर हो जायेगा । जैसे हाथ कुछ न खाते हुए सब का सब मुख को, मुख पेट को, पेट सारे शरीर को दे देकर ही स्वयं भी सुरक्षित सुखी हो जाता है ऐसे ही यदि मल मूत्राशय, आतें यदि मल को मल समझ कर गन्दी चीज क्या दें यह समझ कर उसका भी त्याग न करें तो भी काम न चलेगा । माने अच्छे–आवश्यक और अनावश्यक दोनों का त्याग अवश्य ही करना होगा अन्यथा जीवन- अस्वस्थ—रुग्ण और मन संतप्त हो जायेगा।

धन यदि किसी के पास आता है, माने किसी ने त्याग किया तभी आया। एक का राग एक का त्याग कहलाता है। वही राग एक ओर से राग भी है । किसी का किसी के लिए त्याग ही किसी का राग बनता है। यदि धन प्रति कीमती व पुरुषार्थ का फल समझ कर बिल्कुल न खर्चे तो ? बताओ रखने से जीवन चलेगा–बचेगा या त्याग से ? आप कहेंगे त्याग से ! नहीं, राग और त्याग से दोनों से ही जीवन चलता है । परन्तु कितना ? और किसका ?

तो जिसका राग जितना राग हो उतना ही उसका त्याग होना चाहिए। स्वाँस जितनी ली है उतनी ही छोड़ी जाय या कुछ बचाकर ? उतनी ही । माने राग त्याग उसकी ओर बराबर होना पड़ेगा । जीवन की जितनी आवश्यकतायें हैं उन सबमें शरीर इसी प्रकार बराबरी के संयम पर ही चलता है। यह प्राकृतिक नियम है जिसका जरा भी अपमान प्रकृति किसी न किसी के रूप में सहन न करती हुई सर्वत्र दिखाई देती है । भले ही किसी पर आरोप लगाया जाय परन्तु इस प्राकृतिक नियम का अपमान ही हम सब जब कभी भोगा करते हैं।

प्रकृति का हर कण हमें यही सिखाता है कि हमारी सत्ता (आकार) किसी से लेने से ही रहती है परन्तु हमारा सुख वही दूसरे को देने में बना हुआ है, सुख से सुव्यवस्थित व टिकाऊ है। क्या नक्षत्र ज्योतिष चक्र क्या पंचतत्त्व, क्या देवता, क्या वृक्ष व क्या सारे मानसिक या शारीरिक गुणदोष इन सबकी सत्ता राग त्याग का ही स्वरूप है।

तो राग से जीवन की वस्तुओं का संग्रह होता है-सुख नहीं-और त्याग से पदार्थों का, सम्बन्धियों का, अन्तर बाह्य तत्त्वों का सुख प्राप्त होता है।

परन्तु इन दोनों के होते हुए हम पूर्णानन्द नहीं प्राप्त कर पाते। वस्तु प्राप्त होने में हर्ष-स्वास्थ्य भले ही हो परन्तु आनन्द नहीं होता। आनन्द वस्तुओं में नहीं है। आनन्द किसी से मांगा नहीं जाता। क्यों ? कहीं दूर नहीं रहता। फिर क्यों नहीं मिलता ? मिलता है वही जो भिन्न हो। फिर मान क्यों नहीं होता ? भान होता है हम जब वस्तुओं के आकारों में घुस कर जिस आधार पर ये खड़े होते हैं उसे देखकर। वह तभी दिखाई देता है जब हम पदार्थों को दिन रात भोगते, सम्बन्धों में दिन रात रहते हुए उनका मूल्य कितना है यह परख लें।

पदार्थ या बाह्य ऐश्वर्य-इन्द्रियों के भोग, मकान, पशु पक्षी, धनाभूषण, दास दासियां, सम्बन्ध, ग्रन्थादि में अधिक महत्व की वस्तु होगी इनकी कीमत के लिए लगने वाला यह तन। यदि यह नहीं तो इसका क्या लाभ ? शरीर में इन्द्रियां न हों तो शरीर एक मांस का गोला होगा जो असुरक्षित रहेगा। अतः शरीर से इन्द्रियों का महत्व अधिक है। इन्द्रियों में प्राण न हो तो इन्द्रियों का महत्व नहीं और प्राण में मनोवृत्ति ही नहीं तो शरीर मुर्दा हो जायेगा। मन में निर्णय करने वाली बुद्धि न हो तो वह तूफान मचा देता है। और बुद्धि में अपना आत्म साक्षी न हो तो बुद्धि भी इन बाह्य पदार्थों से, उनमें उलझे मन से और शरीरों का महत्व बढ़कर नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। और संग दोष से साक्षी भी व्यर्थ दुःख उठाता फिरता है। इसका अर्थ साक्षी अपना आप ही

सबमें श्रेष्ठ है। तो क्या और सबको छोड़ दें ? नहीं। छोड़ना नहीं केवल हृदय से इसके मूल्यों का अंकन न मिटे। जिस तरह तौलों की लिस्ट याद रहे तो जो जिस समय सामने आवे ज्ञान हो जाता है। उसी तरह यदि इस मूल्य—सूची को समझ लें तो जो जैसा है उसका मूल्य उसी जगह रखते हुये अपने मूल्य को घटाया नहीं जाने से वृत्ति सबसे ज्यादा अपने आप अपने में आने लगती है।

जब भी अन्दर अपनी ओर वृत्ति आती है—बुद्धि योग्य संस्कारों को तत्तत् समय पर सत्तत् कार्यों के लिये ला पाती है और इस दृष्टि के कारण किसी में भी तूफान बगावत् अपने शरीर का नाश करने का जोश-असंयम-नहीं आ पाता। जब असंयम नहीं होता तो कुपथ्य न होने से शरीर अस्वस्थ मन बुद्धि भ्रष्ट—विक्षेप युक्त-असंतुलित और प्राण भी विकृत नहीं होता और तो क्या परिवार कुल, समाज, देश विश्व में विश्व के लिये यथायोग्य जिस जिस समय पर जो होना चाहिये वह अपने आप हुआ करता है। सबके सम्बन्ध ठीक बने रहते हैं। और किसी भी प्रकार अव्यवस्था अशान्ति व विरोध नहीं होता।

तो राग त्याग सम रहने का मतलब है हर एक के अधिकार का मान करना। यदि हर एक का अधिकार यथा योग्य समयानुसार प्राप्त होता रहे तो लड़ाई क्या ?...... छीने हुये अपने-अपने अधिकारों के लिये फिर से प्राप्त करने के लिये जो मानसिक बौद्धिक या शारीरिक पुरुषार्थ उसी का नाम लड़ाई है और संघर्ष है उस उस अधिकार के लिये आग्रह। इतना सब होता है, एक अन्तर अपने आप के सत्य एकरस रहने वाले साक्षी स्वरूप का ज्ञान करने से।

राग से जीवन की सामग्री इकट्ठी होती है और त्याग से सुख होता है। पैसे हाथ में जेब में रखने से आनन्द होता है कि किसी गरीब को हम जब देते हैं तब देने पर ? रागी होने से—दानी नहीं कहलाये और त्याग कर जब दानी कहलाये—किसी ने प्रशंसा की तो अधिकार अपना और पराये का पूर्ण रखने से, धन को योग्य स्थान पर उपयोग में आने से जो वृत्ति कार्य करके साक्षी में लौट आई तो साक्षी के स्पर्श एक हर्ष हुआ। यह हर्ष साक्षी के आनन्द स्वरूप का एक आभास है जो सत्य न होने से और हर समय ऐसा न करने से आता और जाता रहता है।

यदि यह समझ में आ गया कि अन्तर अपना आप ही है क्योंकि सदा एकरस और अविनाशी है-और यही हम है जिसका कुछ भी नहीं बिगड़ता, किसी शरीरादि का कुछ बिगड़कर तो अपने आप से अपने आप जो विशुद्ध प्रेम होता है उसी का नाम अनुराग है। पर यह तभी हुआ जब पदार्थों—सम्बन्धों का अपने स्वरूप से ज्यादा महत्त्व न लगने पर मोह निवृत्त हुआ, इनसे जब विराग हुआ। केवल राग का महत्त्व न रहना (त्याग के सहित राग का ही महत्त्व है) ही विराग है। शरीर की अपेक्षा कुल, कुल की अपेक्षा समाज, समाज की अपेक्षा देश व विश्व की महिमा अधिक है। तब जब जरूरत हो तो किसका क्या मूल्य रखना और सबसे ज्यादा अपरिवर्तनीय अपने आप (साक्षी आत्मा) का महत्त्व होने के नाते विश्व हित के लिये अपने आप को अविनाशी समझते हुये जरूरत पड़ने पर कीमती से कीमती का त्याग भी संभव हो जाता है। और जब आनन्द का भाव बाहर नहीं है तो इनसे कितनी प्रीति करना यह सोचते ही सुषुप्ति से अधिक अपने आपकी स्मृति के लिये मन जो लालायित हो वही अनुराग है। अर्थात् अनुराग से होता क्या है ? आनन्द। आनन्द ही जीवन का लक्ष्य है। जितनी ही अन्तर अपने आप में वृत्ति रहती जाती है त्यों त्यों आनन्द की मात्रा बढ़ती है। परन्तु अन्त में अपने बिना वृत्ति का भी अधिक महत्त्व नहीं यह जानकर वृत्ति में बद्ध आनन्द लेने की वृत्ति समाप्त हो जाती है और परिपूर्ण परमानन्द अपना आप ज्यों का त्यों स्पष्ट होता है।

तैरने का आनन्द जितना जो बोझ रहित हो उसे ही है। इसी प्रकार आनन्द भी जितना जिसका वृत्ति का आलम्बन पदार्थों में होगा उतना ही कम होगा। "मैं इनके बिना कैसे रहूँ" बस यह आलम्बन—पराधीनता की पहिचान है, पर मेरे बिना ये कैसे रह सकते हैं यह ज्ञान है जो अनुराग से प्राप्त हुआ। और सबके बिना मैं हूँ। यह अनुभूति होकर

नित्य आनन्द रूप में रहना आता है।

तो भाई राग त्याग बराबर, सर्वत्र चाहिये। पदार्थों में ही यह होता है और अनुराग की अधिकता होते ही पदार्थों से अति विरक्त होकर बाह्य राग सम्पूर्ण अपने आप से हो जाता है। बस जीवन की कुंजी यही है।

सम दृष्टि का फल हुआ त्याग रागहुकेएम,
जीवन सामग्री भरी, सुख हुआ न कम,
सुख भी हुआ न कम न आसक्ति ही हुई,
मूल्य घटा भव-भोग सुखों से विरक्ति हुई
कहे 'प्रकाशानन्द' हुआ निज प्रेम, गया गम,
निज में ही अनुराग हुआ सर्वत्र सदा सम॥

गुरु से सम्बन्ध

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी निर्मल जी, अमृतसर

बहुत दिनों से हम इस बात पर विचार कर रहे हैं कि मानव गुरु की शरण में आकर किन किन गुणों को अपना लेता है तथा जन्ममरण के बन्धन इस संसार-चक्र को काट सकता है। कोई भी बात ऐसी नहीं जो शास्त्रों ने न कही हो। जैसे बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए डाक्टरों तथा दवाईयों की शरण लेनी पड़ती है इसी प्रकार चिन्ताओं में घिरा हुआ मानव जब इस दारे-फानी (नश्वर संसार) से कूच कर जाता है और जन्म मरण की ठोकरों में पड़ जाता है तो जब तक महान् पुरुषों के कदमों में नहीं आ जाता, और जब तक नेक इमान को यार नहीं करता, तब तक ठोकरें खाता रहता है। उन महान् पुरुषों ने हमारे लिए नेकियों के निशान छोड़े हैं, जिन पर भावी सन्तान अनुकरण कर सके। कई ऐसे-ऐसे गुण भी हमारे सामने रखे जिनके आश्रय तमाम गुण रहते हैं। जैसे फल फूल, टहनियां पत्ते शाखाएं आदि सभी जड़ों के आश्रय सरसब्ज रहते हैं। उसी प्रकार से ऐसे भी महान् सद्‌गुण हैं जिनके आश्रय सब गुण रहते हैं। वे दो गुण हैं:—एक तो सेवा और दूसरा नम्रता। माली किस तरह पौधों को पालता है ? उसकी सेवा करने से वह पौधा विशाल वृक्ष के रूप में दिखाई देता है और उसकी टहनियों को फल लगते हैं, तब वे जमीन की ओर झुक जाती हैं। सेवा का फल है ऊंचे लोकों की प्राप्ति। निष्काम सेवक सेवा के मर्म को समझता हुआ अपने जीवन को सेवा में ही समाप्त करता है। निष्काम सेवा का फल, अन्तःकरण की शुद्धि है और शुद्ध अन्तःकरण में आत्मज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। जिस विचार की शाखा के साथ, यह आत्मज्ञान रूपी फल लगा हुआ है वह ज्ञान हमें सेवा से ही मिलता है। और इसी ने हमें झुकाना सिखाया, और सभी महान् पुरुष इस महानता को प्राप्त करके झुके हैं। झुकना उनका स्वाभाविक ही ऐसा स्वभाव हो गया है। यह ब्रह्म विद्या अभिमान नहीं, शुद्ध अहंकार है, हमारा आत्माभिमान है जब हम यह समझते हैं कि वह परमेश्वर और हैं और मैं और हूं तो यह तकब्बुर है। परन्तु जब यह समझते हैं कि सब वही है, सर्वत्र मेरी आत्मा ही विराजमान है तो यह किब्र-याई है, तकब्बुर नहीं।

सच तो यह है कि सिवा ज़ात के,
जो कुछ था हयात।
वहम था, शक़ था, ग़ुमां था,
मुझे मालूम न था॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्मः-

सब गोबिन्द है, सब गोबिन्द है,
गोबिन्द बिन नहीं कोई ।

जब सब वही हैं तो तुम भी वही हो। हबाब गर्दाब, बुलबुला सब पानी के नाते पानी ही हैं। बुलबुले को यदि कोई पानी से अलग करना चाहे तो नहीं कर सकता क्योंकि उसका वजूद पानी ही हैं।

Every man is God playing the fool.

अज्ञान से खेलता हुआ भी प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर ही है। जैसे चार सेठ एक कमरे में सोए हों, और चारों ही स्वप्न में पुकारने लगें कि 'मैं भिखारी हूँ' मुझे भिक्षा दो, मैं भूखा हूँ और उनमें से एक की आँख खुल जाए और शेष तीनों इसी तरह बड़बड़ाते रहें। वह सेठ उन तीनों को बड़बड़ाते हुए जान कर भी उनको दीन-हीन भिखारी नहीं समझेगा क्योंकि वह जानता है कि ये सेठ हैं। निन्द्रा दोष के कारण बड़बड़ा रहे हैं। उन भिखारियों को सेठ बनाने के लिए वह सेठ गिरह से कुछ नहीं देगा, केवल उनका कन्धा हिला देगा, इसी प्रकार अविद्या के कारण जीव अपने आपको अपनी ज़ात से भिन्न मानना शुरू कर दिया है। जब वेद भगवान के अन्तिम भाग उपनिषद् पर नजर डालता है तो अपनी हक़ीक़त को समझता है कि मानव की असलियत उसकी ज़ात से अलग कुछ नहीं। जिस पर वेद का महावाक्य संकेत करता है कि तत्वमसि अर्थात् वह तू ही है।

निकला पोल इन्सां का फिर इन्सां ने क्या देखा।
तू ही अव्वल, तू ही आखिर न कोई दूसरा देखा।।

जब गुरु मनुष्य शरीर का पोल निकालने पर आ जाते हैं तो पता लगता है कि वास्तव में यह है क्या? इन्सान की बनी हुई सूरत हमें धोखा दे जाती है और जीव भूल की भूल के कारण ही अपने आप को दीन-हीन मानता है। जैसे अपनी अक़ीदत को लेकर हम मन्दिर में जाते हैं और अपनी श्रद्धानुसार वहां मस्तक झुकाते हैं। यदि मन्दिर की शहतीरियों, ईंटों तथा चूने को अलग-अलग कर दिया जाए तो मन्दिर कहां चला जाता है, वह मन्दिर भी सिवा ईंटों और पत्थरों के और क्या है? और फिर वहां सिर झुकाना भी कैसा है? इसी तरह ही गुरुदेव, शिष्य को सही ज्ञान देकर इस शरीर का पोल निकालते हैं, कि यह शरीर तो पंच भूतों का एक ढांचा है जिसे तुम माता, पिता, बहिन, भाई, दोस्त, यार अपना पराया मान रहे हो तो फिर श्रुति भगवती की आवाज़ कानों से टकराती है :-उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" ओ सोये हुए गाफिल मानव! उठ और जाग अपने आप में, और पहिचान कर अपने स्वरूप को तब शिष्य देहाध्यास की दीवारों को तोड़ कर अपनी हकीकत को पहिचानता हैं। I am He, I am He जब जानता है कि मैं वह हूँ तो तब समझता है कि सब वही है। मोती जिस सीप से निकल गया है अर्थात् जिन्होंने उस 'सत्यंज्ञान मनन्तं ब्रह्म' को पहचान लिया है, जिस्म तो उनकी दृष्टि (नजर) में एक दियासलाई जितनी भी कीमत नहीं रखता। जब इस नक़द धर्म की पहिचान होती है तो जिज्ञासु कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे देह का पिन्दार और अभिमान नहीं छू सकता। जब तक ठीक नहीं समझता तब तक ऐसा निश्चय बना रहता है कि मैं ब्रह्मज्ञानी आत्मवेत्ता हूँ और ये सभी अज्ञानी जीव हैं हज़रत मन्सूर लिखते हैं:-

न बन मुल्ला न बन काज़ी
न खिलक़ा पहन शेखों का।
नशे में सैर कर अपनी,
ख़ुदी को तू मिटाता जा।।

जब मानव अपने आपको पहिचान लेता है तो उसमें नम्रता का गुण आ जाता है। जिस शाख को फल लग जाता है तो वह शाख प्रायः झुक जाती है अथवा शाख़ का झुकना ही फल लगने का प्रमाण है।

इस दर पर बहर हाल सिजदे की जरूरत है।
ग़र दिल नहीं झुकता तो गर्दन हीं झुकादे ॥

एक समय की बात है अक़बर ने अपने राज्य मन्त्री बीरबल से प्रश्न किया, बीरबल ! हिन्दुओं में झुक कर क्यों नमस्कार करते हैं ? अदब तो हाथ जोड़ कर भी हो सकता है, सलाम करने से भी, मगर इस झुकने का क्या तात्पर्य है ? बीरबल ने उत्तर दिया, अक़बर ! Hinduism (हिन्दुइज्म) में कई भेद की बातें हैं जिनका समझे बिना पता नहीं लगता । इसलिए मैं आपके प्रश्न का उत्तर कल नौ बजे दूंगा ।

अक़बर प्रति दिन प्रातः अपने राजतख्त पर बैठ कर अपने राज्य के आवश्यक पत्रों पर मोहरें लगाया करता था । जब वह मोहर लगाने लगा तो उसने बीरबल की ओर दृष्टि डाल कर कहा, बीरबल ! मैंने तुम्हें कल एक प्रश्न पूछा था । बीरबल ने उत्तर दिया, 'हाँ' अक़बर ! उत्तर तो आपको स्वयं ही मिल गया है । अक़बर बहुत हैरान हुआ, कहा, कैसे मुझे उत्तर मिल गया है ? बीरबल ने कहा, अक़बर ! सुनो, हिन्दू लोग परम आस्तिक हैं, ये लोग समझते हैं कि ऋण कैसे चुकाया जाता है । यह वैसा देश नहीं जो धन्यवाद (Thank you) कहा और सब बात समाप्त कर दी । उसने कहा, अक़बर ! देखो अब मैं आपके प्रश्न का क्या उत्तर दूं ? जो मोहर आपके हाथ में पकड़ी हुई है वही इस का उत्तर दे रही है । अक़बर ने कहा, मैं नहीं समझ सका ।

मैं आप लोगों को कोई कहानी नहीं कह रहा, तुम्हें जीने-मरने का हुनर सिखा रहा हूं । जब बीरबल ने उस मोहर को सीधा करके दिखाया तो अक्षर उल्टे हो गये और जब उल्टा किया तो अक्षर सीधे हो गये । इसी प्रकार जब मानव बुजुर्गों के कदमों पर झुकता है तो उस के उल्टे कर्म सीधे हो जाते हैं और जब अभिमान (पिन्दार) से सीधा अकड़ा रहता है तो कर्म उल्टे हो जाते हैं । जब मानव गुरु के आगे हृदय से झुक जाता है तब उसकी डोलती हुई जीवन-नैया किनारे पर लग जाती है ।

भारत का Character (चरित्र) आध्यात्मिक है । आज मानव की प्रवृत्ति नीचे को उल्टी हो गई है। इसीलिए छोटी-छोटी बातें बड़ी-बड़ी लग रही हैं। प्राचीन काल में सभी को वेद भगवान् का मुताला (जानकारी) था । जनता आस्तिक थी । जगह-जगह पर जप-तप होते थे । पापों से लोग बहुत दूर थे । जहां तक होश और विचारधारा का सम्बन्ध है, ईश्वर, गुरु और वेद तीनों ही पूज्य हैं । वेद की शर्त है कि जब गुरु दर्शन हो, साष्टाङ्ग प्रणाम करो । आज थोड़ी सी विद्या पढ़ जाने पर मानव पिन्दार दिखाता है । पता नहीं, न जाने कि क्या प्राप्त कर लिया ?

देह तो असत्य है और सत्य वस्तु एकमात्र आत्मा ही है, सत्य कभी असत्य नहीं होता और असत्य कभी सत्य नहीं । परन्तु वह न जाने अपने आप को क्या समझ कर कहता है कि मैं इनके आगे क्यों झुकूं ।

'धर तराजू तोलिए निवें सो गौरा होय'

तराजू हाथ में पकड़ कर देख लो, जो पलड़ा नीचे झुक जाता है वही भारी होता । जिस पर चीज अधिक होती है वही पलड़ा झुकता है । देह अभिमान पर छाती तानने वाले ! काल तुझे छाती तानने नहीं देगा, इसके हशर और नतीजे (परिणाम) को समझ, मौत शरीर बाकी नहीं रहने देगी । फिर किस बात पर अभिमान कर रहा है ? इसी देह अध्यास की निवृत्ति के लिए ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा, कि समाधि के शुगल के कारण मैं तुझे बारह वर्ष तक ब्रह्मविद्या नहीं सिखा सका। ऋषिकुल में तो पाँच वर्ष का बालक भी ब्रह्मविद्या के संस्कार रखता है । इसलिए उसने उसे काशी में पढ़ने के लिए भेज दिया था । जब वह विद्याध्यन करके वापिस आया तो और भी विद्या के अभिमान में डूबा हुआ आ

पिता के आगे झुका तो सही, लेकिन अभिमान के साथ। पिता ने पहिचान लिया कि जिस बात को जानना था उसे यह अभी तक नहीं जान सका, यदि जान लिया होता तो सूर्य के सामने अभिमान रूप अन्धकार कैसे खड़ा रह सकता? उन्होंने कहा श्वेतकेतु! तूने तमाम विद्याओं को जाना, परन्तु वह एक क्या है? जिस एक के जान लेने से सब कुछ जाना जाता हैं, और जिस एक के पाने से सब कुछ पाया जाता हैं। क्या तूने उसे जाना है?

उसने कहा, पिता? गुरु आश्रम में मैं सब से प्रिय था। जो कुछ गुरु के पास विद्या थी उन्होंने मुझे दी। वह भी इस भेद को नहीं समझते थे इसलिए मैं नहीं जान सका क्योंकि मैं उनका आशीर्वाद लेकर आया हूं। तब उसका अभिमान निकल गया और दिल नम्रता से भर गया और दोनों हाथ जोड़ कर पूछने लगा, पिता! मुझे बताओ क्या है वह एक? ताकि मैं उसे जान सकूं। लाख जब तक नहीं पिघलती तब तक मोहर कैसे लग सकती है? शिष्य की जिज्ञासा और गुरु की कृपा, हम तो यह दो ही ईश्वर प्राप्ति के साधन मानते हैं। शिष्य का हृदय तो जिज्ञासा में डूबा होना चाहिए और गुरु की पूर्ण कृपा हो, तो तभी काम बनता है। तब पिता ने समझाया, श्वेतकेतु! जैसे तमाम मिट्टी के बर्तन मिट्टी रूप हैं उनका ज़ाहरो-बातन (अन्दर बाहर) मिट्टी हैं। तमाम लोहे के औज़ार लोहा रूप हैं जब एक मिट्टी के पात्र का ज्ञान हो जाता है तो तमाम पात्रों का ज्ञान हो जाता है कि यह सभी बर्तन मिट्टी से इतर (बगैर) कुछ नहीं।

इसी प्रकार जब तक नाम रूप से उठकर बुद्धि अपने असली Goal (लक्ष्य) की ओर नहीं झुकती तब तक उस आत्मा, सच्चिदानन्द भगवान् की झलक नहीं प्राप्त होती।

कोई आदमी बाजार में घड़ा खरीदने के लिए गया है। कुम्हार कहता है कि इसका मूल्य एक रुपया है लेकिन खरीददार कहता है, घड़े की कीमत एक रुपया अधिक है। अठन्नी ठीक है, अठन्नी लो। कुम्हार ने उसके हाथ से घड़ा पकड़कर कहा कि मैं कोई मिट्टी नहीं बेच रहा। लेकिन आप बताओ, बिक क्या रहा है? मिट्टी। और नज़र किसमें है? घड़े में। उस घड़े में बगैर मिट्टी के कुछ नहीं और मिट्टी के सिवा उसका अस्तित्व भी कुछ नहीं। जब यह राज (भेद) श्वेतकेतु की समझ में आया, तब वह पिता के चरणों में श्रद्धापूर्वक झुका।

झुको ऐ हजरते तालिब! दरे हबीब है यह।
यही वो दर है जहां सर झुकाए जाते हैं।

यही एक विद्या है जो नम्रता सिखाती है। जिसके आश्रय सभी गुण स्थिर रहते हैं। ज्ञान प्राप्ति से पहले तो गुरुकृपा प्राप्ति के लिए झुकना है और फिर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् शिष्य धन्यवाद के रूप में आजीवन झुका रहता है।

वैसे तो वेदान्त गिरना नहीं सिखाता परन्तु झुकना सिखाता है और झुकना भी ऊपर उठने के लिए है। जैसे कोई ऊपर उछलना चाहे तो पहले नीचे को झुकता है। बल्कि सीधा होना सिखाता है। एक समय की बात है कि एक शिष्य अपने गुरु आश्रय में बहुत देर तक रहा। बहुत देर तक तन मन धन से निरन्तर गुरु सेवा के बाद उसे कुछ मस्ती की झलक प्राप्त हुई। उस छोटी बुद्धि वाले ने सोचा कि अब मुझ पर पूर्ण गुरु कृपा तो हो चुकी है। जो कुछ मैंने पाना था, पा लिया है बस इससे आगे और कुछ नहीं है। उसनें अपने गुरुदेव से वहां से जाने की आज्ञा माँगी। वह अल्प सुख हृदय एक घूंट से ही मदहोश हो गया अर्थात् अल्प सुख में ही सन्तोष मान बैठा, यह न समझ सका कि गुरु कृपा कुछ और है जो कृपालता वे करना चाहते है वह अभी नहीं हुई।

एक वे हैं जो कतरे से बहक जाते हैं।
एक हम हैं जो दरया भी कतरा समझते हैं॥

अल्पसुख में सन्तोष कर लेना अध्यात्म मार्ग में बड़ी भारी रुकावट है। लाखों व्यक्ति इस अल्प सुख में अटके पड़े हैं, परन्तु पूर्ण गुरु तो कहते है कि:—

डूबा है तो चल गहराई में
साहिल के लिए बेताब न हो।

दरया-ए-मुहब्बत के भी नादाँ,
कहीं किनारे होते हैं ?

ओ दीवाने ! अभी और डूब, तल्लीन हो जा गहराई में और उस अमूल्य लाल अपनी अन्तरात्मा को हाथ पर आँवलेवत् प्रत्यक्ष कर। गालिब लिखता है:—

हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी,
कुछ हमारी खबर नहीं आती।
आगे आती थी हाले-दिल पै हंसी,
अब किसी बात पर नहीं आती।

जब शिष्य ने कहा महाराज ! मैं जाऊँ तो वे बोले नहीं, अभी कुछ देर और ठहरो। रंग चढ़ाने वाला समझता है कि कपड़ा कसे रंगा जाता है ?

'रंग वाले रंग दे इस रंग को भी रंग दे'

लेकिन कई पगले फ़ीके रंग को भी पक्का रंग समझ लेते हैं। वह पगला शिष्य फिर गुरु आज्ञा शिरोधार्य करके आश्रम में ठहर गया।

रवां हो न रवां हो
तेरा हर फरमान आंखों पर !

कुछ दिनों बाद फिर आनन्द का सागर लहरा उठा जिसे थामना कठिन हो चुका था।

शुरु—ऐ राहे मुहब्बत, अरे मुआज अल्लाह।
ले थाम साकी, कदम डगमगाये जाते हैं॥

फिर सरूर उमड़ा, कहा महाराज ! अब जाऊं, उन्होंने कहा, अभी कुछ देर और सत्संग करो। एक दिन मस्ती में भरा हुआ वह न जाने आश्रम से दूर किधर निकल गया। किसी ने आकर कहा, महाराज आपका शिष्य उधर कहाँ जा रहा था ? उन्होंने कहा कि अब उसे उसी असल सरूर की प्राप्ति हो चुकी है। वेदान्त तो यहाँ ही लाना चाहता है, जहां अपने बेगाने की होश तक नहीं रहती।

न छेड़ उनके तसव्वुर में ऐ बहार ! मुझे।
दिल ढूँढता है फिर वही फुरसत के रात दिन।
बैठे रहे तसव्वुरे— जानां किए हुए॥

बुल्लेशाह का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उनके गुरु इनायतशाह, जाति के अराँई थे और बुल्लेशाह जाति के सैयद थे। जब प्रथम बार बुल्लेशाह ने अपने मुर्शिद के दर्शन किये तो उसने प्रश्न किया कि रब्ब की प्राप्ति कैसे हो ? इनायतशाह किसी सब्जी की पंनीरी लगा रहे थे, तो एक जगह से पंनीरी उठाकर दूसरी जगह लगाते हुए उन्होंने उत्तर दिया।

बुल्लया रब्ब दा की पाना।
एधरों पुटना ते ओधर लाना॥

उसी समय बुल्लेशाह ने मुर्शिद के कदमों पर मस्तक रख कर कहा, ऐ पीरे-मुर्शिद अब मैं तेरी शरण में हूँ अब भेद मेरी समझ में आ गया।

मुर्शिद तारके लांवदे तुरत बन्ने।
बेड़े डुबदे डूंगड़े नीर सांई॥

गुरुदेव से उन्होंने कलामेअजीम का प्रसाद प्राप्त कर लिया और उनके हृदय में आत्म ज्योति जल उठी। लेकिन जब उग्रपाप आते हैं तो दिल खाली हो जाता है। लोगों को पता चला कि बुल्लेशाह ने इनायतशाह को गुरु बनाया है। कोई कुछ कहने लगा और कोई कुछ। घर वालों ने कहा, अगर तूने गुरु ही बनाना था तो किसी ऊंची जाति वाले को बनाता। नारद को चौरासी लाख का चक्र भोगना पड़ा, केवल एक बात के कहने पर कि गुरु मिला तो वह भी ऐसा वैसा ही। गुरु से सम्बन्ध नहीं है, गुरुपद से सम्बन्ध है। जैसे पुलिस की वर्दी का सम्बन्ध-गवर्नमेन्ट से है। इस गुरु-पद की अवज्ञा करने वाले को अवश्य ही चौरासी का चक्र भोगना पड़ता है। गुरु की लगन में मरे हुए को ब्रह्मानन्द

की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि गुरुपद से सम्बन्ध है। तो कह रहे थे।

बुल्ले नू समझावन आइयाँ भैंनां ते भरजाईयाँ ने।
आजा बुल्लाया लग जा आखे कानू,लीकां लाईयाँ ने।।

बहुत देर उनकी बातें सुनता रहा, सुनना भी ताकत का काम है, सुनाना नहीं। आते जाते तो पहाड़ों पर भी निशान पड़ जाते हैं। सुनते-सुनते एक बार ख्याल आ ही गया कि क्या अच्छा होता, यदि गुरु भी सैय्यद जाति के ही बना लेता तो यह बातें तो न सुननी पड़तीं। उस आत्म ज्योति की तार को तोड़ कर, ख्याल को गुरु के जिस्म में ले आया। कबीर जी कहते हैं—

कबिरा ते नर अन्ध हैं जो गुरु को कहते और।
हरि रुठें गुरु ठौर है गुरु रुठें नहीं ठौर ।।

जो गुरु पर परमेश्वर भावना न करके महान् पुरुष मनुष्य रूप समझ कर चरणामृत पान करते हैं वे भी नरक-गामी ही हैं। बुल्लेशाह का इतना सोचते ही, कि यदि गुरु ऊंचे कुल के होते तो, क्या रह गया उस दीवाने के पास ? ख्याल में जब यह बात आई, तो कहाँ गया वह सरुर और मस्ती ?

कैसा लुटा है काफिला पांओं का भी निशा नहीं,
मस्ती का निशान तक भी न रहा !

जब गुरु का (Connection) सम्बन्ध टूट गया तो पता चला कि क्या बात हुई ? तड़प रहा है, रो रहा है जिस मुसाफिर की जेब कट जाती है, उसी दीवाने को पता होता है। लुट गया है चैन और करार, अब जगह-जगह मारा मारा फिरता है। वह बुल्लेशाह नाचने वालों के यहाँ जाकर उनकी सेवा करने लगा क्योंकि वे नाचने वाले प्रति-वर्ष इनायतशाह के यहाँ चौकी दिया करते थे। जब कभी इनायतशाह की कृपा का प्याला लबालब भर जाता, अर्थात् बहुत प्रसन्न होते तो कह देते 'जा तुझे बक्शा' इस गुरु प्रसन्नता के लिए वह उन नाचने वालों की खिदमत में रहा। बहुत देर तक तन मन से निष्काम सेवा करता रहा। अन्त में उन नाचने वालों का दिल पिघल गया और पूछा, कि कौन है तू ? जो दिन रात हमारी सेवा करता रहता है और लेता कुछ भी नहीं। आखिर तू चाहता क्या है ? उसने कहा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए केवल नाचना गाना सीखना चाहता हूँ। उन्होंने बड़े शौक से उसे नाचना गाना सिखाया। जब वह सीख चुका तो कहा, यदि आप कहो तो एक दिन मैं भी इनायतशाह के दरबार में नाचूं। शायद उनकी रहमत किसी तरह जोश में आ जाय। क्या दिल में रह गई उस वक्त अभिमान की बू ? जब तक दिल में अभिमान की बू भी रह जायेगी तब तक बात न बनेगी।

नाचने में शरा थी पावों में घुंघरू बांधना और वही लिबास पहरना। जब गाकर उसने दो ही चक्र लिए गाना क्या था, उसका दिल रो रहा था। वह घुंघरू की आवाजों, तथा साजों के साथ मिल कर एक चक्र ही काटा था तो पहचाननेवाले ने पहिचान लिया। उन्होंने कहा, ओ बुल्लाया ! बस फिर क्या था, जाकर चरणों में गिर पड़ा और उठा, गुरु जी ! मैं भुलाया। उन्होंने कहा,—जा तुझे बक्शा और साथ ही वरदान दिया कि तेरी ३६० काफियाँ बनेंगी।

खुदी ही पर्दा-है-निर्मल खुदा-ओ-बन्दा में।
खुदी न जाये तो बन्दा खुदा नहीं होता ।।

राधिका को एक बार ख्याल आया कि मैं तो बहुत सुन्दर हूँ और भगवान् त्रिलोकी नाथ तो सांवले रंग के हैं। अहंकार आ गया। भगवान् और किसी से नहीं डरता केवल तुम्हारे अहंकार से डरता है। बस भगवान् बैठे हुए उठ खड़े हुए और उठकर चल दिये। फिर क्या था ? भगवान् कृष्ण के वियोग में, वृन्दावन का वह खिला हुआ गुल्जार उजड़ा सा प्रतीत होने लगा, पीछे दौड़ी और ढुंढते-ढूंढते थक गई, वे फूलों के पीछे छुपे हुए थे।

'रूठने वाले भला हाथ भी आते हैं कहीं'

ढूंढते हुए राधा बेहोश होकर गिर पड़ी, तब भगवान् ने अपनी बाँसुरी की धुन शुरू की। जब राधिका को चेतना हुई तो उनके रूठकर चले जाने का कारण पूछा, उन्होंने कहा, राधे! मेरा आना और जाना कुछ नहीं। जब इन्सान में खुदी आ जाती है तो मैं चला जाता हूँ।

'मैं आई ते तुर गया माही'

जुदा और खुदा के नुक्ते में यही भेद है। जब जुदा का नुक्ता निकल जाता है तो 'मानव' खुदा ही है।

"खुदाई खुदाई खुदाई हुई
जुदाई का नामों निशां न रहा"

"इक नुक्ते विच गल मुकदी ए"

बहुत कुछ नहीं करना, जिस्म से खुदी उठाकर कहना है कि मैं वह हूँ। कतरे की खुदी तोड़कर, दरिया की खुदी से मिलना है। इस मलिन अहंकृति को त्याग कर शुद्ध अहं को धारण करना है। इस खुदी का नाश नहीं होता। जब कभी भी इसे तोड़कर मानव गुरु के पास बिक जाए तो बस फिर क्या है?

आँखों आँखों में इशारे हो गए।
हम तुम्हारे तुम हमारे हो गए॥

आरफ, नीच से नीच सेवा भी करनी पड़े तो उसके लिए तैयार है। हमेशा वह ही शाख झुकती है जिसे फल लग जाता है, इसलिए अभिमान का त्याग करो हर प्रकार की सेवा करो, इसी से ही अन्तःकरण की शुद्धि होगी। इन महान् गुणों को अपनाते हुये महान् बनो।

जीवन और कृष्ण-जाल

महाकवि श्री परमेश्वर द्विरेफ, चिड़ावा, (राजस्थान)

ऐसा भी आता कभी काल
जिसके क्षण साधारण क्षण से
अत्यन्त भिन्न होते कराल
उस क्षण खोते भौतिक अभाव
सन्ताप स्वयं अस्तित्व ज्ञान
जीवन में इतना अन्धकार
त्रुटियाँ संघर्षण विद्यमान

जिनकी कल्पना-मात्र से दुःख
प्राणों ऊपर अज्ञात भार
आहत हो यत्र तत्र रक्षण
के लिये किया करते पुकार
वह काल मृत्यु का कृष्ण जाल
ऐसा भी आता कभी काल

★

पुस्तकें ईश्वर को नहीं सिखा सकतीं, लेकिन वे अज्ञान को नष्ट कर सकती हैं। इनकी क्रिया निषेधात्मक होती है। पुस्तकों को पकड़कर और साथ ही स्वतंत्रता के लिए रास्ता खोल देना आचार्य शङ्कर की बहुत बड़ी प्राप्ति है। लेकिन फिर भी यह एक प्रकार से बाल की खाल निकालना ही है। पहले व्यक्ति को मूल-तत्त्व दो फिर उसे क्रमशः उच्चतम की ओर ले जाओ। बहुत से धर्मों का यही प्रयास रहा है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि विभिन्न अवस्थायें विकास के किसी स्तर के लिए अनुकूल हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म का रहस्य

श्री प्रेम चन्द्र मिश्र, एम० ए०, इटावा

मानव मात्र के जीवन के अनेक पहलू होते हैं जैसे–सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक। उपर्युक्त सभी पहलुओं का आपस में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। जीव जिस समय इस संसार में आता है तो उसका एकमात्र ध्येय दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति और सुख की प्राप्ति रहता है। इस सुख की प्राप्ति के लिए सभी स्थावर और जंगम, चर और अचर सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। प्रत्येक जीव के सुख के भिन्न–भिन्न साधन होते हैं। इन साधनों के द्वारा ही मनुष्य, पशु आदि में भेद किया जाता है। पशुओं को तो केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि की ही चिन्ता रहती है और मनुष्यों का धर्म इसके विपरीत होता है। ये अग्रतायें जो पशुओं में हैं वे तो उनके अन्दर होती ही हैं इसके अलावा प्राणी मात्र में मानव को बुद्धि प्राप्त है अतः उनके लिए धर्म की देशना शास्त्रों में की गई है, जिसके विना मनुष्य पशु होता है। महाभारत में कहा है कि–

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषा मधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समाना॥"

मनुष्य और पशुओं में भिन्नता का दर्शन कराते हुये श्री मच्छङ्कराचार्य जी प्रश्नोत्तरी में कहते हैं कि–

"पाशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीत शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।"

अर्थात् 'पशुओं से भी बढ़कर पशु कौन है? जो शास्त्र का खूब अध्ययन करके धर्म का पालन (अनुशीलन) नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ' अतः धर्म ही एक ऐसा है जो मनुष्य और पशुओं के मध्य अन्तर का दिग्दर्शन कराता है। बिना धर्म के मनुष्य पशु ही है चाहे देखने में मनुष्य भले ही लगे। यदि मानवोचित गुण उसमें नहीं हैं तो वह पशुओं की कोटि में आने योग्य है। अतः धर्म मानव के लिये इतना आवश्यक है जितना कि शरीर के लिए प्राण। जिस तरह बिना प्राण के शरीर की संज्ञा मिट्टी (मृत्तिका) से देते हैं उसी प्रकार धर्म हीन व्यक्ति पशु है। अब मैं यह बताना चाहता हूँ कि धर्म का अर्थ क्या है।

धर्म का अर्थः—धर्म के अनेक अर्थ हैं जिसमें दो प्रधान हैं।

(१) धर्म का अर्थ स्वभाव या प्रकृति से है। जैसे:–जलाना अग्नि का धर्म है, गीला करना पानी का धर्म है, मौका मिलते ही बहते रहना वायु का धर्म है, जरा दुःख होते रोते रहना बच्चों का धर्म है, तीव्र क्षुधा लगने पर जो मिलना सो खा जाना प्राणों का धर्म है।

(२) धर्म का दूसरा अर्थ—चाहे जितनी भूख लगे, प्राण कंठ में आ जाय तो भी चोरी करके नहीं खाना, दूसरे को मारकर नहीं खाना, अयोग्य वस्तु नहीं खाना, दूसरे को भूखा रखकर स्वयं नहीं खाना यह है मानव का धर्म।

प्रथम धर्म तो प्रत्येक में है ही परन्तु दूसरे प्रकार का धर्म मानव मात्र के लिए है। वास्तव में धर्म ही मनुष्य के लोक परलोक का साधन है। स्मृतिकार मनु महाराज 'मनुस्मृति' में परलोक साधन में केवल धर्म के द्वारा ही मनुष्य की अभीष्ट सिद्धि बतलाते हैं–

"न मुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र दारा न ज्ञातिधर्मस्तिष्ठति केवलः॥
मृतं शरीर मुत्सृज्य काष्ठलोष्ट समं क्षितो।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्त मनुगच्छति॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनु याच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरेति दुस्तरम्॥"

अर्थात् परलोक में सहायता के लिए माता, पिता,

पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी नहीं रहते, वहाँ एक धर्म ही काम आता है। मरे हुए शरीर को बन्धुबान्धव काठ और मिट्टी के ढेले के समान पृथ्वी पर पटककर घर चले आते हैं, एक धर्म ही उसके पीछे जाता है इसलिए परलोक में सहायता के लिए नित्य शनैः शनैः धर्म का संचय करना चाहिए। धर्म की सहायता से मनुष्य दुस्तर नरक से भी तर जाता है।

धर्म ही मनुष्य को दुःख की धधकती हुई मट्टी से निकाल कर सुख की शीतल गोद में लें जाता है, असत्य से सत्य में ले जाता है और अन्धकार-हृदय में अपूर्व ज्योति का प्रकाश कर देता है। धर्म से ही अधर्म पर विजय प्राप्त होती है। पाँडवों की विजय का कारण धर्म बल था। धर्म त्याग से ही रावण को अपकर्ष के दुःखद कष्टों की संवेदना हुई। कंस को धर्म त्याग के कारण ही कलंकित होना पड़ा। शिवाजी और राणाप्रताप का नाम धर्म के कारण ही अमर है। गुरु गोविन्द सिंह के पुत्र धर्म के लिए ही दीवाल में हँस-हँस कर (सहर्ष) चुन गए। मीरा धर्म के कारण ही विष का प्याला पी गई। ईसा धर्म के लिए ही शूली पर चढ़े। हरिश्चन्द्र धर्म के कारण ही डोम के घर बिके। दधीचि ने धर्म के कारण ही हड्डियों का दान किया। बुद्ध ने धर्म के रहस्य को समझने के लिए ही भीषण (इषित) तपस्या में अपने शरीर को सुखा दिया। मोरध्वज ने अपने पुत्र को सिंह के हवाले किया। राजा दिलीप ने धर्म के लिए नन्दिनी गाय की रक्षा करते हुए सिंह के आहार हेतु अपने को अर्पित कर दिया। महाभारत में प्राण पण से धर्मराज युधिष्ठिर ने अन्त समय तक धर्म का पालन किया। स्वर्गारोहण के समय की बात है जब कि धर्मराज के लिए विमान आता है उस समय उनके साथ स्वामिभक्त कुत्ता ही रह गया था और अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी का इहलोक से शीतल धाराओं और बर्फीली चट्टानों की शीतलता के कारण प्रयाण हो चुका था। धर्मराज के धर्म धुरीनता, धर्म के सजग प्रहरी होने की अन्तिम और बड़ी ही कठिन परीक्षा थी। उसी समय उनके लिए विमान आता है। देवदूत धर्मराज से कहते हैं कि आप विमान पर आसीन होइये। पर धर्मराज क्या उत्तर में कहते हैं कि पहले इस कुत्ते को विमान पर बैठाइये क्योंकि इसने हमारा अन्तिन समय तक प्राणों की बाजी लगाकर जंगली हिंसक जीव, सिंह व्याघ्रों से हमारी रक्षा की है और अब इसी सेवा में निहाल होकर थकित हो रहा है। ऐसी अवस्था में मैं इसे छोड़कर स्वर्ग नहीं जाना चाहता हूँ। यदि मुझे स्वर्ग ले चलना है तो कुत्ते को विमान पर बैठाइये। ऐसी बात सुनकर देवदूतों ने कहा कि कुत्ते को नहीं बैठाऊँगा। यदि आपको चलना है तो चलिए। धर्मराज हजार कहने पर भी नकारात्मक उत्तर देते हैं। इतने में आकाश से पुष्प वर्षा होती है। देव, किन्नर, यक्ष और गन्धर्व दुंदुभियों का तुमुल धोष करते हैं जिससे सम्पूर्ण व्योम मण्डल गूंज उठता है। सब देवगण उपस्थित होते हैं। धर्मराज अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं और धर्म-पालन का मानव मात्र के समक्ष एक महान् अनुशीलनीय आदर्श उपस्थित करते हैं। स्वर्गारोहण के समय धर्मराज करते हैं कि-

"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥"

अर्थात् मनुष्य को किसी भी समय न काम से, न भय से, न लोभ से और न जीवन रक्षा के लिए ही धर्म का त्याग करना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख दुःख अनित्य हैं और इस जीवन का हेतु अनित्य है।

धर्म की कसौटी पर चढ़कर मानव का जीवन उसी प्रकार निरख उठता है जैसे कि मुर्दे के भीतर प्राणों का संचार होता है। धर्म के मार्ग में अनेक बाधाओं एवं कष्टों का सामना करना पड़ता है पर अन्तिम विजय धर्म की ही होती है तभी शास्त्रों की सिंह गर्जना है कि

"यतो धर्मस्ततो जयः।"

अर्थात् जहाँ धर्म होता है वहीं विजय होती है। धर्म की कसौटी पर खरा उतरने के लिए बड़ी ही कठिन

तपस्या की आवश्यकता पड़ती है तभी महाभारत जो कि पंचम वेद माना जाता है उसमें कहा है कि–

"सूक्ष्मागीतर्हि धर्मस्य"

अर्थात् धर्म या व्यावहारिक नीति धर्म का स्वरूप सूक्ष्म है। और भी कहा है कि–

"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम् ।"

यानी धर्म का तत्व गुहा में निहित है। अतः धर्म-रहित व्यक्ति पशु होता है तो उसे मनसा वाचा कर्मणा धर्म का पालन हर अवस्थाओं में करना चाहिए।

धर्म की परिभाषाः–"अर्तिस्तु सुहुसृघृ०" अर्थात्:– 'धरति सर्वं जगत् सर्वैर्लोकैर्ध्रियते सुखं प्राप्तये सेव्यते वा स धर्मः,–जो सब जगत को धारण कर रहा है व जिसका धारण सब सुख प्राप्ति के लिए करते हैं वह धर्म है। जिस आचरण को श्रुति और स्मृति उत्तम बतलाती हैं तथा अच्छे पुरुष जिसका आचरण करते हैं तथा हमारी आत्मा भी यह स्वीकार कर लेती है कि ये आचरण अच्छे हैं वही धर्म है। श्री हनुमान जी ने कहा है–

(१) **"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।**
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षातद्धर्मस्य लक्षणम् ॥"

वेद स्मृति सदाचार और अपनी आत्मा की रुचि के अनुसार परिणाम में हितकर यह चार प्रकार का धर्म साक्षात् लक्षण है।

(२) **"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः"**
'सत्य धर्माचरणस्य चोदना प्रेरणैव लक्षणार्थो यस्य स धर्मः'

अर्थात् सत्य धर्म के आचरण की जिससे प्रेरणा मिले ऐसे लक्षणार्थ से युक्त धर्म है।

(३) **"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"** (वैशेषिक दर्शन सूत्र–२

"यस्याचरणात् लोके पूर्णेष्टसुख लाभः
तदन्तरं मोक्ष सुख लाभश्च स्यात् स धर्मः ।"

जिससे लौकिक तथा मोक्षस्थ सुख की सिद्धि हो वह धर्म है। यानी जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है।

(४) **"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।**
धीर्विद्या सत्यम् क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥"

(मनुस्मृति ६।९२)

अर्थात् धैर्य क्षमा, मन का निग्रह, चोरी न करना, बाहर भीतर की शुद्धि, इन्द्रियों का संयम, सात्विक बुद्धि, अध्यात्म विद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध का न करना ये धर्म के दस लक्षण हैं।

महाभारत के वन पर्व में धर्म के आठ मार्गों का वर्णन है–

(५) **"इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।**
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्ट विधः स्मृतः ॥

अर्थात् यज्ञ अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दम और अलोभ ये धर्म के आठ मार्ग हैं।

(६) **"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।**
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥"

अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा किसी से द्रोह नहीं करना चाहिए। प्रत्येक के प्रति अनुग्रह की भावना से ओतप्रोत रहना चाहिए तथा दान देना चाहिए। परन्तु दान में यह ध्यान रखना चाहिए कि पात्र कैसा है। श्री शंकराचार्य जी ने भी कहा है कि–

"दानं परं किञ्च सुपात्र दत्तम्"।

यही सन्तजनों का सनातन धर्म है।

(७) धर्म की महिमा का गान यह श्लोक, पुकार–पुकार कर कह रहा है–

"ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते" ॥

अर्थात् बाहुओं को ऊपर उठाकर मैं पुकार रहा हूँ परन्तु कथन को कोई नहीं सुन रहा है, जिस धर्म से काम और अर्थ की सिद्धि होती है उस धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जा रहा है।

परन्तु धर्म का मूल रूप क्या है, इसका यथार्थ

निर्णय कहाँ से किया जाय, तब संसार की शंका का समाधान मनु जी इस श्लोक में कर देते हैं–

"अर्थ कामेष्व सक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञास मानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥"
(मनुस्मृति)

अर्थात्–अर्थ और काम से विरक्त मनुष्य को धर्म का ज्ञान हो सकता है और धर्म का यथार्थ ज्ञान करने के लिए परम प्रमाण श्रुति (Revealed text) चार वेद हैं। इस लेख में धर्म के स्वरूप का वर्णन मैं वेद द्वारा करूँगा तथा यह सिद्ध करूँगा कि जितने भी धर्म केलक्षण आर्यग्रंथों में किए गये हैं, वे सब वेद के अन्तर्गत हैं।

वेद में धर्म का स्वरूप

मंत्र १:– "श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता ॥"
मंत्र २:– "सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥"
(अथर्व० १२।५।१,२ ॥

भावार्थः– (श्रमेण) परम प्रयत्न से (तपसा) धर्माचरण से (ब्राह्मणा) वेद विद्या से और परमेश्वरोपासना से युक्त करके (सृष्टा) सब मानव उत्पन्न किए गए (वित्ते) धनोपार्जन में (ऋते) नियमशील जीवन में (श्रिता) लगाए गए हैं (सत्येन) प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से जो सत्य है उससे (आवृता) युक्त होवो (श्रिया) लक्ष्मी से (प्र + आवृता) आच्छादित होवो (यशसा) यश से परीवृता, युक्त बनो।

उपर्युक्त मंत्रों में धर्म के सब लक्षण कैसे आ जाते हैं। धर्म के श्रम, तप, ब्रह्म, वित्त, ऋतं सत्य इन पदों से सात लक्षण सिद्ध किए हैं और धर्म के पालन के दो लाभ श्री और यश बतलाये हैं।

१ श्रमेण :– प्रत्येक को पुरुषार्थी होना चाहिए उसी से विद्यादि प्राप्त होती है। यही मूलाधार है, आलसी प्रमादी धर्म का पालन नहीं कर सकता।

२ तपसा– धर्माचरण, "तपो द्वन्द्व सहनं" अर्थात् शीत–उष्ण, मान–अपमान, हानि–लाभ आदि द्वन्द्वों का सहन करना तप है। और भी तप को इस प्रकार ऋषियों ने परिभाषित किया है–

"तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः"।

अर्थात्– सभी तपों में वैराग्य मूर्धन्य तप है। वैराग्य का भी यहाँ अर्थ–"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" (यजुर्वेद) से है। ब्रह्मचर्य पालन यह तप रूप धर्म का दूसरा लक्षण वेद ने कहा। इसे क्षमा और धृति कहा गया है।

३ ब्रह्म — परमेश्वर की उपासना भी धर्म है। अनेक विद्या परायण, धनी, वलशाली होने पर भी परमेश्वर की उपासना के बिना शान्ति और प्रसन्नता नहीं मिलती। श्री बाल गंगाधर तिलक ने धर्म को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए कहा है–

By religion I mean man's duty towards man and god."

- अर्थात् मेरी दृष्टि में धर्म के माने मनुष्य का मनुष्य के प्रति और परमात्मा के प्रति क्या कर्तव्य है, वे हैं।

४ ब्राह्मणा– वेद विद्या का अध्ययन और अभ्यास भी धर्म है। ऋषि दयानन्द जी ने तो इसे परम धर्म कहा है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि "अध्यात्म विद्या विद्यानां।" अर्थात् विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्म विद्या है। और वेदों में अध्यात्म विद्या ही अनुस्यूत है। विद्या से अर्थ हमारा उस ज्ञान से होता है जिससे मनुष्य जन्म मरण के पाश से विमुक्त होकर अपने अभीष्ट सिद्धि ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। शास्त्रों में विद्या को निम्न प्रकार परिभाषित किया है–

"विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या"
(प्रश्नोत्तरी)

अर्थात् वास्तव में विद्या कौन सी है ? जो परमात्मा को प्राप्त करा देने वाली है। और भी–

"सा विद्या या विमुक्तए"

अर्थात् विद्या वह है जिससे मनुष्य सभी प्रकार के पापों से विमुक्त हो जाता है। "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वं पाशैः" ब्राह्मण का धर्म विद्या दान है जिसको मनुस्मृति में सर्वश्रेष्ठ दान बताया है।

"सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चन सर्पिषाम्॥"
(मनुस्मृति)

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, स्वर्ग और घृतादि इन सब दानों से वेद विद्या का दान अतिश्रेष्ठ है।

वेद का ज्ञान न होने से मनुष्य पापी होता हुआ भी सत्पुरुष होने का दम भरता है। वेद का अध्ययना-ध्यापन सब संशय निवारक है। और वेदोंको सभी पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं।

(५) वित्तेः- जीवन को चलाने के लिए धनोपार्जन सत्य व्यवहार से करना भी वेद ने धर्म का लक्षण कहा है।

(७) ऋतेः-अपने जीवन में समय को व्यर्थ न गँवाओ, शुभ काम में मन को लगाओ और नियम पूर्वक प्रतिदिन निश्चित समय पर काम करो। क्योंकि-

"Idle mind is the devils workshop"

(७) सत्येनावृताः-प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हस्ताम-लकवत्" सत्य का निश्चय करके उससे जीवन को अलंकृत करे। क्योंकि- (१) "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पंथा विततो देवयाता।" (२) "नहि सत्यात्परो धर्मः"।

ये सात धर्माङ्ग पालन किए जायेंगे तब दो पदार्थ मिलेंगे।

(१) श्रियापावृताः- संसार में रहते हुए चक्रवीर्त राज्यादि लक्ष्मी मिलेगी। और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष मिलेगा। देव-यान पितृयान, श्रेय और प्रेय सब सिद्ध हो जावेंगे।

(२) यशसापरीवृताः-अक्षय कीर्ति मिलेगी और मृत्यु के बाद भी संसार की दृष्टि में तुम्हारा नाम और कार्य रहेगा जिससे सारा संसार शिक्षा ग्रहण करेगा और धर्म के मार्ग पर चलकर अपने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवनों का निर्माण करेगा। अब सात लक्षणों में सभी आ गये। और मानव जीवन के प्रापणीय पदार्थ भी प्राप्त हो गए। यही वेदों के अनुसार धर्म का स्वरूप आर्य ग्रन्थों के आधार पर है।

"क्रमशः"

इस स्थूल शरीर के लिए स्वास्थ्य का सुझाव दो और यह शरीर निश्चय ही स्वस्थ हो जायगा। इस कारण शरीर को ईश्वरीय चेतना से भरने का सङ्कल्प करो और मनुष्य निश्चय ही भविष्य-वक्ता बन जायगा। यदि इसमें गुलामी और कमजोरी के विचार आयेंगे तो यह स्थूल शरीर निश्चय ही कमजोर और गुलाम बन जायगा। मनुष्य बनाई हुई वस्तुओं का स्वयं कारीगर है जितना कि वह अपने शरीर के लिए सभी वातावरण में उत्तरदायी है।

—स्वामी रामतीर्थ

अखण्डवचनामृत
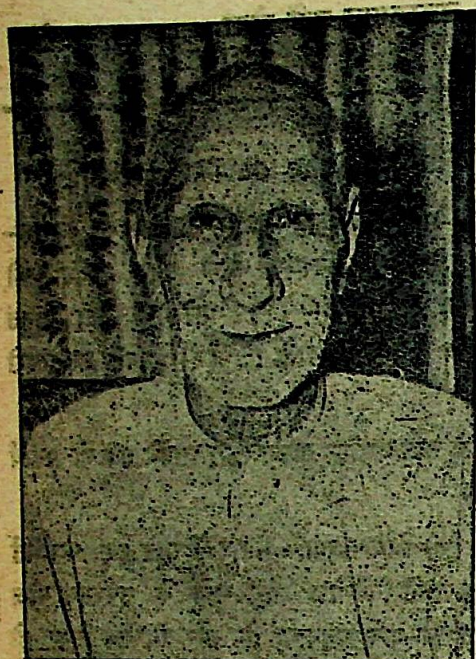
विचार महान् कर्त्तव्य है । इससे अन्तःकरण की बात समाप्त हो जाती है और अन्तःकरण भी नहीं रहता । हर एक पुस्तक में यह लिखा है कि भजन, पूजन ऐसा होना चाहिए कि मन लग जाय । गुरिया के गिनने में जब मन लग जाता है तो एक तो राम-राम और दूसरे हाथ से गिनते भी हो, भेद हो गया। बताओ तुम्हारा मन क्या करता है। मन को क्या काम दिया इससे मन जो चाहे वही करता है। कर से मुख से छोड़ दो, एक मन से ही काम लो । जब इधर-उधर जाने तभी जवाबदेही कर लो कि मन तू क्यों जाता है । कितने युग हुए तुम्हें भटकते- भटकते, क्या तुझे कहीं सुख मिला है। यदि नहीं माने तो कह दो, तू हमारे घर से निकल जा। जैसे बच्चा छोटा होने पर सब काम करता है, बड़ा होने पर थू-थू करने लगता है। उसके अन्दर निश्चय हो जाता है कि यह चीज बुरी है तो मरते-मरते मर जाता है परन्तु मल खाने की इच्छा नहीं करता। यदि मल पर नजर पड़ गयी तो थू कर देगा और नाक दबा लेता है। गुरु घृणा करा देते हैं। जब घृणा हो जाती है तो मन नहीं चलना। क्या न करना चाहिए? मन का कहा नहीं करता चाहिए । उसमें जो संकल्प आया उसका विचार करके देख लो।

"मन का कहा न कीजिए, मन है पक्का दूत ।
लै बोरत दरियाव में और जाय हाथ से छूट ॥"

दरिया विषय हैं। यही नहीं कि गुरुओं और महात्माओं का कहना है। आप का आत्मा खुद गवाही दे रहा है; आत्मारूपी भगवान् कि तुम्हारा इसमें कल्याण नहीं है।

देह नरक ही है । विचार ही महान् से महान् कर्त्तव्य है । श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो, यही सार है और बाकी सब असार है। यही महान् और अभेद चिन्तन है, ब्रह्म-चिन्तन है, आत्म-चिन्तन है । हम यदि शिवोऽहम् कहते हैं तो तुम भी तो सीताराम, राधेश्याम बगैर जाने समझे कहते हो, और कहते हो कि बिना जाने तर जायेंगे । शिवोऽहम् क्षुधा की निवृत्ति डकार है, शिवोऽहम् बोध की डकार है और साधक पुरुषों के लिए उपदेश है । "बिना विचारे जो करै सिर धुनि-धुनि पछिताय । कालै कर्मै ईश्वरै मिथ्या दोष लगाय ॥" विचार ही सबका सार है। हर काम विचार करके करनो चाहिए। शिवोऽहम्, सोऽहम् का सिद्धान्त सबमें लिखा है। अध्यात्म रामायण, आत्म-रामायण, गीता, ग्रन्थ साहब सब जगह यही लिखा है। सबके मन में यह अजपा है । इसी का ध्यान करना चाहिए।

★

भावना में बहो नहीं !

भावना एक शक्ति है, परन्तु तुम उसके पीछे न चलो। शक्ति तो शासक के पास होती है, शासित पर शक्ति का प्रहार होता है। शक्ति पर तुम्हारा शासन हो और तुम निश्चय ही जीत जाओगे। बिना इस शक्ति के तुम चल भी तो नहीं सकते। भावना तुम्हारी बनकर रहे, भावना के तुम हो जाओगे तो तुम्हें उसकी गति के साथ नर्तन करना पड़ेगा।

सुना है भावना से भगवान् मिल जाते हैं। परन्तु जब-जब भावना से भगवान् को बुलाने के लिए सोचा तब-तब मुझे अपने जैसे ही भगवान् दिखाई पड़े। हाँ ! मेरे संस्कारों ने ही भगवान् का यह रूप निर्माण किया। भगवान् की यह मूर्ति मुझे बड़ी प्रिय लगी। कुछ दिनों तक साधना का यही क्रम रहा। संस्कारों ने नया रूप धारण किया और भगवान् भी बदलते हुए दिखाई पड़े। अरे! ये तो बिलकुल ही बदल गए। नहीं मेरी भावना का यह नया चित्र है। तो क्या ऐसे ही चित्रों में भगवान् बदल-बदलकर आते रहेंगे। भगवान् के इन बदलते रूपों में मैं टिक न सका। मेरी मान्यतायें बदलती गयीं। मेरी इतने दिनों की पोषित मान्यतायें ! अब किसके बल पर भगवान् को टिकाऊँगा? भावना के बल पर। भावना के बल पर ही तो अभी तक टिका पाया हूँ। आगे भी टिका सकूँगा; परन्तु कहीं इसका साथ फिर न छूट जाय। भावना हम पर शासन करेगी तो निश्चय ही ऐसा होगा।

भावना जितनी बार करवटें बदलती है उतनी ही बार मैं भी उसी के साथ घूम जाता हूँ। भावना कभी ठहरती नहीं और मेरे भगवान् भी रुकते नहीं। भावना के पैरों में विचार की बेड़ियाँ पहना दीं और वह छटपटाने लगी और वह करती भी क्या; विचार ने भावना पर अधिकार कर लिया। भावना अब ठहर गयी। अब जहाँ वह जाती है विचार साथ चलते हैं। भावना के भगवान् भी विचार की बेड़ियों में ऐसे फँसे हैं कि सर्वत्र उनके सिवा और कुछ दीखता ही नहीं।

'चिन्मय'

—:o:—

साहसी और ईमानदार बनो, फिर किसी भी मार्ग पर पूर्ण लगन से चलो तो तुम निश्चय ही पूर्णत्व को पा लोगे। एक बार जंजीर की किसी भी कड़ी को पकड़ लो और क्रमशः पूरी जंजीर ही तुम्हारी पकड़ में आ जायगी। पेड़ की जड़ में पानी दो (अर्थात् ईश्वर को प्राप्त करो) तो सारा पेड़ हरा-भरा हो जायगा। परमात्मा को पा लेने पर हम सबको पा लेंगे। संसार के लोग केवल एक पक्षीय होते हैं। जितने पहलुओं को तुम विकसित कर लोगे उतना ही तुम संसार को विभिन्न जीवों के द्वारा देख सकोगे—भक्त और ज्ञानी के द्वारा। अपनी प्रगति का निश्चय करो और उसी में स्थित हो जाओ।

—स्वामी विवेकानन्द

शिखा ने उसे ब्रह्म से ला मिलाया

श्री गणेशदत्त सारस्वत, एस० ए०, बिसवाँ (सीतापुर)

'शलभ' ने जो चाहा 'अहं' भूलकर मैं,
स्वयं 'तत्त्वमसि' रूप में जा समाऊँ—
'शिखा' ने नई राह ऐसी बताई
कि जिसने उसे ब्रह्म से ला मिलाया।
शिखा ने उसे ब्रह्म से ला मिलाया ॥

स्वयं को समर्पित 'शलभ' ने किया जब
'शिखा' मुसकराई, निशा गुनगुनाई।
खुशी से महकने लगा आसमां तो,
धरा पर खुशी स्वर्ग को खींच लाई।
हँसीं सब दिशाएँ, हँसी सब दशाएँ,
मनुज ने मगर आठ आँसू बहाया।
शिखा ने उसे ब्रह्म से ला मिलाया ॥

वही अश्रु—धारा यही कुछ समझकर,
हुई जीवनी-शक्ति उससे अलग है।
मगर तत्त्व में तत्त्व ही जब समाया,
कहो फिर कहाँ सत्त्व उससे विलग है।
खिली ज्योति जिसकी शलभ रूप में जो,
उसी पुञ्ज में स्वत्त्व भी जा समाया।
शिखा ने उसे ब्रह्म से ला मिलाया ॥

रही एक आशा, बनी वह निराशा,
निराशा पुनः बन गई विश्व-आशा।
पिपासा शलभ की, 'शिखा' की पिपासा,
मिली एक में जब, हुआ ब्रह्म प्यासा।
उसी के शमन हित उठा भेंटने को,
शलभ से—उसी ने उसे था बुलाया।
शिखा ने उसे ब्रह्म से ला मिलाया ॥

उठो फिर जागो

श्री स्वामी निजानन्द जी 'त्यागी', पुखरायाँ, कानपुर

जिन्दगी का बज रहा है, यह तो हरदम साज है।
इस साज के हर तार में, सतगुरु की ही आवाज है॥

वाचस्पति मिश्र का मत है कि 'निष्काम कर्म उपासनादि का फल विविदिषा रूप जिज्ञासा है।' निर्मल अन्तःकरण में जिज्ञासा के उत्पन्न हो जानें पर कर्मजन्य अपूर्व अपना फल देकर नष्ट हो जाता है। जिज्ञासा के होते हुए भी उत्तम गुरु लाभादि सामग्री के बिना जिज्ञासा होते हुए भी ज्ञान का होना सम्भव नहीं। निष्काम कर्म की सीमा केवल जिज्ञासा तक ही नहीं है। वरन् इसका निर्दिष्ट लक्ष्य जिज्ञासा द्वारा ज्ञान है, और कर्मजन्य अपूर्व ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त शेष रहता है। और ज्ञान को उत्पन्न करके ही निःशेष होता है, और इस जन्म में अथवा भावी जन्म में कर्मजन्य अपूर्व उत्तम गुरु लाभादि सामग्री को स्वयं सम्पादन करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तानुकूल हम सभी को सत्गुरु प्राप्त हो चुके हैं, और उनके चरणों में हम सर्वस्व न्योछावर कर कृतकृत्य हो गये हैं। वर्त्तमान काल इस बात का सूचक है कि यदि हम इस समय नर रूप में नारायण हैं तो अतीत काल में भी हमने इसी मानवीय शक्ति ज्ञान के द्वारा सद्गुरु के दामन से गठबन्धन किया था। जिसके परिणाम स्वरूप आज भी हम वही हैं, और भविष्यकाल में भी रहेंगे। महापुरुषों का तो यहाँ तक एलान है कि—

Tomorrow never comes, yesterday never was.

अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान अभेद रूप 'काल' हैं। बीता हुआ समय जो गया वह भूतकाल, वर्तमानकाल ही था। वर्तमान ही भूतकाल होता है, और भविष्यकाल जो होगा वह भी वर्तमान ही होगा। इस प्रकार की अनोखी नजर महापुरुष जिज्ञासु को दिया करते हैं। जिस हक़ीकी चश्म के खुलने पर द्वैत का पर्दा फट जाता है, भ्रम के बादल छिन्न भिन्न हो जाते हैं। 'तत्त्वमसि' के इशारे से जीवत्त्व की गाँठ टूट जाती है और साधक स्वयं सिद्ध हो 'अहंब्रह्मास्मि' की मस्ती भरी आवाज में पुकार उठता है—

I stand here, and far from him, misgivings all. He was never There where I stood and I did not realise. जिस विरह अग्नि से मैं तड़प रहा था। वही मेरे लिए शीतल जल हो गयी। जिस सुख शान्ति के लिये वनों की खाक छानी, वह सुख और शान्ति का भंडार मैं ही निकला। जिस बन्धन पाश को तोड़ने के लिए मुक्ति रूपी अस्त्र को ढूंढ़ रहा था 'वह' मुक्त स्वरूप मैं ही निकला। सत्गुरु का संकेत हुआ।

आप भुलान्यो आप में, बन्ध्यों आप ही आप।
जाको तू खोजत फिरे, सो तू आपहिं आप॥

मानव के अन्दर, भय, कम्पन, भीरुता और कायरता अज्ञानावस्था में ही होती है। जब उसको अपने आपका बोध, हो जाता है, अर्थात् स्वरूप ज्ञान हो जाता है उस समय वह सम्पूर्ण प्रपञ्चों का उल्लङ्घन कर जाता है। जादूगर का खेल (मायापुरी) हमको तभी तक भ्रम में फँसाता है जब तक कि उसमें पूर्ण जानकारी नहीं करपाते। स्वप्न हमको तभी तक भय देता है तब तक कि हम जाग नहीं जाते। सत्गुरु महावाक्य की ध्वनि से जगाते हैं और कहते हैं:—"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधित, क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गम पथस्तत्कवयो वदन्ति॥"

Arise Awake, and get your final goal. Otherwise, O, my heart ! time and tide waite for none.

उठो, जागो, (केवल तुम्हारा लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति का हो।) तुम्हारा अन्तिम उद्देश्य (आत्मज्ञान) जो है उसकी प्राप्ति करो। अन्यथा समय और ज्वार भाँटा किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। उपर्युक्त मन्त्र में पहले उठने के लिए कहा गया है फिर जागने के लिए। जिससे कि शंका उत्पन्न हो सकती है कि पहले जागा जाता है उसके बाद उठा जा सकता है। यहाँ उठने का अर्थ 'ज्ञान' और जागने का अर्थ 'प्रवृत्ति' है। पहले सत्गुरु की शरण चलो पश्चात् ज्ञान के प्रकाश में कर्मरत हो। "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" ज्ञान से ही कैवल्य पद मिलेगा। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं।

'चातक' नाम का एक पक्षी होता है जो वर्षा ऋतु में "पी पी" की रट लगाता रहता है। मेघों की घनी वृष्टि मानों उसकी अन्तरात्मा को और अधिक कल्पाती है। प्यास के मारे तड़पता रहता है किन्तु स्वाती नक्षत्र की एक ही बूंद उसकी भीषण तृषा को सदा के लिए शान्त कर देती है। यही स्थिति मुक्ति पथ पर अग्रसर होने वाले मानव की है। महात्मा तुलसीदास का कथन है–

"श्रुति पुराण बहु कहचो उपाई,
छूटे न अधिक अधिक उरझाई ॥"

इसके लिए ज्वलन्त उदाहरण है। भौतिकता की तो बात क्या, अध्यात्म का दलदल भी एक जटिल समस्या है। जिस दवा से मर्ज अच्छा हो उसी दवा से रोगी परहेज करे तो उसके जीवन की कोई आशा नहीं रखना चाहिए। यदि वह जिन्दगी से प्रेम रखना चाहता है तो उसको वह दवा अवश्य खाना पड़ेगी। यथाहि उदाहरणार्थः–

किसी कालिज में एक ब्राह्मण जज की लड़की एम० ए० में पढ़ती थी, जिसका नाम सुदर्शन था। उसी कालिज में एक पशु पालने वाले ग्वाले का लड़का पढ़ता था जिसका कि नाम अबोध कुमार था। यह दोनों विद्यार्थी एक ही क्लास के सहपाठी थे। मिस्टर अबोध और मिस सुदर्शन में काफी प्रेम भी था। यहाँ तक कि दोनों आपस में शादी करने के लिये तैयार हो गए। मिस सुदर्शन के पिता को जब यह हाल मालूम हुआ तो उसने कहा बेटी! तुम जात की ब्राह्मण हो, एक साधारण ग्वाले के साथ में तुम्हारी शादी नहीं होने दूँगा। लड़की ने सारी बात मिस्टर अबोध कुमार को बतलाई। लड़की की बात सुनकर लड़के ने समझ लिया कि मेरी शादी अब इस लड़की के साथ नहीं हो सकेगी। परिणामतः लड़का पागल हो गया। जब लड़के के पिता को यह मालूम हुआ कि जज साहब की लड़की के साथ शादी न होने के कारण मेरा इकलौता पुत्र पागल हो गया है। लड़के के पिता ने समझा कि हमारा प्रिय पुत्र बिना उस लड़की के साथ शादी किये जी नहीं सकता। अस्तु लड़के का पिता बड़ साहस और धैर्यता से जज साहब का बँगला पूछता हुआ उनके पास गया। जज साहब ने इस देहाती आदमी को देखकर समझा शायद कोई मुकदमा वाला जेब में कुछ डालने के लिये आया है। अस्तु उन्होंने बड़े आवभगत से लिया और कहा कहो भाई किसलिये तशरीफ़ लाए। ग्वाले ने कहा हुजूर हमारा लड़का पागल हो गया है, उसका जीना बहुत मुश्किल है; यदि आप अपनी लड़की की शादी कर दें तो अच्छा है। जज साहब को ग्वाले की बात पर बड़ा क्रोध आया लेकिन समझदार थे बोले–यदि तुम्हारे लड़के का दिमाग ठीक हो जाये तो हम अपनी लड़की की शादी कर सकते हैं। किसी पागल के साथ मैं अपनी लड़की की शादी नहीं कर सकता। लड़के के पिता ने कहा हुजूर यदि शादी हो जाय तो लड़का ठीक हो जाये। यही (शादी करना) तो उसके पागलपन की दवा है। इसी कारण तो हमारा लड़का पागल है। कुछ ही दिनों में जज साहब दुनियाँ से विदा हो गये। परिणामतः मिसेस सुदर्शन और मिस्टर अबोध कुमार का बिखरा हुआ प्रेम दम्पत्ति रूपी सूत्र में आ बँधा जिससे श्रीमान् अबोध जी का पागलपन दूर हुआ और पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये।

उपर्युक्त दृष्टांत का यही सिद्धान्त है कि अबोध रूप में अज्ञानी जीव शान्ति रूपी सु+दर्शन से पराङ्मुख है जिससे जन्म–मरण के कोड़े खा–खा करके पागल हो रहा है। जज रूपी कट्टर सम्प्रदायवादी (मुल्ला, मौलवी एवं हठी–कर्मकाण्डी) भोले जिज्ञासुओं को अध्यात्म के दलदल में फँसाये पड़े हैं। मंसूर रूपी 'ग्वाला' जज रूपी मतावलम्बियों के सामने 'अनलहक' (अहं ब्रह्मास्मि) की

पुकार लगाते हैं जिससे अनेकानेक प्राणियों को जीवन दान मिलता है जिस प्रकार अबोध का पागलपन शान्ति रूपी सुदर्शन के पाने से हुआ। उसका पागलपन होना केवल सुदर्शन को न पाना था। ठीक इसी प्रकार अज्ञान को दूर करने के लिए एकमात्र ज्ञान ही है। अन्धकार को कौन मिटाता है ? तेल और वाती, नहीं इसका सीधा उत्तर प्रकाश है। प्रकाश से ही अन्धकार दूर किया जा सकता है। ब्रह्मविद्या में भी किसी और को छूना, जानना नहीं। जिस अज्ञान के घूंघट के कारण यह जीव ठोकरें खा रहा है उस पर्दे को हटाना है।

असुर्या नाम ते लोका: अन्धेन तमसाऽवृतः।
तांऽस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जो लोक अज्ञान रूपी अन्धकार से आच्छादित हैं, वह असुरों के योग्य हैं। जहाँ पर कुछ नहीं सूझता। जो कुछ प्रकाश मिल रहा है वह केवल पुण्य कर्मों का फल है। ऐसे आत्मघाती लोग घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

मृत्योः सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।"
"ईषद्प्यन्तर कृत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्॥"

भेद वादी को निश्चय रौरव नर्क की पीड़ा का आलिंगन करना पड़ता है। अस्तु पहले उठो (ज्ञान तत्पर हो) फिर जागो। (तब कर्म में प्रवृत हो।) सुषुप्ति, स्वप्न और मूर्छावस्था से जागने पर जगत की पुनः प्रतीति होती है, परन्तु ज्ञान काल में वैसी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि वहाँ तो मूल माया, मूल अविद्या कारण रूप से व उसका कार्य सुप्तावस्था रहती है। इसी से वहाँ पुनरावृत्ति होती है, परन्तु आत्मज्ञान में यह मूल अविद्या व अपने कारण कल्पित ब्रह्म का बोध होने से अधिष्ठान में प्राप्त होकर अभेद हो जाती है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। "घटे भिन्ने घटा काशा आकाशे लीयते यथा, देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मने।" घट के टूटने पर घटाकाश, महाकाश में मिल जाता है। ज्ञानी देह के अहं ज्ञान से ऊपर उठकर परमात्मा के स्वरूप में अभेद रूप होकर मिल जाता है। "न स पुनरावर्तते। न स पुनरावर्तते॥" ज्ञानी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता और न उसकी पुनरावृत्ति होती है। अस्तु हमें, श्रुतियों स्मृतियों तथा सद्गुरुओं की आवाज को सुनना—मानना होगा। "सद्गुरु वचन वैद्य विस्वासा।" विविध, ताप, पाप से छूटने तथा भवसागर से पार जाने के लिए 'ज्ञान' रूप वोहित (नौका) का सहारा लेना है।

"ज्ञान के समान पवित्र और कोई दूसरी वस्तु नहीं है।"
"ज्ञान नौका" द्वारा सम्पूर्ण पापों को पार कर जायगा।"
(गीता)

॥ ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है॥

★

अन्तर्यामी को बिना पहचाने न योग, न कर्म, न भक्ति, न ज्ञान कुछ नहीं हो सकता। ईश्वर की खास पहचान 'अन्तर्यामी' यह मनुष्य देह में स्पष्ट हुई है जितनी अन्यत्र कहीं नहीं हुई। ईश्वर की व्याख्या मानव ने की। देखने में सर्वत्र वही मिलता है जो स्वयम् हैं। परन्तु मानने पर सारी ही अव्यवस्था दिखाई देती है, क्योंकि अन्तर्यामी सर्वत्र होते हुए दिखाई तो देता नहीं। यह अन्तर्यामी देखने का विषय नहीं, समझने का एवं अनुभव करने का विषय है। अपने-अपने मन के हम सब अन्तर्यामी ही तो हैं।

—'प्रकाश'

अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र के विविध समाचार

केन्द्र की बहुमुखी कार्यविधियों का सुचारु रूप से सञ्चालन हो रहा है। नित्यप्रति के प्रातः सायं सत्सङ्ग के अतिरिक्त समय-समय पर विशिष्ट रूप से भी सत्सङ्ग का आयोजन होता है।

इस बार लखनऊ शाखा के तत्त्वावधान में दिनाङ्क ३१-१-६५ को वेदान्तकेशरी श्री स्वामी ...शानन्द जी महाराज के सत्सङ्ग का विशेष कार्यक्रम हुआ।

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज जनवरी मास में अपने पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार भ्रमण करते रहे। सभी स्थानों पर सत्सङ्ग के सफल आयोजन हुए।

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी का कार्यक्रम ८ फरवरी से ७ मार्च

८ से १२— परबतपुर (जालौन) यज्ञ आयोजन
१३ से १६— हरदोई
१७ से २२— कानपुर
२३—२४ — पाली (उन्नाव)
२५—२६ — बारा (उन्नाव)
२७—२८ — भगवन्तनगर (उन्नाव)
१—२ — भैयाखेरा (उन्नाव)
३—७ — कानपुर

अखण्डप्रभा वेदान्त-विशारद परीक्षा, १९६४ का

परीक्षा-फल

विशेष योग्यता में उत्तीर्ण

१— कु० शान्ता टण्डन, कानपुर

योग्यता में उत्तीर्ण

१— श्री ओंकार प्रसाद भार्गव, कानपुर
२— " गया प्रसाद गुप्त, कानपुर
३— श्री बृजमोहन बादल, घाटकोटरा (झाँसी)
४— श्रीमती रानी टण्डन, कानपुर
५— श्रीमती रतन भार्गव, कानपुर
६— श्री काशी राम, बझेरा (झाँसी)
७— श्री जगन्नाथ प्रसाद, कानपुर
८— श्री श्रीकृष्ण मेहरोत्रा, कानपुर
९— श्री शाहरामभरोसे लाल राजवैद्य (सीतापुर)
१०— श्रीमती तारारानी मेहरोत्रा, कानपुर

आवश्यक सूचना—अखण्डप्रभा वेदान्त-विशारद परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को अखण्डप्रभा की ओर से कानपुर में आयोजित तृतीय अखिल भारतीय अखण्ड वेदान्त सम्मेलन के अवसर पर पुरस्कार तथा प्रमाण-पत्र वितरित किए जायेंगे। विशारद परीक्षा में उत्तीर्ण छात्र ही प्रभाकर परीक्षा में प्रवेश पा सकते हैं।

१९६५ की अखण्डप्रभा वेदान्त-विशारद तथा वेदान्त-प्रभाकर परीक्षाओं के लिए

आवेदन-पत्र

अखण्डप्रभा द्वारा आयोजित इन परीक्षाओं का मुख्य उद्देश्य है कि जनसमाज में आध्यात्मिक साहित्य के स्वाध्याय की रुचि बढ़े तथा इस विषय का क्रमबद्ध अधिकृत ज्ञान प्राप्त हो सके। इससे जो संस्कार पड़ेंगे उनके द्वारा जन-समाज में आध्यात्मिक विचारों का व्यापक प्रसार होगा। आशा है कि इसमें अधिक से अधिक प्रेमी पाठक भाग लेकर स्वाध्याय-साधन का लाभ प्राप्त करेंगे।

इन परीक्षाओं के लिए आवेदन-पत्र भरकर जमा करने की अन्तिम-तिथि दिनांक २८-२-१९६५

—व्यवस्थापक
अखण्डप्रभा-वेदान्त-परीक्षा

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र — अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

Govt. Regd. No.
R. N. 6873/59

अखण्डप्रभा
फरवरी, १९६५

रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक ६

अपने को उपदेश दो !

मस्तिष्क की इस झील में जितनी भी स्वार्थपूर्ण कामनायें हैं उन्हें एक-एक करके कुचल दो—दृढ़ प्रतिज्ञायें करो और निश्चित सिद्धान्त बनाओ। जब तुम उस झील से बाहर आओगे तो उसका जल किसी पीने वाले को दूषित नहीं करेगा। गायों, स्त्रियों, पुरुषों को पीने दो—वह साक्षात् ईश्वर से ही बहकर आता हुआ जल पवित्र ही होगा। दुर्बलताओं के चिह्नों को ढूँढो और उन्हें नष्ट कर डालो। कामनायें एकाग्रता की बाधक हैं और जब तक पवित्रता और आत्म—ज्ञान नहीं रहता तब तक सच्ची एकाग्रता नहीं पाई जा सकती। एकाग्रता के बाधक तत्त्वों को पहले समाप्त कर डालो। अपने प्रति सच्चे बनो। इस देश (अमरीका) में दूसरे को उपदेश देने वाले बहुत हैं। तुम्हें अपने को ही उपदेश देना चाहिए। बिना इसके तुम्हारी प्रगति नहीं हो सकती।

बिस्तरे में जाने से पहले स्थिरता से बैठ जाओ और जिन त्रुटियों को तुम निकालना चाहते हो उन पर ध्यान करो। बाइबिल, गीता उपनिषद् और इमर्सन जैसे लेखकों की रचनाओं को पढ़ो। यदि लालच या दुःख की समस्या हो तो इस स्वाध्याय के सहयोग से यह विचार करो कि ये दुर्बलतायें क्यों हैं और ये किस प्रकार बाधा पहुँचाती हैं। इनसे ऊपर अपने मनस को ले जाओ और ओम् की ध्वनि करो। जब यह निश्चय हो जाय कि इनमें कमी आ गयी है तो यह अनुभव करो कि अब इन्हें जीत लिया है और फिर इसके बारे में कुछ न सोचो। एक-एक करके इन दुर्बलताओं की गरदन पकड़कर मरोड़ दो। प्रत्येक के लिए अपने को ही उपदेश दो। हर एक को अपना कार्य स्वयं करना चाहिए। ध्यान लगाते समय ओम् की ध्वनि करो। इससे तुम्हें बल मिलेगा और तुम योग्य बन जाओगे।

सभी बुराइयों का मूल कारण है अपने विभिन्न रूपों में अज्ञान-सत्य आत्मा की अज्ञानता और शरीर को ही आत्मा मानने की इच्छा। जब तुम यह अनुभव कर लोगे कि तुम अनन्त आत्मा हो तो तुम वासनाओं और दुःखों के विषय नहीं बन सकते। लोग कहते हैं कि नैतिक नियम गणित की तरह पक्के नहीं होते, यह ठीक नहीं है। गहन गुफाओं और दूरस्थ जंगलों में जाओ, तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि घास तुम्हारे विपरीत प्रमाण देती है, दीवालें और पेड़ तुम्हारे विपरीत प्रमाण देते हैं।

—स्वामी रामतीर्थ

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

मार्च, १९६५
वर्ष ६, अङ्क-७

ब्रह्मचिन्तन

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है और जिसकी यह महिमा भूलोक में स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर आकाश (हृदयाकाश) में स्थित है। वह मनोमय तथा प्राण और (सूक्ष्म) शरीर को (एक देह से दूसरे देह में) ले जाने वाला पुरुष हृदय को आश्रित कर अन्न (अन्नमय देह) में स्थित है। उसका विज्ञान (अनुभव) होने पर ही विवेकी पुरुष, जो आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है, उसका सम्यक् साक्षात्कार करते हैं।

विषयानुक्रमणिका

★

प्रेमी पाठकों से नम्र निवेदन

हम अपने प्रेमी पाठकों की सेवा में 'अखण्डप्रभा' को कुछ नयी रूपरेखा में प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है कि यह अङ्क रुचिकर होगा। इस वर्ष की समाप्ति के बाद 'अखण्डप्रभा' का लगभग १५० पृष्ठों का विशेषाङ्क बिल्कुल नए ढंग से पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सामग्री लेकर प्रस्तुत होगा। जिन प्रेमी पाठकों का नये वर्ष का चन्दा प्राप्त होगा केवल उन्हीं की सेवा में हम यह विशेषाङ्क भेज सकेंगे।

जिन प्रेमी पाठकों ने अभी तक इस वर्ष का वार्षिक चन्दा नहीं भेजा है वे शीघ्र ही भेजने की कृपा करें जिससे व्यर्थ में अखण्डप्रभा को आर्थिक हानि न उठानी पड़े। आशा है कि प्रेमी पाठकों का इसमें हार्दिक सहयोग प्राप्त होगा।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

चन्दा
आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति (साधारण) ३७ पै.
एक प्रति (सम्मेलन अङ्क) ७५ पै.
एक प्रति (विशेषाङ्क) १) रुपया

संस्थापक
ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी
ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

सभी प्रकार के पत्र तथा
चन्दा आदि भेजने का पता—
व्यवस्थापक—'अखण्डप्रभा'
११२/२३४, स्वरूपनगर,
कानपुर-२

'येनेदँ सर्बं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'

सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

वर्ष ६ | कानपुर, मार्च १९६५ | अङ्क ७

वेदान्त की सार्वभौमता

वेदान्त जगत् को उड़ा नहीं देता, किन्तु उसकी व्याख्या करता है। वह व्यक्ति को उड़ा नहीं देता, उसकी व्याख्या करता है—वह 'अहत्व' को मिटाने का उपदेश नहीं करता किन्तु वास्तविक 'अहत्व' क्या है, यह समझा देता है। वह यह नहीं कहता कि जगत वृथा है अथवा उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है, किन्तु बतलाता है कि जगत् क्या है ? यह समझो जिससे वह तुम्हारा कोई अनिष्ट न कर सके। सूर्य, चन्द्र, विद्युत अथवा और कुछ जिसकी जगत उपासना करता है यह सब एकदम भूल नहीं है, किन्तु जो चैतन्य सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि और पृथ्वी के भीतर है, वही उनके अन्दर भी है। हम लोगों को यह विशेष रूप से जानना आवश्यक है कि वेदान्त का उद्देश्य ही इन सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना है, उनका जो रूप आपाततः प्रतीत होता है, वह न देखकर उनको उनके प्रकृत स्वरूप में जानना है।

—स्वामी विवेकानन्द

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

कभी—कभी साधक यह निश्चय करने में कठिनाई का अनुभव करता है कि साधना के किस अङ्ग पर बल दिया जाय। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वह दूसरे किसी का सहारा लेना चाहता है। यह भी होता है कि साधक अपने परिश्रम को दूसरे से जानकर कम कर ले। स्वयं कुछ न करना पड़े, जहाँ तक हो सके साधना भी कोई दूसरा पूरी कर दे। पहली दशा में तो साधन की वास्तविक कठिनाई हो सकती है जिसके लिए किसी तत्त्वज्ञ का सहयोग लेना आवश्यक हो जाता है, परन्तु दूसरे में तो व्यक्ति साधना को टालकर सिद्धि पाने के फेर में रहता है। ऐसी दशा में जब किसी को निराशा होती है तो वह साधन को अपूर्ण कहकर त्यागने योग्य समझने लगता है। अधिकांश में साधन बुरे नहीं होते, लेकिन उनका प्रयोग ठीक प्रकार से नहीं किया जाता इसीलिए सफलता नहीं मिलने पाती। जिस किसी भी साधन को कोई अपनाकर चले, यह ध्यान रखने की परम आवश्यकता है कि वह अपने संस्कारों के अनुकूल तथा आध्यात्मिक प्रगति करने वाला है अथवा नहीं। दूसरों की सफलता देखकर अथवा सरलता, बाहरी दिखावे के आकर्षण में फँसकर कोई अपने विचारों को स्थिर न कर सके तो उसकी साधना में अक्सर परिवर्तन होते रहते हैं। एकाग्रता से किसी साधन पर न टिक पाने का तात्पर्य है साधन कितना ही किया जाय उसका कोई फल नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपनी मान्यताओं को दूसरों पर लादना चाहते हैं। ऐसे हठवादी लोग दूसरों को उनकी साधना से विचलित करने में लगे रहते हैं। साधारण भोले—भाले लोग उनके वाक्—चातुर्य में फँसकर अपनी स्थिति को छोड़ बैठते हैं, जबकि आन्तरिक स्थिति में वे अपने संस्कारों में ही बने रहते हैं। ऐसी दशा में जबकि आन्तरिक संस्कार कुछ हों और बाह्य साधन किसी अन्य प्रकार का हो तो साधन में एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है। ऐसी बनावटी साधना का जब कोई फल नहीं मिलता तो लोग साधन पर दोष लगाते हैं। वस्तुतः अपनी साधना को विवेक के आधार पर चलाना चाहिए, और यदि उसमें किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता जान पड़े तो उसके लिए अपनी पुरानी परिपाटी में ही फँसे रहना ठीक नहीं है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उसकी साधना ने कहीं अपने 'स्वधर्म' को छोड़ तो नहीं दिया है। यह कहा जा सकता है कि कभी—कभी साधक इस योग्य नहीं होता कि वह बाह्य परिस्थितियों तथा अपने वास्तविक संस्कारों को भलीभाँति समझ सके, तो ऐसी दशा में उसे किसी का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा जब कभी सामने आये तो उस समय अपने कार्यों का अन्तःकरण की सहज प्रवृत्तियों से मिलान करना चाहिए; थोड़े से परिश्रम से यह तो ज्ञात हो ही जायगा कि इस कार्य में कहाँ तक उसे रुचि है और सफलता की कितनी आशा है। जिस कार्य में कोई सफल नहीं हो सकता वह उसके अन्दर एक प्रकार की अरुचि पैदा कर देगा। जब कोई बाहर के वैचित्र्य को न समझ सके तो उसे चाहिए कि वह अपने को आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पित कर दे, निश्चय ही उसे सद्मार्ग की प्रेरणा मिलेगी। परन्तु यह ध्यान रहे कि कहीं उसकी कामना बलवती होकर किसी अन्य आकर्षण की ओर तो अग्रसर नहीं कर रही। इस प्रकार साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए विशेष बल प्राप्त कर सकता है।

★
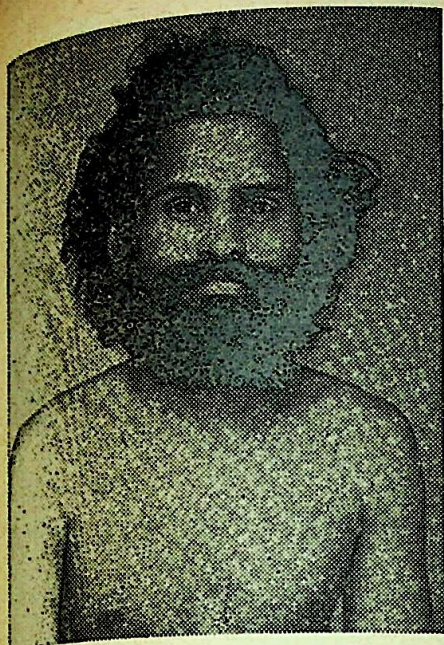
मुर्दे के पास और हँसना !

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द

(मृत्यु की भीषण विडम्बना से प्रभावित हुए बिना कोई रह नहीं सकता, परन्तु प्रकृति के इस अनिवार्य अङ्ग में रहता हुआ भी जो बचा रह सके वही 'शिव' है, उसे किसी प्रकार के विकार प्रभावित नहीं कर सकते। वही सच्चा ज्ञानी है।)

मुर्दा देखते ही हँसी काफूर हो जाती है। चाहे कितनी हँसी मज़ाक में कोई चले जा रहे हों, सामने से मुर्दा आ जाय कि चाहे उसका कोई सम्बन्ध हो या न हो चाहे या न चाहे, मुख पर असली या नकली गम्भीरता आ ही जाती है।

यह शरीर जब छोटा था तो मुर्दे को इतना डरता था कि कहीं मुर्दे के लिए बजने वाला बैंडबाजा सुनाई दिया, 'राम-राम सत्य है' की तथ्य-वाणी सुनाई दी कि सारी शक्ति बुद्धि समाप्त हो जाती थी और गली छोड़कर भाग जाता था। और यदि न भाग सके तो आँख बन्द करके साँस सँभालते मुश्किल होती थी। मुर्दा जीवित हो तो चाहे बन्द आँखों वाले को उठा ले जाये।

चाहे जितना प्रयत्न करो, दुश्मन हो या मित्र मुर्दों के बीच में हँसी नहीं आ सकती। एकबार दोबार नहीं हजारों बार सबने अनुभव किया होगा, नहीं-नहीं आँखों की बात नहीं यदि दिल में भी रात को या दिन में आ जावे तो जाने कैसे होने लगता है।

देवाधिदेव महादेव सती का शव कन्धों पर लिए कैसे दिखते थे? गम्भीर, क्रुद्ध, व्यथित। मुर्दे शरीर (दशरथ) की बीती स्मृति सुनते ही राम कैसे हुए? व्यथित। पाण्डवों को, कौरवों को, ब्रह्मा, विष्णु, महेश ऋषि, महर्षि, विद्वान्, मुनि, सिद्ध, असिद्ध, पशु, पक्षी, कीट, पतंग किसे सुख हुआ है? कौन हँस पाया है? अरे नक्काल नकली मुर्दे के स्वाँग के समय भी हँसता नहीं-रोना ही पड़ता है। मुर्दा आँखों में हो, सिर कन्धों पर, दिल दिमाग में हो कहीं हो हँसी, प्रसन्नता, विवेक को खो देता है। फिर वहाँ उसी का राज्य होता है। एक मुर्दा कहीं किसी के दिल में आ गया कि उसके अनेक साथी एक के बाद एक करके फौज खड़ी हो जाती है। इन्हें रुलाना आता है। मुर्दे की याद दुःख है। मुर्दे को देखते ही 'दुश्मन वीरों' पहलवानों का जोश, बुद्धि, क्रोध समाप्त होता है। उसे बिना देखे वह क्रोध मुर्दा करने तक बना ही रहेगा। हाँ, कभी-कभी मुर्दे को देखकर (अपने किसी प्रेमी का यह हाल किसी दुश्मन के द्वारा देखकर) मुर्दे से भी जोश मिलता है, वीरता जागती है सारे पेंच याद आते हैं, सब दुःख दर्द थकावट भूल जाते हैं। परन्तु यह जोश भी मुर्दा किए बिना अर्थात् फिर मुर्दे देखे बिना ठंढा होता ही नहीं।

मुर्दाघाट में रहने वाला, क्या हँस सकता है? जहाँ रोज़ मुर्दों के सिवा कोई आता नहीं। जो आता है सवार होकर वह भी और मुर्दा जो लाते हैं वे भी मुर्दा होकर ही वहाँ आते हैं। मजेदार बात यह है कि मुर्दाघाट

मुर्दा ही जिन्दों को दिखाया करता है। जीते ही उन्हें दिखाने का मतलब, यह वह स्थान है जिसमें सबको आना ही है—पहले देख लेने से ठोकर (दिल की दुनियावी) नहीं लगेगी। आराम से आ सकोगे और दिखाई तो देना है कि जिन्दों के कन्धों पर मुर्दा जाता है परन्तु मुर्दा ही जिन्दों को श्मशान में खींचता हुआ ले जाता है। मर के बड़ी ताकत आ जाती है। मुर्दा होकर दिल दिमाग व शरीर पर हुकूमत हो जाती है, सब कुछ छोडने की ताकत आ जाती है; सब कुछ छुड़ाने का विवेक व दुनियाँ के खूबसूरती की तौल कराने वाला वैराग्य वहीं आता है। यदि मुर्दाघाट में कोई हँसे भी तो वह हँसी एक व्यंग्य ही के रूप में होगी, सच्ची नहीं। हाँ, मुर्दे को देखकर हँसते हैं दो व्यक्ति। एक वो जो उससे बहुत दूर हों, और दूसरा वो जो इसे खा पचा सकता हो। मैं शरीर हूँ यह भाव मानो मेरा शरीर बना रहे यह हठ जिसका यह भाव है वह एक दो जन्मों का नहीं अनन्त जन्मों के अनुभव से कह सकेगा कि इसके साथ रहकर हँसना मना है। शिकायत की पुस्तक बने रहना हो तो शरीर मुर्दे के साथ-संग-करलो। जिसे यह ज्ञात हो गया हो और वह इससे अलहदा विवेक के द्वारा बहुत दूर—मन बुद्धि शरीर से परे अपने अविनाशी स्वरूप को देख चुका हो—वही हँसता है। और दूसरा वह जो अपने पूर्ण स्वरूप की व्यापकता में शरीर को देखता ही न हो—शरीर जिसने ज्ञान दृष्टि की महत्त्व ज्ञान—भिक्षा के द्वारा गायब कर दिया हो। शरीराभिमान जिसने अलहदा करके अपने व्यापक साक्षि निराकार स्वरूप को देखा वह भी इसको बिलकुल पास (औरों की दृष्टि से) रहता हुआ भी हँसता है।

कृष्ण के जीवन में जिधर देखो उधर मारे गये मुर्दों की ही भीड़ है। परन्तु पैदा होने पर जीवन भर और मुर्दे के इस विश्वनगर में अपने बच्चे रानियों की लूट और मृत्यु होते सुनते देखकर भी व अन्त में अपने तन की समाप्ति में भी जो स्मित हास्य युद्ध मैदान में था वही उस समय भी था। यह केवल मैं शरीर—यह मुर्दा—नहीं हूँ इस निष्ठा का ही प्रताप था। विवेकी सन्त यही कहते हैं अरे! दूर हटो, दूर हटो यह मुर्दा है तुम यह नहीं हो। अभी हट जाओगे तो ठीक, नहीं अभी तो आँखों में यह है तब तक तो डरते; रोते, कुढ़ते, घुटते और दीन पराधीन हो ही। कहीं आँखों ने यह दिल में पहुँचेगा तो……दिल करोंचेगा।

एक सिद्ध सन्त जब कभी बाजार में जिस किसी के सामने अचानक खड़े होकर चिल्लाने लगते "देख, देख देख गिरेगा, अरे गिरेगा देखकर चलो। खाई है, जो गया उसने मुँह के बल खाई है। बचो। अलग हो जाओ।" यों कह कर अदृश्य हो जाते थे। एकबार किसी ने पहचान कर पूछ ही लिया महाराज "क्या कहते हो समझ नहीं पड़ता।" सन्त ने कहा "पागल, अरे यह देह ही बड़ी खाई है जिसमें देवासुर से लेकर चींटी तक सब चले गये, लौट कर नहीं आये। इसके अभिमान से—यही मैं हूँ, इस विचार से अलग हो जाओ। नहीं तो परेशान हो जाओगे। तुम यह नहीं हो। तुम ब्रह्म साक्षी चेतन हो, अविनाशी आत्मा हो। एक महात्मा कहा करते थे, अरे जहाँ से गिरे उसमें ही जा रहे हो। जिधर से पतित हुए उसमें नहीं जा रहे हो।" बहुत—बहुत लोगों ने पूछा इसका अर्थ क्या? उन्होंने बताया, "कहा सोच लो समझ जाओगे।"

> बाहरी जगत को सुधारने का एकमात्र तरीका है पहले भीतर से अपने—आप को सुधारना। प्राचीन कहावत आज भी उतनी ही सत्य है। विश्व देहपिण्ड का ही केवल एक विस्तारित रूप है, देहपिंड विश्व ब्रह्माण्ड का ही एक क्षुद्र रूप है। व्यक्तिगत स्वभाव भीतर जो कुछ है उसी की बड़े आकार में तैयार प्रतिलिपि अथवा प्रक्षेप विश्व है।
>
> —श्री माताजी

मुर्दे शरीर की नकली सुन्दरता—काली कराली प्रलयकारिणी की भयंकर सुन्दरता है जो सारा सुख, शान्ति, स्वास्थ्य, अच्छाई छीन लेती है। इस पर रीझने वालों का अपमान यही है कि वे सदा ही दुखी होकर छोटे-छोटे छिद्रों के रास्तों से जबरन आने—जाने का अनुभव करते रहते हैं। बन्धन पराधीनता से, झगड़ों रगड़ों से, मेरा तेरा से, जन्म मृत्यु से, छोटे बड़े भाव से, ज्ञानाज्ञान के भेद से, और के चक्कर से, कामादि विकारों से, गुणाभिमान के पतन से बचाना चाहो तो कृपा करके इस मुर्दे को श्मशान में जला दो। वह श्मशान है ऐसा ही कोई चलता—फिरता

श्मशान-सन्त ज्ञानी जिसके यहाँ मुर्दा (दृष्टि) कोई है ही नहीं। श्मशान में सबकी शान सम होती है। यह सम-ही ज्ञान है जिसे प्राप्त करना जरूरी है और इसे प्राप्त कर लिया कि फिर कितने भी मुर्दे हों श्मशान को इनका क्या शूल, क्या भय, क्या चिन्ता क्या भार ? वहाँ उस ज्ञानाग्नि का वास रहता है जो सबको एक रूप बना देती है।

ऐसी अग्नि से तृप्त इस मुर्दे की भस्मी रमाकर जो इस मुर्दाघाट में बैठा रहे वह शिवशंकर है। उसे अपने सिवा कोई नहीं यही समाधि नित्य प्राप्त है। न किसी में मोह न किसी में द्वेष। सारे विरुद्धस्वभावी एक-एक के अविरोधी यहाँ हो जाते हैं। क्योंकि यहाँ भवपार करने वाली पार्वती (ब्रह्म-निष्ठा) पास है। खप्पर (मन) भरे या नहीं इसकी चिन्ता नहीं। सद् विचार वस्त्रों को फाड़ने वाले तर्क (चूहे) पर यहाँ बोध (गणेश) की सवारी है। सिर पर ज्ञान-गंगा का शैत्य (शीतलता) नित्य ही है और आधि व्याधि उपाधि से रहित नित्य निजानन्द की समाधि ही राज्य करती है।

संस्कृति और श्रीअरविन्द

डा० इन्द्रसेन, श्रीअरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी

(संस्कृति का वस्तुतः वही रूप श्रेष्ठ है जिससें मानव व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास की प्रेरणा प्राप्त हो सके। वहाँ मानवीय दुर्बलताओं पर विजय पाने के लिए शक्ति है, वहीं पर सुख, शान्ति और समृद्धि है। प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने वाली संस्कृति ही मानव एकता का प्रतिपादन करने में समर्थ हो सकती है।)

संस्कृति वास्तव में मनुष्य की मुख्य अभिरुचि, उसकी उच्चतम साधना, उसकी महत्तम प्राप्ति है। कह सकते हैं कि यह उसके जीवन का सम्पूर्ण योगफल, उसकी आन्तरिक अनुभूतियों और अपने बाह्य वातावरण के साथ विभिन्न सुसङ्गतताओं का योगफल ही है। इसके ही अन्दर समाविष्ट हो जाते हैं उसके दर्शनशास्त्र, कला और साहित्य, उसके विज्ञान, तकनीकी और उद्योगादि, उसके सामाजिक संगठन और राजनैतिक जीवन। जीवनमात्र को वृद्धिगत, विकसित और अधिकृत करने के अपने प्रयत्न, संघर्ष और अभीप्सा के फलस्वरूप व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप से जो कुछ मनुष्य बन सका है वही है संस्कृति। पशु स्वाभाविक जीवन जीता है, उसे संस्कृति नहीं है। किन्तु मनुष्य संघर्ष करता, अभीप्सा करता और वातावरण पर आधिपत्य जमाता है और उसे परिवर्तित करता है। वह जीवन के आदर्शों एवं अन्तिम परिपूर्णता का अन्वेषण करता है। वह विकास करता हुआ आगे बढ़ता है, यहाँ तक कि वह अधिक से अधिक भिन्न बनता जाता है। इस क्रम में जो कुछ वह बन चुका है और जो कुछ बनने की ओर अभिमुख है वही है उसकी संस्कृति का गुण और मात्रा।

किन्तु मानव व्यक्तित्व एक जटिल वस्तु है। विविधता में एकता का प्रतिरूप है यह। भौतिक शरीर, पशु के प्राणावेग, मानव के चिन्तनशील मन और निरपेक्ष जीव मिलकर इसको निर्मित और घटित करते हैं। इसके प्रधान अवयव होते हैं शरीर, प्राण, मन और आत्मा। प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्तित्व तो प्रायः शरीर, प्राण और मन का ही संगठित रूप होता है जिसमें आत्मा अज्ञात सत्ता के रूप से पीछे अवस्थित रहता है। और इन तीनों में से कोई एक अथवा तीनों का कुछ खास भाग इस औसत व्यक्तित्व पर शासन करता है। इस तरह मनुष्य के सांस्कृतिक विकास या प्रतिफल वास्तव में अत्यधिक विभिन्न हो सकते हैं।

यूनानी संस्कृति ने मानव व्यक्तित्व के बौद्धिक तथा

सौंदर्यात्मक भागों का विस्तार किया। इसकी प्राथमिक प्रेरणा ही बौद्धिक तथा सौंदर्यात्मक रही और तदनुसार ही संस्कृति की अभिव्यक्ति और बाहरी रूपरेखा भी उन्हीं भागों की गवेषणाओं को अधिकाधिक प्रश्रय देती रही।

यूरोप ने विगत ४०० वर्षों के क्रम में वैज्ञानिक शोध और अनुसंधान के मार्गदर्शनानुसार जिस सभ्यता को उद्भूत और विकसित किया है और जो सारे जगत् पर फैल चुकी है वह हमारी वर्तमान संस्कृति मुख्य रूप से अभावों की संतोषप्रद पूर्ति या सुखविलास का स्तर ही, जिसे अच्छी तरह जीना कहते हैं, अभीष्ट रखती है। इसकी प्ररणा ही प्राणिक है और यह संतोष-प्राप्ति पर ही बल देती है, उदाहरणस्वरूप हमारे प्राणावेगों, भोजन, गृहादि की तृप्ति आदि। बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक खोजें विशेषतः हमारी प्राणिक तृप्ति के अन्तर्गत हैं।

अतः वर्तमान समय के विशाल वैज्ञानिक विकास के अपेक्षाकृत यूनानी संस्कृति ही स्पष्टतया उच्चतर मानी जायगी। यह प्रधान रूप से बौद्धिक और सौंदर्यमूलक थी, इसने मानव व्यक्तित्व में जो कुछ उच्चतर है उसके विस्तार और विकास पर बल दिया था। लकिन जब हम मानव इतिहास के वर्तमान काल को सर्वोत्तम समझते हैं, तो हम जीवन की विषयगत प्राप्तियों, जैसे रेलवे, वायुयान, रेडियो आदि-आदि, से भ्रमित हो जाते हैं। ये सब प्राप्तियाँ मिलकर अधिक से अधिक सभ्यता की एक अवस्था निर्मित करती हैं जो अत्यधिक विशद और विकसित हो सकती हैं। किन्तु ये वास्तव में प्रकृति को जीतने के लिए "जीवन" के स्रोत और उत्साह से आगे बढ़ गई हैं और "जीवन" को अच्छे और सुखद ढंग से जीने के लिये सलाह देती हैं। आवश्यक यंत्र के रूप में बुद्धि का उपयोग विशद रूप से किया गया है। इसके विपरीत, यूनानी संस्कृति ने बौद्धिक और सौंदर्यात्मक भाव पर ही मुख्य रूप से बल दिया था जो हमारे व्यक्तित्व के उच्चतर तत्त्व हैं। और इसीलिए मानव जीवन तथा व्यक्तित्व के प्रधान गुण के अनुसार यूनानी संस्कृति उच्चतर स्वीकृति की ही जायगी।

तथापि बुद्धि और सौंदर्यभाव भी हमारे व्यक्तित्व की उच्चतम वस्तु है। भारत के प्राचीन ऋषिगण, जिन्होंने भारतीय संस्कृति की नींव डाली है, ने अपने गम्भीर आन्तरिक अनुसन्धानों के क्रम में मन से भी महत्तर प्रकाश का आविष्कार किया था जिसे उन्होंने "आत्मा" कहकर पुकारा। उन ऋषियों ने इसे "जीवन" के प्राणिक उत्स और उत्साह से अधिक शक्तिशाली पाया। फलतः आत्मा और उसकी तृप्ति जीवन की साधनाओं का सच्चा लक्ष्य बना जिसे उन्होंने व्यक्तिगत जीवन की योजना में चरितार्थ करना चाहा। इसी योजना के प्रमाणस्वरूप चार अवस्थाएँ, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और सन्यास, निर्धारित की गई हैं। सामाजिक जीवन में भी इसकी चरितार्थता के निमित्त चार वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, का संगठन स्पष्टतः पाया जाता है। प्रत्येक वर्ण अपना कर्त्तव्य पालन करता हुआ एक ही सर्वसामान्य परम श्रेष्ठ कल्याण को प्राप्त करता है। जीवन की मौलिकता आध्यात्मिक के विशेषतर प्रमाणस्वरूप हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिये चतुर्विध पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, पर बल देते हैं और इसी चतुर्विध पुरुषार्थ के आधार पर भारतीय ऋषिगण ने भारतीय संस्कृति को निर्मित एवं स्थापित किया। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति स्वभाव और आचरण में वस्तुतः आध्यात्मिक कही जाती है।

किन्तु जो संस्कृति आत्मा और उसकी अनुभूति को अपना मूल लक्ष्य बनाती है, क्या वह उन अन्यान्य संस्कृतियों से आवश्यकरूपेण उत्तम नहीं है जो तार्किक विचार, सौंदर्यात्मक भाव, नैतिकता या सुखद जीवन को ही अपनी केन्द्रीय धारणा मानती हैं? संस्कृति तो निश्चय ही व्यक्तित्व का विस्तार है और इस साधना में व्यक्तित्व के सर्वोच्च और सर्वोत्तम भाग को ही स्पष्टतः महत्तम अनुशीलन प्राप्त होना चाहिए। जीवात्मा अपनी वास्तविक अनुभूति के स्वरूप तथा स्वभाव से ही सबल तात्त्विक मूल्यों का धाम है और साथ ही स्वयं मार्गदर्शन, स्वयं संचालन और स्वयं सत्ता के हेतु समर्थ है। अतएव वह मन, प्राण और शरीर, जो स्वभावतः बाह्यरूप-आश्रित और सापेक्ष-हैं, से महत्तर और उच्चतर तत्त्व है और व्यक्तित्व का सच्चा सर्वनियन्ता मूलतत्त्व है। जो संस्कृति लघुतर तत्त्व को ही अपना प्राथमिक लक्ष्य मानती है वह व्यक्तित्व के वास्तविक सत्य से तथा इस तरह अपने विस्तार की सम्भावनाओं से वञ्चित रह जाती है।

आध्यात्मिक जीवन के कुछ ऐसे मत हुए हैं जो जीवात्मा को ही ऐकान्तिक रूप से चाहते हैं। उन मतों ने हमारे व्यक्तित्व के अन्य भागों, मन, प्राण और शरीर को अस्तित्व का भी अधिकार नहीं दिया है। भारत और यूरोप की मध्यकालीन आध्यात्मिकता निःसन्देह इसी प्रकार की थी। इसने जगत् और जगत् के जीवन का त्याग कर दिया था।

किन्तु श्रीअरविन्द ने सर्वांगीण आध्यात्मिकता का स्वरूप हमें प्रदान किया है जिसके अनुसार हमारे व्यक्तित्व का प्रमुख तत्त्व जीवात्मा हमारे अन्यान्य भागों की शक्तियों का पूर्ण नियंत्रण और संचालन करने में समर्थ है और इसे ऐसा चरितार्थ करने का अवसर अवश्य देना चाहिए। तदनन्तर ही सर्वांगीण व्यक्तित्व का सर्वोत्तम मूल्य प्राप्त होगा और सामान्य जीवन वस्तुतः रूपांतरित होगा। यदि जगत् से दूर जीवात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा हो तो जगत् के लिए कुछ विशेष आशा शायद ही रहे, क्योंकि तब जगत् पर मन के विभक्त चिन्तनों और प्राण की द्वन्द्वात्मक वासनाओं और शरीर की आलस्यान्वित जड़ता का ही शासन चलता रहेगा। आध्यात्मिक चेतना का सर्वांगीण एवं परिपूर्ण प्रकाश ही इन्हें रूपांतरित कर सकता है और उसे ही जगत् तथा इसके संघर्षों के ठीक बीच में लाकर कार्यान्वित करना पड़ेगा।

वास्तव में श्रीअरविन्द के दर्शन में ही हम रूपाँतरित जीवन की झलक पा रहे हैं, वह जीवन जो खण्डित धारणाओं और द्वन्द्वमूलक वासनाओं के द्वारा नहीं वरन् आत्मा के अखण्ड प्रकाश द्वारा परिचालित होगा। आज के साधारण अहंकारमूलक व्यक्तित्व के स्थान पर सर्वांगीण आध्यात्मिक व्यक्तित्व का दर्शन है यह। तब तो सांस्कृतिक जीवन स्पष्टतः एक नूतन दिशा धारण करेगा। अपने-अपने मन के द्वारा आज हम एकता, राष्ट्रीय जीवन में एकता, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एकता लाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इस तरह की एकताएँ सदा ही दुर्बल रचनाएँ होती हैं। जिन-जिन विरोधी तत्त्वों को एकताओं के सूत्र में बाँधना चाहते हैं वे सभी तत्त्व अपनी ही ओर विशेष रूप से बल देते हैं और अन्य तत्त्वों का बहिष्कार करते हैं, फलस्वरूप इस तरह की एकताएँ सदा ही छिन्न-भिन्न हो जाने वाली प्रतीत होती रहती हैं। किन्तु सर्वांगीणीकृत व्यक्तित्व के लिये एकता उतनी ही निश्चित और सहज हो जायगी जितनी कि हमारे लिए विभिन्नता है। अतएव सर्वांगीणीकृत व्यक्तित्व से संचरित वह सांस्कृतिक जीवन मानवजाति के सांस्कृतिक जीवन में एक नवीन प्रस्थान होगा। मानव जीवन में एकता के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर यह आगे बढ़ेगा और विभिन्न वर्गों तथा जातियों के समृद्ध एवं बहुविध जीवन का निर्माण करेगा। आज के अनेकानेक धर्म-सम्प्रदाय और विभिन्न राष्ट्रीय चरित्र मानव जीवन की समृद्ध एकता के व्यक्तिगत रूपवत् प्रकट होना प्रारम्भ करेंगे।

श्रीअरविन्द की दृष्टि में ऐसा विकास मानव जीवन की आवश्यक ऊँचाई है। विकासात्मक अनिवार्यता भी है यह। अतीतकाल में सर्वांगीण व्यक्तित्व के उज्ज्वल उदाहरण निश्चय ही पाये जाते हैं। किन्तु वे शुद्ध रूप से व्यक्तिगत प्राप्ति थे। श्रीअरविन्द के गुह्य दर्शन के अनुसार अब समय परिपक्व हो चला है जब कि आध्यात्मिक जीवन, सर्वांगीण व्यक्तित्व का तत्त्व सामान्य मूल्य के रूप में स्थापित हो जाना चाहिये। श्रीअरविन्द कहते हैं कि विकास-प्रक्रिया ने अभी तक सत्ता के तीन प्रधान तत्त्वों, जड़, प्राण और मन को अनावृत्त किया है। किन्तु मन अपने स्वभाव से ही विकास की अन्तिम सीमा नहीं है। वास्तव में यह संक्रमणशील तत्त्व है जो अपने से परे,-स्वयं समाहित चेतना, गीता की स्थितप्रज्ञा की ओर निर्देशन कर रहा है। यही है वह उच्चतर चेतना जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं और विकासात्मक अनिवार्यता के अनुसार मन के अनन्तर इसका स्थापन और कार्यान्वियन होना ही चाहिए। मन की असंख्य असुविधाओं और असमर्थताओं का संकेत भी स्पष्टतः इसी ओर है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि मानव समस्याओं का वर्तमान विशालकाय संकट, प्राचीन मूल्यांकनों का पतन तथा नवीन मूल्यांकनों की तीव्र और भ्रमित खोज ही अपने गुह्य तथ्य के कारण मानव जीवन के विकास में अतिमानस के प्रादुर्भाव के लिये उपर्युक्त अवस्था है। श्रीअरविन्द का पूर्णयोग और उनके आश्रम में हो रहे कार्य इस प्रादुर्भाव से मूलतः सम्बन्धित हैं। मानव स्तर पर विकास सचेतन और संकल्पित हो जाता है और यदि मानव प्रकृति के रहस्य को देखे तथा उसके साथ सहयोग करे तो प्रगति की गति तीव्रतर हो सकती है। अतएव श्रीअरविन्द मनुष्यों का आह्वान करते हैं प्रकृति के सच्चे रहस्य को देखने के लिये, उसके साथ सहयोग करने के लिए और नूतन जगत्, नूतन चेतना, सर्वांगीण व्यक्तित्व के प्रकटीकरण में सहायता देने के लिये। इससे एक नूतन एवं समृद्धतर सांस्कृतिक जीवन का स्तर निर्धारित होगा और उसी सांस्कृतिक जीवन में मानव एकता की मौलिक अनुभूति रहेगी।

★

बन्धन तथा मोक्ष का हेतु मन

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी निर्मल जी महाराज, अमृतसर
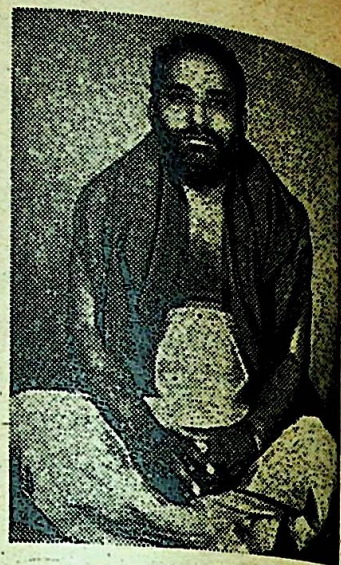
(आध्यात्मिक साधन में मन का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः जहां सांसारिक कार्यों में मन का प्रयोग किया जाता है, वहां आध्यात्मिक प्रगति के लिए उसे सांसारिकता से विमुख करके मोक्ष की ओर लगाना भी अत्यन्त आवश्यक है। एक ही मन बन्धन और मोक्ष दोनों का ही कारण है।)

मनन या विवेक की जब दृढ़ता हो जाती है तब साधक स्थूल प्रपंच से दृष्टि उठाकर एकान्त में बैठकर सजातीय वृत्तियों का तैलधारावत् अखण्डप्रवाह चलाता है। इसमें मन की सूक्ष्मता के द्वारा अपने इष्ट स्वरूप की एकांगी चिन्तन धारा चलती है और विरोध का सर्वांग ध्वंस हो जाता है।

एक घटना है कि एक महात्मा जी के लिए कोई भोजन ले जाया करता था। एक दिन वह महात्मा जी के लिये भोजन के साथ चावल बनाकर ले गया। मार्ग में उसे स्मरण आया कि आज तो एकादशी है, परन्तु मैं भूलवश चावल बना कर ले आया हूँ, उसने महात्मा से कहा कि अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कर लीजिये, उस आदमी के कहे हुये ये शब्द कि "आज एकादशी है" ज्यों के त्यों महात्मा जी के हृदय में अंकित हो गए कारण कि वृत्तियों का अखण्ड प्रवाह तो चल ही रहा था। जिज्ञासु ने कहा— महाराज! भोजन पा लीजियेगा। उत्तर मिला— आज एकादशी है। जिज्ञासु ने समझा कि शायद महात्मा जी एकादशी का व्रत रखते होंगे, इसलिए दुबारा बिना कुछ कहे उसने भोजन का थाल उठा लिया और वापिस घर लौट आया। दूसरे दिन फिर भोजन ले जाकर उनके सामने रक्खा और भोजन पा लेने को कहा। उन्होंने कहा, आज तो एकादशी है। इसी तरह तीसरे दिन भी महात्मा ने यही उत्तर दिया कि आज एकादशी है। बेचारे जिज्ञासु का दिल टूट गया यह सोचकर कि महात्मा जी मेरे से नाराज हो गये हैं, परन्तु जब भी महात्मा जी से भोजन के लिये कुछ कहता तो एकही उत्तर मिलता कि "आज एकादशी है"। वह मन में चिन्तित सा हुआ? वह जिज्ञासु किसी दूसरे महात्मा के पास गया और उन्हें सारी वार्ता सुनाई। उन्होंने कहा— भाई! वे तो मस्त फक़ीर हैं उन्हें क्या पता कि एकादशी कब आई और कब गई इसलिये कल जब भोजन लेकर जाओगे तो उनसे कहना महाराज! अब एकादशी बीत चुकी है इसलिए आप भोजन कीजियेगा। अगले दिन जब जिज्ञासु ने उसी तरह से कहा तो महात्मा जी उठकर भोजन पाने लगे। यही है तैलधारावत अखण्ड वृत्ति का प्रवाह— तो अन्तर्मुख वृत्ति का एकांगी चिन्तन तनुमानसा के नाम से कही गई तृतीय भूमिका है। श्रवण मनन के अनन्तर मन का सूक्ष्म होना और एकांगी मन चिन्तन का प्रवाह चल पड़ना कहा गया है।

चिन्तन करना मन का काम है तुम जिस-जिस विषय को इसके सामने रख दो— वह उसी का चिन्तन करता है। तुम इसके सामने घर-बार बिल्डिंगों और धन धान्य का चिन्तन दे दो, यह उन्हीं के पूर्वापर को सोचता रहेगा। तुम इसे ब्रह्मास्मि के महत्त्व को समझा दो वह उसी में मग्न रहेगा। यह साधक की गल्ती है कि वह मन

> तुम यह नहीं जानते कि दूसरों में क्या है और वे क्यों असफल होते हैं। तुम यह जानते हो कि तुम्हारे अन्दर क्या है और तुम्हें बस उसको प्रतिक्रम करने का सच्चा संकल्प बनाना चाहिए। यदि तुम ऐसा करो तो तुम जब तक अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच जाते तब तक लगातार प्रगति कर सकते हो।
>
> —श्री अरविन्द

के सामने दिव्य वस्तु को रखने में विलम्ब करता है अन्यथा यह तो मालिक का काम बड़ी सावधानी से करना जानता है और निरन्तर ही सेवा में हाजिर है। तुम इसके सामने अनाप-शनाप बातों को रखते हो और चाहते हो कि यह स्वरूप का चिन्तन करे भला यह कैसे हो सकता है।

बच्चे के सामने मिठाई और खिलौने रखकर यदि मास्टर कहे कि पुस्तक पढ़ो—तो वह क्या पढ़ेगा ? इसलिए

> 'बेवकूफ मन' सब कुछ करता है, पर कुछ नहीं पाता। हमारा उसका ठहराव है कि नाम रूप के ठेकेदार तुम—सब तुम्हारे—आनन्द हमारे हिस्से का। सँभालने की चिन्ता से परेशान रहता है मन, थकता है मन, जब आनन्द आता है तो लूट लेता हूँ मैं, आनन्द रूप के हिस्से में ही आनन्द आ सकता है।
>
> —स्वामी प्रकाशानन्द

संसार को मन के सामने से तुम हटाते नहीं, फिर ब्रह्म चिन्तन वह कैसे करेगा।

मन के धोखों को समझना बड़े ही उन्नत साधक का काम है। यह अपना बनकर भी धोखा देता है। कहा जाता है कि एक अपराधी आदमी अपने अपराध को छुपाने के लिए बनावटी साधु बन गया। राजा के गुप्तचर-विभाग के कर्मचारियों ने पता लगाने के लिए ढूंढ़ फेर की परन्तु कुछ पता नहीं चला। कई वर्षों की खोज के बाद एक कर्मचारी को इस बनावटी अपराधी पर सन्देह हुआ जो कि बनावटी साधु के रूप में था परन्तु कैद करने का अधिकार तब तक नहीं था जब तक कि गुप्तचर को इस बात का पूरा सबूत न मिल जाए कि यही वह अपराधी है। वह गुप्तचर महोदय इस महात्मा के शिष्य बन गए और सेवा-परायण रहने लगे। बातचीत में पता लगाने का वे हमेशा प्रयत्न करते रहे कि यह साधु अपराधी है या कि नहीं। जिसने राजा की चोरी करके अपने को भगा रखा है। वह बहुत समय तक शिष्य के रूप में रहा। उसने योग की विद्याएँ सीखीं परन्तु कहता रहता था—गुरु जी ! मैंने बहुत ही बुरे-कर्म किए हैं, यहाँ तक कि कई गरीब घरों में चोरियाँ की हैं। इस कारण ध्यान में मेरा मन समाहित नहीं होता। बार-बार उसी दुष्कर्म की याद आती है। शिष्य के इस प्रश्न पर गुरु जी ने कहा—तुमने तो दो चार चोरियाँ की होंगी मेरा तो जीवन ही चोरियाँ करते बीत गया है, यहाँ तक की राजगृह में भी मैंने चोरी की है, परन्तु इस अध्यात्म मार्ग पर चलकर अब मेरा मन शान्त है। ऐसी बात क्या है कि तुम्हारा चित्त समाहित नहीं होता, मेरा तो मन हमेशा समाहित ही है—इत्यादि।

शिष्य जो कि गुप्तचर था, वास्तव में इस प्रमाण को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और दूसरे दिन ही सूट पहने हुए पुलिस के साथ आया और साधु को पकड़कर कैद में डलवा दिया। इस दृष्टान्त से पता चलता है कि मन झूठा शिष्य बनकर भी हमें धोखा दे सकता है।

कहा जाता है कि तुम मन को अपना सच्चा शिष्य बना लो ताकि यह आपको धोखा न दे दे। सारे विश्व को तुम शिष्य बना सकते हो लेकिन मन शिष्य होकर भी धोखा दे सकता है। इस राज़ (भेद) को समझते रहना साधक की उन्नति के लिए आवश्यक कर्त्तव्य है।

तुम समझते हो कि अपने को छोटा मानने में गौरव है। इसलिये कहते हो कि—"मो सम कौन कुटिल खल कामी" अपने आप को छोटा इसलिए मानते हो कि इसमें गौरव है। यदि कोई बड़ा आदमी अपने को छोटा कहे तो लोग उसको बहुत बड़ा समझते हैं और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए असल में अन्दर से वह अपने को बड़ा ही मान रहा है। किसी शिष्य ने अपने गुरु को पत्र के नीचे अपने नाम के बदले "राई" लिखकर भेजा। गुरु यह पढ़कर बहुत रोये कि तू अभी तक राई बना बैठा है। कुछ न बनना ही वास्तव में बड़प्पन है।

विशुद्ध अन्तःकरण में तो राग-द्वेष और अभिमान की बू तक नहीं होगी। वह तो विवेकी मन होता है और अपना पथ-प्रदर्शक होता है। किसी उर्दू के कवि ने अन्तःकरण की शुद्धि के नुस्खे बतायें हैं। सेवा, अदब (शिष्टाचार) और प्रेम इन तीनों को सफलता के सत्रों में गिनाया है—

जो है जौके-नज़र कामिल तो कर खिदमत फकीरों की।
नहीं मिलता यह गोहर बादशाहों के खज़ीनों में—
अदब-ए-दिल भरी महफ़िल में चिल्लाना नहीं अच्छा।
अदब पहला करीना है मुहब्बत के करीनों में—

इस प्रकार विशुद्ध हुआ अन्तःकरण अपने स्वरूप की ओर अभिमुख होता है और अपनी खुदी के पर्दे को चाक करता है। यही मन मोक्ष का हेतु है और यही बन्धन का भी। शास्त्र डंके की चोट से गरज-गरज कर कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं मतम्॥

अपनी अभिव्यक्ति की भावना तब दूर होने को होती है जबकि साधक का मन सूक्ष्म होकर तत्त्व-चिन्तन के योग्य हो जाता है और अपनी अभिन्नता को ब्रह्म से स्थापित करता है। यदि ज़रा सी खुदी भी अपनी साधना में बाधक बनती है तो उसके साथ अभिन्नता में यह खुदी ही व्यवधान है।

हज़रत शम्स तबरेज़ ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मैंने वेदान्त के भाव को अच्छी प्रकार समझ लिया है और अज्ञान के झूठे झगड़ों से मुँह फेर लिया है। वह एक बार किसी पंडित और राजा के बीच से गुज़रे। राजा पंडित महोदय से शास्त्राध्ययन कर रहा था। शम्स तबरेज़ ने पूछा—वह कौन सी पुस्तक है? अभिमान में डूबे हुए राजा और मौलाना ने कहा— 'यह तुम नहीं जानते' तुम अपने रास्ते चले चलो। शम्स तबरेज़ ने उस पुस्तक पर दृष्टि डाली तो हाथ में पकड़ी हुई पुस्तक जलकर खाक हो गई। अन्त में मौलाना ने अपने अभिमान पर पश्चाताप किया और उनको अपना गुरु बनाया और पूछा— हज़रत! यह क्या है? शम्स ने उत्तर दिया— यह वह है जिसे तुम नहीं जानते। मन के अन्तर से अन्तरतम प्रकोष्ठ में भी अभिमान की बू छिपी रहती है और यह धोखा जो मन का है साधक को आत्मा की स्थिति में पहुँचने नहीं देता। इस प्रकार मन का शोधन और सूक्ष्मीकरण यों करना चाहिये कि वह मंजिल पर सीधा साथ चलता जाए।

एक चौकीदार को हम दुकान के बरामदे में इसलिये सुलाते हैं कि दुकान की चोरी न हो जाय, गुरुओं के उपदेशों और सुसंस्कारों को हृदय में इसलिये स्थान देते हैं कि साधना की अवधि में इससे धोखा न मिले। यों बारम्बार मन के धोखे को समझते रहना और उसे सुमार्ग पर लाकर रखना निरन्तर ही विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार करना चाहिए।

परमहंस स्वामी रामकृष्ण भी इसी का अभ्यास करते थे जबकि बार-बार काली की मूर्ति उनके ध्यान में आ जाती थी। बड़े क्रोध में आकर उनके गुरु तोतापुरी ने उठाकर काँच के टुकड़े को उनके माथे पर मारा तो खून की धारा उनके अग्र-मस्तक से निकल पड़ी—कहा यहाँ ध्यान करो। बड़ी-बड़ी कठिनाई से तैलधारावत् चिन्तन बन पड़ता है। एक जाट का लड़का घर से निकल कर किसी महात्मा के पास आ गया। वहाँ रहकर जब वह ध्यान में बैठा तो उसके सामने भैंस का बच्चा आ गया, वह बार-बार उसे दूर करता लेकिन वह बार-बार सामने आता। क्योंकि उससे लड़के को बड़ा स्नेह था।

कई पढ़े लिखे साधक मनोराज करने लग पड़ते हैं। ये सभी बाधाएँ मन की सूक्ष्मता में तैलधारावत् चिन्तन बनने नहीं देतीं और साधक का चित्त म्लान हो जाता है। इस प्रकार निदिध्यासन के प्रकरण में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि मन के तमाम कारनामों को समझता हुआ साधक "एकादशी" वाले कथानक के अनुसार चित्त की एकाग्रता सम्पादन करे। बन्धन का हेतु मन यहाँ मोक्ष का हेतु बन जाता है और भावी मंजिलों पर चलकर पहुँचने का अवलम्बन यानी रहस्य को समझना है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सिद्धि और साधना

आचार्य रामप्रताप शास्त्री, करहिया, बाँदा

जीवन की पूर्णता के लिए साधना परम आवश्यक है। जो व्यक्ति सिद्धि और साधना में एकत्व स्थिति प्राप्त कर लेता है उसकी प्रगति का मार्ग किसी भी दशा में अवरुद्ध नहीं हो सकता। साधन-वैचित्र्य भले ही हो, परन्तु लक्ष्य और साधक के संस्कारों की दृष्टि से साधन में सत्यरूप होने से व्यक्ति परम-तत्त्व का साक्षात्कार कर ही लेता है।

किसी भी लक्ष्य या उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं उन्हें साधना कहते हैं परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से उस परम पुरुषार्थ को साधना कहते हैं जो कि आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस साधना का अर्थ कर्म या क्रिया होता है। वस्तुतः यही वास्तविक साधना है। साधनायें विभिन्न हैं फिर भी अन्त में सभी को एक ही निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुँचना अभीष्ट है। जिसकी सिद्धि हो जाने पर कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती। श्री पुष्पदन्ताचार्य जी कहते हैं: प्रभो! त्रयी (वेदमार्ग), सांख्य, योग, पाशुपतमत, वैष्णवमत सभी आपकी प्राप्ति के ही मार्ग हैं। रुचि-वैचित्र्य के कारण ही यह श्रेष्ठ है, यह अच्छा है इस प्रकार उनमें पार्थक्य प्रतीत होता है। किन्तु जैसे समस्त नदी-नालों का जल समुद्र में ही जाता है वैसे ही सीधे-टेढ़ सभी साधन-मार्गों से यात्रा करने वाले मनुष्यों के गन्तव्य-स्थान एक मात्र आप ही हैं-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

गीता के अनुसार इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये मुख्य दो साधन हैं-सांख्ययोग और कर्मयोग। ज्ञानियों के लिए सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मियों के लिए कर्मयोग। ज्ञानमार्ग शुद्ध-चित्त साधकों के लिए है। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक उन्हें कर्मयोग का ही आश्रय लेना चाहिए। जब कर्म योग में पूर्णता आ जाती है तब साधक ज्ञानयोग की स्थिति में ही पहुंच जाता है। उक्त दोनों साधनों का परिणाम भी एक है। इसीलिए वे परस्पर अभिन्न माने गये हैं-

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'

परन्तु साधन काल में अधिकारी भेद से दोनों का भेद होने से दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

प्रकृति से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बर्तते हैं अतएव मन, बुद्धि और शरीर से होने वाली समस्त क्रियाओं में कर्त्तृत्वाभिमान से रहित होकर सर्वान्तर्यामी परमात्मा में एकीभाव से स्थिर रहने का नाम ज्ञान योग है। फल, आसक्ति और अहंकार का त्याग कर भगवदाज्ञानुसार कर्त्तव्य कर्मों को भगवान् को अर्पण करके समत्व बुद्धि से कर्म करना ही निष्काम कर्म योग है। परन्तु किसी भी मार्ग के अनुसार कर्मों को स्वरूप से त्यागने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मों के करने से निष्कर्मता को पाता है और न कर्मों के त्यागने मात्र से भगवत्साक्षात्कार रूप सिद्धि को पाता है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः'

अस्तु प्रसंगवश यहाँ कर्म-मीमांसा का प्रकरण आ जाता है। कर्म (विहित) अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहित का उल्लंघन) इन तीनों का ज्ञान वेदों से ही सम्भव है। वे अपौरुषेय हैं- ईश्वर रूप हैं, इसलिये उनके तात्पर्य का यथावत् ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है। इस विषय में प्रायः विद्वान भी भूल कर बैठते हैं। ये वेद

परोक्षवाद कहे गए हैं। अर्थात् इनमें शब्दार्थ तो कुछ है और तात्पर्यार्थ कुछ है। ये कर्मों की निवृत्ति के लिए कर्मों का विधान करते हैं। जैसे रोगी को रोग से मुक्ति पाने के लिए औषध इसलिए दिया जाता है कि पुनः औषध न देना पड़े वैसे ही कर्मों से मुक्ति पाने के लिए यहाँ कर्मों का विधान किया जाता है, किन्तु जिनका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिनकी इंद्रियाँ वश में नहीं हैं वे यदि मनमाने ढंग से वेदोक्त कर्मो का त्याग कर देते हैं तो वे विहित कर्मों का आचरण न करके विकर्म रूप अधर्म ही करते हैं अर्थात् विहित का उल्लंघन करते हैं अतएव फलाकांक्षा को परित्याग करके उन विहित कर्मों का विश्वात्मा भगवान् को समर्पित कर जो वेदोक्त कर्मों का सम्यक् पालन करते हैं, उन्हें कर्मों से निवृत्तिरूप सिद्धि मिल जाती है। स्वर्गादि की प्राप्ति के उद्देश्य से वेदों में जिस सकाम साधना का वर्णन मिलता है, उसका तात्पर्य फल की सत्यता में नहीं है, वह तो कर्मों में रुचि पैदा करने के लिए है–

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यमिव लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥

वेद विधि के रूप में हमें उन कर्मों के करने की आज्ञा देता है जिन कर्मों में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, प्रायः यह देखा जाता है कि प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति मैथुन, मांस और मद्य सेवन के प्रति होती है। ऐसी स्थिति में उसे उसमें प्रवृत्त करने के लिए वेद कैसे विधान कर सकता है। इसीलिए विवाह, यज्ञ और सौत्रामणी–यज्ञ के द्वारा इनके सेवन के लिए जो व्यवस्था है, उसका यही तात्पर्य है कि लोगों की उच्छृंखल प्रवृत्ति का नियन्त्रण हो, जिससे मर्यादा में उनकी स्थिति हो सके। यही श्रुति का तात्पर्य है। धन का एकमात्र फल है धर्म; वह इसलिए कि धर्म से परम सिद्धि मिलती है परन्तु यह कितने खेद की बात है कि लोग उस धन का उपयोग अपने निम्न स्वार्थों–विषय–भोगेच्छाओं की पूर्ति में ही करते हैं। इसप्रकार के अपने वास्तविक स्वार्थ–परमार्थ की सिद्धि से वञ्चित ही रहते हैं। सौत्रामणी यज्ञ में भी सुरा के सूँघने का ही विधान है, पीने का नहीं। यज्ञ के पशु का आलभन (स्पर्शमात्र ही) विहित है, हिंसा नहीं। इसीप्रकार अपनी धर्मपत्नी के साथ मैथुन की आज्ञा भी विषय के लिए नहीं, धार्मिक परम्परा की रक्षा–हेतु संतति उत्पन्न करने के लिये ही है। परन्तु जो लोग अर्थवाद के वचनों में फँसे हैं, वे सर्वदा इस विशुद्ध–धर्म से अनभिज्ञ ही हैं। जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्न कर ली है, जो संयमी है और जो एक परमात्मतत्त्व के स्वरूप की धारणा कर रहा है उसके लिए ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो। जगत् में जन्म, औषध, तन्त्र–मंत्र, यंत्र आदि से जितनी सिद्धियाँ मिलती हैं, वे सभी योग के द्वारा मिल जाती हैं परन्तु योग की अन्तिम–सीमा भगवान् के सारूप्य, सालोक्य आदि की प्राप्ति बिना भगवान् में चित्त लगाये किसी भी साधना से प्राप्त नहीं हो सकती। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है कि यद्यपि ब्रह्मवादियों ने बहुत से साधन बतलाये हैं–योग, सांख्य, धर्म आदि, किन्तु उन सब सिद्धियों का एक मात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ।

सर्वासामतिसिद्धीनां हेतुः पविरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवारिनाम् ॥

★

> बालक और बुद्धि में बड़ी समानता है। किसी को भी दबाने पर उसका झुकाव शोर मचाने, व्यर्थ की बकवास करने की ओर हो जाता है। ऐसी अवस्था में एक आन्तरिक तनाव पैदा हो जाता है जो शान्त होने के लिए अनेक प्रकार के मार्ग ढूँढ लेता है। यह भाप का एक ऐसा समूह है जिसे कोई मार्ग अवश्य मिलना चाहिए अन्यथा यह कहीं से भी फूट निकलेगा।
>
> —जे० कृष्णमूर्ति

वेदान्त विशारद परीक्षा का एक उत्तर

अहंकार का त्याग

कु० शान्ता टण्डन, कानपुर

आध्यात्मिक साधन में यदि किसी भी रूप में अहंकार शेष रह गया तो साधन में प्रगति होना अत्यन्त कठिन है। साधनकाल में अहंकार आगे बढ़ने से भी रोकता है और प्राप्त किए हुए साधन में जल्दी ही सन्तोष दिला देता है। अहंकार से साधक का बचना अत्यन्त आवश्यक है।

"मैं" पन का अकुंर ही अहंकार है इसको चने के समान भून देना है जिससे फिर न उठ सके जैसे चना भुन जाने पर फिर नहीं उग सकता है। अतः कबीर ने कहा भी है–

"माया तजनी सहज है सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, तजनी दुर्लभ देह॥"

यद्यपि काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि का त्यागना अत्यन्त कठिन काम है, तथापि अनुभव से इस बात का पता लगाया गया है कि अहंकार या स्वाभिमान का मिटाना इससे भी कठिन है।

जब मनुष्य काम क्रोध आदि शत्रुओं को वश में कर ले तो उसको इस बात का अभिमान हो जाता है कि मैं त्यागी हूँ। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक कोई मनुष्य अपने को कुछ भी समझता है चाहे वह छोटा या तुच्छपने का स्वभाव ही हो, उसकी प्रार्थना ईश्वर के दरबार में कभी नहीं होगी। इसके लिए एक कथन है कि– "एक साधू ने अपने एक साधू मित्र को पत्र लिखा और पत्र लिखने के बाद नीचे अपने नाम के स्थान पर राई लिख दिया। जिसका तात्पर्य था कि मैं एक राई के समान हूँ। पत्र को पढ़कर साधू बेचारा रो पड़ा। उसके निकट कई लोग बैठे थे। एक ने पूछा कि महाराज आपके रोने का क्या कारण है? भिक्षुक ने कहा देखते नहीं, पत्र भेजने वाला अपने आपको राई के समान समझता है, यह सुनकर वह मनुष्य कहने लगा कि महाराज! राई के तुल्य समझना तो अच्छा ही है, जितना अपने आपको अल्प समझे उतना ही अच्छा है। साधु–बोला, तुमको भी इस बात का ज्ञान नहीं है। क्या तुमने यह नहीं सुना है कि राई का पहाड़ और बूँद का समुद्र बन जाता है। अपने आपको छोटा समझे या बड़ा यह एक ही बात है। पर कोई अपने को समझे ही क्यों?

कहा है कि:–

"मिटा दो खुद को इतना कि
रहे न कुछ निशां बाकी।
अगर पाना सनम को है
खुदी से हाथ धो बैठो।"

कई मनुष्य अपने आपको इसलिए छोटा समझते हैं कि जिससे और मनुष्य उसको बड़ा समझें, क्योंकि उनके चित्त में यह बात समाई हुई है कि हम अपने–आपको छोटा कहेंगे तो संसार में अवश्य ही बड़ाई होगी। अतः अपने को छोटा कहने से अहंकार नहीं मिटता है।

यदि हम कोई भी वस्तु अपनी मानेंगे तभी मैं, मेरे का अहंकार हो जायेगा। अतः यह समझना चाहिए कि समस्त वस्तुएँ परमेश्वर की हैं।

कहा भी है:–

"मेरा मुझ पर कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥"

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारे सब दुःखों का नाश हो तो हमें अहंकार का नाश करना है।

मनुष्य को यदि बादशाह बनना है तो अपने मन का बनना चाहिए जिससे सारा संसार उसका हो जाय, परन्तु तुच्छ अहंकार का त्याग करना चाहिए जो मनुष्य

को तुच्छ और कमीना बनाता है।

जब तक हम मिथ्या अहंकार को दूर नहीं करते और सांसारिक आराम के प्रेम में बेसुध रहते हैं तब तक हम आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते हैं। अतः इस अहंकार का त्याग करके वास्तविक आत्मा से प्रेम करना चाहिए तब हमारे सभी दुःखों का समूह इस प्रकार हमसे दूर भाग जायेगा जिस प्रकार सिंह के डर से गीदड़ भाग जाता है। ......

बस इस अहंकार का जिन्दा न रहना ही वास्तविक जीवन है। अहंकार आन्तरिक जगत में क्रियाशील रहता है जो पूर्ण रूप से निरहंकार होता है वह किसी की बात को स्वीकार नहीं करता है (धारण नहीं करता है)।

कर्म और उपासना के अन्तर में जो अहं छिपा है उसका त्याग करना है। परन्तु कोई कार्य बिना अहं के नहीं होता है, यदि वह सुप्त दशा में हो या जाग्रत में हो जहाँ क्रिया होगी वहाँ अहंकार जरूर होगा।

सीमित वस्तु पर अधिकार होता है, जो अभिमान रहित जानता है वही सर्वज्ञ है। अहंकार जड़ है, सभी विकारों के लिए अहंकार व्यापक है। हम जीवित हैं तो अहंकार के कारण ही।

श्री मां ने कहा है कि:—

"यदि तुम अपवित्र अहंकारपूर्ण हो तो तुम्हारे अन्दर प्रेम भी अपवित्र और अहंकारपूर्ण, संकीर्ण, साम्प्रदायिक, ससीम, महत्वाकाँक्षापूर्ण और एकाधिपत्य जमाने वाला, हिंसापूर्ण, ईर्ष्यापूर्ण, कुत्सित, पाशविक और निर्मम हो जायेगा। और क्या यही वह प्रेम है जो भगवान् को अर्पित किया जा सकता है? यदि प्रेम की शाश्वत परिपूर्णता चाहते हो तो तुम पूर्ण बनो, अपने अहंकार की सीमाओं से बाहर निकल जाओ, शाश्वतता में हिस्सा बटाओ।"

"अहंकारी व्यक्ति वस्तु और व्यक्ति की दासता से मुक्त नहीं हो पाता है।" अहंकार विभिन्न लोगों में विभिन्न प्रकार का होता है। जिसमें गुणों का अभिमान होता है उनको ही दूसरों के दोष दीखते हैं।

अतः अहंकार का बलिदान करके ही मानव सुखी हो सकता है। और परम ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। "बड़ी से बड़ी अच्छाई अहंकार होने पर बुराई में बदल जाती है। देहाभिमानी संसार का दास होता है। सत्य से भिन्नता असत्य से अभिन्नता स्वीकार करने पर ही अहंकार बढ़ता है। विवेक से ही अभिमान की निवृत्ति होती है।"

"वह जीवन क्या, जिस जीवन में
जीवन को मुक्त बना न सके।
वह अज्ञानी, अभिमानी है,
जो मन का मोह मिटा न सके।

★

मुस्कान की खरीद

किसी नगर में एक व्यापारी कुछ खरीदने के लिये गया। बाजार में जहाँ अनेक वस्तुयें मिल रही थीं वहाँ एक व्यक्ति मुस्कान बेच रहा था। व्यापारी ने सोचा कि सब कुछ तो खरीद लिया, यदि किसी कीमत में मुस्कान भी मिल जाय तो क्या ही अच्छा हो। व्यापारी ने दुकानदार से इसके दाम पूछे। उसने कहा कि आप इसे न खरीद सकेंगे। व्यापारी ने अपने धन का अभिमान लेकर बड़े रोब से कहा कि ऐसी भी कोई चीज दुनियाँ में है जिसे मैं नहीं खरीद सकता। उसने कहा कि भले आप दुनियाँ का सारा वैभव खरीदने में समर्थ हों परन्तु एक हल्की सी मुस्कान खरीदना आप के वश में नहीं है। व्यापारी ने पुनः अपनी प्रशंसा की। दुकानदार ने कहा कि शायद आप गलत जगह पर आ गये हैं क्योंकि यहाँ पर धन से लेनदेन नहीं होता। आप अपना सारा धन दे दें परन्तु इसको नहीं खरीद सकते। यदि आप खरीदना ही चाहते हैं तो अपना अभिमान देकर इसे खरीद सकते हैं।

—'चिन्मय'

अध्यक्ष का एक पत्र

मैं और मेरा छोड़ो !
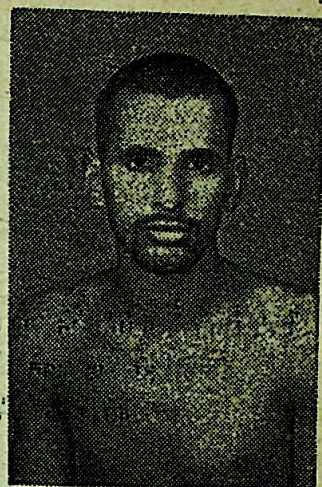
प्रियात्मन्,

सर्वाधार सर्वाधिष्ठान जगन्नियन्ता परमात्मा की विधान लीला में सदा सर्वदा शुभ हीं होता है उसकी सृष्टि में अशुभ नाम की कोई वस्तु नहीं है, परन्तु मनुष्य उसकी सृष्टि को अपनी बनाना चाहता है, अपने अनुसार बनाना चाहता है क्योंकि इसे जगत ठीक नहीं समझ में आता। ठीक न लगने का भी कारण इसकी अल्पज्ञता ही है। यह मानव स्वयं भी वही होता हुआ अपने को भिन्न मानकर सृष्टि का कर्त्ता मानता है, उस विशुद्ध मैं (परमात्मा) को नहीं समझता कि मैं भी वही हूँ। यह तो मानता है कि मैं परिच्छिन्न हूँ। यही है अज्ञान, इसी से इसे सीमित सृष्टि के साथ ही अहंता और ममता होती है और यही है बन्धन का कारण। इसी परिच्छिन्न अहं ज्ञान से ही अपने कर्म का कर्त्ता मानता है और कर्म संस्कार जमा करता है जिससे वासनायें बनती हैं और जन्म मरण की शृंखला में बँधा हुआ मान लेता है। जबकि नित्य मुक्त है, जबकि सारा विश्व भगवान् का है तब भी एक शरीर को मैं और मेरा मानता है। तथा मानता है कि इन पुत्रादिकों का मैं ही रचयिता हूँ। किन्तु संसार परमात्मा के आश्रित जो शक्ति (माया) है उसकी ही रचना है।

"अहंकार विमूढ़ात्माकर्ताहं इति मन्यते।"

(गीता)

अहंकार से अपने को कर्त्ता मानता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— हे अर्जुन! तू तो निमित्तमात्र है। वह भी गाड़ी, सायकिल, मोटरों के बनाने में हम निमित्त भी हैं, परन्तु पुत्रादिकों की उत्पत्ति में तो हम निमित्त कारण भी नहीं हैं क्योंकि मनुष्य द्वारा रची वस्तु, वस्तुओं को पैदा नहीं करती जैसे घड़ा मोटर आदि मनुष्य ने बनाये तो घड़ा एक भी घड़े को जन्म नहीं देता परन्तु ईश्वरीय सृष्टि में कोई भी वस्तु अपनी सन्तति करती है। जैसे चना चने को, आदमी आदमी को, जानवर जानवरों को जन्म देते हैं। इससे सिद्ध है कि यह सब संसार ईश्वर का ही है अर्थात् न हम कुछ हैं न हम कुछ करते हैं, कर्त्ता तो एक परम प्रभु की त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है और यह सबका सब वही है। मैं भी वही हूँ, व्यर्थ ही अपने को और मानकर कुछ सृष्टि का कर्त्ता बन कर अहंता ममता में फँस जाता हूँ परन्तु मैं कर्त्ता हूँ नहीं। यदि हूँ तब तो परमात्मा ही हूँ, ऐसा जानकर ही तुम मुक्त हो सकते हो व्यर्थ का अहं लेकर सृष्टि का बोझ उठाते हो, इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं—

"तुलसिदास मैं मोर गये बिन को भव त्रास नसावै।"

अतः मैं और मेरे को समाप्त करना, बाध करना ही परमपद, मुक्ति है।

—स्वामी परमानन्द

परमात्मा मनमोहन की झाँकी

श्री रामसिंह (आत्मा), रायबरेली

दृश्य जगत में प्रतीत होने वाला जो कुछ भी है उसे ठीक प्रकार से समझ लेना कोई सहज बात नहीं। कितना ही कोई अपने को जानकार समझे परन्तु धोखा खा जाना कोई बड़ी बात नहीं। बाहरी जगत् के रूपों में न फँसकर अन्तरतम में ही परमात्म दर्शन करना चाहिए।

वास्तव में झाँकी का आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि बाहरी सांसारिक झाँकी का सजाना तो परमात्मा की हरीभरी सारी सुन्दरताओं से परिपूर्ण आनन्दमयी झाँकी का उजाड़ना ही है। वास्तविकता तो यह है कि यह बाहरी सांसारिक झाँकी मानव की आन्तरिक हृदय की झाँकी का ही लखाने वाला है, क्योंकि यह बाहरी झाँकी मानव के आन्तरिक संकल्पों का समूह ही है जोकि बाहर भी अपने आन्तरिक कल्पनाओं के अनुरूप ही श्रृङ्गार एवं सजावट करने लगता हैं जिसमें किसी दूसरे के संकल्पों के आधार की अपेक्षा नहीं होती जबकि बाहरी झाँकी के सजाने में अन्य की भी आवश्यकता सम्भव हो सकती है।

आइये अब हम सब एक होकर स्वयं परमात्मा कृष्ण या राम या अन्य देवता को जिसे आपने इष्टदेव के रूप में स्वीकार किया हो उसके हेतु झाँकी सजायें, पर यह सदैव ध्यान रहे कि आप स्वयं स्वीकृति देने वाले ही हैं कोई अन्य नहीं। आइये इस शरीर रूपी संसार में ही परमात्मा मनमोहन की झाँकी सजायें और उसमें झांककर देखें कि वास्तव में उस झाँकी में विराजमान वह कौन सी शक्ति है जो सारे शरीर रूपी संसार को अपनी सन्निधि मात्र से ही प्रकाशित करते हुये आनन्द का अनुभव कर रहा है जो आनन्द अकथनीय एवं केवल समझते तथा अनुभव करते ही बनता है। आप लोग यह तो भली-भांति जानते ही होंगे कि यह त्योहार ब्रज में विशेष एवं सुचारु रूप से मनाया जाता है तो फिर इस शरीर को ब्रज ही मान लें तो अत्यन्त सुन्दर होगा। इस शरीर रूप ब्रज में इन्द्रिय रूप गोपियाँ, क्योंकि गो नाम है इन्द्रियों का तथा पिया नाम स्वामी अथवा पति का है वे इन्द्रियाँ तथा मन, चित्त, प्राण, रूप गोप सब एक होकर हृदय कमल की झाँकी सजाकर उसमें अपने स्वामी अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा को विराजित करें। जिसे पाँचों भूत क्षिति, जल पावक, गगन, समीर तथा सत्, रज, तम रूप गारे से युक्त यह मानव स्थूल शरीर रूप स्थान, नेत्र रूपी सूर्य, विषय रूप श्रृंगार के सारे सामान, त्वचा रूपी पर्दा, वृत्ति रूपी लतायें, इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना रूपी तीन बड़ी नदियाँ इच्छा रूपी पर्वत, रोम रूपी वृक्ष, श्रद्धा एवं भाव रूपी पुष्पों से यथा स्थान सुचारु रूप से सुसज्जित करें। उपरोक्त से सुसज्जित अपने हृदय कमल रूपी झाँकी पर विराजित करने के लिए यह आपस में ही विचार करें कि इस स्थान में विराजित होने का कौन अधिकारी हो सकता है सिवा उसके जो सबका सब कुछ हो, जिसके प्रकाश से यह सभी प्रकाशित हो रहा हो एवं जो सबकी हर समय जान रहा हो अर्थात् सबकी जान ही हो और जो अजर अमर अविनाशी स्व स्वरूप से ही हो। क्या आप अब बता सकेंगे कि इन उपरोक्त विशेषणों से युक्त वह कौन हो सकता है। और यह कि आप उपरोक्त वर्णन करने वाले जिससे केवल संकल्प मात्र में ही यह समस्त इतनी विशाल झाँकी सुव्यवस्थित हो गई हो और उसमें अपनी स्वयं की स्वीकृति से किसी नाम रूप को जो नाशवान है उसे विराजित करने वाले चैतन्य आत्मा विशाल हृदय आप कौन हैं? आप जब कि स्वयं आत्मा के रूप में नाम रूपों को चेतना एवं प्रकाश देने वाले हैं तो आप परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कौन विराजमान होने का अधिकारी हो सकता है। इसका प्रमाण वेदों के "महावाक्यों" तत् त्वम असि, अयम् आत्मा ब्रह्म, अहम् ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानम् ब्रह्म तथा रामायण की चौपाई "सोऽहम् अस्मि इति वृत्ति अखंडा"

आदि से ले सकते हैं।

अस्तु मेरे निज स्वरूप में स्थित साक्षात् परमात्मा ही हैं। कृपया आप लोग विचार-रूपी मथानी से जब मंथन करने का प्रयत्न मन्दराचल पर्वत की स्थिति में होकर करेंगे तब यह ज्ञात हो सकेगा कि आप स्वयं क्या हैं और उक्त झांकी में विराजमान होने का अधिकारी क्या कोई अन्य नाशवान नाम रूप जड़ हो सकता है सिवा सच्चिदानन्द आत्मा के। यह केवल अज्ञान ही सिद्ध होगा कि स्वयं स्व-स्वरूप से आप आत्मा अजर अमर आनन्द स्वरूप होते हुए भी अपने स्वरूप को नाम रूप यह नाशवान शरीर मान लें।

प्रिय आत्मन् किंचित् मात्र तो विचार करें। यदि आप सतत् विचार करते रहे तो एक दिन वह आपके समक्ष होगा जिस प्रकार कृष्ण के प्रकट होते ही कंस एवं कंस के समस्त पहरेदार सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हो गये थे और परमात्मा श्रीकृष्ण मथुरा से व्रज में विराजमान हो गये थे। उसी प्रकार आपके विरोधी अहंकार रूपी कंस तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ रूपी पहरेदार सब सदैव के लिए सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हो जायेंगे और आत्मरूप में आप शान्तिपूर्वक मथुरा की शरीर रूपी झांकी से उठकर व्रजरूपी हृदय कमल की झांकी पर सच्चिदानन्द रूप आत्मा श्रीकृष्ण की भाँति विराजमान हो जाएँगे। जो मानव-मात्र की प्रमुख झांकी है।

मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि हम लोगों का जीवन तभी सुफल हो सकता है जबकि उक्त हृदय कमल रूपी झांकी पर कृष्ण रूप आत्मा को विराजित कर सकें तभी हम सबकी जन्म अष्टमी भी पूरी हो सकेगी। यदि हम सभी उपर्युक्त जन्माष्टमी मनाने में समर्थ हों जाँय तो फिर जन्म मरण से मुक्त होकर परमात्मा श्रीकृष्ण की भाँति इस शरीर एवं संसार रूपी झांकी का पूर्णानन्द, परमानन्द, अखण्डानन्द एवं ब्रह्मानन्द प्राप्त कर सकेंगे।

मानव और दानव

श्री 'चिन्मय'

मनु की सन्तति में
मानव भी, दानव भी
एक का लक्ष्य है
ऊपर को निहारना
दूसरे का, नीचे ही ताकना।
पर इनकी पहिचान क्या,
एक जैसे ही लगते हैं।
एक स्वयं बनता है,
दूसरों को बनाता है,
वस्तुतः वही मानव है।
एक गिरता है,
दूसरों को गिराता है,
वस्तुतः वही दानव है।
मानव ही दानव के रूप में
धोखे का जाल बिछा,
कला का बहाना ले,
युग को बनाने की सोच में रहता है।
भोले मानव फँसते हैं जाल में,
दानव मुस्कराता है।
जब कभी काल मोड़ लेता है,
दानव पछताता है,
मानव मुस्कराता है। *

मनोजय

श्री स्वामी दिव्यानन्द, ऋषिकेश

आध्यात्मिक साधन में मन का लय हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि यह मन वश में करना कठिन है तथापि अनवरत परिश्रम से यह कार्य सुलभ हो जाता है। मन के इस साधन में कितनी ही कठिनाई का सामना करना पड़े परन्तु अपने निश्चय में पीछे नहीं हटना चाहिए। वास्तव में मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।

निज रूप में अखण्डित रहकर भी अन्तःकरण मन संज्ञा को प्राप्त होता है। नाना प्रकार के इष्ट–अनिष्ट सङ्कल्प कर इतस्ततः दौड़ता रहता है। अतः संकल्प त्यागना ही श्रेयस्कर है। साधक यदि किसी विषय का चिन्तन न करे तो उसका अन्तःकरण अखण्डरूप में स्थित रहे। मायिक एवं अवस्तुभूत पदार्थों में यह इष्ट है और यह अनिष्ट है ऐसी कल्पनाओं का त्याग किया जाय तो मन विक्षेप और विकल्प से शून्य हो जाये। मन के अचल होने पर अखण्ड स्वरूप में स्थिति हो जाती है। अन्तःकरण का स्वकीय रूप है। सहज में ही आत्मा का अनुभव होता है। सर्वव्यापी समस्त जगत्सृष्टि रूप क्रीड़ा में समर्थ उत्तम गुण सम्पन्न प्रत्येक हृदय में प्रत्यक्ष अनुभवमान् परमेश्वर से संसार रचनाशक्ति वैसे ही उत्थित होती है जैसे जल से तरङ्ग। शक्ति शक्तिमान् से अपृथक् रहती है। विश्व वास्तव में ब्रह्म रूप ही है अन्य कुछ नहीं। जो वस्तु जिस निमित्त से उत्पन्न होती है, वह उसी निमित्त की सहायता से नष्ट होती है जैसे अग्निज्वाला वायु की सहायता से उत्पन्न होती है और वायु की ही सहायता से शान्त हो जाती है। अतएव संसार परम्परा जब संकल्प से ही सिद्ध है तब संकल्प द्वारा ही यह नष्ट भी हो जाती है। विषयों के दृढ़ चिन्तन का परित्याग करते ही अन्तःकरण अपने आप ब्रह्म–भाव में लीन हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश साक्षात्कार वृत्ति का उदय होने पर आवरण सामान्य अहंभाव या वासना विनष्ट हो जाती है फिर ईश्वरानुग्रह से महावाक्य विचार द्वारा प्रतिबन्ध रहित ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्तः-करण या तो विषयाकार में आकारित रहेगा या अखण्ड ब्रह्मरूप में। अतएव प्रयत्नपूर्वक विषयों के प्रति राग निवृत्त करना चाहिए। इससे अन्तःकरण स्वयं अचल स्थित हो जाता है यह साभास अचल अन्तःकरण या साक्षात्कार वृत्ति ही स्वावरक अज्ञान का विनाशकर देती है। यदि थोड़ा सा भी आत्मविचार "मैं कौन हूँ" इसका अनुसन्धान और निश्चय न किया जाय तो मन संकल्प से उत्पन्न होकर दुःख का हेतु बन जाता है किन्तु जब अपने यथार्थ स्वरूप पर दृष्टि पड़ती है तो वह नष्ट हो जाता है, जैसे स्वप्न में अपना मरण दिखलाई पड़ता है और जगने पर वह भ्रम दूर हो जाता है। स्वप्न में अपना मरण जैसे मिथ्या है वैसे ही आत्मस्वरूप में मन का उदय भी नितान्त मिथ्या है। निजनिर्लिप्त प्रकाश स्वरूप का विस्मरण होने पर संकल्प विकल्प रूप मन का उदय होता है। एक संकल्प का उदय और उसका नाश दूसरे संकल्प का आविर्भाव और दोनों का सन्धिकाल संकल्प रहित अवस्था साक्षिस्वरूप हमारे ही प्रकाश से प्रकाशित होता है। मैं ही वृत्ति के आविर्भाव तिरोभाव को जानता हूँ। अतः मैं किसी वृत्ति से विशेषित नहीं हो सकता। इसलिए मैं निर्दृश्य दृक् संकल्प कल्पित स्फुरणों का प्रकाशक और वस्तुतः सर्वदृश्य रहित द्रष्टामात्र हूँ। तभी मन का विनाश सम्भव है।

गुरु से होली

श्री मुकुट बिहारी लाल वैद्य, लखनऊ

मैं तो गुरु अपने से होली खेलूँ मन धार री ।
प्रेम भाव का रंग बनाऊँ भक्ति गुलाल सुधार री ॥
ज्ञान विवेक भरूँ पिचकारी छोड़ूँ बारम्बार री ।
योग युक्ति का चन्दन लेपूँ ध्यान पुष्प गल हार री ॥
अनहद नाद बजाउँ सुन्दर सुरत निरत श्रृंगार री ।
निगमागम के शब्द मनोहर गायन करूँ विचार री ॥
मिल सत्संगत फाग मचाऊँ संशय सकल निवार री ।
एक रूप सब जग में देखूँ, भेद भाव सब टार री ॥
कृष्ण चरण मन लागो निशिदिन छूटो सकल विवाद री ॥

पास पड़ोस के झाड़-झंकड़, काठ–कण्डों के ढेर में आग लगाकर हमने मान लिया कि होली जल गयी; परिचित अपरिचितों पर गहरे रंग-बिरंगे रंग डालकर होली के हुल्लड़ में कीचड़ और कालिख से मुख पोतकर हम समझे कि खूब मनी। हवन कुण्डों में घी सामग्री छोड़कर, पर्व की पवित्रता पर व्याख्यान झाड़कर और मित्रों के माथे पर चन्दन चपेक कर हम फूले न समाये कि बस होली हो ली। पर क्या सचमुच ......? अरे ....

राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद रूपी मानवता के शत्रु झाड़ झंकड़ और काठ कण्डों को विवेक, दया और स्नेह की शीतल अग्नि में शान्त किए बिना होली कहाँ जली ?

बुद्धि में संचित भ्रम अविवेक और भेद–प्रभेद पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सत्य रंग डाले बिना ही रंग रंगीली होली कैसे मन गयी ?

तामसी प्रवृत्तियों की राजसी में और राजसी प्रवृत्तियों की सात्विकी में आहुति देकर परमानन्द का चन्दन यदि हम न लेप सके तो केवल काष्ठ चन्दन चपेकने से होली कैसे हो ली ?

क्या हमने सचमुच होली मनायी है, अपना अन्तर तो टटोल लें।

★

अखण्डवचनामृत

बात यह है कि एक ही बात से हाथी के पैर से दबाया जाता है और बात ही से हाथी के सिर पर चढ़ाया जाता है। वचन मात्र का तो भेद है, परन्तु वास्तविक भेद नहीं है, एक है दो नहीं है। भगवान् एक है, भगवान् दो नहीं। अब उस भगवान् की चाहे भेद करके सेवक स्वामी भावना से उपासना करो, चाहे निराकार समझकर अभेद उपासना करो। दोनों शरीर की उपासना शास्त्रों से सुनने में आती है। दोनों प्रकार की उपासना एक ही ईश्वर की हैं। एक ही भगवान् की हैं। जो भेद बुद्धि लेकर साकारी निराकारी का और निराकारी साकारी का खण्डन करते हैं, वे भगवान् की ही निन्दा करते हैं। दोनों भगवान् के खण्डन करने वाले निन्दक ही हैं। जब भगवान् का खण्डन करने वाले हैं तो सदैव काल के लिए उन लोगों के लिए नरक ही नरक भोगना है। नरक है नीच कर्म और नीचे सर करके नीचे लोकों को भोगो और उच्च कर्म वह है कि ऊँचे लोकों में जाना हो। अपवर्ग का काम किया तो अपवर्ग में। यही तीनों साधनों का फल है। कर्म का फल स्वर्ग नरक और उपासना का फल अपवर्ग है।

अपने-अपने कर्मों के अनुसार सब भोग हैं। अपने किए हुए के ही तीनों भोग हैं। इन तीनों से छूटने के लिए एक नर तन ही ऐसा मिला है कि चाहो तो तीनों को प्राप्त करो। चाहो तो तीनो से छूट जाओ। सूकर, कूकर के लिए नहीं, नर तन के लिए कानून, दफा हैं। इन कर्मों में सजा भी है और कजा भी है। उल्टे टँगना सजा और शरीर छोड़कर दूसरा धारण करना कजा है पैदा होने वाले को भी मालूम होता है कितना दुःख है और पैदा करने वालों को भी। देखने वाला सब कुछ देखता है, जानता है और सबकी गवाही देता है।
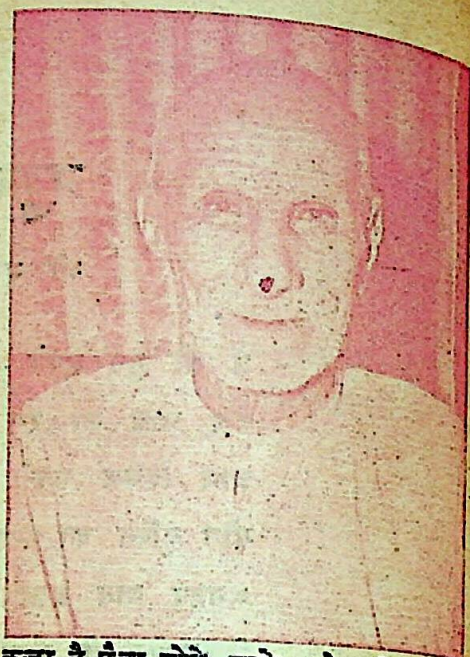
आजकल उपासकों की यह दशा है कि बैठते हैं तो निर्णय के लिए पर बार-बार यही कहते जाते हैं कि नहीं जानते। हम कहते भी हैं कि तू देखने वाला जानने वाला है, पर कहे जायगा कि हम नहीं जानते। हमें अभी पूरा बोध नहीं। ऐसी बातें करने से वह समझ लेते हैं कि हमारा पक्ष नहीं गिरा और हमारी विजय हो गई। यह नहीं देखते कि उनका अपना कल्याण ही बिगड़ जायगा। यह नहीं जानता कि अज्ञान को लेकर अज्ञानी बनकर खुद अपने को नीच बनाता है। ऐसे लोग पूछने भी आते हैं और मानते भी नहीं। सुनने वाले भी साथ दे देते हैं। कह देंगे बोध हो गया 'शिवोऽहम्' का, तो भी गुस्सा करते हैं। ऐसों का कभी कल्याण नहीं हो सकता।

"शिव द्रोही मम दास कहावे।
सो नर मोहि सपनेहु नहिं भावे॥"

★
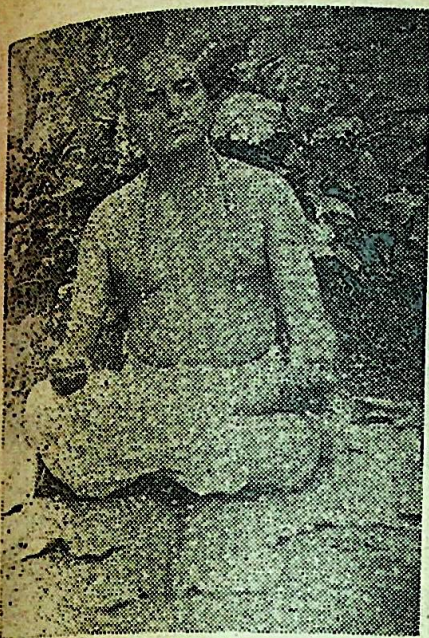
ज्ञान से ही मोक्ष

वेदान्ताचार्य श्री स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी, दिल्ली

संसार में एक कहावत है– अति सर्वत्र वर्जयेत्–अर्थात् किसी भी कार्य व्यवहार में अति सर्वथा वर्जित है। प्रकृति के विधान में भी यदि वर्षा अधिक हो जाये तो हानिकर और यदि गर्मी अधिक पड़ जाये तो वह भी कष्टकर ही सिद्ध होती है। किन्तु परमार्थ में यह नियम लागू नहीं होता, वहाँ तो भावना प्रधान होती है। विमल भावना से युक्त चित्त जितना अधिक अपने आपको प्रभु चरणों में लीन करेगा, उतना ही संसार के दुःखमय प्रपंच से वह स्वयं ही हटता जायगा। शनैः-शनैः ...ह ही भटकना, अशान्ति और आसक्ति इससे छूटती ...येगी।

यह तभी हो सकता है जब जितना व्यवहार की ओर झुकाव था उतना ही इन्द्रिय–निग्रह, समर्पण भाव, ...र अन्तर्मुखता को धारकर परमार्थ की ओर भी मुड़े तब ...े जिज्ञासु मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ सकता है। मुक्ति किसी ...तु या देश का नाम नहीं परन्तु अपनी ही कल्पित ...ल्पनाओं, अपने ही द्वारा रचित चिज्जड़ग्रंथि के टूट जाने ...ा नाम मुक्ति है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते, हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मृत्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥

जिस समय यह पुरुष ग्रन्थि की तरह हृदय में ...न देहादिकों में अहंता और पुत्रादिकों में ममतारूप ...र से मुक्त हो जाता है; उस समय जन्म–मरण से मुक्त ...ो जाता है। यही वेदान्त का नियम है। इस ब्रह्मभाव को ...्त हुआ मनुष्य सहज ही बाह्य इन्द्रिय जनित विषयों में ...ःख तथा निस्सारता का अनुभव कर अपने आपको अलिप्त ...ता है। संशय भ्रमों से रहित होकर अपने आनन्दमय ...्प में स्थिर रहता है। यही आत्म–साक्षात्कार है। ...मुक्ति व्रत–नियम, तीर्थयात्रा, जपयज्ञ तथा कीर्तन ...ि किसी प्रकार के भी बाह्य कर्म से प्राप्त नहीं हो ...ती। यह तो केवल स्वरूपज्ञान से ही सम्भव है।

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्।'
'ऋते ज्ञानान् मुक्तिः॥'

बिना ज्ञान के कोटिशः कर्मों से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है। किसी वस्तु की जानकारी अर्थात् ज्ञान के पश्चात् ही उसके प्रति भक्ति की भावना उत्पन्न होती है उसमें स्थिर होकर हृदय में निष्ठा का समावेश होता है। क्योंकि केवल जानकारी या ज्ञान हो जाने से भी कोई कार्यसिद्ध नहीं होता जब तक कि वैसा निश्चय न बन पाये। एक बाहर का इंजीनियर भी अपने विषय की उच्च विद्या प्राप्त कर लेने पर भी जब तक उसका व्यावहारिक रूप में प्रयोग न सीख ले तब तक अपनी शिक्षा को अधूरी ही निश्चय करता है, उसको सीखने के लिये किसी हस्तकुशल, अनुभवी व योग्य इंजीनियर के पास जाता है, उसका आदरसत्कार भी करता है, धन भी उसे देता है तब उसके संग में, उसकी कृपा अनुग्रह करते–करते अपने शिक्षक से भी उच्च स्थिति को प्राप्त करता है। ठीक इसी प्रकार अपना कल्याण चाहने वाले मुमुक्षु पुरुष को संसार की दशा पर खूब ध्यान से विचार करना चाहिए। विचार से यह जानना चाहिए कि लोक परलोक के जितने भी सुख या दुःख हैं, वह सब कर्मों के फल हैं। कर्मजन्य सभी फल अनित्य हैं। अतः उनकी अनित्यता और दुःख-रूपता को समझकर भोगों से सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिए क्योंकि जो पदार्थ स्वयं अनित्य हैं वह हमें नित्य परमेश्वर की प्राप्ति नहीं करा सकते। यह सोचकर जिज्ञासु को इस ज्ञान में निश्चय दृढ़ करने के लिए परमात्मा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त्यर्थ हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और नियम सहित ऐसे सद्गुरु की शरण में

जाना चाहिए जो वेदों के रहस्य को भलीभांति जानता हो और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् ।
समित्पाणिं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

यद्यपि प्राथमिक अवस्था में दान, परोपकार, सेवा, क्षमा आदि शास्त्रविहित साधनों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है परन्तु यह ज्ञान प्राप्ति के अपरोक्ष साधन नहीं, परोक्ष साधन हैं जिनके द्वारा मानसिक चंचलता दूर होकर चित्त की एकाग्रता तथा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। मनुष्य ज्ञान का अधिकारी बनता है। तत्पश्चात् ब्रह्मवेत्ता गुरु के चरणों में जाकर श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि साधनों द्वारा उनके बताए हुये ज्ञान को वृत्ति में उतारता है तभी उस ज्ञान में दृढ़ निश्चय प्राप्तकर सहज ही जीवनमुक्त हो जाता है और इस आनन्दमय अवस्था में जितना अधिक स्थिर होकर लीनता का अभ्यास करता है, उतना ही अधिक आनन्द का अनुभव करता है।

॥ जगत है अद्भुद माया ॥

श्री दयाशंकर पाण्डेय "दयालु", कठेरुआ

सोच समझ कर चलो, जगत है अद्भुद् माया ॥

यहाँ सभी कुछ अपना,	स्वप्न रूप संसार,
अपना नहीं कोई है।	प्रेम बस करले प्राणी।
अपने में ही बसता,	टूट न नींद फूट जावे दुनियाँ,
अपना सोई है ॥ १ ॥	इक पल की है जिन्दगानी ॥ २ ॥

प्रेम भाव से मिलले सबसे; यह नवश्र है काया।
सोच समझ कर चलो, जगत है अद्भुद् माया ॥

उस सर्वेश्वर परमेश्वर घर,	पावन भाव पवित्र नेम कर,
सबको जाना होगा।	प्रभु का अर्चन करले।
स्वर्ग नर्क ये दो पहलू हैं;	व्यर्थ गवाँ मत अपना जीवन,
इक ही तो पाना होगा ॥ ३ ॥	अजब खजाना भरले ॥ ४ ॥

क्रोध, मोह, माया, मद त्यागे, सब पर करले छाया।
सोच समझ कर चलो, जगत है अद्भुद् माया ॥

कुछ भी साथ नहीं जाना है,	बड़े-बड़े जब गये तो तेरी,
केवल तू ही जायेगा।	ऐ मूरख! क्या हस्ती है।
तू सबमें मिल जा बस भाई,	सुनलो कहें "दयालु" भक्ति ही,
मजा तभी तो आयेगा ॥ ५ ॥	इस जीवन की कश्ती है ॥ ६ ॥

व्यर्थ विरोध बढ़ाकर जगमें, क्यों इत उत है भरमाया।
सोच समझ कर चलो, जगत है अद्भुद् माया ॥

चोर का स्वरूप

एक बार लक्ष्मी से भगवान् विष्णु ने कहा कि तुम पृथ्वी पर घूमती रहो, जिसे तुम्हारी जहाँ जरूरत हो वहाँ टोह लगाकर पहुँचा जाया करे। मुझे फुरसत नहीं मिलती इन मेरे भक्तों के कारण।

लक्ष्मी ने कहा, मैं नहीं तुम्हें छोड़कर जाऊँगी। मैं तुम्हें छोड़कर और कहीं नहीं जाना चाहती। कहीं वहाँ जाऊँ और कोई रोक रखे, कैद कर ले तो !

भगवान् बोले, "इसकी तू चिन्ता न कर। मेरे लिये रट लगाने वाले के यहाँ चली जाना। वह तुमसे प्रेम करेगा ही नहीं—जल्दी छुट्टी मिल जाया करेगी। यदि पकड़ी गई तो मैं तो हूँ तुझे छुड़ाने वाला !" लक्ष्मी गई, और जैसे ही गई उसे एक ने घेरकर पकड़ लिया और कैद कर लिया। लक्ष्मी बहुत दिन तक जब कैद रहीं तो उकता गईं। पुकारने लगीं—कोसने लगीं भगवान् को। लक्ष्मीपति भगवान् शीघ्र ही उसकी पुकार पर दौड़े आये। और उसे एक क्षण में मुक्त करके घूमने की छुट्टी दी। उस दिन से लक्ष्मी को भगवान् के वचन पर विश्वास हो गया। वह घूमती रहती हैं।

कभी-कभी फँसने पर जिस रूप में हो उसे शीघ्र छुड़ा देते हैं। उसे लोग तो कहते हैं चोर, और होते हैं वे भगवान्।

—स्वामी प्रकाशानन्द

FORM IV

1. Place of publication	112/234, Swaroop Nagar, Kanpur-2
2. Periodicity of its publication	Monthly
3. Printer's Name	Laxmi Kant Misra
Nationality	Indian
Address	121, Rail Bazar, Kanpur
4. Publisher's Name	Bhuprani Bhargava
Nationality	Indian
Address	7/134, Swaroop Nagar, Kanpur-2
5. Editor's Name	Laxmi Kant Misra
Nationality	Indian
Address	121, Rail Bazar, Kanpur.
6. Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital.	Akandprabha Trust

I, Bhuprani Bhargava, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Sd. Bhuprani Bhargava

अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र के विविध समाचार

केन्द्र की सर्वतोमुखी गतिविधियों में क्रमशः प्रगति हो रही है। इसके व्यापक प्रचार में सभी सदस्यों का हार्दिक सहयोग प्राप्त हो रहा है। इसके सुव्यवस्थित कार्यक्रमों से जनसमाज को अनुपम आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हो रहा है।

केन्द्र के परमाध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज के कई स्थानों में विशिष्ट कार्यक्रम सम्पन्न हुए। परबतपुर (जालौन), खरौंज (हमीरपुर) में यज्ञ-आयोजन हुए। पिरौंना (जालौन) के अखण्ड कीर्तन में भाग लिया। तिंदौली (हमीरपुर) में हो रहे ५ वर्ष के अखण्ड कीर्तन के समाप्ति समारोह में भाग लिया। मवई (फतेहपुर), टेढ़ा (हमीरपुर) के यज्ञ आयोजन में भी भाग लिया।

श्री स्वामी मनोहरदास जी महाराज द्वारा कानपुर में आयोजित वेदान्त-सन्मेलन में दिनाङ्क १७ से २१ फरवरी तक केन्द्र के परमाध्यक्ष महोदय तथा अन्य सदस्यों और प्रेमीजनों ने भाग लिया। सम्मेलन में आए हुए वेदान्तवारिधि श्री स्वामी हरिगिरि जी महाराज, श्री स्वामी प्रेमानन्द जी एम०ए० प्रभृति सन्तों ने केन्द्र का अवलोकन किया तथा इसकी कार्यविधियों की सराहना करते हुए इसकी प्रगति के लिए आशीर्वाद प्रदान किया।

केन्द्र की नवीन शाखा

करियारी (हमीरपुर) में श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज के तत्त्वावधान में केन्द्र की नवीन शाखा का उद्घाटन हुआ। शाखा के सदस्यों ने इसके विकास के लिए सभी प्रकार से सहयोग देने का निश्चय किया। शाखा के निम्नलिखित पदाधिकारी मनोनीत किए गए तथा अन्य सदस्य भी बने :—

१- श्री गंगादीन (अध्यक्ष)
२- श्री काशी प्रसाद दीक्षित ग्रामसेवक—मंत्री
३- श्री नन्दराम राजपूत—कोषाध्यक्ष
४- श्री सिद्धा—सदस्य
५- श्री लछमन "
६- श्री छंगा "
७- श्री विरंची "
८- श्री छविलाल "
९- श्री राम किशुन—सदस्य
१०- श्री वासुदेव "
११- श्री महीपत "
१२- श्री बैजनाथ "
१३- श्री राम गोपाल "
१४- श्री दीना "
१५- श्री दयानन्द "
१६- श्री केदारनाथ "

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी का कार्यक्रम

दिनाङ्क ८ मार्च से ७ अप्रैल तक

मार्च ८ से ९ — भगवन्तनगर (उन्नाव)
१०-१७ — कानपुर
१८-२२ — भटिण्डा (पंजाब)
२३-३१ — हिसार (पंजाब)
अप्रैल १ से ७ — दिल्ली

अखण्डप्रभा वेदान्त-विशारद तथा वेदान्त-प्रभाकर परीक्षाओं के लिए आवेदन-पत्र

अखण्डप्रभा द्वारा आयोजित इन परीक्षाओं के आवेदन-पत्रों के लिए अभी तक माँग आ रही है, अतः इसकी व्यवस्था-समिति ने यह निश्चय किया है कि इसके लिए आवेदन-पत्र ३१ मार्च, १९६५ तक स्वीकार किए जायेंगे, जिससे अधिक से अधिक लोग इसका लाभ उठा सकें।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा वेदान्त-परीक्षा'

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र — अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

Govt. Regd. No.
R. N. 6873/59

अखण्डप्रभा
मार्च, १९६५

रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक ७

शुद्ध सत्

साधारणतया हमारी दृष्टि अहंकारवश परिच्छिन्न और क्षणिक हितों में आसक्त रहती है; जिस समय हम अपनी दृष्टि को वहाँ से हटा लेते हैं और जगत्को ऐसे धीर–स्थिर और जिज्ञासु नेत्रों से देखते हैं जो केवल सत्य को खोजते हैं तो इसका सबसे पहला परिणाम यह होता है कि हमें अनन्त सत्, अनन्त गति, अनन्त क्रिया की एक ऐसी असीम शक्तिका साक्षात्कार होता है जो अपने आप को सीमा रहित देश और और सनातन काल में उडेल रही है। यह ऐसा सत् है जो हमारे या किसी भी अहंकार या अहंकारों की किसी भी समष्टि से अनन्तगुना महान् है। इस सत् के मानदण्ड के अनुसार कल्पों में होने वाली बड़ी से बड़ी सृष्टियां केवल एक क्षणकी धूल जैसी हैं। इसके अगण्य संकलन के सामने असंख्य कोटि जीव केवल एकक्षुद्र कीट-समूह जैसे लगते हैं। हम सहज प्रेरणावश ऐसी धारणा रखते हुए कर्म करते हैं, अनुभव करते हैं और अपने जीवन सम्बन्धी विचारों को बुनते हैं कि मानो यह अतिविशाल विश्व गति में केन्द्र बनाकर हमारे चारों ओर हमारे लाभ के लिए, हमारी सहायता या हानि के लिए क्रिया कर रही है, अथवा मानों हमारे आहंकारिक लालसाओं, उमंगों, भावनाओं और मानदण्डों का औचित्य सिद्ध करना उसका भी वैसे ही उपयुक्त कार्य है जैसे कि वे हमारे अपने मुख्य व्यापार हैं। जिस समय हमारी आँखें खुल जाती हैं उस समय हमें यह दिखायी देता है कि यह विश्व-गति स्वयं अपने लिए अपना अस्तित्व रखती है न कि हमारे लिए; इसके स्वयं अपने अति विशाल लक्ष्य हैं, स्वयं अपने पेचीदे और असीम भाव हैं, स्वयं अपनी बृहत् कामना या आनन्द है जिन्हें कि वह पूरा करने की चेष्टा कर रही है; उसके स्वयं अपने अति विशाल मानदण्ड हैं जिन्हें देखकर ही मनुष्य भयभीत हो जाता है और जो हमारी क्षुद्रता की ओर मानो सदय और व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ देखते हैं। परन्तु फिर भी हमें एकदम कूदकर अन्तिम सिरे पर नहीं पहुंच जाना चाहिए और न अपनी तुच्छता के विषय में अत्यधिक सुनिश्चित विचार बना लेना चाहिए। यदि हमने ऐसा किया तो यह भी अज्ञान का ही एक कार्य होगा और विश्व के महान् तथ्यों की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेना होगा। कारण यह असीम विश्व-गति अपनी दृष्टि में हमें महत्त्वहीन नहीं समझती।
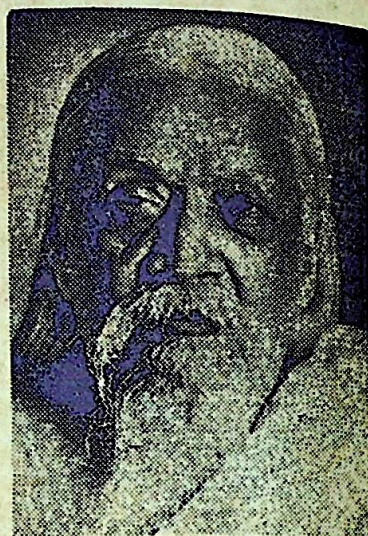
—श्री अरविन्द

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

अप्रैल, १९६५
वर्ष ६, अङ्क-८

अमृतत्व की प्राप्ति

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्ध-रहित है; जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी पर और ध्रुव (निश्चल) है उस आत्मतत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है ।

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

संस्थापक

ब्रह्मलीन श्री १।१०८ स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

संरक्षक

वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द

सञ्चालक

स्वामी परमानन्द

प्रकाशक

नूपरानी भार्गव

कार्यालय

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२

चन्दा

आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति [साधारण] ३७ पैं०
एक प्रति [सम्मेलनांक] ७५ पैं०
एक प्रति [विशेषांक] १.००

सूचना

समस्त प्रेमी ग्राहकों से नम्र निवेदन है कि जिन्होंने वर्ष ६ (१९६४-६५) का वार्षिक चन्दा अभी तक न भेजा हो वे शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। अगले वर्ष का विशेषांक अग्रिम चन्दा प्राप्त होने पर ही भेजा जा सकेगा।

व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

आगामी अंक में

विचित्र पंखा —स्वामी प्रकाशानन्द
सत्संग, साधन और फल —स्वामी चेतनानन्द विद्याकान्त
श्रद्धा के प्रदीप (कहानी) —जगदीश पाण्ड्या
माया का रथ —स्वामी निर्मल
गुणातीत —शिवशेखर द्विवेदी

'येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'
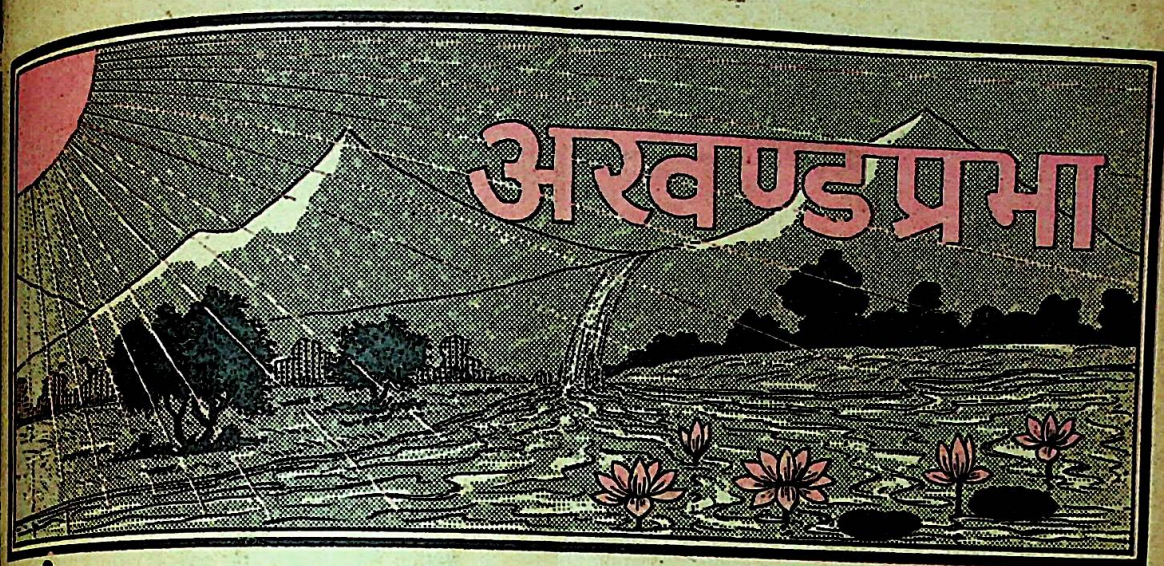
सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

वर्ष ६ } कानपुर, अप्रैल, १९६५ { अङ्क ८

ज्ञानी की स्थिति

वेदान्त–ज्ञान को जानने वाली एक स्त्री अपने एक हाथ में अग्नि और दूसरे में पानी लेकर किसी सड़क से जा रही थी। लोगों ने उसके पास आकर कहा — "एक हाथ में अग्नि और दूसरे में पानी ले जाने का तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?" यह प्रश्न करने वाला एक बड़ा धर्म–प्रचारक था। उसने उत्तर दिया — "मैं इस अग्नि से तुम्हारे स्वर्ग में आग लगाने और इस पानी से तुम्हारे नरक की अग्नि को ठण्ढा करने जा रही हूँ।"

जो व्यक्ति यह ज्ञान रखता है कि वह स्वयं ही स्वर्ग और नरक है, उसके लिए ये बाहरी स्वर्ग और नरक किसी भी प्रकार से आकर्षक या भयावने नहीं लगते। वह इनसे परे हो जाता है। इस जाग्रत अवस्था के तमाम भोगों का तो उस पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। यह जगत उसके लिए स्वप्न के समान मिथ्या लगने लगता है।

—स्वामी रामतीर्थ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

किसी साधक ने विनम्र होकर सन्त से प्रश्न किया—"भगवन् ! ऐसा कौन सा उपाय है कि जिसके अपनाने से तुरन्त आत्म–शान्ति प्राप्त हो जाय।" सन्त ने अत्यन्त साधारण ढंग से सहज ही संक्षेप में उत्तर दिया—"वैराग्य।" साधक का प्रश्न अब वैराग्य की ओर मुड़ गया। वैराग्य कैसा और किससे ? वैराग्य का चिन्तन साधक का मुख्य विषय बन गया।

जीवन में साधन की विभिन्न अवस्थाओं में वैराग्य का प्रश्न अवश्य ही सामने आता है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में मन की चञ्चलता को रोकने के लिए अभ्यास और वैराग्य का साधन बताया है। सभी स्थानों में वैराग्य की प्रधानता रखी गयी है। किन्तु यह देखने में आता है कि वैराग्य का रूप धारण करते हुए भी उसका जो फल मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाता। इसका कोई विशेष कारण अवश्य है। जिस प्रकार संसार के समस्त पदार्थों के अन्तर और बाह्य दो रूप होते हैं उसी प्रकार वैराग्य के भी दो रूप हैं। जिसका वैराग्य बाह्य स्थिति तक है वह कभी भी अपने स्थान से गिर सकता है और उसे ही अन्तर्द्वन्द्व का विक्षेप रहता है तथा सफलता भी नहीं दिखाई पड़ती। वैराग्य का बाह्य रूप धारण कर लेने पर लोक में मान–सम्मान, आकर्षण सहज प्राप्त हो जाता है। यही नहीं साधारण बातों में वैराग्य का प्रमाण–पत्र काम में लाया जाता है। रहन–सहन, खाने–पीने में वैराग्य का रूप प्रकट किया जाता है। इसमें भी लोगों को अपने साधन के प्रति एक सन्तोष मिलता है। इस प्रकार के वैराग्य में एक प्रकार की कृत्रिमता तथा दिखावा आ जाता है। इस दिखावे से बच पाना कठिन हो जाता है।

साधन की किसी भी अवस्था में दिखावा होना हानिकर है क्योंकि ऐसी दशा में व्यक्ति वह कार्य करता है जो उसके अन्तर में नहीं होता। इससे साधन में जो बनावटीपन आ जाता है वह दूसरे रूप में कर्त्तृत्व के अहं को भी जागृत कर देता है तथा वैराग्य के स्थान पर राग का ही उदय होता है।

वस्तुतः वैराग्य जब तक मनः स्थिति में नहीं होगा तब तक बाहरी दशा में कितना ही वह प्रकट हो जाय उससे साधक कभी प्रगति की ओर नहीं बढ़ सकता। जब मनः स्थिति का ही साधन हो तभी उसका कोई फल प्राप्त हो सकता है। मन की चञ्चलता को रोकने के लिए साधन किया जाता है तो मन के लिए ही वैराग्य होना चाहिए। मन में वैराग्य न होने से प्राप्त की हुई सभी प्रकार की वस्तुओं में रस लेने की ओर झुकाव रहता है। जो व्यक्ति स्वाद को जीतने के लिए बाहरी साधन–मात्र ही करता है और उसके लिए ऐसी वस्तुओं, जिनका स्वाद कई तरह की मिलावट का हो, का सेवन करता है तो उसका कोई फल नहीं मिलता। मन में स्वाद लेने की यदि लालसा है तो बुरे से बुरे स्वाद का भी वह रस पाने लगेगा। साधारण–जनों के स्वाद की दृष्टि से खराब लगता है वह उसके लिए अच्छा हो सकता है। इसलिए यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि वैराग्य के इस साधन में मनः स्थिति पर जोर दिया जाय। जो साधन मन के द्वारा सम्पन्न नहीं होता वह एक बाहरी ढाँचा मात्र है जिसमें कोई तथ्य नहीं है। जिसकी मनः स्थिति में वैराग्य का साधन है वह कारणवश यदि बाहर से कुछ गलत भी कार्य कर जाय तो उसकी कोई विशेष हानि नहीं होती। अतः बाहरी रूप को छोड़कर आन्तरिक अवस्था पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए।
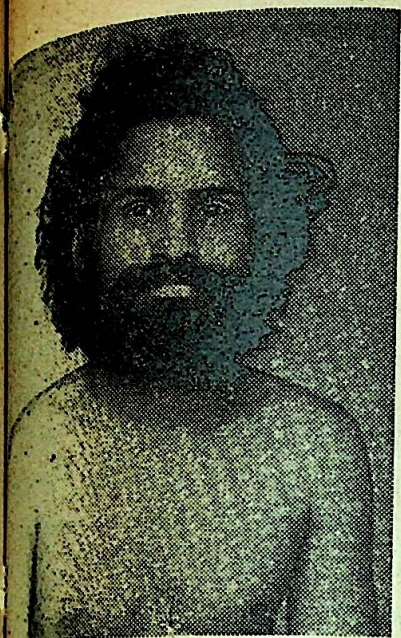
मेहनत फली नहीं

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी

प्रकृति के बाह्य परिवर्तन जितने भी होते हैं उनके पीछे एक ऐसा शाश्वत तथ्य अडिग बना रहता है जो अपने रूप को नहीं बदलता। कितनी ही आकृतियाँ बनें–बिगड़ें परन्तु अधिष्ठान रूप में स्थित एक तत्त्व एकरस ही बना रहता है। बदलने का सारा परिश्रम व्यर्थ ही सिद्ध होता है।

बचपन से अबतक मैं देखता चला आ रहा हूँ कि ...र स्वतः के विचार से और कई वार औरों के कहने ...भी–कभी अस्वस्थता शरीर की देखकर तो कभी-...शरीर की सुन्दरता, स्वास्थ्य की आशा में स्वस्थ ...में भी कुछ न कुछ व्यायाम, मेहनत, या श्रम करने ...उत्साहित हुआ– कुछ रोज किया भी परन्तु वह ...व्यायाम या श्रम केवल श्रम ही सिद्ध हुआ। कोई ...न निकला। क्योंकि कभी करने ही के दो चार दिन ...खार, या अस्वस्थता आ गई, तो कभी मेहनत करने ...में आ गई, तो कभी समय ही न मिला, कभी किसी ...कार्यों में अचानक लग जाना पड़ा। इस प्रकार आज ...यह अनुभव हो रहा है कि कोई भी मेहनत फली नहीं। ...ज्यों का त्यों !

...माने शरीर की सदा की कमजोरी, यह अब नहीं, ...से प्रतीत हो रही है। और जाने कब से उसे ...काल के मुख से बचाने में बीमारियाँ–क्षय से बचाने ...षधियाँ, व्यायाम, प्राणायाम, योग, मंत्र–तंत्र, टोने ...उपासना, कर्म–दान पूजा, सेवा प्रार्थना, ज्ञान अज्ञान, ...भौतिक विज्ञान, ग्रन्थाध्ययन, सलाह मशविरे, तीर्थ ...में, घुमाफिरी, न जाने क्या-क्या कर लिया होगा। ...कहूँ न शरीर ने ही हमारी मानी और न हमने ...की मानी। दोनों ही ऐंठकर अलग–अलग स्वतः की ...चाल, तरीके बचा–बचा कर आजतक परिणाम ...रहे हैं कि उसे बचते हुये भी हमारे श्रम में आना ...ता है और हमें श्रम करते शरम नहीं आती, परन्तु परिणाम बदलता नहीं। मेहनत सारी बेकार होती जा रही है।

काम क्रोधादि विकारों के पीछे–मन की अस्वस्थता देखकर इसे ठीक करने के प्रयत्न में 'यह करो यह न करो' की लिस्टें पढ़–पढ़ कर, सूचना पा पाकर कुछ अपने अनुभव से सोचकर, कुछ सफल असफलों से, अनुभव व सलाहें ले लेकर, यहाँ तक इन्हें मिटाने और मन को ठीक करने के लिए इन्हीं पर ये ही बार–बार प्रयोग में लाकर देखा (अर्थात् काम क्रोध पर खूब क्रोध किया, मदमत्सर किया, काम को मिटाने के लिए काम बढ़ाया, क्रोध किया, लोभ किया, मद किया, मत्सर किया) मन को ठीक करने, ठीक कराने, यहाँ तक की न मानता हुआ देखकर इसे मार डालने की और सबसे आगे इससे रो पछताकर गुस्से में मुँह मोड़ने तक की तैयारी करके देख लिया। परन्तु सारे उपदेश, पठन पाठन, प्रयोग, भक्ति आदि साधन फेल...। ये भी वैसे ही मन भी वैसा ही और हम भी...... वैसे ही रहे।

प्राण से कहा तू क्रम से ठीक चला कर। जब जितना चाहें जहाँ चाहें आ जाया कर, उधर जाया कर, और जब तक हम चाहें इस शरीर में रुके रहो, इसके लिए कितने योगी, कितनी गुफा में, कितने ग्रन्थ, कितने उपवास; और धौंकनी चलाई है; परन्तु यह मेरा बेटा, हर समय निकलने भागने की खिड़की (नाक) खुली है या नहीं यही ताकता रहा। और खुश इसीमें रहा कि दरवाजा हरदम खुला है। धोखा ही धोखा मिला परन्तु यह कब्जे में न

आये। और हम भी बड़ी युक्ति से ही इसे धोखा देते देख इसके धोखे से बचते रहे, धोखा नहीं खाये। नहीं तो इसकी तो यहां तक इच्छा कि इन्हें (हमें) भी साथ ले जायें, भागने की आदत इन्हें भी डाल दें। परन्तु इसका यह संकेत हम न समझ पाये कि यह व्यापक में मिलकर दौड़ने फिरने से छुट्टी चाहते हुए सदा का बद्ध कोठरी में रहते हुए थका हुआ-एकबारगी सर्वत्र व्यापक आकाश में पसरना चाहता है और हमें भी कहता है कि तुम भी ऐसे ही पसरो नहीं तो शरीर को तो मैं पसरा ही दूंगा। व्यापक होने पर ही तुम्हें मेरे जैसी चैन आयेगी यह ज्ञात होगा कि सबमें मैं और सब मुझमें हैं। यद्यपि यह देखता रहा कि जहां भी मैं जाता हूँ खाय जाता है। वहाँ से ये मुझे फिर से पकड़ लायेंगे ही—ये सर्वत्र रहते हैं—फिर भी ये भागने की आदत छोड़ो नहीं तो नहीं छोड़ा। और सारा परिश्रम विश्राम लेने की सोच में पड़ गया।

नाक से साँस लेकर बाहर छोड़े ही नहीं, या छोड़ी, फिर लें ही नहीं इन दोनों में भी प्राण हानि शरीर हानि का ही झगड़ा देखा। तो फिर यही सोचा भाई जब तक तेरी मरजी हो आ जब जाना हो जा। आये अतिथि को आने में स्वागत और जाने लगे तो बाहर तक पहुँचा आने के नियम को पालने का ही विचार कायम करना पड़ा।

मन को बहुत कहा मान जा। इस मन का मन जो (डोरा) इतना बड़ा कि इसके तंग (पतित हो जाने वाले अंग) नाम रूपों को पकड़ने के लिए जाने कितना-कितना दूर जाता रहा। परन्तु इसके ये पतंग तो कट-कट जाते रहे और फिर यह (मन) बिना सिर का (बुद्धि हीन) होकर सैरा बैरा से लाता रहता। कितने भय, कितने लोभ दिखाये। कितनी युक्तियाँ सोचीं, सुनीं, करके देखीं, प्राणायाम के द्वारा, चिन्तन के द्वारा, अध्ययन के द्वारा, कृपा का सहारा लेकर, मृत्यु का भय देकर, मौन होकर, बेहोशी, समाधि पागलपन की नकल करके, कितने-कितने प्रकार से देखा—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की कोठरियों में कितने बार भेज-भेज कर देखा— यह न मरा, न रुकके, न घटा बढ़ा, न क्षीण दुर्बल व हतोत्साही जान पड़ा। मानो यह चिढ़ता रहा यह कह कर कि "लो लो लो" यह सब करने के समय मेरे बिना तुम कर पाये? मुझे भी शर्म आई! ठीक तो कहता है यह इस प्रकार तो इसी को जिलाना हुआ!

किसी को कुछ कहा जाय और वह अपने ही हित कर्त्ता होने के नाते अपने ही हित में अपनी प्रतिष्ठा के लिये कुछ आज्ञा लेकर कार्य रत हो जाये और यह बात बताने वाला भूल जाय तो जैसा हितकारी ईमानदार नौकर कार्य रत रहता ही है चाहे उसे मना करो। तद्वत् ही शायद यह मन को यह ज्ञात है कि इनका मैं कोई नुकसान तो करता नहीं, इनकी आज्ञा से ही कार्य कर रहा करता रहा हूँ—तो भला यह फिर क्यों मान लें?

मदहोश, होकर कोई राजा या मदहोशी का बहाना करके कोई राजा यह देख ले कि बेहोशी या पागलपन के समय भी नौकर चाकर—सेवक सारे के सारे ईमानदार ही रहे तो फिर नौकरों पर क्या कसूर रखेगा? कुछ नहीं। मुझे भी यही लगा कि ये तो मेरे गाफिल होने में भी (अपने स्वरूप को भूल जाने में भी) मेरे ही अनुकूल हैं तो सारा इन्हें रोकने का प्रयत्न बेकार हुआ यही समझकर सकुचाकर बैठा। अब इन्हें रोकता नहीं।

मन ने कहा कि हरदम तुम्हारी डाट सहता रहा। चाहे कितनी भी दूर जाऊँ कभी तुमसे दूर, बाहर नेत्रों से ओझल तो हुआ नहीं। उसने जो कुछ कहा वही किया तो मैंने किया ही क्या? इसी कारण मुझे अपनी व्यापक दृष्टि का अनुभव कराने वाला (जहाँ भी वह गया वहाँ तक मैं हूँ यह बताने का अभिनय करने वाला यह मन) और कुछ किया ही नहीं (जो कुछ किया इन्द्रियों ने किया मैंने तो तुम्हें छोड़ा नहीं, कहीं गया ही नहीं) इस प्रकार निश्चय के कारण इसी कारण इतना निगरगट्ट या बेपरवाह हो गया कि कुछ भी कहा जाय—सुनता ही नहीं, यही मन का स्वरूप हो गया है।

मानो यह आपस में सलाह हो गई हो कि हम कुछ करें और दोष तुम्हें दें तो तुम्हें कुछ कहना नहीं और तुम कुछ भी करो हमें कितना भी दोष दो तब हमें कुछ कहना नहीं; इसी प्रकार हम पर आये दोष हम उस पर डाले हैं वह सह लेता है और उस पर डाले दोष हम पर आ जाते हैं तब हम कुछ नहीं बोलते। यही खेल हो रहा है। मानो यह समझने ही मन को समझाने सँभालने रोकने के

...व्यर्थ ही गये।

हमारे सिवा (मुझ साक्षी के सिवा) इस मन ने किसी भी अच्छे से अच्छे बताये जाने वाले मानव, ...व, स्थावर जंगम, वेदवादिकों को कभी जी भरकर, ...भरकर नहीं देखा। जब ध्यान में लगाया यह कहने ...कि सिवा तुम्हारे और कहीं अधिक नहीं रुक सकता ...कि और कोई रुकने वाली चीज है ही नहीं। मेरे ...पड़ते ही वह भी बहने लग जाती है। जैसे गिद्धों के ...से मुर्दा डबने लगता है, इसी से सारे साधन फेल हो गये।

और सदा सर्वदा तो मेरा कायम करने वाला मैं और चंचल कहकर वदनाम होने वाला मन दोनों ही एक एक को स्पष्ट देखते रहे अर्थात् सामने पास ही रहे और शिकायत करता रहा मैं कि यह चंचल है, बस, न ...यह जब समझ में आ गया—कैसा मुँह हो गया सारे परिश्रम बेशरम बना दिए।

बुद्धि को कितना समझाया कि 'यादकर' कितना ...किया कि यह सब जो दुःख देता है—भूल जा। ...न्तु चाहे जितना कहा, इसकी स्मृति वढ़ाने की कितनी ...की—औषधियाँ, ध्यान, एकाग्रता, प्रार्थनायें, ...राम करके तो खूब मेहनत कराके—हर प्रकार से देखा ...न्तु इसने एक ही रट रखी कि कुछ भी याद न ...या भुलाने के लिए कहा तो वह भी नहीं माना। ...कभी चाहे जिसे याद कर लेती—जो अनावश्यक ...न, व्यक्ति, परिस्थिति, समय में झमेला ही उत्पन्न हो ...। समय के कार्य अव्यवस्थित हो जाते। माने न ...करने में न भूल जाने में किसी तरह न माना।

शायद यह कहते हो कभी कहते हैं 'यादकर' कभी कहते हैं 'भूल' तो क्या करूँ? जिसे एक बार भूल जाऊँ उसी को कभी मंगा लेते हैं, याद करवाते हैं जिसे याद करूँ उसी को भूलने को कहते हैं। इनका दिमाग खराब हो गया है। इसी कारण यह सोचकर कि इनसे पूछना ही नहीं ये ही बीच में रोक—रोक कर नये—नये आर्डर दे दे कर घोटाला कर देते हैं। मेरा विश्व, मेरा कार्य, मुझे एक बार सौंप दें, या सौंप दिया है तो फिर रोकने की क्या आवश्यकता? मैं जब जिसकी आवश्यकता होगी ले ही आऊँगी। अब नहीं मानती। माने बुद्धि भी कन्ट्रोल के बाहर हो गई है। जब बुलाते हैं मिनिस्ट्री कॉल करते हैं सब के सब वाक आउट कर देते हैं। सारा कार्य डिसमिस अल्ला मुल्ला जी की दारू फुस। जैसे परिश्रम से निर्माण किया दशहरे का रावण एक ही मिनट में फट फटाकर नष्ट हो जाता है, तद्वत ही सारे परिश्रम भी रूठ गये कोई मन चाहा फल नहीं लाते।

बुद्धि कहती है, "जब ये कुछ भी करते हैं क्या मेरे बिना करते हैं? क्या ये जो मुझसे परेशान हैं या मुझको परेशान करते हैं तो मैं इनसे कभी भिन्न हुई हूँ? क्या विश्व मुझसे बाहर है? क्या इन रूपों का कभी अविनाशी रूप हो सकता है? अरे, इन्हें स्वयम् ईर्ष्या है कि मेरा अविनाशी सिवा मेरे और किसी को न हो जाय। अब हम किस तरह अधिक देर तक कहीं रुकें? जरा अधिक देर कहीं रुक जायें तो झट से इनकी शनीचरी नजर हो जाती है। और हम जो जरा कहीं खुद या किसी को टिकाकर खेलें तो यह सारा चौपट कर देते हैं। हमारा कार्य ये नहीं रहने देते हम इनको क्यों रहने दें? जरा हमें सबको अविनाशीपन की नजर से देखें और मौका दें तो फिर दिखायें कि हम क्या करते हैं। दम नहीं लेने देंगे हम। शम की बात ही क्या है? स्वयं बेचैन हो जाते हैं जो एक सरीखा हमारा संसार बना

> जब मेरे अन्दर भेद बुद्धि थी तब मैं बहुत सी चीजों से विकर्षण का अनुभव करता था, जब वह भेद बुद्धि साक्षात् दर्शन के अन्दर खो गयी तब मैंने सारे संसार में कुरूप और घृणित की खोज बीन की, किन्तु फिर मैंने उन्हें कहीं नहीं देखा।
>
> श्री अरविन्द

रहे। नवीनता की पुकार झट से होने लगती है। तंग आ गये हैं हम। इन्हें क्यों न तंग करें? ये अपना हट नहीं छोड़ते, हम क्यों छोड़ें?

एक बार ये हम सबको अपने समान होने का मौका दें फिर देखें कि हम क्या इनके साथ बिगाड़ करते हैं? करते हैं या नहीं? हम तो नाशवान, अस्थिरता के स्वभाव को धारण कराने के इनके हठ में हैरान हैं। हमें एक बार भी ये अपने समान देख लें हम भी और ये भी शान्त ही समझो। क्या इनसे हम भिन्न हैं? सदा साथ रहे। भिन्न स्वभाव के भी नहीं। फिर क्यों नहीं अपने समान देखते? मैंने यह सब देखा। सोचा, और अब अपने ही कर्मों पर शरम, पश्चाताप, और उनसे उपरामता हो गई है। जब सारे ही कर्म गलत सोचने से व्यर्थ हो गये तो कर्मों से श्रम, मेहनत, व्यायाम, प्राणायाम से यह देखकर कि ये फले ही नहीं या यह देखकर कि इनका जो इशारा था वह समझ में आ गया–अब ये फलें नहीं यह निश्चय करके इन्हें भी अपने को भी छुट्टी दे ली।

वास्तव में ये मुझसे कोई भी भिन्न नहीं थे। जब भिन्न नहीं थे तो मैं अपने में तो नहीं स्वप्न के समान वंरी रहा था? हो सकता है यही हो तो अब तो जाग गया हूँ। अब स्वप्न के उन किस कर्म व कर्म फलों के लिए किस पुरुषार्थ के लिये आग्रह करूँ? राग या द्वेष करूँ? क्योंकि किसी ने मुझे न मारा न घटाया बढ़ाया न कोई मुझसे भिन्न ही, न अन्य ही हुआ था।

कर्म करते, कर्म भी फला नहीं, कर्म को छोड़ दिया। कर्म मुझसे और मैं कर्म से मुक्त। कर्म करने की कल्पना से मुक्त कर्म मुझमें न रहें या मैं कर्मों में न रहूँ, यह भी छुट्टी। और ये ऐसे ही बने रहें या मैं ऐसा ही ज्यों का त्यों बना रहूँ, इस प्रकार के चिन्तन व पुरुषार्थ की गुलामी से भी मुक्त। जो था जैसा था, है ये ही।

परिश्रम भी समाप्त हुआ। परिश्रम करने से होने वाला श्रम भी और परिश्रम करने वाला, परिश्रम के इस विफल कहानी को पढ़कर, बिना परिश्रम के मैं ही बना रहा। क्योंकि परिश्रम के बिना केवल मैं ही रहता हूँ।

मेहनत छोड़कर भी बने रहने की यह युक्ति और न कुछ करते हुये भी सब कुछ बना देखने की कला जिसे चाहिए वह ऐसा ही सोचे तो ही बेड़ा पार है।

मेरा हुआ मुझी से प्यार मुझे डर किसका है?
मैंने किया सब मुझ में ही था, मैं साक्षी इन सब में था,
सब मेहनत गई बेकार, मुझे डर किसका है?
मना मना कर बहुत ही हारा, इन सबमें से हर इक हारा,
पर मैं ज्यों का त्यों कार, मुझे डर किसका है?
हुए परिश्रम सब सार्थक, समझ पड़ा निज रूप, सभी थक,
अब तो बड़ी बहार, मुझे डर किसका है?
बिगड़ गये सिर, किसको क्या है,
सँभल गये सब मुझको क्या है,
मैं पूरण सर–दार मुझे डर किसका है?
हुआ 'प्रकाश' यहाँ अब ऐसा, पूरण जो था जैसा तैसा,
अब क्या है दरकार — मुझे डर किसका है?

एक सन्त किसी मन्दिर में गया और बिना प्रणाम किए जब खड़ा ही रहा तो पुजारी कहने लगा :—'कैसा नास्तिक है जो प्रभु के सम्मुख झुकता भी नहीं।' सन्त हँसे और बार-बार हँसने पर जब पुजारी ने पूछा कि क्यों हँसते थे, तो उन्होंने कहा :— मुझे सन्देह हो रहा है कि क्या यह वही राम है जिसके सम्मुख पहुँचते ही यह अपना आसन छोड़कर तुरन्त सन्त चरण पकड़ता, पखारता था? आज इस पर भी कलियुग सवार हो गया है। — पुजारी सन्त चरणों में लुढ़क गया।

—स्वामी प्रकाशानन्द

मान और मोह से ऊपर उठो

श्री स्वामी निर्मल जी महाराज, अमृतसर
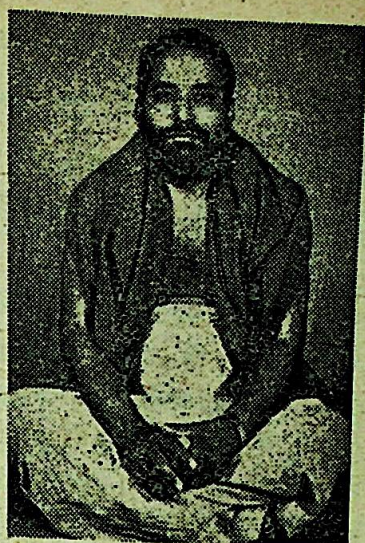
निजात्मस्वरूप गीता ज्ञान के वास्तविक जिज्ञासुओ! जिस गीता ज्ञान के वास्तविक रहस्यों का आप श्रवण कर रहे हैं, उन गीता के श्लोकों का अर्थ तथा भाव गुह्य हैं। उनके अर्थ और हैं और उनके राज़ और हैं, उनके सार पर दृष्टि जाए तो वह और ही है। भगवान की दृष्टि में यही सार रूपी धन था जो वे अर्जुन को देना चाहते थे। भगवान ने कोई बात भी अर्जुन से छुपा कर नहीं रक्खी। जैसे बजाजी बेचने वाला अनेक तरह के कपड़े खरीदार (ग्राहक) के आगे फेंकता है और देखता है कि इसको कौन सा पसन्द है? इसी प्रकार भगवान ने अनेक मार्ग अर्जुन को दिखाए कि कैसे अनादि काल से संसार-चक्र में चकराते हुए, उठने गिरने वाला जीव अनेक तरह की साधना करता चला आ रहा है उसके जमे हुए संस्कारों को यह महापुरुष कैसे तोड़ फोड़ करके उसे आगे बढ़ाते हैं। यदि जीव का हृदय आगे नहीं बढ़ाता तो वेद, ऋषि और मुनि पुकार कर कहते हैं:—

चरैवेति चरैवेति (आगे बढ़ो आगे बढ़ो)

जहां तू घर करके बैठा है उस नीचे की मन्ज़िल को त्याग। रुक मत, कदम का रुक जाना मृत्यु के तुल्य है। यहाँ फल देने के लिए ईश्वर के पास बहुत कुछ है। जिस क़दर तू इसे ठुकराता चला जाएगा उसी प्रकार मस्ती में डूबता चला जाएगा और अपनी ज़ात में तल्लीन होता जाएगा। नहाना और चीज़ है डुबकियां लगा कर नहाना और बात है। कल विचार कर रहे थे कि दर्शन, शान्ति, तथा विचार क्या है? कोइ दर्शन में अटका है, कोई ध्यान में, और कहीं कोई और। यह अटकने के मुक़ाम नहीं, ओ दीवाने! तू आगे बढ़, शान्ति से विचार कर, विक्षेप से विचार नहीं होगा। शान्ति की ऐनक से देख, शान्ति से बैठ कर तन्हाई में सूक्ष्म-दृष्टि से विचार कर। मुसाफ़िर कहीं अटकता है तो महापुरुष कहते हैं आगे बढ़ो और देखो अपने साध्य को वहां पहुँच कर। कबीर लिखते हैं —

> कबीर भला हुआ हर बिसरया सर से टली बलाय।
> जैसे थे वैसे भये अब कुछ कहा न जाय ॥
> मुख से जपूं न कर जपूं उर से जपूं न राम।
> राम सदा हम को भजे हम पावें विश्राम ॥
> राम मरे तो हम मरे हमरी मरे बलाय,
> सत्पुरुषों की बालिका मरे न मारिया जाय।
> हद्द टप्पे सो औलिया बेहद्द टप्पे सो पीर।
> हद्द बेहद्द दोनों टप्पे ता का नाम फ़क़ीर ॥
> हद्द हद्द करते सब गये, बेहद्द गया न कोय।
> हद्द बेहद्द मैदान में, रहो कबीरा सोय ॥
> मन ऐसा "निर्मल" भया जैसे गंगा नीर।
> पाछे लागा हर फिरे, कहत कबीर-कबीर ॥

यदि गीता का तात्पर्य योग होता, तो अर्जुन ज़रूर जंग के बाद योग करता। किसी पर्वत की गुफा में जाकर योगाभ्यास करता। यह उछलने कूदने की विद्या नहीं अर्जुन का उद्धार उछलने कूदने से नहीं हुआ। श्री कृष्ण ने मुट्ठी बन्द करके अर्जुन को ज्ञान दिया। यह विद्या तो केवल गुरु शिष्य की है। भगवान ने अर्जुन को अपना निज स्वरूप बताया।

> न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
> यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

जहां मेरे घर की हद्द में सूर्य की रोशनी नहीं जाती। जहां चांद की चांदनी और अग्नि के प्रकाश का

भी प्रवेश नहीं है ऐसा मेरा परम धाम है। ऐ जीव! जब बाहर के सूर्य चांद की रोशनी तुम्हें नहीं लुभायेगी तो मेरे धाम में आ जाना।

अर्जुन! बाहर के रथ की डोरी तो मेरे हाथ में दी है अब अन्दर के रथ की डोरी भी मुझे सौंप। अर्जुन शूरवीर था उसने अपने मन के रथ की डोरी भी भगवान के हाथ में सौंप दी। अब दो रथों की लगामें सारथी भगवान के हाथों में थीं। इसलिए विजय उसकी अवश्य ही थी।

ऐ मानव! तू भी सौंप दे अपनी मशीन कारीगर के हाथों में, काम करने दे उसी यन्त्री को, अपनी मर्जी छोड़, उसे अपनी मर्जी करने दे। अटक मत, पाप के रोड़े मत फंसा इसमें, नहीं तो यह चलने से रुक जायेगा, अगर इसमें छोटा सा भी विघ्न आ गया। जो पदार्थ तुमने छोड़े हैं उनके ख्याल को भी त्याग यह मार्ग तो त्याग का है। त्याग का तात्पर्य है आसक्ति को निकालना। जब तक तुम्हारी आसक्ति अपने कोट से नहीं निकलेगी तब तक तुम किसी को कोट नहीं पहना सकते। देहली में एक सेठ से भिखारी ने कुछ मांगा। सेठ ने जेब से पहले बड़े नोट निकाले फिर छोटे और तब उसके आगे इकन्नी निकाल कर फेंक कर चला गया। क्या यह त्याग है? नहीं। प्राणी का मन जब त्याग को समझता है तब आसक्ति का परित्याग करता है। मसला त्याग जब समझ में आ जाता है और पुकारने वाला पुकार कर कहता है कि मेरे धाम में पहुँचा हुआ वापिस नहीं होता। अपनी खुदी को छोड़ कर कतरा कुलज़म (सागर) में मिल जाता है, यह ख्याल न कर कि मैं इन्हें मरने न दूंगा और यह मुझे मरने से बचा लेंगे ऐसा नहीं, इसलिए भगवान कहते हैं कि निर्मान तथा निर्मोह हो कर मेरे धाम में आ। वह पावन पुनीत ज्ञानामृत पिलाने वाला कहता है, कि जिसने संग-दोष को जीत लिया है और जिसकी नज़र पदार्थों से उठ गई है वह इस धाम को प्राप्त करेगा लेकिन आक़ील अक्ल कहेगी कि दौलत के बिना जीना ही क्या है? लेकिन दौलत जो हाल करेगी वह हमसे कोई भूला नहीं है। दौलत बड़ी चीज है यदि तुझे तारीक़ी (अन्धकार) में न ले जाए, यदि यह सीढ़ी तुझे रोके न तो स्वर्ग तक तुम पहुँच सकते हो। सभी चीज़ें दौलत से आ सकती हैं परन्तु दौलत से मृत्यु का इलाज नहीं हो सकता। यह तुम्हें सीढ़ी बनकर लक्ष्य की तरफ बढ़ा भी सकती है:—

माया है दो भांति की दोऊ चलाय राह।
एक ले जाये नरक को एक स्वर्ग ले जाय॥

लेकिन यह माया मानसिक बीमारी से नहीं बचा सकती, धन के होते पहले से भी अधिक बीमार हो सकता है, सभी काम तो इससे नहीं होंगे। पैसे से मिठाइयाँ तो जितनी चाहे मजी खरीद लो परन्तु भूख नहीं खरीदी जा सकती। सुन्दर बिछौना पैसे से बन सकता है, परन्तु नींद पैसे से नहीं आयेगी, पैसे से नींद कम तो चाहे हो जाए यह मुमकिन है। यह दौलत सदैव तेरे पास रहे, ऐसा भी नहीं होगा। एक दिन अवश्य छिन जाएगी इसलिए दीवाना हो कर इसके साथ न खेल। चाँदी के सिक्कों की कीमत उस भगवान के सामने मत डाल। यूँ तो जिस-जिस पत्थर से ठोकर खाई है कभी उस पत्थर पर चढ़कर प्यारे को भी झाँका जा सकता है। उसी दौलत के नाते प्यारे की झलक भी देखी जा सकती है। हरिश्चन्द्र इसी नाते उसकी राह पर लुट गया था लुटने की भी कोई हद है। जिसके लिए दौलत को चिपटा है और आसक्ति रूप हो गया है इस आसक्ति को छोड़ कर निर्मान हो जा। गीता में तीन प्रकार का मान कहा है:—देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत। देशकृत मान इसे कहते हैं कि मैं पाँच फुट तीन इंच लम्बा हूँ पिछले साल चार फुट तीन इंच था अब एक फुट लम्बा हो गया हूँ इत्यादि। कालकृत मान इसे कहते हैं कि अब मैं तीस वर्ष का हूँ, मैं चालीस वर्ष का हूँ, मैं छोटी आयु का हूँ इत्यादि और वस्तुकृत मान उसे कहते हैं कि मैं तीन सेर का हूँ, डेढ़ मन का हूँ इत्यादि। इस प्रकार के अभिमान में जीव फँसा हुआ है इस बात को समझना है कि वह आयु तो शरीर की है। कोट सिलाया है, यदि वह फट गया है तो कोट ही फटा है।

ऐ आकिल! तेरा मेरे धाम तक पहुँचना तो क्या? तू समझ ही नहीं सकता, इसलिए अपनी अक्ल और समझ को मेरे सपुर्द कर। मेरे धाम तक पहुँचने के लिए तू मेरी शरण आ और मेरा ही दीवाना बन। अपनी होश की

[अ]दा। सोच समझ मत, और एकाग्र होकर केवल मुझ अकेले की शरण ले।

होश मन्दों से तो बढ़ कर हैं तेरे दीवाने।
कोई दर तक कोई दीवार तक आ पहुँचा हैं।
नाखुदा न बचायेगा तो बचायेगा खुदा।
अब सफीना मेरा मझधार तक आ पहुँचा है॥

है वहां की तैयारी कर अगर तू दिन रात इस देह के साथ ही चिपटा रहेगा तब भी काल थप्पड़ मार कर तेरे से छीन लेगा।

बर्क पहचानती है खूब पराया अपना,
चमन उजड़ गया, सैय्याद का घर बाक़ी है।

खुद की आवाज

श्री श्रीश कुमार शर्मा, बाँदा

[ए]क रंगीन दृष्टि कैसी है?
और अमृत की वृष्टि कैसी है?
भेद मन से निकाल के देखो,
ब्रह्म में लीन सृष्टि कैसी है?

×

गीत का राज़ वो नहीं समझे,
मन का ये साज़ वो नहीं समझे।
जिन्दगी से जो भागते हैं, वो
खुद की आवाज को नहीं समझे॥

घोर अँधियारे में कोई भी दूर का राही
लक्ष्य को ढूंढता नाकाम भी हो सकता है,
सत्य के दीप को मैदान में रख दो, वर्ना
यों उजाला कभी बदनाम भी हो सकता है॥

×

जला दो जहां फूंक दो आसमां पर
न हो स्नेह तो दीप जलता नहीं है।
बुराई में नफरत नहीं रास आती
बिना प्यार के दिल पिघलता नहीं है॥

खुदा वह है जो बचाने के लिए खुद आए। अब [सफी]ना (नाव) मझधार में आ गया है, यदि मल्लाह नहीं [पा]र उतार सकेगा तो खुदा ही स्वयं अब आकर बचायेगा। [सफी]ना में बैठ कर डर मत। अगर देह की आयु को भूल [गया] तो क्या हुआ। कोशिश करके चाहे सालों की डायरियाँ [अप]ने पास रख ताकि तू न भूल सके तुझे भूलना पड़ेगा। [परमे]श्वर को भूल कर पदार्थों को याद करने का जो हाल [हो]ता है फ़क़ीर समझते हैं कि अन्जाम अच्छा नहीं। जब [तू प]रिणाम को समझ लेगा फिर जानेगा कि तू क्या कर [रहा] है। तैयारी तो तू संसार चक्र में आने की कर रहा है और ख्याल करता है कि मोक्ष प्राप्त करूँ। जहाँ जाना

शाख बिजली को वो पसन्द आई।
जिस पै मेरा ही आशियाना था॥

कवि व शायर लोगों ने आकाश (आसमान) को अपना शत्रु माना है। बुलबुल चमन में आशियाना अपना बनाती है और आसमान से चमन में बिजली गिरती है। बुलबुल चमन की जुदाई सहन नहीं कर सकती और कहती है:-

हर शाख पर है बाग में सैय्याद की निगाह।
मतलब यह कि कहीं न मेरा आशियाँ रहे॥

गुरु लोग देखते हैं कि कहीं जीव विषय रूपी

टहनियों पर जी न लगा ले। कैसा यह संसार रूपी वृक्ष है जिसका उल्लेख गीता के पन्द्रहवें अध्याय में किया है:–

उर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दान्सि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

ऊँचे जड़ नीचे तने का एक शजर है बेजियाँ।
वेद जिसके बर्ग हैं, और जिसका मरहम वेद दां ॥

कहीं यह जीव इस वृक्ष की टहनियों पर अपना घर बना कर न बैठे। देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण के अभिमान में ही अपना सब कुछ न मान ले। भगवान् कृष्ण अर्जुन पर हर तरह से नज़र रखते थे, भगवान् कहते हैं:–हे अर्जुन! इन को छोड़ कर मेरी शरण में आ, अपने आप को मेरी शरण में ले आ।

आप लोगों ने सुना होगा कि काली कम्बली पर बिजली नहीं पड़ती क्योंकि इसको कभी भगवान् ने अपने कन्धे पर रखा था। जो चीज़ प्यारे को पसन्द आ जाए वह सब को पसन्द आती है। अगर तू उस प्यारे को पसन्द आ जाए तो तेरे लिए कोई बात मुश्किल नहीं, जिज्ञासु हृदय को मुर्शिद के सामने करके कहता है।

अपने करम पें ग़ौर कर
और मेरी बेबसी न देख

यदि अर्जुन कहे कि जंग करना मुझे पसन्द नहीं, यह मेरे रिश्तेदार हैं मैं इनसे नहीं लड़ूंगा, तो यह उसकी अज्ञानता है क्योंकि भगवान् तो उसे परम धाम में ले जाना चाहते हैं। जहाँ सूर्य, चाँद तथा अग्नि की भी पहुँच नहीं और जहाँ पहुँच कर वे सभी इसी के ही हो जाते हैं।

भगवान् कहते हैं, चाँद में भी अपनी लाईट(प्रकाश) नहीं बेगानी है और वह बेगानी चमक से चमकता है। तमाम जल्वागरी खाकी या नूरी सब में तू मुझे ही देख। जितनी भी तुझे विभूतियाँ नज़र आती हैं, इन सब में तू मुझे ही देख। यदि कोई चीज़ तुझे सौंदर्य से बाँध ले अगर उसमें तू मुझे देखेगा तो उलझेगा नहीं। खूबसूरती रखने वालों के साथ यदि तू मुझे देखेगा तो तू भूलेगा नहीं। जब मन की बागडोर गुरु लोगों के हाथ में सँभाल देता है तभी बात बनती है।

मन बेचे सद्गुरु के पास।
तिस सेवक के कारज रास ॥

तूने घर वालों के हाथों में अपने मन की बागडोर दी हुई है। उन्होंने जिधर चाहा है तुझे हाँका है। तू घर वालों को प्रयत्न करने पर भी प्रसन्न नहीं कर सकता। तू अपने मन की बागडोर रोज़े–रौशन के हाथ में रख। तू समझता है शायद रथ दूसरी तरफ न मुड़ जाए और घरवाले भूल जाएँ परन्तु ओ दीवाने! मत भूल उस आत्मा के आनन्द को, जिसके लेशमात्र आनन्द से सम्पूर्ण संसार आनन्दित हो रहा है। इस आनन्द प्राप्ति के लिए तू निर्मान हो जा। मान को त्याग दे और निर्गान हो। निर्मान का मतलब है कि मैं देह नहीं, यह नाम रूप, लम्बाई ऊँचाई तथा वज़न तो देह का है मेरा नहीं। तू देह का वज़न कम करना चाहता है या अपना? गीता का तात्पर्य निर्माण करने में है कि मैं देह नहीं, देह मेरी है। मेरा कोट है मेरी टोपी है लेकिन मैं कोट और टोपी नहीं हो सकता यदि तेरी खुदी का पाँव फिसल जाए तो ज़िन्दगी कुछ नहीं। डाक्टर इकबाल कहते हैं :–

तेरी ज़िन्दगी इसी से, तेरी आबरू इसी से।
जो रही खुदी तो शाही, न रही तो रूह स्याही ॥

सीप की कीमत मोती की वजह से है। अगर मोती सीप से बाहर आ गया तो सीप की कोई कीमत नहीं, सीप तो पर्दा है इसलिए अर्जुन तू मेरी शरण आ, मेरे धाम में आ, जहाँ जाकर जन्म मरण का चक्कर निवृत्त हो जाता है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

यद्गत्वा से तात्पर्य कहीं और जाने में नहीं। जो प्राण गमन करते हैं, जिन प्राणों में हरकत होती है उनका जन्म अवश्य होता है। ऐसा कोई ऊपर धाम भी नहीं है जहाँ उड़ कर जाना है। ज्ञानवान के प्राण गमन नहीं करते। जैसे गर्म तवे पर पड़ी हुई पानी की बूँद अपने कारण में लय हो जाती है। जब मानव यह समझ लेता है कि मैं आत्मा हूँ, और सर्वत्र इसी का ही पसारा है।

One in all and all in One.

इसे जान लेने से ही अज्ञान निवृत्त हो जाता है,

तो ऊपर को उड़ाने वाली कोई चीज नहीं रहती। प्रारब्ध वशात् जीवन का ढाँचा खड़ा रहता है। जब जंग खत्म हुई तो युद्धक्षेत्र में रथ से पहले अर्जुन उतरा, बाद में भगवान्, भगवान के रथ से उतरते हीं रथ भस्म हो गया। अर्जुन ने पूछा ? भगवन ! यह क्या ? भगवान कृष्ण बोले कि अर्जुन ! रथ तो पहले ही भीष्म के वाणों से भस्म हो चुका था, क्योंकि मैंने प्रतिज्ञा की थी कि रथ को युद्ध में हानि न पहुँचे इसलिए मुझे अपनी संकल्पशक्ति से राख किए हुए रथ को खड़ा रखना पड़ा। इसी प्रकार गुरु के ज्ञान से यह जिस्म रूपी रथ खाक हो जाता है और बाद में प्रारब्धवशात् कर्म करता, चलता फिरता खाता और पीता नज़र आता है। सारथी समझता है कि रथ मेरी नज़र में है।

देहली से मैं भाषण देकर आ रहा था कि एक आदमी ने कहा—स्वामी जी ! मेरी तरफ देखो ! मैंने कहा, होश से काम लो, यूं ही मेरे से नज़र न मिलाओ।

कहीं तीरे-नज़र से दिल न हो जाए हदफ़ देखो।
कलेजा थाम लो पहले तो फिर मेरी तरफ देखो॥

यह तो मर मिटने का स्थान है, यहाँ तो लोग सर से पावों तक बिक जाते हैं।

पगड़ी भूली, होश गया, यादे-सर गई

यह तो मर मिटने की विद्या है। यह तो मौत का घाट है। यहाँ आकर फिर शिष्य प्रश्न करता है कि जाना किधर को है। गुरु उत्तर देते हैं कि निर्मान होकर उस बात को छू और परमधाम को प्राप्त हो। परमधाम दूर नहीं अन्दर ही है। यही गीता का परम धाम है। इस ज्ञान को हल्क के नीचे उतारने से जन्ममरण का चक्कर मिट जाता है। मानव ! जाग, और प्रयत्न कर कि किस तरह इस धाम को प्राप्त किया जाए। रास्ते की रुकावटों को दूर करके उधर को लौट इस संसार रूपी होटल के पदार्थों में दिल न लगा और अपने लक्ष्य की ओर बढ़।

ॐ सह नाववतु ! सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु
मा विद्विषावहै।
ॐशान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

निन्दक और ज्ञानी

किसी देश में एक सन्त शहर से बाहर रहा करते थे। चारो ओर उनके त्यागमय जीवन की प्रशंसा होती थी। उनके लिए नित्य ही कोई न कोई भोजन दे आता था। किसी से वे अधिक बात भी नहीं करते थे। जब कभी कोई प्रश्न करता तो उसका समाधान संक्षेप में कर देते थे। उनके इस प्रभाव को बढ़ता हुआ देखकर एक दूसरे व्यक्ति ने अपने मान को बढ़ाने के लिए उनकी निन्दा करना प्रारम्भ किया। यह बात सन्त के कानों तक पहुँची। सन्त ने कहा 'ऐसे महापुरुषों के मुख से निकले हुए आशीर्वाद से मेरे जीवन का कल्याण ही होगा।' जितना वह सन्त की निन्दा करता उतना ही सन्त उसकी प्रशंसा करते। किसी भक्त ने पूछा—'भगवन्, आपकी जो निन्दा करता है उसके लिए आप कभी कुछ नहीं कहते।' सन्त ने सहज उत्तर दिया—'जिसका जैसा स्वभाव होता है उसके मुख से वही निकलेगा। जिसके हृदय में जिसका बीज होता है उसके सामने वैसा ही फल प्रकट होता है।' भक्त का समाधान हो चुका था। निन्दक और ज्ञानी का भेद भी उसकी समझ में आ गया।

—'चिन्मय'

अखण्डवचनामृत
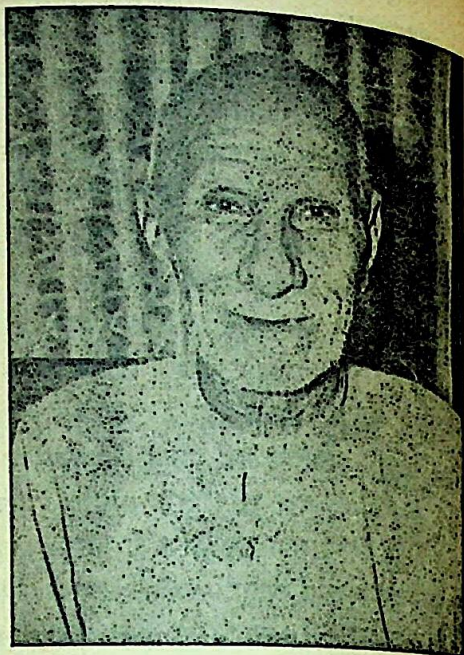
दृष्टि मिट्टी ही है । सब अवस्थाओं में कल्पना कर ली। मन रूपी कुम्हार खूब संकल्प से बना बना कर रखता गया। मकान का नक्शा भीतर ही बन गया, फिर कागज में आया, कारीगर ने बना दिया । मिट्टी के निकाल देने पर क्या कुम्हार की रचना रह सकती है ? कल्पना मात्र है । ऐसे ही तुम्हारा सबका निश्चय है । यदि समझकर कहोगे तो ठीक-ठीक कहोगे । 'मैं' के जानने की इच्छा करते हो। सद्गुरु बताते हैं कि यह किसी कर्त्तव्य से नहीं मिलता। कर्त्तव्य से जो बनता है वह बिगड़ता भी है । परन्तु जिसमें सब बनता बिगड़ता रहता है वह कभी नहीं बिगड़ता ।

× × ×

पूजा तीन प्रकार की होती है—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट । उत्तम तो आत्मा की है, मध्यम साधकों की और निकृष्ट प्रतिमा की। प्रतिमा को पूजना तो गुड़ियों का खेल है । गुड़ियों को खेलते-खेलते जब पति मिल जाता है तब गुड़िया माँ के घर रह जाती है, फिर नहीं खेलती । जब तक परमात्मा रूपी पति नहीं मिला तभी तक मिथ्या बनाए हुए भगवान् की पूजा है । अस्तु, जब ज्ञान हो गया तब ये सब साधन यों ही धरे रह जाते हैं । एक कक्षा से दूसरी में जाना होता है । यदि डाक्टरी पढ़ना है तो अलग ही पढ़ना होगा और पास भी हो गया तो बगैर डाक्टर के नीचे काम किए डाक्टर नहीं बन सकता । ऐसे ही जो परमात्मा से मिल चुका है, वही परमात्मा से मिला सकता है । जो खुद बँधा है वह क्या बँधे को छुड़ा सकता है । क्या अन्धा अन्धे को ले जा सकता है । जितने प्रवृत्ति वाले हैं वे छुड़ा नहीं सकते ।

× × ×

न कर्म करके, न धन, न प्रजा करके अमर पद की प्राप्ति होती है । केवल त्याग से हो सकती है । काषाय पहनने से सन्यास नहीं होता । मैं देह नहीं, आत्मा हूँ इसी का नाम सन्यास है। जो ब्राह्मण खुद से ब्रह्म को भिन्न जानता है वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं, मनुष्य मनुष्य नहीं । हमारा न कोई मजहब है, न कोई नवीन मत है । हम सनातन हैं । जो सर्व काल, देश में हो वह नित्य वस्तु सत् कहलाती है । सत् है तो असत् गया, चेतन है तो जड़ गया; जड़ को जानने वाला जड़ नहीं । अखण्ड है, पूर्ण है । यह विचार करो कि यह महान् से महान् कर्त्तव्य है । कुछ लोग कहते हैं कि करना कुछ नहीं बताते । अध्यात्म-ज्ञान का साधन ज्ञान ही है । सद्गुरु महात्माओं के पास रहकर ही ज्ञानी बन जाओगे । कंगाली चली जायेगी । कलक्टर, डाक्टर, मास्टर बनने का तो अधिकार है तो ब्रह्म विद्या का क्यों नहीं ।

संध्या की बावरी

श्री सैलानी, घाटमपुर (कानपुर)

नीलम के आँगन में
चन्दा से प्रेम किये
अँधियाले को न साज
अब न नाच, कर में साध तारों की थाल भरी !

सागर के इसी पार
जीवन से मान हार
हृदय क्षितिज से सुदूर
मस्तक में दे सिन्दूर सुख दुख मत आँक री !

कदम एक आगे फिर
कदम एक पीछे कर
एक स्वाँस आगे फिर
एक स्वाँस पीछे कर प्राणों के बीच में न घूम री !

रजनी का साथ किए
उषा सा हास लिए
पलकों को मूँद-खोल
रोकर दो ढार बूँद बनकर मत भाग री !

द्वैत भरे आँगन में
रुदन और गायन में
जल-थल-नभ-मध्य घूम
कारिख कर दिव स्वरूप नाटक मत खेल री !

जीवन औ' मरण लिए
आँधी-तूफान पिये
मंजिल विस्मरण किए
सपने की परियों से बार बार फँस न री !

दृग में भर नींद चले,
जड़ता की छाँह तले-
लेकर विश्राम भला-
बतला कब चैन मिली, सोते से जाग री !

नरता—सी स्वाँस अरी,
भूल चली घरी घरी,
मधु जीवन रात से न जोर, क्योंकि—
मत समझो मिलना मधु भोर री !

साधन पर चलने के लिए तुम्हारे अन्दर निर्भीक वीरता होनी चाहिए, तुम्हें कभी इस हीन, तुच्छ, दुर्बल और कुत्सित वृत्ति अर्थात् भय के कारण पीछे हटने के लिए विवश नहीं होना चाहिए।

दुर्दमनीय साहस, पूर्ण सच्चाई, सर्वांगपूर्ण आत्मदान—इस हदतक कि तुम कभी हिसाब या मोल-तोल न करो, तुम इसलिए न दो कि तुम पाओगे, तुम इस उद्देश्य से आत्मोत्सर्ग न करो कि तुम सुरक्षित रहोगे, तुम ऐसी श्रद्धा न रखो जिसे प्रमाण की आवश्यकता हो; इस पथ पर अग्रसर होने के लिए यह सब अनिवार्य है, बस यही तुम्हें सब विपत्तियों से बचने के लिए आश्रय प्रदान कर सकता है।

—श्री माँ

चेतन-दृष्टि से जीव और ईश्वर की एकता

श्री शिवमूर्ति ब्रह्मचारी

दीनता को त्याग नर अपनो स्वरूप देखि,
तू तो शुद्ध ब्रह्म अज दृश्य को प्रकाशी है।
अपने अज्ञान से जगत सब तू ही रचे,
सर्व को संहार करै आप अविनाशी है।
मिथ्या परपंच देखि दुःख जिन आनि जिय,
देवन को देव तू तो सब सुख राशी है।
जीव जग ईस होय माया से प्रभासै तोहि,
जैसे रज्जु सीप सर्प रूप है प्रभासी है।

मुझमें और ईश्वर में जो भेद दिखाई देता है वह यदि केवल भ्रान्ति ही है, अर्थात् मुझमें और ईश्वर में यदि कोई वास्तव में अन्तर है ही नहीं तो फिर जीव (मैं) अल्प अल्पशक्तिमान इत्यादि धर्मों वाला और ईश्वर सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान इत्यादि धर्मोंवाला क्यों गिना जाता है। ईश्वर और जीव की जो एकता की जाती है वह वाच्य अर्थ को लेकर नहीं अपितु लक्ष्य अर्थ को ही लेकर की जाती है और यह जो तुम्हें भेद प्रतीत हो रहा है वह सारा वाच्य अर्थ में ही है। अतः भाग त्याग लक्षणा से वाच्य अर्थ के विरोधी भाग (हिस्से) अविद्या और माया को त्याग कर (बुद्धी से मिथ्या समझ करके) उसके अविरोधी भाग को जीव साक्षी और ईश्वर साक्षी की अर्थात् शुद्ध चेतन की ही आपस में एकता की जाती है। इस प्रकार लक्ष्य अर्थ की आपस में एकता करने से तुम्हें यह शंका नहीं रहेगी क्योंकि ये सर्वज्ञ और अल्पज्ञ इत्यादि जो धर्म हैं वे सब अविद्या और भाषा की उपाधि से ही प्रतीत होते हैं। इन उपाधियों के हटने से ही वे विरुद्ध धर्म भी प्रतीत नहीं होंगे और फिर शुद्ध चेतन की आपस में एकता अनायास आसानी से ही समझ में आ जायेगी।

एक बात और भी है कि जैसे संस्कार हम अपने हृदय में डाल लेते हैं फिर वह बहुत ही पक्के ही पड़ जाते हैं उन्हीं संस्कारों के द्वारा हम सबकी नाप तौल कर लेते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने लिखा है कि "रजत सीप में भास जिम भ्रम न सकै कोउ टार।" इसीलिए वह भ्रम कैसा, चांदी के ऐसे संस्कार पहले से हमें ऐसा भास रहा है कि सीप में चाँदी है। इसीलिए वह भ्रम छूटने में सन्देह है।

वास्तविक धर्म

परमाध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज

विश्व एक जटिलतम समस्या है, जिसका समाधान एकमात्र स्वस्थ और सच्च धर्म ही है। धर्म ही इस जटिलतम समस्या को सुलझाने में समर्थ है। यह समस्या हमारे सामने है। आई हुई इस समस्या का बिना समाधान किये आनन्दपूर्वक जीना असम्भव है। आनन्द पूर्वक जीने की बात दूर रही, बिना इस समस्या के सुलझाये जीना ही असम्भव है, अतः नास्तिक हो या आस्तिक, नेता हो या महात्मा, यदि शान्तिमय जीवन चाहता है, वह भी एक दिन के लिये नहीं सदैव के लिये तो इस सच्चे धर्म की शरण तो लेनी ही होगी, परन्तु साधकों! जिज्ञासुओं! ध्यान रखना, ऐ नास्तिको! ध्यान देना, मैं धर्म की शरण आने

के लिये कह रहा हूँ, ढोंग की शरण आने के लिये नहीं, ढोंग की शरण आया हुआ मनुष्य विश्व की समस्या का समाधान नहीं पा सकता और विना समाधान पाये जीवित रहना असम्भव है। आप सोचेंगे कि तमाम धर्महीन विश्व में जी रहे हैं, तो धर्म के विना जीवित रहना असम्भव कैसे? मैं कहता हूँ उनके अन्दर घुस कर देखो वह जीवित नहीं हैं, वह तो दिन-रात मरते ही रहते हैं। उन्हें यह भय खाये जा रहा है कि हम मर जायेंगे, दिन में हर क्षण इसी चिन्ता से ग्रस्त मरते ही रहते हैं, यदि जीवित होते तो मरने का भय कैसा? यदि जीने की लालसा और मरने का भय है तो इसका अर्थ है कि अभी सच्चे धर्म की शरण नहीं ली। प्रिय पाठको, यह सुनकर दिल में लगता होगा कि अब हम भी सच्चे धर्म की शरण लेंगे। धर्म की शरण लेना कोई कठिन वात नहीं है किन्तु धर्म को पहचानना कठिन है। क्योंकि धर्म की कोई परिभाषा नहीं, धर्म स्वयं ही एक ऐसा सत्य है जो सबकी परिभाषा है, जिसके द्वारा सबका सही ज्ञान हो जाय वही धर्म है।

अतः धर्म द्वारा ही हम सबको पहचान सकते हैं। यह पूछने की आवश्यकता नहीं कि जीव को भी, या ईश्वर को भी। धर्म द्वारा सबको ही जान सकते हो, इसलिए मैं कहता हूँ धर्म स्वयं ही सबकी परिभाषा है, परन्तु इसकी निश्चित परिभाषा कोई नहीं, हाँ इतना कह सकते हैं कि जिसकी परिभाषा यह कर दे वह कभी गलत नहीं हो सकता। इसका कहा हुआ ही तीनों कालों सा सत्य होता है। धर्म स्वतः कालातीत है, यह कभी बदलता नहीं। फिर धर्म की परिभाषा हो सकती है! यदि कोई पूछे कि परिभाषा की क्या परिभाषा होती है तो यही कहा जायगा कि किसी भी वस्तु के जानने का निश्चित नियम जो कभी न बदले जो स्वयं न वदले और जिसे जो कह दे उसे भी उस कहने के वाहर न जाने दे, उसे परिभाषा कहते हैं। अधर्म स्वयं भी वदलता है और इसका कहा हुआ भी सत्य नहीं होता अतः अधर्म द्वारा किसी की भी परिभाषा सही नहीं हो सकती; किन्तु धर्म द्वारा अधर्म की भी परिभाषा होती है। अतः जो किसी का सही बोध कराये वही परिभाषा है और धर्म ही किसी भी वस्तु का सही बोध कराता है इसलिए धर्म स्वयं ही परिभाषा है, जिसकी परिभाषा कुछ नहीं। धर्म एक वहुत ही शुद्ध परिभाषा है जिससे सब सही-सही पढ़े जा सकते हैं। इसके द्वारा कहे हुए पर कलम नहीं उठाई जा सकती किन्तु धर्म स्वयं एक जटिलतम समस्या है और विश्व की तमाम जटिलतम से जटिलतम सयस्याओं का समाधान भी। धर्म समस्या और समस्या के हल करने का साधन तथा समस्या का हल भी स्वयं है। विश्व की सभी जटिलतम समस्यायें चाहे आध्यात्मिक हों या राजनैतिक सबको मूल से समाप्त कर सकता है। अध्ययन से पता लगेगा कि जहाँ कोई समस्या उलझी होगी वहाँ सच्चा धर्म नहीं होगा वहाँ होगा अधर्म, पार्टी, संकीर्णता, स्वार्थपरता। वर्तमान में सरकार और अध्यापकों के झगड़े का समाधान भी सच्चे धर्म को सामने लाकर किया जाय तो अभी हो सकता है। किन्तु अधर्म से, स्वार्थ और अकड़ से नहीं, यहाँ तो कुछ तनाव की वात सामने है। अतः जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान असाध्य से भी असाध्य बीमारी की दवा है धर्म, परन्तु इसका सेवन भी धर्म ही कर सकता है, अधर्म नहीं। अधर्म भी चाहता है कि स्वस्थ हो जाऊँ पर स्वस्थ नहीं रह सकता क्योंकि धर्म का सेवन अधर्म नहीं कर सकता। यदि अधर्म धर्म का सेवन भी करे तो अधर्म का ही सेवन होने लगेगा। अर्थात् अधर्म द्वारा ग्रहण किया हुआ धर्म भी अधर्म वन जाता है। इस प्रकार धर्म द्वारा ही धर्म का सेवन करने से स्वास्थ्य और सच्चे धर्म की प्राप्ति होती है। जिसमें न तो स्वार्थ-परता का कब्ज होता है न साम्प्रदायिकता का ज्वर और न संकीर्णता की टी० बी० और न दूसरे को देखकर गलत मार्ग में व्यर्थ बह जाने वाला प्रमेह रोग। बस वहीं होता है पूर्ण स्वास्थ्य और सच्चा धर्म जिसमें ही निहित है प्रसन्नता, चेतना, सच्ची प्रगति। ऐसा सच्चा धर्म ही विश्व की सम्पूर्ण जटिलतम समस्याओं का समाधान है और यही है भव रोग की अचूक दवा और यही है भवसागर को पी जाने वाला अगस्त्य ऋषि। तथा यही हैं रस्सी में भासित सर्प को समाप्त करने वाला वेदान्त-ज्ञान। यह धर्म ही है परमात्मा इसी में समर्पण होना ही है भव दुःखों को उखाड़ फेंकने वाली अनुपम भक्ति। यही है मानव का चरम लक्ष्य। धर्म एक दिव्य चमक है जिससे सब कुछ ठीक ही दीखता है। इसी का उद्घाटन करना है।

परमानन्द की प्राप्ति

आचार्य रामप्रताप शास्त्री, बांदा

मानव का चरम लक्ष्य है 'परमानन्द की प्राप्ति'। लौकिक सुखों में फँसा हुआ मानव वस्तुतः दुःख ही भोगता है क्योंकि उसके सभी सुख परिवर्तनशील होते हैं। सांसारिक सुखों को छोड़कर परम-आनन्द की प्राप्ति के लिए ही साधक को प्रयत्नशील होना चाहिए।

सब प्राणी आनन्द के लिए ही यत्न करते हैं—

"आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानि चित्"
—योगवासिष्ठ

लेकिन इस जीवन में आनन्द कहाँ? सर्वत्र संसार में दोष ही दिखायी पड़ते हैं।

"कास्ता दृशा यासु न सन्ति दोषाः;
कास्ता दिशो यासु न दुखदाहः।
कास्ता प्रजा यासु न भंगरत्वं,
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया?"
—योगवासिष्ठ

कौन सी ऐसी दृष्टि है जिसमें दोष न हो? कौन सी ऐसी दिशा है जिसमें दुख का दाह न हो? कौन सी ऐसी उत्पन्न वस्तु है जो नाशवान न हो? कौन सी ऐसी क्रिया है जो कपट से रहित हो? संसार में सर्वत्र दुःख नाश और कपट का साम्राज्य है। यहाँ पर कुछ स्थिर नहीं

"यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावर जंगमम्।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्म-स्वप्नसंगमसन्निभम्॥"
"अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसंचयाः।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरंगवदनारतम्॥"
वातान्तर्दीपकदीपक शिखा लोलं जगति जीवितम्।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थ श्रीर्जगत्त्रये॥"
—योगवासिष्ठ

जो कुछ यह स्थावर-जंगम (जड़-चेतन) जगत् दीख पड़ता है वह सब स्वप्न के समागम के समान अस्थिर है। बाल्यावस्था अनित्य है, युवावस्था अनित्य है, यह शरीर भी अनित्य है और द्रव्य का संग्रह भी अनित्य है। संसार के सारे पदार्थ निरन्तर तरंग के समान पूर्व भाव को त्यागकर दूसरे भाव को ग्रहण करते रहते हैं। हवा में रखे हुए दीपक की शिखा के समान चञ्चल इस संसार में जीवन है।' इस जीवन की बड़ी ही दुर्दशा है—

"कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम्।
भोगा भव महारोगास्तृष्णाश्चमृगतृष्णिकाः॥"
"आगमापायिनो भावा भावना भव बन्धिनी।
नीयते केवलं क्वापि नित्यं भूतपरम्परा॥"
—योगवासिष्ठ

सब लोग चिन्ता से कलंकित हो रहे हैं, सब बन्धु जन संसार की बेड़ियां हैं, जितने भोग हैं वे सब महा रोग हैं और तृष्णा तो केवल मृग तृष्णा है। सारे भाव आने जाने वाले हैं। विषयों की भावना ही संसार से सबको बांधती है। न जाने! यह सब प्राणी कहां ले जाये जा रहे हैं। इतना ही नहीं भगवान् राम से वसिष्ठ तो यहाँ तक कहते हैं कि

"तृष्णा लता कानन चारिणोऽमी शाखाशतंकाममहीरुहेषु।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं मनो मृगानो फल माप्नुवन्ति॥
पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्धया प्रकल्प्यते तात रसायनाभम्।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यान्ते यत्रातिरम्या विषमूर्च्छनैव॥
पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति।
तथैव लोकाः स्वविवेक हीनाः समेत्य गच्छन्ति कुतोप्यहोभिः॥
—योग०

तृष्णा रूपी लता के वन में विचरने वाले मन रूपी मर्कट कामना रूपी वृक्षों को अनेक शाखाओं पर भ्रमण करके काल क्षेप करते हैं और कहीं भी कुछ फल नहीं पाते हे। तात! पुत्र, स्त्रियाँ और धन, जिनको मनुष्य भ्रान्त-बुद्धि से रसायन तुल्य समझता है, कुछ भी उपकार नहीं करते अन्त में ये सबके सब विष द्वारा प्राप्त मूर्च्छा की तरह दुख देते हैं। जिस प्रकार वृक्षों के पत्ते उत्पन्न

होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार अविवेकी जन्म लेकर कुछ दिन बाद ही कहीं चले जाते हैं। काल का सब ओर साम्राज्य है। जैसे विशाल समुद्र को बड़वानल ग्रास कर जाता है, वैसे संसार में ऐसी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती जिसको यह सर्व भक्षी काल न खाता हो। लक्ष्मी से क्या ? राज्य से क्या ? शरीर से क्या ? मनोरथों से क्या ? थोड़े ही समय में काल इन सबको निगल जाता है। जीवन में सुख कहाँ है ?

"किं नामेदं बत सुखं येयं संसार सन्ततिः।
जायते म्रियते लोको म्रियते जननाय च ॥
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुखाय केवलम्।
जीवितं मरणायैव बत माया विजृम्भितम् ॥"
'सर्वस्या एव मर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम्।
मालिन्यं दुखमप्येव ज्वालाया इव कज्जलम् ॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यतां।
सुखेषु मूर्ध्नि दुखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥
संसार एवं दुखानां सीमान्त इति कथ्यते।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥'

—योग०

यह संसार का प्रवाह क्या सुखदायक है? यहाँ प्राणी मरने के लिए उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के लिए मरता है। सब सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं सुख केवल दुख के लिए है और जीवन मरण के लिए है। जैसे अग्नि ज्वाला का अंत कालिमा में ही होता है, वैसे सभी सुखाशाओं का अन्त दुखमय ही होता है। जितने वर्तमान पदार्थ हैं उन सबके सिर पर अरम्यता और सुखों के ऊपर दुख स्थित है। तब भला ! किसकी शरण स्वीकार की जाय ? यह संसार सम्पूर्ण दुखों का उद्भव स्थान है, इसमें पड़े हुए सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? अत्यन्त ही खेद की बात है; हम यह सब जानते हुए भी कि यह मायामय है। हम लोग मूढ़ हो रहे हैं। इस प्रपञ्च में विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों की क्या हैसियत है। व्यर्थ ही उनकी ओर आशा लगाये रहते हैं।

किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगा।
मुधैव हि वयम् मोहात्सं स्थिता बद्ध भावनाः ॥

पके फल के गिरने के समान मरण अनिवार्य है। आयु प्रतिक्षण इस प्रकार चली जा रही है जैसे कि हथेली पर से पानी। यौवन पहाड़ी नालों की तरह तेजी से भागा जा रहा है। जीर्ण स्थिति यह जीवन क्षण भंगुर है और विचार करने पर सारा व्यवहार केले के खम्भे की नाईं असार ही है।

बुद्बुदः प्रावृषीवाम्बु शरीरं क्षणभंगुरम्।
रम्भा गर्भ इवा सारो व्यवहारो विचारग. ॥

—योग०

किसको इस बात का पता नहीं कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति के क्षण में जो खुशी किसी व्यक्ति को होती है वह खुशी उस वस्तु की प्राप्ति के पीछे नहीं होती। जब किसी वस्तु की कोई इच्छा करता है तभी वह वस्तु उसको सुख देने वाली जान पड़ती है और जैसी सुखदाई वह इच्छा रहते हुए जान पड़ती है वैसी दूसरे समय— जब कि इच्छा न हो नहीं जान पड़ती। अतएव हमारी इच्छा ही वस्तु में सुख का आभास उत्पन्न करती है। अस्तु ! इस प्रकार चाहे त्रिभुवन का राज्य मिल जाय चाहे मेघ या जल के भीतर कोई प्रवेश कर ले, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति बिना शान्ति मिलना असम्भव है। यदि आत्म-ज्ञान हो हो जाय तो सारे दुखों का प्रवाह ही नष्ट हो जाय। जो सुख किसी खास बाह्य कारण से नहीं होता जो अनादि और अनन्त है, वही आत्मा का वास्तविक सुख है। चित्त की शान्ति पर जिस सुख का अनुभव होता है वह सुख—आनन्द इतना महान है कि वचनों से नहीं प्रकट किया जा सकता। जब हृदय से सभी इच्छाओं का परित्याग कर दिया जाता है तब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और जीव मन के गुणों को त्याग कर ब्रह्म के गुणों को ग्रहण कर लेता है। बस ! सब विषयों को नीरस समझकर, वासना रहित होकर स्थित होने का नाम निर्वाण है। जब मन चाञ्चल्य से निर्मुक्त हो जाता है तब उसको मुर्दा मन कहते हैं उसका ही नाम योग है-मोक्ष है। परम-आत्मा जब संकल्प मय होता है तब उसे मन कहते हैं। संकल्प-रहित होने पर वह मन नहीं रहता, उस स्थिति का ही नाम मोक्ष है।

जब जीव सब प्राणियों को आत्मा में और सब प्राणियों में आत्मा को देखता है और किसी प्रकार का भेद नहीं रखता तब जीव मुक्त हो जात है। कर्तृत्व और

भोक्तृत्व से मुक्त सब उपाधियों से छूटा हुआ, सुख–दुख के अनुभव से मुक्त होने पर जीव मुक्त हो जाता है। यदि सब विषयों का मन से त्याग करके वासनाओं से ऊँचे उठ जाए तो जीव उसी क्षण मुक्त हो जाता है, इसमें अणुमात्र भी संशय का अवकाश नहीं है। जिस–जिस विषय की इच्छा हो, उस–उस का त्याग करता रहे तो मोक्ष ही है।

"यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठत्युत्क्रान्त वासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥"
यत्राभिलासस्तन्नूनं संत्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवांग तन्मोक्षः कमेतावति दुष्करम्॥"

आत्म–ज्ञान की उत्पत्ति अपने ही यत्न और विचार से होती है। जब तक कि अपने आप ही अपने विचार द्वारा आत्मा का दर्शन नहीं किया जाता तब तक उसका ज्ञान नहीं होता।

"स्वयमेव विचारेण विचार्यात्मानमात्मना।
यावन्नाधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते॥"

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि संसार की सभी वस्तुओं के ऊपर इस दृष्टि से विचार करे कि इनमें से कौन सी सत्य है और कौन सी असत्य। निश्चय हो जाने पर असत्य का त्याग करे और सत्य का ग्रहण। शुद्ध विचार से ही आत्मा, आत्मा को जानता है। संसार की भावना विचार से ही लीन होती है। विचार के लिए चित्त को शुद्ध बनाना चाहिए। वसिष्ठ जी कहते हैं राम! बिना चित्त के शुद्ध हुए उसमें आत्मा का प्रकाश नहीं होता। मन शुद्ध हुए बिना न शास्त्र ही समझ में आते हैं और न गुरु के वाक्य, आत्मानुभव तो दूर की बात है। इसलिए–

"पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च।
तथा सज्जन संगेन नीयतां पुण्यतां मनः॥"

'हे राम! शास्त्रों के अध्ययन से, गहरे वैराग्य से और सज्जनों के संग से मन को पवित्र करना चाहिए। ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं है, न वह तर्क मात्र है। मुक्ति का अनुभव करने वाला ज्ञान आत्मा का अनुभव है और वह अनुभव वास्तविक होना चाहिए, केवल कथन मात्र नहीं। यदि हमारा जीवन हमारी उच्चतम दृष्टि के अनुसार नहीं है तो हमारा ज्ञान परिपक्व ज्ञान नहीं कहा जा सकता। केवल वाद–विवाद और प्रतियोगिता के लिए जीविका के लिए जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान ऐसा नहीं है जो मोक्ष पद को दिला सके। ज्ञानी वह है जिसका जीवन आध्यात्मिक जीवन हो। यदि जीवन को उच्च बनाने के लिए ज्ञान प्राप्त नहीं किया गया और केवल नाम, यक्ष और जीविका आदि के लिए ही ज्ञान प्राप्त करना तो एकमेव अज्ञान है। जिसका चित्त अचित्त हो जावे, जिसके मन की वासनाएँ सर्वथा शान्त हो जावें और जिसकी शीतलता बनावटी न होकर वास्तविक हो जावे, उसे ही ज्ञानी कहते हैं।

ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥"
अन्तः शीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोकयते।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥"
योग०

किन्तु सैकड़ों जन्मों में अनुभूत होने के कारण बहुत दृढ़ हुई यह संसार भावना बिना अभ्यास और वैराग्य के क्षीण नहीं हो सकती। किसी काम को पुनः पुनः करने का नाम अभ्यास है। बिना अभ्यास के आत्म-भावना का उदय नहीं होता। उसी का चिन्तन करना, उसी का वर्णन करना, एक दूसरे को उसी का ज्ञान कराना, उसी एक के विचार में तत्पर रहना ब्रह्म–ज्ञान का अभ्यास कहलाता है। जिनके अन्तः करण में वैराग्य बुद्धि का उदय हो गया है वही आत्म–ज्ञान के अभ्यासी हुआ करते हैं फिर एकतत्त्व के गहरे अभ्यास से मन तो सहज ही शान्त हो जाता है।

एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः।"

असत्य–दृष्टि के क्षीण होने पर और सत्य–दृष्टि के बढ़ जाने पर आत्मा निर्विकल्प और शुद्ध चित्त का आकार धारण कर लेता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सभी को अत्यन्त असत् समझ कर एक तत्त्व के ध्यान में निमग्न होने पर, हृदय में वासना क्षय के अंकुर का बीज आरोपित होने पर राग–द्वेष आदि की उत्पत्ति नहीं होती, संसार की भावना ही निर्मूल हो जाती है।

अहंभाव और जगत् के अत्यन्त ही असत् होने का अभ्यास किए बिना नित्यरूपा मुक्ति का अनुभव उदय नहीं होता।

जगत्भ्रान्तिमोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्ता सम्भवं बिना।
बुद्ध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केन चित् ॥

अस्तु ! इस माया चक्र की नाभि मन है। यदि इसको जोर से पकड़ कर स्थिर कर दिया जावे तो फिर संसार दुःख नहीं देता। यह संसार मन के ही सहारे पर चल रहा है। मन के जीत लेने पर सब कुछ जीता जा सकता है। चित्त की सत्ता से जगत की सत्ता है। जगत् की सत्ता से चित्त की सत्ता है। एक के अभाव हो जाने पर दोनों का अभाव हो जाता है और वह होता है सत्य के विचार से। चित्त के भीतर संसार इस प्रकार से है जैसे कि घट के भीतर घटाकाश। चित्त के नाश होने पर संसार इस प्रकार नहीं रहता जैसे कि घड़े के नाश होने पर घटाकाश नहीं रहता। वायु का चलना बन्द हो जाता है। वैसे ही मन के शान्त हो जाने पर प्राणों की गति भी रुक जाती है। चित्त के शान्त होने पर द्वैत और क्लेश सब लीन हो जाते हैं केवल एक शान्त और अविकार परम तत्त्व ही बच रहता है।

इस संसार रूपी खेती के खेत को चित्त कहते हैं। जब खेत ही न रहेगा तो खेती क्या होगी ? मन के विलीन हो जाने से दुःखों की निवृत्ति हो जाती है और सर्वगत ब्रह्म का अनुभव होने लगता है।

"मनो विलय मात्रेण दुख शान्तिरवाप्यते।
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥"

अधिक क्या ?

संसारस्यास्य दुखस्य सर्वोपद्रव दायिनः।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥

'इन सब उपद्रवों के पैदा करने वाले संसार रूपी दुख से छूटने का एक ही उपाय है, वह है अपने मन का निग्रह।' मन के शुद्ध और वासना रहित होने का सर्वोत्तम उपाय है परब्रह्म में चित्त को लगाना। इस मार्ग से वह कल्पना शून्य होकर आत्म भाव को प्राप्त कर लेता है।

"संयोजितं परे चित्तं शुद्धं निर्वासनं भवेत्।
ततस्तु कल्पनाशून्यमात्मतां याति राघव ॥"

संकल्प ही मन का बन्धन है, उसका अभाव ही मुक्तावस्था है। संकल्प-रहित होने से मनुष्य चित्त-रहित हो जाता है और चित्त रहित होने से मोक्ष का अनुभव होने लगता है। संकल्प के शान्त हो जाने पर संसार का सारा दुख जड़ से ही नष्ट हो जाता है। अपने अहंभाव का आरोपण करना ही संकल्प है और अहंभाव को शून्य करने का यत्न ही संकल्प-त्याग कहलाता है।

'उपशान्ते हि संकल्पे उपशान्त मिदं भवेत्।
संसार दुख मखिलं मूलादपि महामते ॥'

भोगों की इच्छा होना ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष है। जिस-जिस वस्तु से विरक्ति हो जाती है उसी-उसी वस्तु से मुक्ति मिल जाती है और शास्त्रोक्त साधनों से क्या प्रयोजन ? केवल इतना ही पर्याप्त है कि जो-जो वस्तुएं स्वाद देने वाली हैं उन सबको विष और अग्नि के समान भयंकर समझो। यदि प्राणी को हृदय से भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाय तो तुरन्त ही उच्च पद की प्राप्ति हो जाती है :-

'तावद्भ्रमन्ति दुखेषु संसारावट वासिनः।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नायान्ति देहिनः ॥'
योग०

जब तक संसार को नाश करने वाली भोगों के प्रति विरक्ति मन में उत्पन्न नहीं होती, तब तक परम-निवृत्ति कैसे मिल सकती है ! संसार-गर्त में पड़े प्राणी तभी तक घूमते रहते हैं, जब तक विषयों के प्रति उन्हें विराग नहीं होता। चित्त इन्द्रियों की सेना का नायक है। उसके जीतने से ही सब ओर जीत होती है। आत्मा ही अपना बन्धु, आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा द्वारा यदि हमारा त्राण नहीं होता तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥'

अतएव जो गति अभ्यास, वैराग्य और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्मा से प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है, जिसने कुछ समय के लिए भी आत्मा में स्थिति प्राप्त कर ली, उसका मन भोगों में नहीं लग सकता। आत्मानुभव ही हमारा पद है। वही हमारी अंतिम शान्ति-गति है। वही हमारा परम नित्य और कल्याणमय श्रेय है। उसमें

विश्राम पाकर फिर हमें श्रम में नहीं पड़ना पड़ता। यह वह अनुभव है जिसका न तो वर्णन हो सकता है और न जिसकी किसी और अनुभव से उपमा ही दी जा सकती है। उसको वही समझ सकता है, जिसको वह अनुभव हुआ हो या हो चुका हो। जिसको क्षण भर के लिए अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो गई है वह स्वर्ग के सुखों को भी उस अनुभव के आनन्द के सामने हेय समझता है, क्योंकि आत्मा का जो स्वाभाविक आनन्द है, संसार के सभी आनन्द उसकी कला मात्र हैं।

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित।"

जो यहाँ है, वह अन्यत्र भी है, जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।

जीवन सिद्धि का मार्ग

श्री स्वामी निजस्वरूपानन्द, सिद्धान्त-शास्त्री

जीवन की विकटता

जीवन सुनहरे प्रभात के साथ उठता है। अरुण सूर्य के साथ उभरता है। उसके तेज के साथ खिल-खिलाता है। उसकी गति के साथ दौड़ता भागता है। उसकी संध्या की छाया के साथ लम्बा होता है। और उसकी अस्तव्यस्तता के साथ निश्चेष्ट हो सो जाता है।

सुबह होती है शाम होती है।
उम्र यों ही तमाम होती है॥

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है, काम और अर्थ ही उद्देश्य है। सांझ सबेरा वाला ही लोक है। यदि यों ही श्रम और विश्राम का सिलसिला जारी रहता यदि यों ही काम और अर्थ का रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था, जीवन और जगत कभी प्रश्न के विषय न बनते। परन्तु जीवन इतनी सीधी सादी चीज नहीं। माना कि इसमें सुस्वप्न हैं, कामनायें हैं, आशायें हैं, उमंगें हैं, यह अत्यन्त रोचक अत्यन्त प्रेरक है, जी चाहता है इसके आलोक में सदा जीवित रहा जाय। परन्तु इन्हीं के साथ इसमें कैसे-कैसे दुःस्वप्न हैं, असफलतायें हैं, निराशायें हैं, विषाद हैं। वे कितने कटु और घिनौने हैं, जी चाहता है कि इनके आलोक से भागकर कहीं चले जायें।

कितना खेद है कि जीवन को कामना मिली पर सिद्धि न मिली। इस सिद्धि के लिए यह कितना आतुर है। इसके लिए यह कैसी-कैसी बाधाओं से गुजरता है। कैसी-कैसी वेदना, विपदा, आघात, प्रघात सहन करता है। परन्तु सिद्धि का कहीं पता नहीं चलता यदि भाग्य-वश कहीं सिद्धि हाथ में आयी तो वह कितनी क्षणस्थायिनी है कितनी दुःखदायिनी है। यह प्राप्ति काल में आकुलता से अनुरंजित है रक्षा काल में चिन्ता से संयुक्त है, और भोग काल में क्षीणता और शोक से ग्रस्त है। उसका आदि मध्य और अन्त तीनों ही दुःख से भरे हैं। इस सिद्धि में सदा अपूर्णता का भाव बसा है। यह सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी रंक है। रिक्त है, वाञ्छायुक्त है। यह जिन्दगी दुरंगी है। इसकी सुन्दरता में कुरूपता बसी है। इसके सुख में दुःख रहता है। इसकी हँसी में रोना है। इसके लालित्य में भयानकता है। इसकी आसक्ति में अरुचि है। इसके योग में वियोग है। विकास में ह्रास है। बहार में खिजां है। यौवन में जरा है। यहाँ हर फूल में शूल है। इतना ही नहीं यह समस्त लीला ललाम यह सारा उमंग भरा जीवन यह सम्पूर्ण साँझ सबेरे वाला लोक मृत्यु से व्याप्त है।

जीवन के मूल प्रश्न

क्या यही लोक है जिसमें कामना का तिरस्कार है, आशा का अनादर है और पुरुषार्थ की विफलता है। क्या यही जीवन है जहाँ हजार प्रयत्न करने पर भी सन्तुष्टि का लाभ नहीं और हजार रोकथाम करने पर भी अनिष्ट अनिवार्य है। क्या यही उद्देश्य है कि वेदना से सदा तड़पा करो और अन्त में क्षीण होते-होते मृत्यु के मुँह में चले जाओ। क्या इसी के लिए चाह और वेदना है, क्या इसी के लिए चाह और उद्यम है, क्या इसी के लिए पुरुषार्थ है, क्या इसी के लिए संघर्ष और प्राणों की आहुति है।

नहीं, यह मनचाहा जीवन नहीं। यह तो उस जीवन की पुकार है। अनुसंधान है, तलाश है। यह तो उस तक पहुँचाने का उद्यम है। उसे पाने का प्रयोग है। इसीलिए यह जीवन असंतुष्ट और अशान्त बना है। उद्यमी और पुरुषार्थी बना है। अस्थिर और गतिमान बना हो यह कहीं तृप्त नहीं, शान्त नहीं, स्थिर नहीं। यदि ऐसा है तो यह अपने पुरुषार्थ में सफलीभूत क्यों नहीं होता, यह पुरुषार्थ करते हुए भी अपूर्ण क्यों है, आशाहत क्यों है, खेद खिन्न क्यों है।

इसका कारण पुरुषार्थ की कमी नहीं, वल्कि सद्-लक्ष्य, सद्ज्ञान और सदाचार की कमी है। इसका समस्त पुरुषार्थ भूल-भ्रान्ति से ढका है। अज्ञान से आच्छादित है। मोह से ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस चीज की इसमें भावना वसी है, वह क्या है। कैसी है और कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पाने का क्या साधन है, उसे सिद्ध करने का क्या मार्ग है, इसलिए यह जीवन को उस ओर नहीं ले जा रहा है, जिस ओर यह जाना चाहता है, यह उस चीज की प्राप्ति में नहीं लगा है, जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्ग का अनुयायी बना है। मोह की गाँठ को और भी उलझा देने वाले उन रूढ़िगत पदार्थों का साधक वना है, जिन्हें सिद्ध करते-करते यह इतना अभ्यस्त हो गया है कि वे इसका जीवन ही वन गये हैं।

इस मूल अज्ञान और मोह के कारण इस जीव ने यद्यपि अपने वास्तविक जीवन को भुला दिया है। उसे बन्दी बनाकर अन्धकूप में डाल दिया है, परन्तु उसने इसे नहीं भुलाया, वह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्य के समान अन्तर्गुहा में से ही फूट-फूट कर अपना आलोक देता रहता है। इसके सुस्वप्नों में बैठकर इसकी आशाओं में आविष्ट होकर, इसकी भावनाओं में भरकर अपना परिचय देता रहता है। वह वेदनामयी भाषा में पुकारता है, मैं यह जीवन नहीं हूँ, मैं इससे भिन्न हूँ। मैं और हूँ, मैं तत् हूँ, परे हूँ, दूर हूँ, अन्दर हूँ। इसी प्रतीति से प्रेरित हुआ जीव वार-वार प्राणों की आहुति देता है। वार-बार मरता और जीता है, बार-बार पुतले को गढ़ता है, बार-वार इसे रक्त क्रान्ति वाले मादक रस से भरता है। बार-बार इसके द्वारों से लखता है। परन्तु बार-बार इसी नाम-रूप-कर्मात्मक जगत को अपने सामने पाता है। जिससे यह चिर परिचित है। बार-बार उसी को देख इसे विश्वास हो जाता है। निश्चय हो जाता है कि यही तो है, जिसकी इसे चाह है। यही तो है जो इसका उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यो ही यह धारणा धरकर यह नाम-रूप-कर्मात्मक जीवन में प्रवेश करता है, इसे फिर वही वाञ्छा, वही वेदना, वही दुःख आ घेरते हैं। फिर वही विफलतायें वही निराशायें वही अपूर्णतायें आ उपस्थित होती हैं। फिर वही भय, फिर वही शंका, फिर वही प्रश्न उठने शुरू होते हैं। क्या दुःखी जीवन ही जीवन है, क्या मरणशील जीवन ही जीवन है, यदि नहीं तो जीवन क्या है, उद्देश्य क्या है, फिर वही तर्क, वितर्क फिर वही मीमाँसा शुरू हो जाती है।

प्रश्न हल करने के विफल साधन

जीव ने इन प्रश्नों को हल करने के लिए मति-ज्ञान से बहुत तरह से काम लिया। उसके विश्वस्त साधनों पर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर बहुत तरह विश्वास किया। इन्हें अनेक तरह से घुमा फिरा कर जानने की कोशिश की। परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया- लौकिक जीवन ही जीवन है, शरीर ही आत्मा है। भोग रस ही सुख है। धन धान्य ही सम्पत्ति है। नाम ही वैभव है। रूप ही सुन्दरता है। शरीर बल ही बल है। सन्तति ही अमरता है। मान-यश ही जीवन है। कीर्ति ही

पुण्य है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ और बलवान बनाने, इन्हें ही सौम्य सुन्दर करने का प्रयत्न करना चाहिए : इसी में भलाई है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म करते हुए भोग रस लेना ही जीवन मार्ग है। प्रकृति ही जीवन मार्ग है, सुख दुःख स्वयम् कोई चीज नहीं ये सब बाह्य जगत के आधीन हैं। बाह्य जगत की कल्पना पर निर्भर है। जगत की दुःखदायी कल्पना करने से दुःख और सुखदायी कल्पना करने से सुख होता है। इसलिए जगत के दुःखदायी पहलू को भुलाने और उसके सुखदायी पहलू को परिपुष्ट करने की जरूरत है। इस तथ्य को ही तथ्य मान जीव ने उसे अनेक प्रकार से स्वीकार करने की कोशिश की। बुद्धि के सुझाये हुए अनेकों मार्गों से इसे सिद्ध करने की चेष्टा की। अज्ञान मार्ग को मार्ग बनाया। उद्योग मार्ग का आश्रय लिया। कर्म मार्ग को ग्रहण किया। यान्त्रिक मार्ग को अपनाया। विज्ञान मार्ग को धारण किया शिल्प कला मार्ग पर चला। संघटन मार्ग पर आरूढ़ हुआ। नीति मार्ग का अवलम्बन लिया। परन्तु इसके दुःख का अन्त न हुआ। प्रश्न ज्यों का त्यों बना ही रहा—जीवन क्या है ?

प्रश्न हल करने का वास्तविक साधन

इतना होने पर जीव को निश्चय हुआ कि सांसारिक जीवन इष्ट जीवन नहीं, यह जगत इष्ट लोक नहीं। प्रचलित मार्ग सिद्धि मार्ग नहीं। बाह्य बुद्धि ज्ञान यथार्थ साधन नहीं। जीवन–उद्देश्य, जीवन–लोक, जीवन–सुख, दुःख. जीवन–शुद्धि का मार्ग बाह्य जगत के

> एक ही प्रेम धन में होने पर 'लोभ' कहलाता है, परिवार में होने पर 'मोह', स्त्री में 'काम', माता–पिता गुरुजनों में होने पर 'श्रद्धा', परमात्मा में होने पर 'भक्ति'; निज में होते ही विश्वास आत्म–निष्ठा व मस्ती कहलाता है। इसी को ब्राह्मी स्थिति भी कहते हैं।
>
> स्वामी प्रकाशानन्द

आश्रित नहीं। बाह्य जगत की शक्तियों को भुलाकर उन्हें खुश करके उन पर विजय करके या उन्हें व्यवस्थित करके जीवन की सिद्धि नहीं हो सकती, सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवन कोई और ही चीज है। इसके जानने का साधन भी और ही है। बाह्य बुद्धि ज्ञान इसके लिए पर्याप्त नहीं।

यह जानने के लिए कि जीवन क्या है, यह जानना होगा कि जीव क्या होना चाहता है, और क्या होने से डरता है। इसका निर्णय अन्तर्ज्ञान से हो सकता है उस ज्ञान के द्वारा जो अन्तर्गुहा का प्रकाशक है, उस ज्ञान द्वारा जो अन्तर्लोक में बैठी हुई सत्ता को देख सकता है। उसकी वेदनामयी अनक्षरी भाषा को सुन सकता है। उसके भावनामय अर्थ को समझ सकता है। उस ज्ञान के द्वारा जो सहज सिद्धि है, स्वाश्रित है प्रत्यक्ष है। जिसे अन्तर्ध्वनि सुनने के कारण अध्यात्मवादी श्रुति ज्ञान कहते हैं। जिसकी अनुभूति श्रुति नाम से प्रसिद्ध है। इस ज्ञान को उपयोग में लाने के लिए साधक को शान्त चित्त होना चाहिए। अपने को समस्त विकल्पों और दुविधाओं से पृथक् करना पड़ेगा निष्पक्ष एकटक हो पूछना होगा, जीवन क्या चाहता है फिर निरक्षरी अन्तर्ध्वनि को सुनना होगा।

फिर जीवन क्या है—

जीव जीवन चाहता है। ऐसा जीवन जो निरा अमृतमय हो मरणशील न हो। जो स्वाधीन हो, किसी तरह भी पराधीन न हो, जो घनिष्ठ हो, आसक्त हो। किसी तरह भी जुदा न हो, जो निकटतम हो. अभ्यन्तर हो, लय हो, तनिक भी दूर न हो परे न हो, जो परिशुद्धि हो निर्मल हो, तनिक भी दोषयुक्त न हो, जो सचेत हो जाग्रत हो, ज्योतिष्मान जाज्वल्यमान हो। तनिक भी जड़ता, मन्दता अन्धकार जिसमें न हो, जो सुन्दर और मधुर हो, ललाम और अभिराम हो, स्वयं अपनी लीला में लय हो। जो सम्पूर्ण हो, परिपूर्ण हो। जिसमें कोई भी वाञ्छा न हो। जो सर्व भू हो। अनन्त हो। जो सत्य हो, शाश्वत हो। जो सबमें हो, सब उसमें हों। पर वह अपने सिवा कुछ भी न हो।

★

परमात्मा के दर्शन

श्री स्वामी दिव्यानन्द जी, ऋषिकेश

अब उस परमात्मा के लक्षण बतलाये जाते हैं। परमात्मा के लिए जन्म-मरण आवागमन और बद्धता तथा शेष कुछ भी नहीं है। परमात्मा निर्गुण निराकार अनन्त अपार नित्य निरन्तर सदा ज्यों का त्यों रहने वाला सब में व्यापक अनेक में एक है और उसका विवेक या विचार अतर्क्य है। वेदों और श्रुतियों ने परमात्मा की ऐसी ही स्थिति बतलाई है, इसमें सन्देह नहीं कि परमात्मा भक्ति से ही मिलता है, वह भक्ति नौ प्रकार की है, और उससे बहुत से भक्त पावन तथा मुक्त हो चुके हैं। उस नवधा भक्ति में सबसे बड़ी आत्म-निवेदन नामक भक्ति है, और उसका विचार स्वयं अपने अनुभव से करना चाहिए। अपने ही अनुभव से अपने आपको ईश्वर के चरणों में निवेदन करना चाहिए। यही आत्म निवेदन है, उसी प्रकार आत्मनिवेदन में स्वयं अपने आपको गुरु के चरणों में निवेदन करना पड़ता है। अपने आपको निवेदन करने वाले भक्त बहुत थोड़े होते हैं। जैसा कि रामायण में तुलसीदास जी महाराज ने लिखा है"—

"सो अनन्य अस जाहि की मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप रास भगवन्त" ॥

परमात्मा उन्हें तत्काल मुक्ति देता है। श्रोता पूछता है कि किस प्रकार आत्मनिवेदन करना चाहिए। उत्तर, आत्मनिवेदन का लक्षण यह है कि आदमी पहले यह समझे कि मैं कौन हूँ तब निर्गुण परमात्मा को पहिचाने। इस प्रकार परमात्मा और उसके भक्त की खोज करने से आत्म निवेदन होता है। भक्त समझता है कि ईश्वर सनातन या शाश्वत है, परमात्मा को पहिचानने में वह स्वयं भी उसी के समान या उसके तद्रूप हो जाता है। और ईश्वर तथा उसके भक्त में कोई भेद नहीं रह जाता। जो परमात्मा से विभक्त न हो, वही भक्त है, और जो बद्ध न हो वही मुक्त है। शास्त्रों के आधार पर हमारा यह कथन अयुक्त नहीं बल्कि युक्त है। यदि ईश्वर और भक्त का मूल देखाजाय तो दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता, सब ही एक परमात्मा है। जो इस दृश्य जगत से अलग है, परमात्मा में मिल जाने पर द्वैत भाव नहीं रह जाता, और ईश्वर तथा भक्त में भेद का कोई विचार नहीं रह जाता। आत्म निवेदन के अन्त में जो भेद भक्ति होती है, वही सच्ची सायुज्य–मुक्ति है, जो सन्तों की शरण में जाता है और अद्वैत का तत्त्व अच्छी तरह समझ लेता है वह फिर किसी प्रकार ईश्वर से अलग नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार समुद्र में मिली हुई नदी किसी प्रकार से अलग नहीं की जा सकती और पारस पत्थर के मिलने के कारण लोहा एक बार सोना होकर फिर काला लोहा नहीं हो सकता उसी प्रकार जो ईश्वर में मिल जाता है वह उससे किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता। भक्त स्वयं ही ईश्वर हो जाता है और उससे विभक्त नहीं हो सकता। जो समझ लेता है कि ईश्वर और भक्त दोनों एक हैं वही मोक्ष देने वाला साधु है। ईश्वर को भक्ति पूर्वक देखने से ही उसका ऐश्वर्य प्राप्त होता है। जैसा कि गीता में कहा है:—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां येजनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

सब कुछ भगवान द्वारा किया जा सकता है—हृदय और स्वभाव को शुद्ध, भीतरी चेतना को जागृत और पर्दों को दूर किया जा सकता है,—यदि कोई विश्वास और निर्भरता के साथ अपने आपको भगवान के हाथों सौंप दे। यदि कोई एक साथ ही पूर्ण रूप से ऐसा न कर सके तो भी जैसे-जैसे वह इसे करेगा वैसे-वैसे उसे आन्तरिक सहायता और पथ-प्रदर्शन प्राप्त होगा और उसके अन्दर भगवान् की अनुभूति बढ़ती रहेगी। यदि तार्किक मन कम क्रियाशील बन जाय और विनम्रता तथा समर्पण का संकल्प बढ़े तो इसे करना पूर्ण रूप से सम्भव हो सकता है। उसके बाद एकमात्र इस चीज के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति-सामर्थ्य और तपस्या की आवश्यकता नहीं रह जाती।

—श्री अरविन्द

अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र के विविध समाचार

केन्द्र के विविध कार्यक्रमों में इस बार विशेष रूप से दिनाङ्क २८ फरवरी को पूज्यपाद श्री स्वामी विद्यानन्द जी महाराज का सायंकाल सत्सङ्ग हुआ। श्री स्वामी जी ने सत्सङ्ग में केन्द्र के कार्यों का उल्लेख करते हुए उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए आशीर्वाद प्रदान किया।

श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज के भगवन्तनगर (उन्नाव) में कई स्थानों पर सत्सङ्ग आयोजन हुए। पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी मुकुन्द हरि जी महाराज द्वारा भटिण्डा (पंजाब) में आयोजित रजत जयन्ती महोत्सव में श्री स्वामी जी ने भाग लिया। वहाँ के जनसमूह ने भी स्वामी जी का अनुपम स्वागत किया। आसपास की जनता के अत्यधिक आग्रह करने पर श्री स्वामी जी को हिसार और दिल्ली का कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा। १९ से २१ मार्च तक रजत जयन्ती समारोह में भाग लेने के बाद भटिण्डा के सनातन धर्म मन्दिर द्वारा आयोजित सम्मेलन में २६ से २८ मार्च तक भाग लिया। इसी बीच रामामण्डी, रामपुराफूल मण्डी आदि विभिन्न स्थानों में सत्सङ्ग आयोजन हुए। दिनाङ्क ९ मार्च तक भटिण्डा और उसके आसपास के क्षेत्रों में सत्सङ्ग के विभिन्न कार्यक्रम निश्चित हुए हैं।

केन्द्र की नवीन शाखा

श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज के तत्त्वावधान में जगदीशपुर (ज़िला कानपुर) में केन्द्र की नवीन शाखा का उद्घाटन हुआ। शाखा के सदस्यों तथा अन्य जनसमूह ने इसका हार्दिक स्वागत किया। शाखा के निम्नलिखित पदाधिकारी मनोनीत किए गए तथा अन्य सदस्य भी बने :—

१- श्री प्रताप सिंह (अध्यक्ष)
२- " राम सिंह (मत्री)
३- " राम गोपाल सिंह (कोषाध्यक्ष)
४- श्री कीरत सिंह सदस्य
५- " राम सजीवन सिंह "

इसके अतिरिक्त अन्य प्रेमीजनों ने भी इसमें हार्दिक सहयोग देने का सङ्कल्प किया।

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज का ८ अप्रैल से ७ मई तक का कार्यक्रम

अप्रैल ८ से ९ – भटिण्डा

१० से १४ – स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज द्वारा आयोजित कनखल (हरिद्वार) का अखिल भारतीय वेदान्त सम्मेलन तथा अजरधाम महिला आश्रम सप्तसरोवर (हरिद्वार)

१५ से २० – महात्मा आनन्द सागर जी द्वारा आयोजित जम्मू में वेदान्त सम्मेलन

२१ से २२ – वेदांन्त-वारिधि श्री स्वामी हरिगिरि जी महाराज का काकीरा सन्यास आश्रम, बकलोह, जि० चम्बा (हिमांचल प्रदेश)

२३ से ३० – वेदान्त सम्मेलन, पठानकोट तथा अन्य स्थानीय कार्यक्रम

मई १ से ७ – कानपुर तथा स्थानीय कार्यक्रम

अखण्डप्रभा वेदान्त परीक्षा

अखण्डप्रभा वेदान्त प्रभाकर तथा वेदान्त विशारद परीक्षाओं के लिए आवेदन-पत्र केन्द्रों द्वारा १५ अप्रैल तक अवश्य आ जाने चाहिए। विशेष परिस्थितियों में परीक्षार्थियों से १५ मई तक भी आवेदन-पत्र स्वीकृत किए जा सकते हैं। परीक्षाओं में भाग लेने वाले प्रेमीजन शीघ्र ही आवेदन-पत्र के लिए लिखें।

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र – अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

Govt. Regd. No.
R. N. 6873/59
अखण्डप्रभा
अप्रैल, १९६५
रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक ८

अपने ही सामने झुको !

सत्य को दृढ़तापूर्वक कहो चाहे उससे किसी की हानि हो अथवा नहीं। दुर्बलता को प्राप्त न करो। यदि बुद्धिमान् पुरुषों के लिए सत्य बहुत है और उन्हें किसी ओर बहा ले जाता है, तो उन्हें जाने दो, जितना जल्दी उतना ही अच्छा। बालवत् विचार केवल बालकों और साधारणजनों के लिए हैं। ये सब बाल्यावस्था या जंगलीपन में ही नहीं हैं, बल्कि उनमें से कई उपदेशक मंच पर बैठते हैं।

गिरजाघर में ही ठहर जाना खराब है, जबकि तुम्हारा आध्यात्मिक विकास हो चुका है। वहाँ से निकलकर स्वतन्त्रता की खुली हवा में आकर मरो।

जितना विकास हो रहा है वह इस सापेक्ष जगत् में ही है। मानव रूप सबसे ऊँचा है और मानव सबसे बड़ा प्राणी है; क्योंकि यहीं पर हम इस सापेक्ष जगत् से पूर्णतः छुटकारा पा सकते हैं, वस्तुतः स्वतंत्रता पा सकते हैं जो कि हमारा लक्ष्य है। हम लोग ही केवल नहीं, लेकिन कुछ लोग पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए यह न देखो कि किस प्रकार के सूक्ष्म शरीर-धारी आते हैं, वे केवल सापेक्षिक स्तर पर हो सकते हैं और हमसे अधिक कुछ नहीं कर सकते; स्वतंत्र होने के लिए यही कुछ किया जा सकता है।

देवता लोग कभी बुरे काम नहीं करते इसलिए उन्हें न तो कोई बचाता है और न कोई दण्ड ही देता है। दण्ड (दुःख) हमें जगा देता है और हमारे स्वप्न को तोड़ने में सहायता करता है। इससे हमें इस संसार की अयोग्यता का पता लगता है और हमारे अन्दर स्वतंत्र होने की, इससे बचने की इच्छा जाग्रत होती है।

किसी भी व्यक्ति को उसकी बुराइयों से न जाँचो। जो कुछ भी उसमें गुण हैं वे उसके हैं और उसकी गलतियाँ मानव की सामान्य कमजोरियाँ हैं और उसके चरित्र का हिसाब लगाने में इनकी गिनती न करना चाहिए।

किसी के सामने दुर्बल होकर न झुको, केवल अपने आत्म-तत्त्व के सामने झुको। जब तक यह नहीं जान जाते कि तुम भगवानों के भी भगवान् हो, तब तक तुम्हारे लिए कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती।

—स्वामी विवेकानन्द

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

मई, १९६५
वर्ष ६ अङ्क ६

आत्मज्ञ की निर्भयता

जो पुरुष इस कर्मफल भोक्ता और प्राणादि को धारण करने वाले आत्मा को उसके समीप रहकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान के शासक रूप से जानता है वह वैसा विज्ञान हो जाने के अनन्तर उस (आत्मा) की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। निश्चय यही वह आत्मतत्त्व है।

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

संस्थापक

ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

संरक्षक

वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द

सञ्चालक

स्वामी परमानन्द

प्रकाशक

भूपराती मार्गव

कार्यालय

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२

चन्दा

आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति [साधारण] ३७ पै०
एक प्रति [सम्मेलनांक] ७५ पै०
एक प्रति [विशेषांक] १.००

आवश्यक सूचना

प्रेमी पाठकों की सेवा में 'अखण्डप्रभा' का अङ्क ६ प्रेषित किया जा रहा है। आशा है कि इसकी पाठ्य सामग्री पाठकों के लिए उपयोगी एवं रुचिपूर्ण होगी। नए वर्ष के विशेषाङ्क की तैयारी की जा रही है। विशेषाङ्क के लिए लेखक बन्धुओं से निवेदन है कि वे अपनी उपयोगी रचनायें शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

जिन प्रेमी ग्राहकों ने वर्ष ६ (१९६४-६५) का वार्षिक चन्दा अभी तक नहीं भेजा है, वे शीघ्र ही भेजने की कृपा करें अन्यथा विवश होकर उनके नाम वी०पी०पी० द्वारा पत्रिका भेजनी पड़ेगी।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

आगामी अंक में

दिल का दिल में —स्वामी प्रकाशानन्द
चिन्ता का बोझ —स्वामी निर्मल
मन बना सपेरा (कविता) —'सैलानी'
साधना पथ के पथिक से (कविता) —'मधुर'

अन्य रचनायें—
कहानी, लघु-कथायें, अखण्ड-चिन्तनधारा, पत्रावलि

'येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'
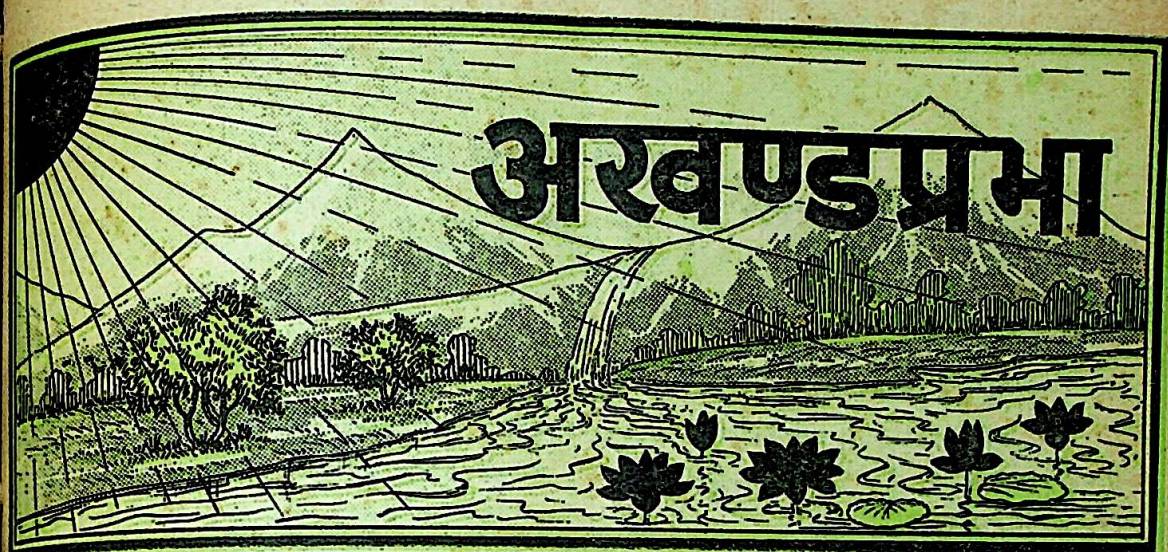
सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा. रत्न

वर्ष ६ } कानपुर, मई, १९६५ { अङ्क ९

सच्चा वेदान्त

दूसरों का अनादर करने का तात्पर्य है अपना ही अनादर करना। लघु-सत्ता को स्थान दो जो कि तुम्हारे अधिकार में है तो महान्-सत्ता तुम्हे स्वयं स्थान देगी। यह जल-स्तरीय विरोधाभास की तरह है कि जल की एक बूँद विश्व का संतुलन बना सकती है। हम वह वस्तु बाहर नहीं देख सकते जो हमारे अन्दर नहीं है। विश्व का हमसे वैसा ही सम्बन्ध जैसा कि बड़े इंजिन का छोटे इंजिन से है। छोटे इंजिन में खराबी आने पर हम सहज ही बड़े इंजिन के खराब होने का अनुमान लगा सकते हैं।

इस संसार में जिस कदम से लाभ मिला है वह प्रेम ही है। आलोचना से कोई लाभ नहीं हो सकता, हजारों वर्षों से इसका प्रयोग किया गया है। आलोचना या अनादर से कुछ काम नहीं बन सका।

एक सच्चे वेदान्ती को सबके साथ सहानुभूति रखनी चाहिए। अद्वैतवाद या पूर्ण एकतावाद वेदान्त का प्राण है।

—स्वामी विवेकानन्द

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

मृत्यु की साधना

भौतिक रूप में मृत्यु की विभीषिका से कोई बचा हुआ नहीं दिखायी पड़ता । कितना ही कोई जीवन के विभिन्न कार्यों में लगा रहे, मृत्यु अपने किसी न किसी रूप में सामने आती हुई दिखाई पड़ती है । प्रतिदिन की घटनाओं से इसका एक चित्र सामने प्रकट होता रहता है। यद्यपि सब जानते हैं कि एक न एक दिन सबको जाना है, इससे कोई आजतक बचा नहीं है फिर भी जीवन का हिसाब लगाए विना कोई मानता नहीं। मृत्यु का भय सर्वत्र छाया हुआ है । इसी भय की निवृत्ति के लिए लोग भगवान् की शरण में जाते हैं । अनेक प्रकार की कामनायें करते हैं । अन्तिम अवस्था में किसी प्रकार का कष्ट न हो, किसी प्रकार की विकृति न आए, यह लोगों का विचार रहता है । परन्तु ये विचार कदाचित् ही दृढ़ रह पाते हैं और अन्तिम अवस्था में व्यक्ति उसी भावना में बह जाता है जिसके लिए जीवन भर उसके अन्तर्मन ने कामना की है । अन्तर्मन की कामना-स्थिति प्रायः समझ में नहीं आती और बाह्य रूप में वह कामना की भ्रमपूर्ण स्थिति में फँसा रहता है । अन्तिम समय में जब कामना की वास्तविकता समझ में आ जाती है तब उसे सब धोखा ही लगता है । भौतिक रूप में मृत्यु की भयावनी स्थिति से जो भय प्रकट होता है वह पहले से ही एकत्र किया हुआ रहता है जो उस समय स्पष्ट हो जाता है ।

आध्यात्मिक साधकों के लिये मृत्यु की स्थिति पर बड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उन्हें अपने जीवन की साधना का इसे एक अंग बना लेना चाहिए । साधारण व्यक्ति तो मृत्यु की विचित्रता को देख कर उससे डरते, आतंकित और सशंकित होते हैं, परन्तु साधक के लिए यह स्वाध्याय और मनन का विषय है । महापुरुषों ने इस तथ्य पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही रूपों के लिए साधक यह विचार करे कि इनकी वस्तु-स्थिति क्या है और इनका 'मैं' से क्या सम्बन्ध है ? जीव अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिस रूप में प्रयत्नशील होता है और अबाध गति से एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रवेश करना पड़ता है उसमें मृत्यु की वास्तविकता को पहचानना अत्यन्त आवश्यक है। गीता, उपनिषद् आदि के प्रेरक वाक्य तो जिस रूप में आत्म-तत्त्व की व्याख्या करते हैं उनसे बहुत कुछ मृत्यु के सम्बन्ध में पता लगता है । परन्तु सब कुछ जानते समझते हुए भी जब मृत्यु का रूप प्रत्यक्ष होता है उस समय वह सारे विचार भुला बैठता है, इसके लिए उसे पहले से ही मृत्यु की उपासना में संलग्न होना चाहिए जिससे वह अपने साधन काल में ही इसके भय से निवृत्त हो सके । इसके जब कभी अवसर आयें उस समय अत्यन्त सावधान होकर साधक दृष्टि से चिन्तन करे तथा आत्म-निष्ठा की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। जिस समय आत्म-स्थिति में दृढ़ता प्राप्त हो जायगी उस समय वह मृत्यु के भय से पूर्णतः निवृत्त हो जायगा । साधक के लिए मृत्यु-भय की निवृत्ति आत्म-ज्ञान से ही हो सकेगी। इसी के लिए उसे निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

★

विचित्र-'पंखा'

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द
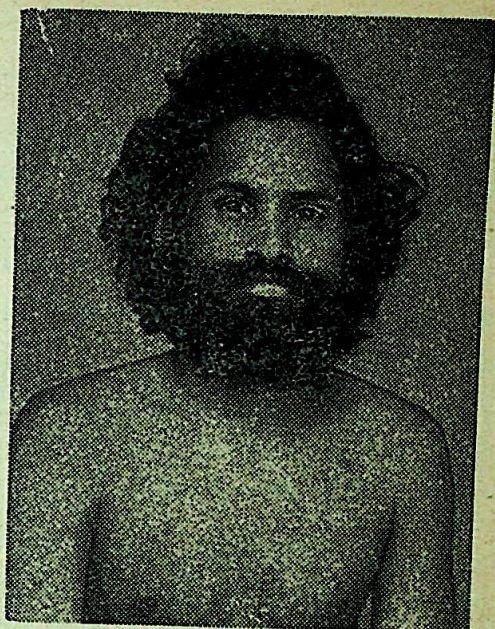
इस प्रकृति के विभिन्न रूप अपने गुणों में निरन्तर ही ...र्तन कर रहे हैं। कोई कितना ही उनको बांधना चाहे लेकिन ...नकी गति में कोई अन्तर नहीं आता। हां, यदि लाभ उठाना ...हे तो प्रकृति के ये रूप उसके लिए लाभकारी भी सिद्ध हो ...कते हैं। मन का वास्तविक साधन भी इसी रूप में हो ...कता है।

एक दिन थका मांदा यह शरीर कलकत्ते में (...हरे हुवे) धर्मशाला में आया और पंखे को चला करके ...रा आराम करने के बहाने आसन पर लेट गया। ऊपर ...घूमने वाला पंखा चलता रहा। विचार करता हुआ ...छ-कुछ निद्रा भी आने लगी। थोड़ी देर बाद सो भी ...या। उठकर देखा तो पंखा चलता ही था और......और ...कदम पंखा मानो बोलने लगा......

तुम जागो या सोओ मैं चलता रहूंगा। तुम्हारे ...शारे पर चलने वाला (चला करके ही चलने वाला) मैं ...ब तक तुम बन्द नहीं करोगे चलता ही रहूंगा। चाहे ...तने चक्कर लगाऊं तुम्हारे लिए और तुम्हारे ही पास ...खा रहने में कुछ थकावट नहीं है यदि तुम प्रसन्न हो। ...म मुझे देखो या न देखो मैं तो दिये हुए कार्य को करता ...रहूंगा—चाहे याद रखो या भूलो।

यदि मैं चलता ही रहूं और तुम्हारी निद्रा या ...गृत के किसी भी कार्य में सोने, बोलने खाने पीने आदि ...—यदि तुम्हारे जाने अनजाने सहयोगी ही बना रहूं ...रोधी न रहूं तो मेरा चलता रहना तुम्हारे लिए क्यों ...क्षेप का कारण होना चाहिए ?

यदि मैं अपनी शिकायत तुमसे नहीं करता तो ...म मेरी क्यों करते हो ? मैं तो तुम्हारी इच्छा—आज्ञा ...के बिना न चलना न रुकना, न धीरे से न शीघ्रता ही कुछ ...रना जानता हूं। जो कुछ है तुम्हारे ही इशारे में है। ...ब यह विकट है कि चलता मैं दिखाई देता हूं परन्तु मैं ...जानता हूं कि इसमें तुम्हारा इशारा ही चल रहा है। मेरे साथ तुम्हारा इशारा ही मैं याद रखता हूं जैसा दे दो। न उससे ज्यादा न कम चाहे आप याद रखें या न रखें परन्तु आपके इशारे से ज्यादा कम मेरे पास कुछ भी नहीं है।

मैं तीन पत्तोंवाला दिखाई देता हूं परन्तु जब तीव्रता से चलता हूं तो एक फूल के समान या एक महीन पारदर्शक झालर के सदृश भी बनता हूं जो केवल बनता कुछ नहीं तुम्हारी नजर का ही वह प्रताप हूं। मेरी सारी दौड़ की गिनती तुमसे बाहर नहीं है। तुम्हारी नजर में मेरी सारी दौड अंकित है। तुम्हारे में ही मेरा हर स्पन्दन है। मैं जहाँ तहाँ तीन ही पत्तों वाला हूं। तुम्हारी नजर की क्या कहूं-मैं चाहे जितना शीघ्र दौड़ूं तुम मुझे और मेरे इस उस पार तीनों को देख लेते हो।

भोजन को बनाना सुरक्षित, ठंडा, गरम, रखना, भोजन के समय हवा देना गरमी में ठंढक देना आदि सब कुछ जो भी करता हूं तुम्हारे ही लिए करता हूं। इतने पर भी मुझे क्या मिलता है पूछो तो कुछ भी नहीं सिवा घूमने के। मेरी थकावट को कोई नहीं देखता। अपनी थकावट को सब कहा करते हैं। मुझे आराम कभी नहीं। आप के दिल में ठंढक न हो तो उसकी सजा मुझे मिलती है ? आपके दिल में ठंढक (चाहे बाहर या भीतर से) हो जाने पर आप मुझे देखते भी नहीं।

जब आप के किसी कार्य में बाधा नहीं देता तो मैं तीन पत्रोंवाला रहूं या चार इससे क्या मतलब ?

ये तीनों ही पत्ते यदि एक गति में शीघ्रता से न

चलें तो आपको किसी भी प्रकार से आराम नहीं होगा। एक भी पत्ता जरा भी देर को बीच में आराम नहीं लेता। चलेंगे तो तीनों ही एक साथ नहीं तो तीनों बन्द। हम तीनों का आपस में मेल है, एकेक के पूरक हैं। न कोई बड़ा न लोटा, सब बरा बर। न किसी की अधिक कीमत न किसी को कम।

तीनों ही हम एक ही में सम्वद्ध (fix) रहते हैं। वह यदि चलता है तो ही हम तीनों चलते हैं। माने जाते हैं हम चलते हैं यही तो हमें अखराग है।

चाहे किसी प्रकार की हम अवस्था में रहे-स्थिर, तीव्रगामी या अति तीव्र आपके ही सामने आपको ही देखते रहते हैं। और जिसमें हम रहते हैं वह भी आपकी ही आज्ञा में रहता है।

कभी आप हमें अपने लिए कुछ आज्ञा देते हैं और उसमें संलग्न होने पर एकदम आपको ही हमारा वह कार्य अखरने लगता है, उस समय हमें आपके लिए जाने कैसा लगता है–कुछ रोष कुछ आश्चर्य और कुछ भय भी। परन्तु फिर भी मुख से कुछ भी नहीं कहते–सोच लेते हैं, कैसे भी हैं तो ये हमारे और हम इसके। अपनी ओर से हमने आपकी शिकायत कभी नहीं की।

यह हमारा स्वरूप आपका नहीं बहुत दिनों का है और आपका तो स्वभाव है कि चाहे आप हमारे बारे में कितनी भी शिकायत निन्दा या विरोध करें परन्तु अपने से हमें कभी जुदा नहीं करते बस इतने ही में हमारी सारी थकावट हम भूल जाते हैं।

मैं चाहे जितना चलूं जब बन्द करो ज्यों का त्यों मानों कुछ चला ही नहीं था। मेरा चलना बहुत होते हुये भी एक ही जगह हुआ करता है। और ऐसा ही मैं सर्व जगहों में हूं।

चलने वाला न चलने वाला सब मैं ही हूं। परन्तु न मैं चलने वाला न न चलने वाला हूं। क्योंकि यह आपके इशारे का ही फल है।

क्या पशु, क्या मानव क्या पक्षी क्या स्कूल, क्या आफिसें, क्या खेल कूल की बन्द जगायें, क्या पागल होने के साधन–शराबखाने, क्या मन्दिर मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्चे, क्या भगवान और क्या पिशाच, चंडाल, दयावान, कसाई, दुष्ट सुष्ट, कुष्टवान और सभी के घर में मेरा वास है। और यहां भी सब के सिर पर-सबको देखता हुआ यही देखता हूँ कि सब जगह आप ही मुझे देखते और नहीं देखते।

जब मुझसे काम बहुत लिया जाता है तो कभी-कभी मैं आराम भी ले लिया करता हूँ (वह भी इशारे से ही) और ऐसे में अनजान कोई यदि-आपका ही मैं हूँ, यह भूल कर मुझे छू दे तो मैं उसे कभी तो झटका देता हूँ कभी

> प्रेम है मुख्य टेक, आनन्द है संगीत, शक्ति है तान और ज्ञान है वादक, सर्वाधार अनन्त ही है रचयिता और श्रोता। हम तो अभी तक केवल प्रारम्भिक स्वर–भंग को ही जानते हैं जो उतना ही कर्कश है जितनी कि सुर–संगति होगी मधुर; परन्तु भगवात आनन्द के स्वर–माधुर्य को हम अवश्य प्राप्त करेंगे।
>
> —श्री अरविन्द

मेरे समान ही निष्क्रिय बना देता हूँ। क्योंकि मैं उस अव्यक्त विद्युत से संबधित हूँ जिससे कोई भी भिन्न नहीं है।

मेरे इस रहस्य को न समझकर कि मैं किसका और कैसा हूं, अनेकों साधक अनेक प्रकार की साधनायें मेरे स्थिरता के लिए करा करते हैं और वह भी कब मुझे ही चलने की आज्ञा दे दे कर और मुझसे आराम लेते हुए मेरी ही निन्दा करके ऐसे समय मुझे उन पर तरस आते हुये भी कुछ करते नहीं बनता क्योंकि मैं तो उन्ही का हूँ, कुछ उनके इशारे बगैर कर तो सकता नहीं। बहुत से लोग मुझे चलता हुआ रख कर ध्यान, जप, योग समाधि व भक्ति का नाटक खेलते हैं, और मुझे ही को कोसा करते हैं कि तू न चले तो हम सब ठीक-ठीक कर लें। मैंने इन्हें कब कहा था कि तुम मुझे चालू रखो। मुझे तो कुछ भी-सच कहूँ कुछ भी करना नहीं आता।

मेरा तो इतना ही काम है जब कोई आज्ञा दे

...तीनों ही पत्रों को चालू करके समानान्तर रखते हुये ...लगाते जाना और चाहे कुछ नीचे ऊपर दायें बांयें ...रहे-कोई चिन्ता न करना।

एक बात यह है कि यदि मैं शीघ्रता से चलता हूँ ...कभी-कभी चलाने वाले ही अपनी तो नहीं मेरी शिका-...किया करते हैं। पर सच बताओ कोई कहे कि तीनों ...चलने से ही तुम तेज होते हो एक या दो कम कर ...। या कभी कभी एक से या कभी कभी दो से या कभी ...ी तीनों से चला करो। तो ये कैसे हो सकता है? ...में बिगड़ना क्या है? जब मैं एक भी पत्ते से क्षण भर ...ो रुकता नहीं-शीघ्र ही दूसरा आही जाता है तब एक ...आसक्ति या दूसरे से द्वेष करने का मौका ही कहां ...? तीनों ही न रुकें तो अच्छा या तीनों ही चलते रहें। ...उनकी ओर न देखो-तुम्हारे किसी भी कार्य में जागना ...में घनी निद्रा में समाधि बेहोशी में—कोई बाधा तो ...ता नहीं-तुममें मिलता नहीं किसी के पंजे में आता ...और जब तुम चाहो तब तुम्हारे सामने हीं।

मेरा कहना यह है कि मुझे प्यार भरी नजर से ...तो मैं तुम्हारा ही हूँ। सदा तुम्हारा ही रहूँगा परन्तु ...बस केवल इस भाव भरी नजर से एक बार देख लो ...मैं तुम्हारा बाधक नहीं साधक हूँ—तुमसे भिन्न नहीं ...भिन्न हूँ। और तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। परन्तु ...बिलकुल बन्द करके तुम्हारा यह क्रीडा कौतुक रहेगा ...नहीं—भले अकेले तुम बने रहोगे परन्तु फिर तुम्हें आनन्द ही नहीं आयेगा। कल ही यह राज कि तुम्हारा इशारा ही मैं हूँ यह कोई न जाने परन्तु केवल तुम ही इन दो रूपों में एक कर्ता और एक द्रष्टा रूप से हो। यह मुझे ज्ञात है।"

पंखे का यह अजीब धारा प्रवाह से वक्तृत्व इतनी जल्दी हो गया कि उस समय का यही उपदेश यह शरीर ने लोगों को सुना दिया। और हमारे लिये तो वह एक ऐसा जादुई उपदेश हो गया कि जीवन भर के लिए एक समस्या ही सुलझ गई।

सारे साधनों का फल पा लिया। व्यर्थ कष्ट पाने के जितने भी कारण थे वे उसी दिन समाप्त हो गये। और गुरु कृपा का एकदम नवीन ही रूप सामने आ गया। उस दिन से अपने ही में हम रहते हैं। न कोई शोक न हर्ष न अपना न पराया न किसी पर शिकायत न किसी से बचत का झगड़ा रह गया।

अपने आप में लाने वाला ऐसा विचित्र पंखा आप के सब के अति निकट रहता है आप भी उसे देखो। उसके भी तीन पंखे होते हैं।

आप पूछोगे वह कौन है? तो यह है आपका त्रिगुणात्मक मन।

इसे समझें और आपको समझने में कोई देर नहीं, मनकी समस्या से छुटकारा हो जायेगा।

★

राग-विराग के फल

किसी सन्त ने अपनी कुटी के सामने बगीचा लगा रखा था। जब कभी कोई पथिक उधर से गुजरता तो उसमें से फल तोड़ कर उनकी यथायोग्य सेवा करने का प्रयास करते। उसमें दो प्रकार के वृक्ष लगे थे। एक वृक्ष का नाम था 'राग' और दूसरे का नाम था 'विराग'। राग के फल मीठे थे और विराग के कड़ुवे। सन्त पथिक को दोनों प्रकार के फल दिया करते थे।

अधिकांश पथिक कड़ुवे फल को तुरन्त फेंक देते थे। एक बार किसी पथिक ने उन फलों के बारे में जिज्ञासा प्रकट की। सन्त ने सहज भाव से उत्तर दिया-"मेरा बगीचा शहर की सीमा से बाहर लगा है। जो पथिक विराग के कड़ुवे फल खाकर अन्दर जाता है वह कभी भटकता नहीं। और जो इन्हें फेंक जाता है वह संसार के इस शहर में ऐसा भटक जाता है कि उसका निकलना कठिन हो जाता है। फिर उसके ऊपर सुख-दुःख के ऐसे थपेड़े पड़ते हैं कि उनकी कड़ुवाहट विराग के फल की कड़ुवाहट से कहीं अधिक होती है।"

—'चिन्मय'

माया का रथ

श्री स्वामी निर्मल जी महाराज, अमृतसर
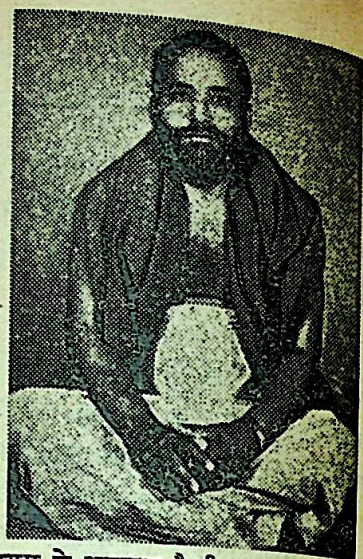
जनता जनार्दन के रूप में निज आत्माओ ! कल हम बड़े प्रेम पूर्वक देह की नश्वरता पर विचार कर रहे थे कि संसार में कोई भी ऐसा उपाय नहीं, जिससे प्राणी इस मायिक पंच भौतिक देह को हाथ से न जाने दे। जिस प्राणपति भगवान की मुट्ठी में हमारे प्राण हैं, वह भी अगर सामने आ जाए तो भी यह शरीर नाश होने से नहीं बच सकेगा। एक सिद्धान्त की बात है कि मृत्यु अवश्यंभावी (अमर यकीनी) चीज है और यह भी मालूम नहीं कि कब यह मृत्यु देवता आ पधारे ? दोनों बातें हम लोगों पर लागू हैं इसलिए हमारी गणना तो फनाह (नाश) में ही है। एक, दो तीन की गिनती में गल्ती हो सकती है परन्तु कोई इस गणना से बच सके, ऐसा कोई नहीं। यह मृत्यु देवता के हाथों में आने वाला देह रूपी कफ़स किसी मक्सद (लक्ष्य) के लिए मिला है। वैसे तो इस नश्वर जगत में ऐसे-ऐसे सुन्दर शरीर लिए हुए जानवर, पशु, पक्षी जी रहे हैं कि उनकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। बम्बई के मछली गृह (fish house) में ऐसी ऐसी शीशे की तरह चमकने वाली मछलियां हैं कि जिनमें एक एक सूक्ष्म से सूक्ष्म भी नस नाड़ियाँ नज़र आती हैं जिसे मानव देख कर आश्चर्य में डूब जाता है। यह शारीरिक सौंदर्य शास्त्रदृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। शास्त्र तो मन बुद्धि आदि के सौंदर्य के विषय में बहुत कुछ कहता है। मानव के स्वभाव तथा गुणों को कसौटी पर कसता है मानव की लम्बाई चौड़ाई तथा ऊंचाई का वर्णन नहीं करता। मानव के हृदय की विशालता तथा महानता की गिनती तो सर्वत्र ही है आन्तरिक सौंदर्य से शारीरिक सुन्दरता और भी प्रिय हो जाती है, लेकिन आज का मानव प्रातः से रात्रि तक अपने शारीरिक सौंदर्य के पदार्थ इकट्ठे करता रहता है। कितने हाथ पांव मारता है कि मैं सदा जीवित रहूं, मेरी दीर्घायु हो और इस शरीर की चमड़ी में लेश मात्र भी फर्क न आए, परन्तु बहुत सी बातें हमारे चाहने से नहीं होतीं। हमारा जीना मरना किसी कानून या नियम के अनुसार है ईश्वर का सत्य संकल्प तोड़ा नहीं जा सकता। अनादि काल से लेकर आज तक कई उसमें समा गये हैं, अनन्त कतरे सागर में मिल गये हैं। जैसे जल सागर में भी है और तरंगों में भी है, इसी प्रकार स्वरूप से हम सर्वव्यापक सर्वत्र हैं और रूप से नश्वर तथा परिच्छिन्न।

"जो उपज्या बिनसयो परो आज के काल"

माँ-बाप के जीवित रहते ही बच्चों के जीवन की तार टूट जाती है, उनको जीवन भर के लिए रोता हुआ छोड़ जाते हैं, जैसे घड़ी की चावी घड़ी के रहते ही समय पर समाप्त हो जाती है। जिन महात्माओं की आयु बहुत लम्बी हुई उन्होंने कहीं बैठ कर पुण्य एकत्रित किए हैं। आज भी वे दीर्घायु का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मृत्यु भी उनसे आँख चुराती है परन्तु संसार में ऐसा कोई नहीं जो अपनी इच्छा पूर्ण कर सके कि मैं हमेशा देखता रहूँ और हमेशा सुनता रहूँ। इस मृत्यु देवता के निमन्त्रण पर क्या थलचर और क्या जल-चर सभी को तैयार होना पड़ता है। यह बात निश्चित है कि भिखारी और मृत्यु का कुछ भी पता नहीं होता कि कब आकर दरवाजा खटखटा दे? इसलिए यह मानव जन्म तुम्हें किसी काम के लिए मिला है। यह हाथ, कान, पाँव, और जिह्वा आदि का उपयोग ठीक रूप से करो। यह हाथ चांदी के टुकडे इकट्ठे करने के लिए नहीं मिले, यह पाँव पृथ्वी मापने के लिए नहीं मिले, और यह जिह्वा सौदाबाजी करने के लिए नहीं प्राप्त हुई। इनके प्राप्त होने का कोई मक़सद है जीवन का कोई लक्ष्य है।

मानव कितना अकड़ धकड़ कर बड़े शान से बातें

रता है कि मैंने सौ गाय के चारे का प्रबन्ध किया है क्या गाय का दूध पी सकेगा ? नहीं। एक गाय का भी सारा नहीं पिया जा सकता। तुम सौ बिल्डिंगें चाहे खड़ी कर परन्तु सोने के लिए पाँव कितनी जगह में पसारोगे ? गल्ले का अम्बार (ढेर) इकट्ठा कर लो, खाओगे तना ? इस जीवन के लिए कितनी चीज की जरूरत ? ईश्वर का पेट तो शीघ्र भर जाता है परन्तु इस जीव वासनामय पेट कभी नहीं भरता।

काल की हेरा फेरी में।
तेरा औसर बीतो जाए॥

तो तुम लोगों की कहानियां करते हो, कल तुम्हारी ती होगी। एक गाड़ी एक समय पर ही जाती है लेकिन ही तरफ जाने-जाने में भी अन्तर है। कोई पहला दर्जा st class) में बैठता है कोई दूसरा दर्जा (2nd class) ठता है और कोई तीसरा दर्जा (3rd class) में र कर रहा है। जिस तरह चूहे को पकड़ने तथा बच्चे पकड़ने में अन्तर है। चूहे को चिमटे के साथ पकड़ बाहर फेंकते हैं और बच्चे को दोनों हाथों से पकड़ दिल को लगा लेते हैं। इसी तरह मौत सबको पक- ती है लेकिन गुरुभक्त को और ही तरह से पकड़ती है, भक्त का जाना संसार को रुला देता है। तुम देखो ! मरने के बाद क्या होगा ? ऐसा जीना मत जीओ कि के ही पालन पोषण तथा सुन्दरता में ही समय व्यतीत दो। खा पीकर यूं जीवन नष्ट न करो। जीवन का र करो। हाँ परमेश्वर के दिए हुए इस पारस के र की रक्षा अवश्य करो परन्तु हृदय और मस्तिष्क किसी ऊंची झलक प्राप्ति के लिए खाली अवश्य करो हंस अपनी तेजाब वाली चोंच को दूध में मार कर और दूध को अलग कर देता है इसी तरह गुरुभक्त निश्चय करके जीते हैं कि सत्यवस्तु केवल आत्मा है शरीर असत्य है। सत्य कभी असत्य नहीं हो सकता असत्य कभी सत्य नहीं हो सकता। भगवान स्वयं भी होकर भक्तों को वरदान देने के लिए आए हैं और 'वरं ब्रूहि वरं ब्रूहि' परन्तु भक्त लोग वैराग्य धारण के मन का रुख ही पलट चुकते हैं कि क्या माँगा ?

"क्या मांगु कछु स्थिर न रहाई"

ब्रह्मलोक लौ भोग जो,
चहे सबन को त्याग।
वेद अर्थ ज्ञान मुनि,
कहत ताहि बैराग॥

भारत का लाल "हकीकतराय" जिसको मुसलमानों ने मुसलमान बनाने के लिये अत्यन्त प्रयत्न किये परन्तु वह देश का सच्चा आशिक कहता है, मुझे इस्लाम स्वीकार करने में कुछ भी हानि नहीं, क्या एक बात का निश्चय दिला सकते हो कि मैं कभी न मरूं ? उत्तर मिला कि यह तो तमाम फानी है। सभी ने मरना है। हमेशा के लिए इस देह को रखना हमारी हिकमत से बाहर है।

ज्ञानी न रहे ध्यानी न रहे,
थे जो जो लासानी न रहे।
थे आखिर को फानी न रहे,
फानी को कहां बका बाबा।
यह दुनिया जाए गुंजशतन हैं,
दिल इसमें तू न लगा बाबा॥
माई की हैं यह सदा बाबा।
"ओढ़क कुल जहान हो खाक वैसी।
साबित वली अल्लाह वे रहन गे वे॥"

इन सांसारिक काफिलों में कई लोग मरते चले जा रहे हैं लेकिन काफिले रुकते नहीं।

चरैवेति—चरैवेति

चलो, अटको न। जो अटक जाता है, वह भटक जाता है। चलो आगे बढ़ो।

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं।
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं॥
तू शाहीं है परवाज है काम तेरा।
के तेरे लिये आस्मां और भी हैं॥
इसी रूजों-शब में उलझ न रह जा।
के तेरे मकानों जमां और भी हैं॥

यह मानव तो रोटियां कमाने तथा बिल्डिंगें खड़ी करने में ही उलझ गया है। यह बादशाहजादा तो ईंटों में ही अटक गया है। जैसे एक बाज का बच्चा कबूतरों में

रहने के कारण अपनी असली जात को भूल गया हो, उसकी चोंच टेढ़ी होती है, वह माँस तो नोच सकता है लेकिन दाना नहीं उठा सकता। किसी पहचानने वाले ने उसको देखा तो पकड़ कर उड़ा दिया परन्तु कबूतरों का अभ्यास होने के कारण वह फिर नीचे आ गिरा। यह है अभ्यास की लीला। मानव भी अभ्यास के कारण ही इस पंचभौतिक देह बिल्डिंगों तथा धन के चक्कर में उलझ पड़ा है। दृष्टान्त दिया था, कि राजा रन्तिदेव को एक रात्रि स्वप्न आया कि एक आदमी लाठी लेकर मवेशियों को हाँकता हुआ राजमहल की ओर आ रहा है। रन्तिदेव ने कहा, कहाँ जा रहे हो? यह तो राजमहल है। उस आदमी ने उत्तर दिया, कि मवेशियों में मवेशी आ ही जाते हैं। यह विषय भोग, सन्तान-उत्पत्ति, खाना पीना तथा सोना मवेशी भी करते हैं और इन्सान भी। जिसने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना वह अज्ञानी मनुष्य भी मवेशी ही है।

सोये हुये राजा रन्तिदेव की आँख एकदम खुल गई। दूसरी रात फिर स्वप्न आया कि चिड़ियाँ चोंचों से किले के पत्थरों को इधर उधर फेंक कर किले की दीवार गिरा रही हैं। राजा रन्तिदेव ऐसे स्वप्नों को देख कर बहुत हैरान हुआ उसने विद्वानों को बुला कर अपने स्वप्नों का कारण पूछा। विद्वानों ने भाव निकाला कि काल-रूपी चिड़िया दिन-रात रूपी किले की दीवारों को गिरा कर जीवन-रूपी किले को समाप्त कर रही हैं। इस काल के चक्कर से कोई भी नहीं बच सकता। वह वीर भीमसेन जिसको कि कुन्ती ने शेर को आता देख कर उसे पत्थर पर पटक दिया तो पत्थर टुकड़े टुकड़े हो गया। वह भी मृत्यु देवता के चंगुल में आ गया। इस देवता ने जब भी किसी को चाहा है तब ही पाया है।

मौत! इक जिन्दगी में वकफा।
यानि आगे चलेंगे दम लेकर॥

इसलिए उतने पाँव पसारो, जितना चाहिए। "Cut your coat according to your cloth"

उस काल की ठोकर को देते हुए भी न भूल और छीनते हुए भी न भूल, लेकिन तू देता लेता और छीनता हुआ भूलता जाता है। हम कहते हैं कि न भूल। योग-वशिष्ठ में वशिष्ठ जी कह रहे हैं, हे राम प्रकृति आचार कर परन्तु अन्तर से शून्य हो।

यह साधारण पुरुषों की बातें हैं, कि दिन अच्छे कट रहे हैं। परमेश्वर की बड़ी कृपा है, कालयापन कर रहे हैं। लेकिन बजुर्गों के नुक्तों को समझ, ओ भूले हुए! दिन तो सभी ने काटने हैं, पर तू इस असार संसार का सार समझ कर शान्ति से जीवन काट, जो इस संसार में अटक जाता है वह भटक जाता है।

कोई व्यक्ति अपने घर से शान्ति के मन्दिर के लिए चला। काफी रास्ता तय करने के बाद उसे एक सुन्दरी मिली, उसने पूछा, देवी! मैं रास्ता भटक गया हूँ शान्ति का मन्दिर यहाँ से कितनी दूर है? उस सुन्दरी ने उत्तर दिया कि मैं भी वहाँ ही जा रही हूँ नजदीक ही है। मुसाफिर ने भगवान का शुक्र किया कि कोई साथी तो मिल गया अब रास्ता अच्छी तरह से कट जायेगा। मार्ग में सुन्दर बगीचे मिले, खूब खाया पिया स्नान किया, फिर चल पड़े। सूर्य अस्त हो गया, मुसाफिर ने पूछा, कि देवी! अभी मन्दिर कितनी दूर है? देवी बोली, नजदीक ही है। परन्तु चलते-चलते मुसाफिर थक गया।

चलते चलते तक गई, जब राहे गम में जिन्दगी।

थकान कम हुई तो फिर आगे बढ़ा और पूछा मन्दिर कितनी दूर है? उत्तर मिला समीप ही है। इतने में एक सुन्दर रथ दूर से आया जिसमें कितने ही अलग

> यह दुनियाँ एक पागलखाना है जहां के सभी व्यक्ति पागल हैं कुछ धन के पीछे, कुछ स्त्री के पीछे, कुछ नाम और यश के पीछे और थोड़े से ईश्वर के पीछे पागल हैं। मैं ईश्वर के पीछे पागल होना अच्छा समझता हूँ। ईश्वर दार्शनिकों का एक ऐसा पत्थर है जो कि एक क्षण में हमें स्वर्ण बना देता है। रूप वही रहता है लेकिन प्रकृति बदल जाती है। मनुष्य का रूप रहता है लेकिन पाप का कोई असर नहीं होता।
>
> —स्वामी रामकृष्ण परमहंस

...कमरे थे जैसे कश्मीर में किश्तियों में होटल वगैरा ...होते हैं। उसमें दोनों सवार हो गये, जमीन का सफर ...समाप्त हुआ अब धूप की गर्मी तथा चलते चलते जो ...में छाले थे खत्म हुए, मुसाफिर को वक्त पर खाना ...मिल जाता है। चलते हुये रथ पर सभी क्रिया ...पूर्वक होती जा रही है। उस रथ के सुखों में ...यह मुसाफिर भूल गया कि शान्ति मन्दिर कहाँ ...? बहुत दिनों के बाद दिल को फिर ठेस लगी जैसे:—

आज फिर खोई हुई दिल में तेरी याद आई।
जैसे वीराने में चुपके से बहार आ जाये॥
जैसे सहराओं में हौले से चले बादे नसीम।
जैसे बीमार को बेवजह करार आ जाये॥

उसका हृदय तड़प उठा, कहा तेरी मन्जिल तो ...मन्दिर है तू इधर रथ के सुखों में कहाँ उलझ गया ...? ऐ मन! अपनी मन्जिल की ओर बढ़। फिर पूछा, ...! शान्ति मन्दिर कहाँ है? उत्तर मिला समीप ही ... उसकी बेचैनी और तड़प जो शान्ति-मन्दिर के लिए ...थकावट के कारण कम हो गई और वह सो गया। रथ ...सोये हुए ने फिर सोचा कि ऐसे सुख का प्रबन्ध तो मेरे ...पहले भी था मैं वहां भी खाता पीता सोता था, सुन्दर ...बागीचों की सैर करता था। मैं घर से निकला तो ...मन्दिर की तलाश में हूँ तो मुझे अपने लक्ष्य स्थान ...अवश्य पहुंचना चाहिए। उसने घबराहट से फिर पूछा, ...! किधर है शान्ति मन्दिर? उत्तर मिला कि बस आ ...है। रथ चक्र काट रहा है, चल रहा है निरन्तर, ...मुसाफिर ने बहुत बेचैन हो कर रथ से छलाँग ...दी। उसने क्या देखा कि वह उसी जगह पर है जहाँ ...पहले देवी मिली थी। रथ वहाँ ही घूम रहा है। ..., हम इतनी देर से चलते चलते, फिर वहां के वहां ...है। वह निराश, दुःखी हृदय बड़ी परेशानी में खड़ा ...एक ओर चल ही पड़ा।

तनहा ही चल पड़ा है अपने सफर को राहा।
मुड़ मुड़ के देखता है शायद कोई पुकारे॥

बहुत दूर जाने के बाद उसे एक पर्णकुटी दिखाई ..., तेजी से कदम बढ़ा कर वहां पर पहुँच गया। वहां पर उसे भद्र मुद्रा धारण किए हुए शान्त-चित्त अपने में मस्त एक महात्मा मिले। महात्मा ने पूछा मुसाफिर कहां जाना है? मुसाफिर ने कहा, महाराज! शान्ति मन्दिर और साथ ही रास्ते की सारी घटना कह सुनाई। महात्मा ने कहा, देखो! चारों ओर दृष्टि दौड़ाओ कुछ नजर आता है? उत्तर मिला, कुछ नहीं। महात्मा ने फिर कहा, मेरी आंखों में आंखें डाल कर देखो, उसने उसे सूक्ष्म दृष्टि प्रदान की। मुसाफिर ने कहा, कि इस महान कंकरीले जंगल में धागे के समान पर्वत में एक सूक्ष्म मार्ग है। महात्मा ने कहा, बेटा! शान्ति मन्दिर का यही मार्ग है। यह मार्ग रथ का मार्ग नहीं कठिन और कंकरीला है अगर पांव फिसल जाएं तो नीचे खड्डे हैं। जो मार्ग तूने तय किया, वह शान्ति मन्दिर का मार्ग नहीं था। भूल का तथा धोखे का मार्ग था, नहीं तो तू कब का शान्ति मन्दिर तक पहुँच सकता था। कुछ समय तेरा वन उपवन देखने में व्यतीत हो गया और कुछ तेरी जिज्ञासा ने विलम्ब कर दिया। तेरे धीरे-धीरे शान्ति मन्दिर का रास्ता पूछने से भी मार्ग लम्बा हुआ। यह आफरीं है कि तू रथ से कूद पड़ा है। नहीं तो, ऐसे रथ से कोई कूद नहीं सकता और इस रथ पर चढ़े हुए का बुरा हाल होता है। कुछ दूर जा कर मुसाफिर को रथ से एक लम्बी चौड़ी खाई में फेंक दिया जाता है जहाँ पर हड्डियों के ढेर लगे हुए हैं। अगर तू रथ से न कूदता तो तुझे मैं भी नहीं मिल सकता था। मुसाफिर ने पूछा, महाराज! आपका नाम क्या है? उत्तर मिला कि मेरा नाम विवेक है। मुसाफिर! जिस मार्ग पर तूने चलना है, तुझे वहां भी रथ मिलेगा यह रथ सब जगह चल सकता है। परन्तु तुझे चेतावनी देता हूँ कि इस रथ पर बैठनेसे विवेक खाया जाता है। तुम भूल कर भी उस रथ पर न बैठना। चलते चलते आगे तुम्हें मेरे जैसा एक और महात्मा मिलेगा। मुसाफिर ने सोचा, कि कहीं फिर न मैं उलझ जाऊं, पूछा जिसने मेरी आगे भी रहनुमाई करनी है उसका नाम क्या है? उत्तर मिला "वैराग्य"।

इस देवी के रथ पर चढ़ना प्रारम्भ में सुख रूप है अन्त इसका दुःख रूप है लेकिन महात्मा का पहला मिलाप दुःखदाई है परिणाम में सुख ही सुख है। जिधर शिष्य का

मन नहीं मानता, उधर को चलाता है। ख्याल के नीचे ख्याल देकर चलाता है। अक्ल का दामन छोड़ कर शिष्य को अजीब तरह से जीना पड़ता है। ऐसे दिल भी पहिचाने जाते हैं।

मुहब्बत के लिए कुछ खास दिल मख्सूस होते हैं।
यह वो नगमा है जो हर साज पै गाया नहीं जाता॥

वह भी कमाल दिल है, जो मुर्शिद का हृदय पिघला देता है और वह शिष्य को अपनी रहमत (कृपा) के पंख के नीचे ले आता है।

हमारा उनका इश्क कैसा।
उनके गम के भी नहीं है काबिल॥

गुरु शिष्य को खूब दुःख दर्द की भट्ठी में डाल कर कुन्दन बना कर बाहर निकालता है, यह उसकी कृपा है। वह शरीर को सुन्दर नहीं बताता अन्तर सूक्ष्म शरीर को सुन्दर बनाता है। गुरु का शिष्य कहलाना बड़ी बात है शिष्य का गुरु कहला लेना बड़ी बात नहीं।

सन्त राम को मत कोई निन्दो।
सन्त राम हैं ऐको॥

अजीब यह महफिल है और अजीब यह साज है। वह महात्मा मुसाफिर को कह रहा है कि तेरे पुण्यों से हम मिले हैं। अगला पड़ाव 'वैराग्य' का है आगे तुम्हें वह मिलेगा। चलते चलते मुसाफिर ने मार्ग में खूब प्रतीक्षा की, कहीं भूख झेली, कहीं प्यास सही। दृष्टान्त का भाव यह है कि यह जीव अनादि काल से शान्ति की खोज में चला आ रहा है, चलते-चलते अविद्या ने यह रथ रूपी शरीर सामने लाकर खड़ा कर दिया। आँखों का देखना, कानों का सुनना तथा जिह्वा के तरह-तरह के जायके लेना यह रथ रूपी शरीर के भिन्न-भिन्न सुन्दर कमरे हैं। उस शान्ति की खोज में चलते हुए राही को इस शरीर के सुखों ने विषय वासनाओं तथा अविद्या की सामग्री ने इतना उलझा दिया कि उसकी खोज (research) के मार्ग को और भी लम्बा कर दिया। यह अविद्या की देवी कहती है, कि ऐ मुसाफिर! मैं तेरे साथ उधर को ही जा रही हूँ लेकिन मानव उसके विचित्र सौन्दर्य के प्रबल वेग में बह जाता है। जब भी फिर किसी समय ठेस लगती है तो अपने लक्ष्य की ओर मुख करता है।

दिया जब रंज बुतों ने तो खुदा याद आया।

जब मुसाफिर अध्यात्म पथ का राही अपनी उत्कट जिज्ञासा से शरीर रूपी रथ के कमरों की आसक्ति त्याग कर छलाँग लगा देता है, कि मैंने इन दुःख–रूप कमरों में नहीं रहना तो कमरे नहीं अटका सकेंगे। यह एक भूलेखा है कि माया में शान्ति है। बुजुर्गों ने तेरे इस ख्याल को ही तोड़ना है यही उनकी कृपा है। वे राजा महाराजा क्या पागल थे? क्या उनके दिमाग में फतूर था, जिन्होंने इस शान्ति मन्दिर तक पहुँचने के लिए सब सुख ऐश्वर्य त्याग कर शरीर रूपी रथ से छलांग लगाई अर्थात् देहात्म भाव छोड़ा। हमने भी तो कितने जोर से छलाँग लगाई है। कई लोग पूछते झिझकते हैं, कि साधु होकर भोजन का क्या प्रबन्ध है? हम तो कहते हैं, कि हमारा रिजक आसमान से उतरता है, खिलाने वाले लाखों–पति हमारे रसोईये हैं जो बड़ी श्रद्धा नम्रता से प्रार्थना करके भोजन लाते हैं। अपितु सब को देने वाला दाता इनका ध्यान रखता है।

गिरा गाँठ नहीं बान्धते जो देवे सो खाए।
गोबिन्द ताके पाछे फिरे मत भूखा रह जाए॥

फकीर का जीवन बहुत महान जीवन है शेष फिर कहेंगे।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सहवीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

★

विश्वास की नींव

श्री 'चिन्मय'

विश्वास की छाती पर
कर्म का पत्थर रखकर
काल के हथौड़े से
तोड़कर देखो तो
पत्थर में दाग तो लगेगा ही
छाती में भी दरार पड़ जायगी।
विश्वास की नींव
बड़े धैर्य और साहस से
गढ़कर बनायी थी
मैं जानता था इसी के बल पर
भगवान् के लिए
एक महल बन जायगा
प्रकृति की मिट्टी से
बनी हुई ईंटों की
नींव पर भरोसा था।
अप्रतिम सौन्दर्य से बना हुआ
सुरुचिपूर्ण महल में
सुख की नींद सोया था।
रात्रि के अर्द्ध प्रहर
गहरी निद्रा में निमग्न
किसी ने दरवाजे पर
जोर से धक्का दिया—
'उठ रे गाफिल!
तेरे महल की नींव
बालू से बनी है
कभी गिर जायगी।
जीवन में अभी तक
प्रकृति के वशीभूत
सुख–दुःख से ओत प्रोत
तेरे सब कर्म हुए।
अब समय आया है
विधि के विधान को
कितना ही बिगाड़ ले
गुणों के लोभी
कामना की हिलोरों में
तेरे गर्व के महल की
ईंट–ईंट बह जायगी।
चौंक पड़ा अचानक यह सुनकर
किसके ये शब्द थे
किसने पुकारा था
चारो ओर देखा,
पर कोई न दीख पड़ा
भय से मैं चीख पड़ा
फिर किसी ने थाप देकर
सान्त्वना के स्वर में,
समझाकर कहा-
'पगले!
तेरे अन्तर की आवाज थी,
तेरी ही बात थी
तू ही किसी और के धोखे में
अपने को कोस रहा,
डर कर पराये के धोखे में
अपनी ही नींव खोद रहा।'
अब तो मैं सँभल गया
प्रकृति के बने इन पुतलों पर
मानव की मोहर लगी
इनका अब वश ही क्या
यों ही प्रकृति के शासन में
विश्वास के बल पर ही
बार–बार छले जायेंगे
रोयेंगे, पछतायेंगे
पर कामना की डोरी में
बँधे चले जायेंगे।
चेतना की जागृति हुई
अन्तर में प्रकाश हुआ
विश्वास की छाती भी
निष्ठा के प्राण भरकर
दृढ़ता की साँसों से
दुगनी हो फूल गयी
कर्म के पत्थर अब
कोमल फूल से कुचल गए
काल के हथौड़े की
चोट पर चोट हुयी
प्रकृति के हर पहलू से
मानव की भेंट हुयी
पतझड़ के पत्तों सी प्रकृति के
विश्वास की नींव भी ढह गयी
और मेरे विश्वास की छाती
कर्म के पुतलों पर निरन्तर
काल के हथौड़े की
चोट पड़ती गयी
पर दृष्टि में मेरे अब
पत्थर में दाग नहीं
विश्वास की छाती की
अपनी दरार भी
एकता से भर गयी।

अखण्ड-चिन्तनधारा
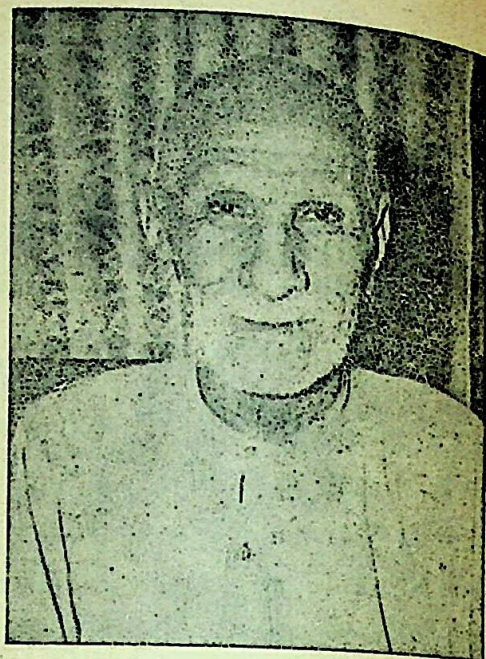
"माला सरक रही है पर बात सुनने में नहीं आती। 'माला टर रही कर में, सुरत नहीं हरि में।' 'कर की माला छोड़कर, मन की माला फेर।' जहाँ से मन निकला है वहीं पर शान्त हो जायगा।"

माला से जप का विधान इसीलिए है कि साधक अन्तःकरण स्थिर करके अपने इष्ट में ध्यान लगाये, परन्तु यदि वृत्तियाँ बाहर की ओर ही बनी रहीं तो हाथ में माला यंत्रवत् चलती रहेगी और उसका अन्तः स्थिति में कोई प्रभाव न होगा। माला तो एक प्रकार से सहयोगी कारण है और स्थूल रूप में नाम-स्मरण के लिए प्रयास चलता रहे इसी लिए माला का सहारा लिया जाता है। वस्तुतः माला की प्रक्रिया स्थूल ही है और इसके सहारे स्थूल चेष्टायें ही हो सकती हैं। जिस समय माला का सहारा लेकर कोई अपनी साधना में लगता है तो उसे इन्द्रिय और मन का मेल बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। जो साधन मनः स्थिति से किया जाता है केवल उसी का फल प्राप्त होता है। साधक के माला फेरने का क्रम किसी भी रूप में न तो कोई बन्धन है और न इसका सदैव ही चलता रहना आवश्यक है। जिस समय मन से चिन्तन होने लगता है उस समय शरीर की स्थूल क्रियायें प्रायः बन्द हो जाती हैं फिर भी यदि कोई इन क्रियाओं के करते रहने पर बल देता है तो इनमें कृत्रिमता आ जाती है। इस कृत्रिमता से हर स्थिति में बचने की आवश्यकता है।

मन को प्रधानता मिलने पर स्थूल क्रियायें गौण हो जाती हैं। मन पर अधिकार करने के लिए प्रेरणा दी जाती है, लेकिन मन पर अधिकार तभी हो सकता है जब मन से ही साधन किया जाय। इसके अतिरिक्त साधन में मनोलय की भी बात कही जाती है। यह मनोलय साधन का प्रधान अंग है और इसके लिए आत्म-तत्त्व की ओर उन्मुख होना ही परम साधन है। जिस समय आत्म-तत्त्व की ओर उन्मुख होकर साधन किया जायगा उस समय मन अपने कारण-रूप में सहज ही लय हो जायगा। जब तक बाहरी स्थूल क्रियाओं पर ही ध्यान रहेगा तब तक इस प्रकार की लय-स्थिति आना सम्भव नहीं। यद्यपि प्रारम्भ की अवस्था में हाथ की माला साधन में लगाने के लिए उपयोगी सिद्ध होती है, परन्तु इसी में लगे रहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं। जीवन में साधन-स्थिति को आगे बढ़ाने के लिए परम आवश्यक है कि ऐसे ही साधन अपनाये जायँ जिससे प्रगति होती रहे। 'हरि में सुरति' तभी सम्भव हो सकेगी जब मन से ही हरि-भजन हो और मन की लय-दशा भी आत्म-तत्त्व की ओर उन्मुख होने से प्राप्त हो सकेगी। ★

सबकी पूजा तेरी पूजा

श्री हरीश 'मधुर', कोटा

क्षुद्र स्वार्थ का नाश होवे प्रभू, विनय यही है दो वरदान।
'प्राणीमात्र का हित है मेरा,' इसको ले मेरा मन मान ॥
सब जीवों से प्रेम होय प्रभू, सबका नेह तुम्हारा नेह ।
'सबकी पूजा तेरी पूजा', पूजा से सार्थक हो देह !!

छोटे बड़े धनी और निर्धन, सबके सब ही तेरे रूप ।
क्या पत्थर और क्या पानी है, कण–कण में है तेरा स्वरूप ॥
तुम्हीं गगन में हो जल थल में, तुम्ही अग्नि में हो छाये।
सूर्य चन्द्र या पवन वृष्टि में, सदा प्रभू तुम दिखलाये ॥

सकल विश्व में हो प्रभु तुम, बस यही तुम्हारा है परिचय।
स्वर्ग, नरक, पाताल सृष्टि, सब दृष्टव्य तुम्हीं में है प्रभु लय ॥
सभी कर्मों में, सभी रसों में, सभी दृश्यों में हो प्रभु तुम।
जहाँ दृष्टि जाती है मेरी, दिखलाते हो तुम ही तुम ॥

तुम्हीं चराचर सकल विश्व में, तेरा मैं करता सम्मान ।
सब जीवों पर दया करूँ मैं, छोड़ूँ कपट दम्भ अभिमान ॥
प्राणी–प्राणी में तुमको देखूँ, धरूँ सदा मैं तेरा ध्यान ।
क्षुद्र स्वार्थ का नाश करूँ प्रभू ! ऐसा दो सुन्दर वरदान ॥

भगवान् ने इस विश्व की रचना कुरुक्षेत्र के रूप में की है और इसे उन्होंने भर दिया है संहारकारी योद्धाओं और संग्राम तथा नरहत्या के कोलाहलों से। क्या तुम नियत मूल्य चुकाये बिना ही भागवत शान्ति पाने की कामना करते हो ?

—श्री अरविन्द

सत्संग, साधन तथा फल

वेदान्ताचार्य श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी,
दिल्ली

जीवमात्र की स्वाभाविक इच्छा होती है कि मेरी मति सर्वश्रेष्ठ हो, मेरा सुयश हो, मुझे सर्वकाल सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती रहे शरीरान्त के पश्चात् मैं सब बन्धनों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त करूँ। इसके लिए सत्संग को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है।

सत्संग से प्रयोजन यह है कि वाह्य विषय विकारों से हटकर वृत्ति को सत् वस्तु के संग जोड़ना। सत्पुरुषों की संगति में बैठकर उनके सत्य वचनों को एकाग्रचित्त से सुनना, उन पर सत्यप्रतीत करना तथा उसके अनुसार सत्य वस्तु को पहचान कर अपनी वृत्ति को उसके साथ जोड़ना सत्संग कहलाता है।

मनुष्य का जीवन ज्ञानमय है। जितना उच्चकोटि के ज्ञान का अधिकारी यह मनुष्य है, उतना और कोई नहीं और जितनी जल्दी यह अज्ञान में गिरकर फँसता है, उतना और कोई नहीं! इसलिए मनुष्य के लिए महापुरुषों ने कहा कि यह निरन्तर सत्संग–श्रवण द्वारा आत्म–चिन्तन में प्रवृत्त रहे क्योंकि संसार में रहते हुए किसी भी समय काम क्रोध लोभ मोह आदि के संस्कार इसके चित्त को दलदल में फँसा सकते हैं। वह दलदल ऊपर से देखने से प्रतीत नहीं होती ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी का पानी जब किनारों से उतर कर सूख जाता है तो उसमें दरारें पड़ जाती हैं और प्रतीत होता है कि जमीन सूख गई है और ऐसा जानकर ज्योंही मनुष्य वहां उतरता है तो वह उस कीचड़ में फँस जाता है क्योंकि अन्दर से वह जमीन कीचड़ से भरी होती है। अब वहाँ से स्वयं निकल नहीं सकता जब तक कि कोई परोपकारी सज्जन उसको मोटा रस्सा न फेंके जिसको पकड़कर वह बाहर खिंचा हुआ चला आए। इसी प्रकार ये संसार के विकार मनुष्य को छोड़ते नहीं। जरा असावधान हुआ कि ये झट मनुष्य को अपनी दलदल में फँसा लेते हैं। विषय–विकारों में आसक्त मनुष्य इच्छा करता हुआ भी बाहर नहीं निकल पाता, जब तक कि उसकी उत्कट जिज्ञासा या श्रद्धा को देखकर कोई परोपकारी महापुरुष सपने सदुपयोग रूप रस्सी द्वारा बलात् बाहर न खींच ले और इस प्रकार नित्य ही श्रद्धा–प्रेम से सत्संग श्रवण करता–करता मोह कीच से एक न एक दिन निकल जाता है।
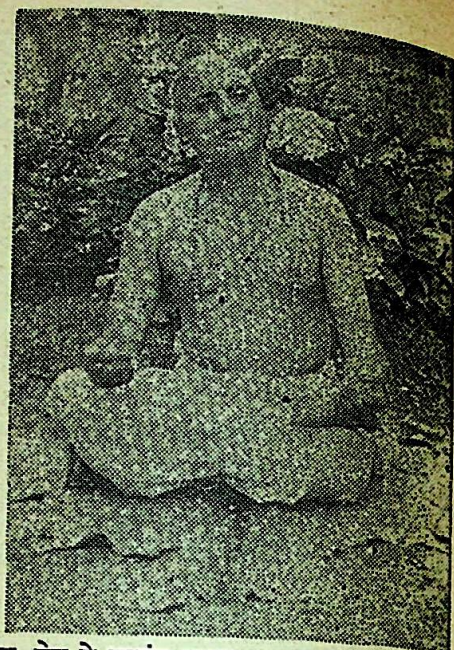
मनुष्य वस्तुतः जैसा जिन्तन करता है, वास्तव में वह वैसा ही बन जाता है। इस चिन्तन का कोई रूप–रंग या नाप–तोल नहीं। आपके मन में क्रोध है या अहंकार, इसकी कोई ठोस पहिचान नहीं किन्तु उसका प्रभाव उसके उठने बैठने तथा आचार–व्यवहार पर पड़ता है। उस पर भी चिन्तन का सम्बन्ध हमारी रुचि के साथ है। प्रायः देखते हैं कि जिस वस्तु या व्यक्ति में हमारी रुचि नहीं होती, हम उसका नाम भी नहीं सुनना चाहते। संसार में मन की प्रवृत्ति इसलिए होती है कि मन की रुचि और झुकाव उस ओर होता है। मन का झुकाव जब कुसंग की ओर होता है तो वह उसमें ही आनन्द लेने लग पड़ता है और शनैः–शनैः कुसंग में इतना फँस जाता है कि छूटे नहीं छूटता। नामस्मरण, आत्म चिन्तन व सत्संगादि सब साधन इसलिए आए कि चित्त छूटे, शोक विमुक्त हो जाय किन्तु छूटता तब तक नहीं, जब तक कि अन्तःकरण विमल होकर उसमें सत्संग के प्रति श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न नहीं होता। श्री शंकराचार्य जी कहते हैं:—

> "मुमुक्षुणा किं चरितं विधेयम।
> सत्संगति निर्ममतेशभक्तिः॥

मुमुक्षु के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि वह सत्संग करे। महापुरुषों के चरणों में जाकर उनके वचनों को सुने क्योंकि जब सुनते हैं तो सावधान हो जाते हैं और जब सावधान होकर अमल में लाते हैं तो बच जाते हैं।

एक लड़का था। बचपन से ही उसका चोरी करने का स्वभाव था। पिता का काम भी चोरी करना था। घर में वैसे ही संस्कार भी डाले जाते कि बेटा, तीन

कोने जाना पर चौथे कोने मत जाना। पिता डरते थे कि कहीं भूलकर यह चौथे कोने (सत्संग) में चला गया और संतों का सत्संग सुनने बैठ गया तो यह चोरी करना छोड़ देगा, फिर हमारा निर्वाह कैसे होगा ? एक दिन लड़के ने किसी घर में चोरी की और चोरी के अपराध में पकड़ा गया। पुलिस हथकड़ियाँ डालकर थाने ले जाने लगी तो अचानक उसी चौथे कोने से गुजरी। उसी रास्ते में एक आश्रम था। महापुरुष वहाँ नित्य सत्संग किया करते और अपने वचनामृत से हजारों ही जिज्ञासु-प्रेमियों का उद्धार करते। अन्दर सत्संग हो रहा था, महापुरुष कह रहे थे कि देवी-देवताओं की कभी परछाईं नहीं होती। इसके कान में यह बात पड़ गई। पुलिस थाने पहुँच गई तो वहां चोर को बहुत डराया धमकाया गया यह बुलवाने के लिए कि उसने क्या क्या चीजें चोरी की। वहां थाने में यह रिवाज सा था कि रात को हर चोर के पास जांच-पड़ताल करने के लिए एक औरत को भेजा जाता जो बहुत ही भयावने वेष में देवी का रूप धारण करके जाती और कहती कि मुझे सब कुछ सच-सच बता दो, नहीं तो मैं तुम्हें खा जाऊंगी। नित्य की तरह वह इसके पास भी आई और अपना मायावीरूप दिखाने लगी। चोर के मन में एक दम संत के शब्द याद हो आए। दीपक जल रहा था, इसने देखा कि इस औरत की तो बराबर परछाईं पड़ रही है, सोच लिया कि यह देवी नहीं। एक दम सावधान हो गया और लपक कर उसको धर-दबोचा। वह हाय हाय कर कराहने लगी 'अब मुझे माफ कर दो, मैं थानेदार साहेब को कह दूंगी कि तुम निर्दोष हो'। चोर ने उससे प्रतिज्ञा ली और छोड़ दिया। स्वयं भी निर्दोष सिद्ध कर छूट गया। छूटने पर सोचने लगा कि यह सब महापुरुषों की कृपा है। उनके सत्संग के एक वचन ने मुझे बचा लिया नहीं तो मुझे कितने वर्ष की कैद हो जाती। जो नित्य सत्संग सुनते होंगे वह कितने मुक्त और शोक मोह से रहित होगे। चित्त एक दम बदल गया और संतो के चरणों में जा कर रो रो कर अपनी सारी पाप कथा कह सुनाई। महापुरुषों ने कृपा की और उसकी उत्कट् जिज्ञासा व श्रद्धा को देख कर अपने चरणों में स्थान दिया।

तो बात है चिन्तन की। महापुरुषों के सत्संग में जैसा श्रवण करे, वैसा मनन भी करे और मनन के पश्चात् निदिध्यासन द्वारा मन और वचनो को एक रूप करें अभ्यास में प्रवृत हो तो सहज ही चिद्‌जड़ ग्रन्थि खुल कर जीवन मुक्त अवस्था का अनुभव होता है।

जैसे शरीर नित्य के भोजन, जल, व निन्द्रा बिना स्वस्थ नहीं रह सकता, वैसे ही बीच में रहते हुए मन को स्वस्थ रखने के लिए सत्संग रूपी भोजन की आवश्यकता है। महापुरुष ही नित्य जिज्ञासु को अपना वचनामृत पिलाकर बोध कराते है कि आत्मा नित्य प्राप्त और जगत नित्यनिवृत रूप है वही बार-बार चित्त को धोकर चिन्ताओं से निकालने का यत्न करते हैं क्योंकि इस चित्त पर कई अनर्थरूप अज्ञानमय संस्कार पड़े हैं जिनके कारण सत्य आत्मा कोसती ही नहीं और देहाध्यास में फंसकर मैं मेरी के चक्कर में हम मलिन होते रहते हैं और यह मैल सत्संग के बिना और कहीं भी साफ नहीं होगा। बाहर की सफाइयाँ और झाड़-पोंछ नित्य की जाती है पर मन की सफाई न हो तब तक मन में आनन्द नहीं होता। यदि आपके मन में आनन्द है तो यह विश्व आपके लिए सुखरूप है। इसलिए यदि चित्त का सुख चाहते हैं तो इसे अनात्म-चिन्तन से हटाकर आत्म चिन्तन में जोड़े जो स्वयं आनन्द स्वरूप, आपका अपना आप और नित्य प्राप्त रूप है। केवल उसका अनुभव करना है शेष है। केवल अज्ञान से ही आत्मा अप्राप्त और जगत स्थित रूप प्रतीत हो रहा है। जब तक अन्तःकरण से अज्ञान की निवृति न हो, तब तक आत्मा की नित्य प्राप्ति और जगत की नित्य निवृति निश्चित नहीं हो सकती। अतः जिज्ञासु को उचित है कि अज्ञान की निवृति के लिए यत्न करे और यह यत्न सत्य वचन के श्रवण् मनन और निदिध्यासन से पूर्ण हो कर अज्ञान की निवृति का हेतु बने इसी अभिप्राय से महापुरुषों और सन्तों ने नित्य प्रति सत्संग का नियम स्थापित किया है जिसके साधन से यथार्थज्ञान होकर जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त होती है।

कहानी

श्रद्धा के प्रदीप

श्री जगदीश पण्ड्या, पाण्डिचेरी

वह एक मुसाफिर था। दुबला, पतला और गरीब। उसके बाल लम्बे-लम्बे थे, उसकी दाढ़ी भी थी। उसको किसी बात का मोह न था। वह किसी के पास न तो वस्त्र की याचना करता था न एक रात सोने के लिए किसी के आँगन की भीख माँगता था। किसी से अन्न की भीख भी न माँगता था। उसने जैसे अपने को भाग्य के हाथों में सौंप दिया था। यदि कोई वस्त्र दे जाता तो वह पहनता और खाना दे जाता तो खाता। रात वृक्ष के नीचे या तो किसी गुहा में या पहाड़ियों में सोकर बिता देता था।

एक नगर से दूसरे नगर, तीसरे नगर इस तरह एक के बाद एक नगर में वह घूमता रहता। कितने दिन तो वह वन में ही बिता देता। प्रायः वह झरना या नदी के तट पर घण्टों बैठा रहता और अनिमेष नेत्रों से पानी की लहरों को निहारता रहता। पहाड़ पर चढ़कर प्रायः शिखर से सृष्टि सौन्दर्य का निरीक्षण किया करता। प्रायः लाल-पीले रंगों के फूलों को निहारता रहता। कभी-कभी अम्बर में उड़ते बादलों की ओर ही उसकी दृष्टि गड़ी रहती। कोई उसको नहीं समझ पाता। जहाँ वह जाता था वहां वही प्रश्न- "कौन है यह पथिक ?"

यदि कोई दया बनाकर उसे पूछ भी लेता तो वह सिर्फ कहता-"पथिक।"

यदि कोई पूछता, ऐसा दुबला शरीर लेकर क्यों इधर-उधर फिरते हो ? वह सिर्फ कहता-"मैं किसी के घर क्यों अतिथि बन कर रहूँ, क्यों भीख माँगू, क्यों वस्त्र की याचना करूँ। यदि ईश्वर को मैंने मान लिया है कि वह मुझे सब कुछ देगा तो फिर क्यों मैं किसी के सामने हाथ बढ़ाऊँ। यदि ईश्वर को मुझे कुछ दिलवाना होगा दिलवायगा! मार देना हो तो मार देगा। पर मैं क्यों उसके प्रति मेरे अन्तर में जलते श्रद्धा के प्रदीप को बुझा दूँ ?"

फिर चला जाता।

लोग उसका यह प्रत्युत्तर सुनकर कहते-"कैसा उत्तर देता है यह पथिक! कुछ माँगने के सिवा तो माँ भी नहीं देती, यह वह भूल गया है। विचित्र........विचित्र आदमी है।"

किन्तु उस पथिक को ऐसे कटु वचनों की परवाह न थी। जैसे ऐसे शब्द तो उसके कान में भी नहीं घुस सकते।

घूमता-घूमता एक दिन वह समुद्र किनारे पर बसे एक नगर में पहुँचा। नगर बहुत ही सुन्दर था, सुन्दरता का एक अनुपम नमूना था। समुद्र से, प्रभात की वेला में, जब सूर्य तेज-किरणें बरसाता हुआ पूर्व में उग निकलता तब उस नगर की सुन्दरता में चार चाँद लग जाते थे। केवल नगर ही नहीं नगर के लोग भी सुन्दर थे। वहाँ की कन्याएँ इतनी सुन्दर थीं जैसे इन्द्र की अप्सराएँ।

किन्तु, उस पथिक को कुछ भी आकर्षित न कर पाया। न नगर के बड़े-बड़े और सुन्दर आलय और न उस नगर की अप्सराएँ।

नगर के एक छोर पर स्थितएक पुराने महादेव के मन्दिर में, जहां रात में पक्षीगण और दिन में कुत्ते सोये रहते थे, जिस मन्दिर की किसी ने परवाह तक न की थी और जिस मन्दिर की दीवाल के बड़े-बड़े छेद में सर्प निवास करते थे, वह ठहरा। उसको ऐसे मन्दिर में सोने में तनिक भी डर न था। वह सो गया; थका हुआ था। किन्तु, उसको नींद नहीं आयी। उसके मन में इस मन्दिर को देख कर

एक विचार उत्पन्न हुआ था जो उसके मस्तिष्क में कीड़े की भाँति रेंग रहा था। इस विचार के साथ उसके हृदय में एक टीस सी उत्पन्न होती थी जो आज उसे बेचैन बना रही थी।

—"क्यों इस मन्दिर की यह दशा ? भगवान् के की यह दशा ! लोगों ने क्या कभी इस मन्दिर को भी नहीं होगा जो इस मन्दिर की मरम्मत करवाने लिए कुछ धन लगा सकते हैं। मैं अपने भगवान् के वास को छिन्न–भिन्न और गन्दा नहीं देख सकता। क्यों

वास्तव में स्वर्ग और नरक मृत्यु के बाद तुम्हारे ऊपर आश्रित हैं। मृत्यु के बाद तुम्हीं स्वर्ग और नरक का निर्माण करते हो। वस्तुत: स्वर्ग और नरक स्वप्न के समान हैं, इससे अधिक कुछ नहीं, जो कि तुम्हें उस समय सत्य प्रतीत होते हैं। तुम जानते हो कि जब तुम स्वप्न देख रहे होते हो उस समय वे सत्य दिखाई पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में स्वप्न से अधिक इनकी कोई सत्ता नहीं।

—स्वामी रामतीर्थ

मैं अपने आप ही इस मन्दिर को साफ करूँ ! जब अन्यों को मन्दिर की इस हालत पर अपने दिल में दर्द नहीं है तो उन्हें छोड़ दो। मेरा हृदय दुःख से व्याकुल है। मुझे यह करना ही होगा।"

इस विचार के साथ ही वह उठा और मन्दिर को झाड़-फूक करने लगा। अशक्त शरीर की उसने परवाह न की। सारी रात वह साफ करता रहा। अखिर जब बहुत थक गया तब शिवलिंग के पास बैठ गया और आंखें बन्द करके ध्यान करने लगा। उसके अन्तर में अब आनन्द था। भगवान् के प्रति श्रद्धा का दीप अब तक चिर भाव से जल रहा था।

सवेरा हुआ किन्तु, वह पथिक जैसे का तैसा ही ध्यान में मग्न था।

"कौन है वह आदमी ? बैठा–बैठा क्या कर रहा है ?"–मन्दिर के समीपस्थ मार्ग से गुजरती दो कुमारिकाओं के मन में, पथिक को मन्दिर में इस तरह बैठा देख प्रश्न उद्भूत हुए।

दोनों मन्दिर के समीप गयीं। भीतर जाकर उस पथिक को देखा। किन्तु, इस पथिक को उन दो कन्याओं के आगमन का किंचित मात्र भास न हुआ। कैसे होगा ! वह तो ध्यानस्थ अवस्था में परमानन्द का उपभोग कर रहा था।

"अरे, सखी ! उसकी मुखाकृति कितनी शान्त और और तेजस्वी है। जरा गौर से देख"–एक कुमारिका के मुख से शब्द निकल पड़े।

"हाँ ! री, मैं भी वही देख रही हूँ। कोई महात्मा ही लग रहा है"–दूसरी कुमारी ने सम्बोधन किया। फिर दोनों चली गयीं।

कुछ काल पश्चात् एक कुमारिका एक पात्र में दूध और फल आदि उस पथिक के पास रख गई और वापस चली गई।

"क्यों, री, ! क्या दे आई उस महात्मा को ?"–उसकी सखी ने मार्ग में उसको रोक कर पूछा।

"तुम क्या जानती नहीं, महात्मा को यदि श्रद्धा के साथ दूध और फल का आहार दिया जाय तो जो कामना हम करती हैं वह पूर्ण होकर रहती है। तुझे क्या मालूम मेरा विवाह एक बूढ़े सरदार के साथ होने वाला है, वह सरदार जैसे बहुत सा धन मेरे माता–पिता को देकर मुझे खरीदने ही जा रहा है और माता–पिता भी धन की लालच में मुझे उसके साथ शादी कराने के इच्छुक है। मैंने कामना की है मेरी शादी उसके साथ न हो।"

"देखती हूँ, यदि तुम्हारी कामना सफल हुई तो मैं भी तुम्हारे सदृश करूँगी"–सखी ऐसा कहती हुई चली गई।

उस पथिक का जब ध्यान टूटा तब संध्या हो रही थी। उसने फल और दूध भी अपने पास पड़ा पाया। ईश्वर की कृपा और उसके ऊपर अपनी परम श्रद्धा का फल समझकर आहार कर लिया। मन्दिर के फिर से उसने झाड़ और जंगल में जाकर कुछ पुष्प ले आया जिससे उसने शिवलिंग की पूजा की। और फिर से ध्यानमग्न हो गया।

संध्या गई, रात भी बीती, सवेरा हुआ। पथिक

ऐसे ही ध्यानमग्न रहा।

वह दो कुमारिकाएँ फिर से मन्दिर में गयीं। पथिक को इस तरह ध्यानमग्न देख वापस चली गयीं।

पथिक कितने दिनों तक उसी मन्दिर में रहा।

उस कुमारिका की इच्छा कुछ दिनों में पूर्ण हुई। इसलिये अब अन्य कुमारिकाओं में यह बात फैल गई थी कि एक महात्मा आये हैं जिनके आशीर्वाद लेने से इच्छा पूर्ण होती है और दुःख का निवारण होता है। कितनी कुमारिकाएँ उस मन्दिर में जाकर उसको देख भी आईं किन्तु, कुछ कह न सकीं क्योंकि वह पथिक ध्यानमग्न रहता था।

उस पथिक को, उस मन्दिर को छोड़कर कहीं जाना अब अच्छा नहीं लगता था। जैसे उसको उस मन्दिर से जनम-जनम की प्रीति हो, वह अपने आभ्यन्तर में मन्दिर के प्रति अथाह प्रेम का अनुभव कर रहा था। वह हर रोज संध्या के बाद कुमारिकाओं के दिये फल और दूध का आहार करता पश्चात् मन्दिर को झाड़ता और फिर से ध्यान करने लगता, दूसरे दिन की संध्या तक ध्यान करता रहता। इस तरह कितने ही दिन बीत गये। अब तो सारे नगर में यह बात फैल गई थी कि "एक महात्मा आये हैं जिन्होंने एक पुराने मन्दिर में अपना धामा डाला है, बड़े तेजस्वी और चमत्कारी हैं, उनमें सद्भावना रखने पर कामना पूर्ण होती है, रोगी निरोगी बनता है और दुःखी के दुःख का निवारण होकर सुख प्राप्त होता है।"

एक दिन जब वह पथिक सवेरे ध्यानमग्न था तब उस नगर के प्रख्यात और धनवान सेठ जयन्तर ने मन्दिर में जाकर देव, देव की पुकार के साथ उसका ध्यानभंग किया।

"कौन हैं आप ?"—उस पथिक ने पूछा।

सेठ ने कहा—"महात्मा, मैं इस नगर का धनवान सेठ हूँ। कितने वर्षों से इस नगर में रहता हूँ। इतना धन होने पर भी उसका कोई वारिस नहीं है। एक पुत्र-रत्न की लालसा में कितने-कितने वर्षों से मैं तड़पता रहा हूँ। किन्तु मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होती। पुत्र का जन्म होते ही, कुछ काल पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह दो बच्चों का जन्म हुआ दोनों मर चुके। इस वक्त भी मेरी पत्नी गर्भवती है। मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए देव, कि मेरा यह पुत्र जिसका जन्म होने वाला है बचा रहे।"

"सेठ ! ईश्वर पर श्रद्धा रखो, ईश्वर से अपने अन्तर की वेदना बहाते हुये कहो—"हे, ईश्वर ! तुम्हें यह करना ही होगा, मुझे तुम्हारे पर पूर्ण विश्वास है।" मुझे आशा है ईश्वर आपको सहायता करेगा, इच्छा पूर्ण करेगा।

"जाइये एक दीपक ले आइये। अपने अन्तर की श्रद्धा के साथ उसे भगवान् के समीप जलाइये। बना दीजिये उसे श्रद्धा का पहला दीपक।"

सेठ एक दीपक ले आया। उसको भगवान् के शिवलिंग के समीप रक्खा और जलाया।

"अद्भुत ! अद्भुत·········श्रद्धा का पहला दीपक जल उठा·········कितना सुन्दर, बस आपके भीतर भी श्रद्धा का ऐसा दीपक जलना चाहिए। जाइये आपका पुत्र बचा रहेगा यदि ईश्वर के प्रति श्रद्धा का दीपक आपके अन्तर में जलता होगा।"

सेठ नमस्कार करके चला गया।

दिन पर दिन बीतते गये। कितने भक्त लोग मन्दिर की मरम्मत करवाने लगे, कितने प्रतिदिन आकर मन्दिर के आसपास का आँगन साफ करने लगे, कितने उस पथिक की तरह ही ध्यानमग्न रहने लगे।

वह पथिक किसी से कुछ न कहता था। कोई कुछ पूछने पर वह अत्यन्त शान्त मुख से पूछने वालों के सामने देखता फिर उनके अधरों पर स्मित की एक रेखा उद्भूत हो जाती और एक शब्द निकल जाता—"ईश्वर के बन जाओ।"

सच ही जो लोग श्रद्धा के साथ भगवान् के हो गये थे उनका दुःख दूर हुआ।

चार महीने और बीत गये।

जयन्तर सेठ एक दिन फिर से उस पथिक के पास गया और सहर्ष साथ कहा—देव ! सच ही मैं कितना भाग्यशाली हूँ और भगवान् की मुझ पर कितनी कृपा हुई। मेरा बच्चा जन्म के पश्चात् अब तक जिन्दा है।

तब उस पथिक ने केवल कहा—"आपके भीतर जला वह श्रद्धा का दीपक कितना चमत्कारी है......कितना चमत्कारी।"

सेठ का मस्तक श्रद्धा से नत हो गया।

× × ×

अब वह पुराना मन्दिर न था, अब उस जीर्ण मन्दिर का स्थान एक नये मन्दिर ने ले लिया था। अब वहाँ पक्षी न रहते थे, न कुत्ते दिन में घुस जाते थे, न सर्प ही रहते थे, अब वहाँ भक्त जनों की भीड लगी रहती थी। अन्य नगरों से भी लोग उस मन्दिर और उस चमत्कारी पथिक को देखने के लिये आने लगे थे। सेठ जयन्तर को पथिक की कृपा से पुत्र रत्न प्राप्त हुआ यह बात दूर-दूर के नगरों तक फैल गई थी।

भगवान् क्या-क्या नहीं करते ! एक पथिक को महात्मा में परिणत कर दिया। अब उस को वस्त्र मिलते हैं, आहार मिलता है, किसी चीज की कमी नहीं। भगवान् चाहते हैं और वैसा करते भी हैं; पथिक ने जब अपने आप को मुझ से समर्पित कर दिया है तो मैं ही उसको सब कुछ हूँ और वह मस्त, बस मुझ में लीन रहें।

एक दिन की बात है नगर के महाधिराज अश्वपति के राजकुमार को बुखार चढ़ आया। राज्य के हकीम लोगों ने राजकुमार को देखा। पश्चात् चर्याविचारण कर उन लोगों ने राजकुमार को दवाई दी। किन्तु, राजकुमार दो दिन तक अच्छा न हुआ। इस तरह एक हफ्ता चला गया। प्रतिदिन वैद्य और चिकित्सक राजकुमार को दवा देते थे और अन्य प्रकार की सेवा करते थे। दिन प्रतिदिन राजकुमार स्वस्थ होने के अतिरिक्त अधिक अस्वस्थ होने लगा। दूर-दूर के नगरों से भी अन्य चिकित्सक आये, राजकुमार को देखा और दवाईयां दीं किन्तु राजकुमार तनिक मात्र भी स्वस्थ न हुआ। इस तरह महीना चला गया। राजकुमार बहुत पतला हो गया। चल भी नहीं सकता था। कोई समझ नहीं पाता था कि कैसी बीमारी है।

आखिर किसी ने महाराज को उस पथिक के विषय में कहा और सलाह दी कि उसके पास जाने से उसके चमत्कार से राजकुमार अच्छा हो जा सकता है।

महाराज ने भी यह मान लिया और राजकुमार को एक पालकी में बैठा कर अन्य उच्च अधिकारियों के साथ मैं उस मन्दिर गये जहाँ पथिक का निवास था।

पालकी को आंगन में रख दिया गया। महाराज मन्दिर में गये। पथिक ध्यानमग्न था उनसे और अधिक न ठहरा जा रहा था, अपने राजकुमार को यथाशीघ्र अच्छा करना था।

"हे...महात्मा ! महात्मा !" वे चिल्ला उठे।

पथिक का ध्यानभंग हुआ। उसने शांत आँखों से राजा की ओर देखा फिर बाहर खड़े अन्य राजपुरुषों की ओर देखा। उसको यह ज्ञात हो गया कि इस नगर के महाधिराज आये हैं।

"देव, राजकुमार एक महीना से बीमार है, इस बीमारी में वह मृत्यु की ओर घसीटा जा रहा है, कितनी दवाईयां कीं किन्तु कुछ असर नहीं होता, देव आपके आशीर्वाद, मुझे आशा है उसका जीवन बचा दे, आप उसके लिये कुछ कीजिये।"

"महाराज, यह क्या कह रहे हैं आप, कौन कहता है राजकुमार नहीं बच सकता। केवल 'श्रद्धा' नामकी एक औषध की जरूरत है। क्या आपको ईश्वर में अटल विश्वास है !"

"हाँ देव।"

"क्या आपने ईश्वर से अटल श्रद्धा के साथ, अपने अंतर के ऊँडाण से यह प्रार्थना की है कि मेरे पुत्र को अच्छा करना ही होगा।

"हाँ, देव"

"नहीं, आपने नहीं की, अन्यथा राजकुमार कभी का स्वस्थ हो जाता। जाइये राजकुमार को भीतर ले आइये और दो दीपक भी लेते आइये।"

राजकुमार को मन्दिर के भीतर लाया गया। महाराज दो दीपक भी ले आये।

पथिक ने राजकुमार के नयनो में नयन मिलाते हुए कहा—"राजकुमार !, अब केवल एक ही वाक्य की, आवश्यकता है, यदि तुम्हें अच्छा ही होना हो तो यहाँ

तुम्हें भगवान् से प्रार्थना करनी होगी। ईश्वर से कहो तुम्हें स्वस्थ बना दें।"

राजकुमार ने अशक्त किन्तु श्रद्धा के शब्दों से कहा–"भगवन्, मुझे स्वस्थ बना दो, मुझे स्वस्थ बनना है।"

"बस अब समझो तुम स्वस्थ बन गये हो। लो यह दीपक जलाओ।"

राजकुमार ने दीपक जलाया।

"आह..........कितना अद्‌भुत दीपक, बस इस तरह अब तुम्हारे अन्तर में भी, भगवान् के प्रति श्रद्धा का दीपक जलना चाहिए। अब तुम पूर्णतया स्वस्थ हो जाओगे। श्रद्धा का वह दीपक तुम्हारे भीतर रोशनी प्रदान करेगा और इस रोशनी से शरीर का बुखार चला जायगा, नया जीवन मिलेगा। महाराज आप भी यह कामना करते हुए दीपक जलाएँ।"

महाराज ने भी दीपक जलाया।

"आह! उन्मत! प्रदीप! श्रद्धा के तीन दीपक जल चुके। अब नगर में इन प्रदीपों की रोशनी फैलने लगी है। श्रद्धा ही मनुष्य का सच्चा साथी है, सहायक है। ले जाइये राजकुमार को महाराज, वह निरोग बन जायगा, रोग पर श्रद्धा रूपी औषध का असर हुआ है।"

महाराज चले गये।

राजकुमार कुछ दिनों में निरोग बन गया।

किन्तु, दूसरी बार स्वस्थ और निरोग राजकुमार को लेकर वे फिर से मन्दिर में आये तब वह पथिक वहाँ न था। केवल श्रद्धा के तीन प्रदीप अब तक जल रहे थे और भक्तजन ध्यान मग्न बैठे हुए थे। किसी भक्त को पूछने पर उसने बताया कि वे चमत्कारी महात्मा दो–तीन दिनों से यहाँ नहीं हैं, कहीं अलोप हो गये हैं, उन्होंने केवल एक संदेश दिया था–"श्रद्धा ही है जो मनुष्य को सुख प्रदान कर सकती है, जिस तरह लोह-चुम्बक से लोहे के कण खिंच कर आ जाते हैं इसी तरह श्रद्धा से परमात्मा दौड़कर चले आते हैं।"

उस मन्दिर के समीपस्थ बोनो–तालाब में उस वक्त लाल रंग के, बड़े–बड़े सुगन्धि वाले कमल खिल रहे थे।

गुणातीत

श्री शिवशेखर द्विवेदी, कलकत्ता

मंत्र=मंत्र+अल्। इस शब्द का धातुग अर्थ है "रहस्य–कथन"। इसलिए इस शब्द का मूल अर्थ हुआ, रहस्य–कथा–तत्व रहस्य का वर्णन, संकेत।

मंत्र दो प्रकार के हैं–विशद और वीज। तत्त्व रहस्य के सुस्पष्ट भाषा में व्यक्त होने पर मंत्र को व्यक्त-मंत्र–विशद कहते है। वीजगणित के आक्षरिक सूत्रों की तरह यदि मंत्र संक्षिप्त हो अथवा सेना की संकेत–भाषा अथवा वंशी की सिसकार की भाँति रहस्य का स्मारक हो, तो उसे ही अव्यक्त–मंत्र अथवा वीज मंत्र कहते हैं।

उदाहरण

विशद मंत्र–दो संख्याओं के जोड़ और अन्तर का गुणनफल, उनके (दोनों संख्याओं के) वर्ग के वियोग फल के समान है।

वीज मंत्र– $(क+ख)(क-ख)=क^2-ख^2$।

किसी तत्त्व को आसानी से याद करने के लिए ही हम मंत्र–रचना–आविष्कार करते हैं और अत्यन्त सहज

...स्मरण रखने के लिए हम वीज–मंत्र का आविष्कार ...हैं। विभिन्न रहस्यों के लिए हम विभिन्न मंत्रों का ...ष्कार करते हैं। जिसे जो तत्त्व प्रिय है, उसे उसी ...का मंत्र भी उसे अति प्रिय होता है। जिसे अध्यात्म ...नहीं रुचती, ईश्वर की चर्चा जिसे अप्रिय है, उसे ...उद्दीपक स्तव आदि विस्तृत मंत्र अप्रिय ही होंगे। ...ओं, श्रीं, क्लीं, ह्रीं आदि बीजमंत्र अति विरक्तकर ...।

विषय को स्मृतिपटल पर आंकने के लिए ही शब्द ...जरूरत है। शब्द और विषय में एकतान होने से ...र्थ का बोध नहीं होता। जैसे 'घट' इस विषय के ...ही शब्दोदय होने से (घट) शब्द सार्थक होता है। ...शब्द से विषय–वस्तु का बोध न हो तो वह नीरस है। ...शब्द स्मृति पटल पर अपनी छाप नहीं लगाता। ...शब्द से क्या विषय आंकना होगा, इसकी कोई ...क विधि नहीं है। लेकिन एक संग रहने वालों में ...आदमी किसी वस्तु को किसी शब्द द्वारा किसी कारण ...त करते हैं, तब उनमें वही शब्द उस पदार्थ का ...क होता है। उसी शब्द के सहारे उस पदार्थ की चिन्ता ...और अपने-पराये मन में उस विषय का बोध जगाना ...होता है अनेक अक्षर के शब्द के जो नियम है, संक्षिप्त ...के भी वही नियम हैं। यह मन्त्र–रहस्य कोई गुप्त ...नहीं है। वह एक प्रकार से शब्द रहस्य है।

भाव–प्रकाश के लिए कोई भी शब्द चुना जा ...है, जिस भाव के लिए जो शब्द चालू है, उसे ...ग करने का कोई कारण नहीं है। हम लोक प्रचलित ...धन का संचय कितने कष्ट से करते हैं, इसका कहीं ...नहीं। उन सभी भावपूर्ण शब्दों को छोड़कर मन गढ़े ...का प्रयोग करने से दूसरों को उनमें कोई रस नहीं ...सकता। और जिस शब्द का अर्थ दूसरा ग्रहण नहीं ...ा, उससे अनायास ही मन हट जाता है।

अनेक पाठक कह सकते हैं; बाज तो 'ईश्वर' शब्द ...कुछ न समझ सकने के कारण, पाँच के भय से ही किसी ...शब्द की मर्यादा रक्षा करते चल रहे हैं–उन पर ओं ...श्रीं ह्रीं ह्रौं आदि का उपद्रव क्यों और कैसे चले।

उत्तर में निवेदन है कि यदि किसी में अध्यात्म समझने की जरूरत नहीं पैदा हुई, सुख–दुःख के दाँव–पेंचों की चोट से जर्जर होने पर भी तो उससे बच निकलने का ध्येय न हो, तो उसे 'ईश्वर' शब्द की कोई जरूरत नहीं। सचमुच ही उससे ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं। और ईश्वर वाचक संक्षिप्त शब्द से तो उसका कोई मतलब ही नहीं है। भोजन स्वार्थ–लिप्सी मानव के लिए निराहार और अल्पा तथा मिताहार का अर्थ क्या? ऐसों के लिए भोजन, पद–अलक, अक्षि और उरोज आदि शब्दों में ही रस है। जैसे व्याकरण के छात्र के लिए 'अ इ उ ण्' सूत्र में रस है और व्याकरणमूढ़ के लिए यही व्यर्थ है, वैसे ही विशद और वीज मंत्र भी रसिक और अरसिक के लिए हैं।

> दूसरों की सहायता करने की कामना के चक्कर में मत पड़ो–तुम स्वयं आन्तरिक साम्यावस्था में रहते हुए वही करो अथवा बोलो जो उचित हो और सहायता को सीधे भगवान् से ही उनके पास आने दो। एकमात्र भगवत्कृपा को छोड़ दूसरा कोई वास्तव में मदद नहीं कर सकता।
>
> –श्री अरविन्द

जप

जप के सम्बन्ध में पातञ्जलि कहते हैं–

"तज्जपस्तदर्थ भावनम्" अर्थात् "जप" कहने का अर्थ है मन्त्रार्थ की भावना–चिन्ता। मन में शब्द के साथ तद्गत भावोदय होता है। इसीलिए जप का अर्थ स्मरण है। मंत्र का जप से हृदय में भाव स्फुरित होता है।

बीजगणित के अक्षरों का भाव समझे बिना जैसे गणित करना निष्फल है, मन्त्र का अर्थ समझे बिना जप भी उसी प्रकार बेकार है, फल-हीन है।

मंत्र, उसका उद्देश्य अर्थ समझे बिना बाज–बाज इसे ठगी का कौशल समझते हैं। बाज इसे अतिगुप्त रहस्य

मय और मुक्तिदाता मानकर उद्देश्यहीन भाव से ही इसकी आवृत्ति करते हैं। बाज समझते हैं कि एक-एक मंत्र में एक-एक शक्ति छिपी हुई है और विशेष-विशेष क्रिया द्वारा इनकी प्रच्छन्न शक्ति को चैतन्य कर पाने से असाध्य-साधन सम्भव है। किसी-किसी के मत से जन्म-चक्र की राशि के अनुसार मंत्र-चयन न कर पाने से श्रम सफल नहीं होता। कहाँ तक कहें हमारे ऐसे दैन्य का कहीं अन्त नहीं है।

जो हो, गीता में 'ॐ तत् सत्' इन तीन शब्दों का उल्लेख है। यह वर्णन अध्याय ७।८; ८।१३; ९।१७; १०।२५ और १७।२३ में देखने लायक है। *

सत्-ईश्वर अविनश्वर और सनातन है। वे आदि से अन्त तक रहेंगे ही। जो अनन्तकाल तक रहेगा, वही 'सत्' है। इसीलिए ब्रह्म सत् है।

तत्-उस पूर्ण, असीम अव्यय ब्रह्म की कोई उपमा नहीं है। उनके अनोखे विराट्रूप की अनुभूति अनिर्वचनीय है। इसीलिए तत् (वह) ही उनका उत्तम विशेषण है। उसकी उपमा वही है। ॐ- अ+उ+म्=ॐ। "अ" और "उ" सन्धि प्रक्रिया से ओ हुआ। म् अनुनासिक है। इसकी ध्वनि ँ रूप है। अव्, उष् और मन् धातुओं के आदि वर्ण लेकर यह शब्द बनाया गया है।

अ- अव्यते-रक्षते जगत् अनेन इति सत्वं विष्णुः।
उ- उष्यते-हृत्यते " " " तमः शिवः।
म्- मन्यते (इच्छामात्रेण सृज्यते) " रजः ब्रह्मा।

अतएव (ॐ) से सृष्टि स्थितिलय के महाकारण परमब्रह्म ही का बोध होता है।

महायोगी पतंजलि का भी वचन है "तस्य वाचकः प्रणवः" (१।२७।) अर्थात् "ॐ" ईश का वाचक है। "ॐ" से ब्रह्म का ही बोध होता है प्रणव=प्रकर्षेण नूयते (स्नूयते) ब्रह्म अनेन इति प्र+नु+अल्=जिस शब्द से अति उत्कृष्ट रूप ब्रह्म की स्तुति की जाय, वही प्रणव अर्थात् ॐ है।

सृष्टि, स्थिति और लय (नाश) ये तीन पृथक् क्रियायें नहीं हैं; केवल ब्रह्म इन तीनों क्रियों में नियुक्त है, ऐसी बात भी नहीं है। बल्कि ये तीनों ही एकमात्र "सत्" के लक्षण हैं। वस्तु-समूह के संयोग-वियोग से नियत का ही रूपान्तर घटित होता है। इस संयोग-वियोग पर कहीं विराम नहीं है। इसीलिए रूपान्तर में भी विराम नहीं है। किन्तु मूल पदार्थ ज्यों का त्यों ही है। और सदा ऐसा ही रहेगा। इसलिए जन्म-मृत्यु (सृष्टि-लय) "सत्" के ही दो भाव हैं। जैसे काठ को जलाने से हम काठ का नाश, अंगार का जन्म प्रत्यक्ष करते हैं। तब हम काठ और अग्नि के संयोग को क्या कहेंगे, सृष्टि कारक अथवा नाश कारक? हमारी दृष्टि जहाँ रमेगी, हम वहीं कुछ प्रत्यक्ष करेंगे। इसलिए यदि हम काठ जल गया अग्नि से तो काठ का नाश सत्य है और हम अंगार का जन्म हुआ कहें तो यह भी सत्य है। और अगर कहें सृष्टि-नाश कुछ भी नहीं हुआ, वस्तु-समष्टि ज्यों की त्यों है, तो यह भी सत्य है।

हम इस प्रकार "सत्" ब्रह्म के अन्तर्गत अपरा प्रकृति (स्थूल मूर्ति) का नियत रूपान्तर देखते हैं। इस रूपान्तर में जब हमारी निगाह सृष्टि पर जमती है, तब सृष्टि; नाश पर जमने से लय और उसकी अव्ययता, अखण्डता को जब प्रत्यक्ष करती है, तब पालक, रक्षक कहकर हम उसे जानते हैं। उसमें इस प्रकार तीन गुणों की क्रिया देख पड़ती है। किन्तु वास्तव में नवीन कुछ भी नहीं हुआ। न कोई जन्मा, न लय हुआ, इसीलिए वह गुणातीत है। (१) गुणातीत और अनिर्वचनीय (२) अविकारी और नित्य। (३) सत्, रज, तम इन तीनों गुणों की लीला का प्रकाशक वही है; इसीलिए १-तत् २-सत् ३-ॐ वह है।

★

---

*रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु। ७।८
ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यःप्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्। ८।१३
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च। ९।१७
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरं।
यज्ञानाम् जप यज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः। १०।२५
ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा। १७।२३

मैं तथा तुम

श्री शिवमूर्ति ब्रह्मचारी

मैं तथा तुम—ये दोनों ही अत्यन्त सरल शब्द हैं। जन्म से लेकर मनुष्य इन दोनों का सम्भवत: जितना प्रयोग करता है उतना अन्य किसी शब्द का नहीं। इन दोनों के भाव पृथक् हैं। इस बात की शिक्षा जीवन में पहले ही हो जाती हैं, साथ ही ये दोनों वस्तुयें इस प्रकार परस्पर विरोधी हैं कि इनमें गड़बड़ी होने की कोई भी सम्भावना नहीं है किन्तु ज्ञान तथा भक्ति विषयक विरोध इन दोनों शब्दों से जितना हुआ है उतना और किसी से नहीं। (तुम तथा भक्ति) भक्त कहता है प्रभु मैं कुछ भी नहीं हूँ तुम्हीं सब कुछ हो। रोग शोक से जर्जरित, काम क्रोध से उन्मत्त प्राय: यश सम्मान के भिखारी वायु की तरह अस्थिर बुद्धि इस मैं की भी क्या कोई शक्ति है इस मैं के द्वारा क्या कभी कोई साधन भजन का भी अनुष्ठान होगा, जिससे कि तुम्हारी प्राप्ति होगी? जल में पत्थर का तैरना वानरों का संगीत तथा आकाश कुसुम भी किसी समय सत्य हो सकते हैं। किन्तु इस नगण्य 'मैं' की कुछ शक्ति है और उसशक्ति के द्वारा तुम्हारी प्राप्ति होगी, यह कदापि संभव नहीं। तुम मेरे प्राणों के भी प्राण स्वरूप हो सर्वस्व धन हो, तुम्हारी जो इच्छा है वही पूर्ण हो। नाहं नाहं तुम्हीं हो तुम्हीं हो। भक्त एक महान् तुमको देखता है जिनके प्रवर्तित नियम के अनुसार ही सूर्य तथा नक्षत्र घूम रहे हैं। अग्नि ज्योति प्रदान कर रही है, मृत्यु सबको ग्रस रही है। भक्त देखता है कि फिर वही तुम प्राणों के प्राण नेत्रों की ज्योति तथा भुजाओं की शक्ति है, प्रेम ही उनका स्वरूप है। साथ ही वह परम रमणीय हैं? उस सौन्दर्य के सामने और सब सौन्दर्य फीके पड़ जाते हैं उस शक्ति के सम्मुख अन्य समस्त शक्तियाँ पराजित हैं। यह महान तुम निकट से भी निकटतर है अपने से भी अधिक अपना है। मोहित तथा स्तम्भित होकर भक्त इनको ही इष्टदेव मान कर वरण करता है तथा महान उत्साह के साथ उस तुम नाम महामन्त्र की दीक्षा ग्रहण करता है। (मैं तथा ज्ञानी)

ज्ञानी देखते हैं कि शरीर निरन्तर परिवर्तन शील है। मन भी उसी प्रकार है—सर्वदा बदल रहा है घूम रहा है घट बढ़ रहा है। चन्द्रोदय कालीन समुद्र की तरह भाव धारा कभी तो उत्ताल तरंगे लेकर गंभीर गर्जना के साथ दौड़ रही है और कभी प्रच्छ प्रवाह फल्गु की तरह क्षीण धारा में प्रभावित होकर बालुका राशि का अतिक्रमण करती करती सूख रही है। किन्तु बाल्य यौवन वार्धक्य—, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति, शरीर मन बुद्धि—भूत भविष्य वर्तमान इन सभी अवस्थाओं में एक अनन्त परिवर्तन रहित निर्मल नित्य स्रोत प्रवाहित जिसके आघात से अन्तस्तल में सर्वदा अहं अहं की ध्वनि उठ रही है। स्थिर चित्त वृत्तियों को विशेष विशेष रूप देकर बुद्धि उन्हें चंचल बना रही है। प्राण चक्र प्रवर्तित होकर इन्द्रिय वर्ग अपने-अपने कार्यों में नियुक्त कर रहा है। ज्ञानी इस अनित्य के अन्दर उस नित्य का अचेतन में उस चेतन का शक्ति हीन में उस परिपूर्ण शक्ति का दर्शन पाकर स्तम्भित तथा विस्मित हो उठते हैं साथ ही वे देखते हैं कि जगत में स्त्री पुरुष जीव जन्तु ग्रह नक्षत्र जड़ चेतन इन सभी में उस नित्य की छवि विद्यमान है। वे देखते है कि इस तुच्छ मैं का यथार्थ स्वरूप महान तथा नित्य है। परम उत्साह के साथ वे कह उठते हैं। इस जगत की सृष्टि स्थित तथा लय मुझमें ही लय हो रहे हैं। मैं ही तथा ज्ञान शक्ति का एक मात्र आकर हूँ। मैं ही नारायण हूं मैं ही पुरान्तक महेश्वर हूँ। न तो मुझे मृत्यु तथा शंका ही स्पर्श कर सकते हैं। और न जरा जन्म बन्धन ही।"

"न मृत्युर्न शंका न मे जाति भेदः
पिता नैव में नैव माता च जन्म।
न वन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहम शिवोऽहम॥

*

सर्वोपयोगी एवम् आकर्षक

रामतीर्थ मासिक

सम्पादकः—योगिराज श्री उमेशचन्द्र जी

- हिन्दी जगत में सुप्रसिद्ध
- यौगिक एवम् प्राकृतिक चिकित्सासे रोगनिवारण
- प्राणायाम तथा मानसिक इलाज से मानसिक रोग निवारण
- योग, वेदान्त, उपनिषद्, गीता, योग वसिष्ठ
- रामायण प्रश्नोत्तर
- आश्रम समाचार, स्वानुभव, कहानियाँ
- अप्रैल तथा दीपावली विशेषाङ्क
- हर महीने में २०० से अधिक पृष्ठों से अधिक पृष्ठ संख्या
- डाक व्यय के साथ केवल ५) रुपये १ प्रति के ५० पै०
- सर्वत्र प्राप्य

श्री रामतीर्थ योगाश्रम, बम्बई १४

"हृदय की मौन भाषा का निरूपण जब तक व्यवहार की भाषा में नहीं होता तब तक उसका उपयोग नहीं किया जा सकता और उसे कोई समझ भी नहीं पता,,

यदि आप भी अपने सीमित व्यापार की उन्नति चाहते हैं तो

अखण्डप्रभा

में

विज्ञापन देकर अवश्य लाभ उठाइये।

आज ही विज्ञापन–दर तथा अन्य विवरण के लिए लिखिए—

विज्ञापन व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

अखण्डप्रभा प्रकाशन

के उपयोगी ग्रंथ

१– मैं क्या हूँ ?	२.००
२– प्रकाश-किरण	१.००
३– प्रकाश-कीर्तन	१.००
४– अमृत–बिन्दु	१.५०
—वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द	
५– मैं और परमात्मा —स्वामी परमानन्द	१.००
६– अखण्डवचनामृतम्	१.२५
७– ब्रह्मानन्द कीर्तन संग्रह (भाग १)	०.७५
८– ब्रह्मानन्द कीर्तन संग्रह (भाग २)	०.२५
९– आत्म-माला	०.५०
१०– अखण्डानुभव	०.५०
११– गुप्तानन्द कीर्तन संग्रह	०.१०
१२– अखण्डप्रभा विशेषांक (वर्ष ४)	१.००

(डाक–व्यय अतिरिक्त)

सभी पुस्तकों को मँगाने के लिए लिखिए—

अखण्डप्रभा प्रकाशन

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

'अखण्डप्रभा प्रकाशन' की एक अनुपम भेंट

'मैं और परमात्मा'

लेखक

श्री स्वामी परमानन्द जी

जिसे पढ़कर आप आत्मानुभूति के दिव्य–प्रकाश की झलक पा सकेंगे। भाषा सरल और सुबोध है। शैली आकर्षक और प्रभावपूर्ण है।

पॉकेट साइज—मूल्य १.०० (डाक व्यय अतिरिक्त)

आज ही पुस्तक मँगाने के लिए लिखिए—

अखण्डप्रभा प्रकाशन

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

ब्रह्मलीन श्री स्वामी प्रेमानन्द जी, एम० ए०

काल की क्रूर हँसी कब और किस पर बज्रपात कर दे, कौन जान सकता है ? हमें यह सूचित करते हुए अत्यन्त खेद है कि 'मानव-जाग' Awake O' Man पत्रिका के संस्थापक श्री स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज, एम० ए०, जालन्धर-पठानकोट के बीच अचानक कार दुर्घटना में ब्रह्मलीन हो गए। श्री स्वामी जी ने ३४ वर्ष की अल्प आयु में देश-विदेश का भ्रमण कर वेदान्त-ज्ञान का व्यापक प्रचार किया। इनके द्वारा हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू में अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। श्री स्वामी जी वस्तुतः प्रेम और आनन्द की प्रतिमूर्ति थे। उनके मुक्त हास्य में जहाँ स्वतन्त्रता और निर्भयता दिखाई पड़ती थी, वहाँ उनकी वाणी में अनुपम ओज और प्रेरणा भरी रहती थी। वह कहा करते थे-'जीवन का मूल आनन्द है। दुःखी होना अपराध है।'

'अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र' द्वारा आयोजित गत वर्ष के वेदान्त-सम्मेलन में श्री स्वामी जी ने जो आत्मीयता प्रदान की उसने सबके हृदय में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इनके ही विशेष आग्रह पर जम्मू के वेदान्त सम्मेलन में केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी गए थे। केन्द्र के सदस्यों द्वारा ब्रह्मलीन श्री स्वामी प्रेमानन्द जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने के लिए दिनांक २७-४-६५ को एक सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में स्थानीय नागरिकों और उनके समस्त प्रेमीजनों ने भाग लिया। इस सभा में उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए एक विशाल पुस्तकालय बनाने का प्रस्ताव रखा गया जिसका सभी ने हार्दिक स्वागत किया।

'अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र' के सदस्यों तथा 'अखण्डप्रभा' के प्रेमी पाठकों की ओर से उस महापुरुष के प्रति हम अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। हमें विश्वास है कि श्री स्वामी जी के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हम निरन्तर संलग्न रहेंगे।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

केन्द्र के विविध समाचार

केन्द्र के परमाध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज का अपने पूर्व कार्यक्रमानुसार विभिन्न स्थानों में भ्रमण हुआ। हरिद्वार तथा जम्मू के वेदान्त सम्मेलन का कार्यक्रम विशेष रहा।

श्री स्वामी जी का अगले मास का कार्यक्रम निम्न प्रकार है:—

८ मई से ७ जून तक

मई
८ से १० — कानपुर
११ से १३ — बंगरा (जालौन)
१४ से १५ — टेढ़ा (हमीरपुर)
१६ से २० — पूरे औदानसिंह (रायबरेली)
२१ से २३ — बिरखेरा (हमीरपुर)
२४ से २५ — श्री रामाधार, प्रधानाध्यापक द्वारा आयोजित कार्यक्रम
२६ से २९ — कानपुर
३० से ५ जून तक — हिसार
६ से ७ — कानपुर

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र – अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

Govt. Regd. No. R. N. 6873/59
अखण्डप्रभा
मई, १९६५
रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक ९

सच्ची दया

साधारणतया लोग दया का अर्थ यह समझते हैं कि अपने किसी मानव भाई को भौतिक सहायता दी जाय, गरीबों को भिक्षा, बीमारों को दवा, जिन्हें आवश्यकता हो उन्हें धन या सामिग्री दी जाय तथा जहाँ जरूरी हो वहाँ शारीरिक सेवा भी की जाय। यह सब बहुत अच्छा और उपयोगी है। यह संसार रोगों और अभावों और विपदाओं से जर्जरित हो रहा है। और यदि उन्हें हलका करने के लिए कुछ किया जाय तो यह उचित ही है, और इस दिशा में किए गये कार्य पूरा प्रोत्साहन पाने के योग्य हैं। परन्तु यह वस्तुओं के साथ व्यवहार करने का मानवीय ढंग है और स्वभावतः ही अपने क्षेत्र और परिणाम में बहुत सीमित है। एक उच्चतर, दिव्यतर पद्धति भी है—आत्मा की पद्धति है जिससे पार्थिव विपत्तियों को दूर किया जा सकता है, केवल हलका ही नहीं बल्कि उनका पूरा शमन किया जा सकता है।

यह बात सच नहीं है कि जब किसी के अभाव की पूर्ति हो जाती है तो वह सर्वदा प्रसन्न हो जाता है या बना रहता है; सभी गरीब लोग अप्रसन्न नहीं होते, न सभी धनाढ्य निरन्तर प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न रहना एक गुण है जो किसी अन्य वस्तु पर निर्भर है और किसी अन्य स्थान से आता है। यह सीधी तौर पर भौतिक समृद्धि के अनुपात में नहीं प्राप्त होता। अप्रसन्नता भी एक मनोवैज्ञानिक वस्तु है और मन तथा प्राणशक्ति—और फलतः भौतिक सत्ता के किन्हीं विशिष्ट प्रकम्पनों पर निर्भर है जो आन्तरिक व्यक्तित्व के मर्मस्थल में स्वयं चेतना के अन्दर कोई ऐंठन होने के कारण उत्पन्न होते हैं। भौतिक अवस्थायें महज उसके व्यक्त होने में सहायक होती हैं, उसे बनाये रखतीं या बढ़ा देती हैं, परन्तु उसे उत्पन्न नहीं करतीं—सच पूछा जाय तो वे ही इसके द्वारा सृष्ट होती हैं। यही कारण है कि आध्यात्मिक चिकित्सक सर्वदा ही शारीरिक बीमारियों के लिए भी रोग, विपत्ति और मृत्यु के लिए भी एक मात्र औषध के रूप में आत्मा के आनन्द की ही ओर संकेत करते हैं। और दुःखी मर्त्य जीवों से सदा ही अपनी विपत्ति के समय एक मात्र भगवान् की ओर मुड़ने के लिए कहा जाता है—'भजस्व माम्'।

सच्ची दया है उस घाव पर मलहम लगाना जो उसी मूल स्रोत और पोषक वस्तु से उत्पन्न सभी बाहरी आपदाओं के पीछे छिपा हुआ है। और यह गुण एकमात्र उसी के अधिकार में होता है जिसने आत्मा का आनन्द प्राप्त कर लिया है और उसी में निरन्तर निवास करता है। ऐसे व्यक्ति को निरोग करने और आराम पहुँचाने के अपने काम के लिए किसी बाहरी उपसाधन की आवश्यकता नहीं होती।

परदुःख कातर होकर कृपा दिखलाने की वृत्ति खतरनाक होती है, क्योंकि यह तुम्हें एक ऐसी मानसिक स्थिति में ला रखती है। जिससे कि तुम अपनी कृपा के पात्र को अपने से हीन और अपने को उससे श्रेष्ठ समझते हो। मिथ्याभिमान और महत्त्वाकांक्षा वे प्रेरक शक्तियाँ हैं जो सहानुभूति से उद्भूत परोपकार—भावना के पीछे विद्यमान रहती हैं।

—श्री माताजी

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक
मासिक पत्रिका

भेदहृष्टि की निन्दा

जो तत्व इस (देहेन्द्रिय संघात) में भासता है वही अन्यत्र (देहादि से परे) भी है और जो अन्यत्र है वही इसमें है। जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को [अर्थात् जन्म-मरण को] प्राप्त होता है।

जून, १९६५
वर्ष ६ अङ्क १०

संस्थापक

ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

संरक्षक

वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द

सञ्चालक

स्वामी परमानन्द

प्रकाशक

भूपरानी भार्गव

कार्यालय

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर–२

चन्दा

आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति [साधारण] ३७ पै०
एक प्रति [सम्मेलनांक] ७५ पै०
एक प्रति [विशेषांक] १.००

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

आवश्यक सूचना

प्रेमी पाठकों की सेवा में अखण्डप्रभा का अङ्क १० प्रेषित किया जा रहा है। इसके बाद वर्ष के दो अङ्क और प्रकाशित होंगे। वर्ष ७ का प्रारम्भ नयी सजधज के साथ प्रकाशित विशेषाङ्क से होगा। प्रेमी पाठक वार्षिक चन्दा भेजकर अभी से अपनी प्रति सुरक्षित करा लें क्योंकि विशेषाङ्क केवल उन्हीं ग्राहकों को भेजा जायगा जिनका वार्षिक चन्दा प्राप्त हो जायगा अथवा जिनके ग्राहक बने रहने की पूर्व सूचना प्राप्त हो जायगी।

जिन प्रेमी ग्राहकों ने वर्ष ६ का वार्षिक चन्दा नहीं भेजा उनसे पुनः विनम्र निवेदन है कि वे शीघ्र ही अपना चन्दा भेजने की कृपा करें।

व्यवस्थापक—'अखण्डप्रभा'

आगामी अंक में

सृष्टि	—स्वामी हरिगिरि
निठल्ला	—स्वामी प्रकाशानन्द
अरे इन्सान जाग!	—स्वामी दिव्यानन्द
धर्म का रहस्य	—प्रेमचन्द्र मिश्र
ध्यान	—स्वामी निर्मल

अन्य रचनाएँ

कहानी, लघुकथा, अखण्ड-चिन्तनधारा पत्रावलि से।

'येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'

सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

कानपुर, जून, १९६५ | अङ्क १०

ध्यान

ध्यान लगाने वाले के लिए ध्यान नहीं है। ध्यान लगाने वाला विचार कर सकता
तर्क कर सकता है, बना या बिगाड़ सकता है लेकिन वह ध्यान को नहीं जान सकता है, और
ना ध्यान के उसका जीवन समुद्र के खाली सीप की तरह है। उस खाली स्थान में कुछ भी
ना जा सकता है, लेकिन यह ध्यान नहीं है। ध्यान कोई क्रिया नहीं है जिसका मूल्य किसी
जार मे आँका जाय, इसकी अपनी स्थिति है जिसकी कोई नाप नहीं हो सकती। ध्यान
ाने वाला केवल बाजार की क्रिया को जान सकता है जो शोरगुल से भरा है और इस
र गुल से ध्यान की शान्त स्थिति को नहीं पाया जा सकता। कारण से कार्य और कार्य
कारण की अवस्था का शाश्वत चक्र है जिसके बीच में ध्यान लगाने वाला फँसा रहता है।

—जे० कृष्णमूर्ति

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

मोह की छाया

त्रिगुणात्मिका प्रकृति की छाया में पला हुआ मानव जिस समय जीवन के उतार चढाव में डोलती हुई नाव की तरह से इधर उधर झकोरे खाता है, उस समय उसकी अन्तःस्थिति विक्षेप के कारण व्यथित अवस्था में रहती है और वह उस व्याकुलता से छूटने के लिए प्रयत्नशील होता है परन्तु प्रकृति की छाया की कालिमा उस पर ऐसा असर डालती है कि वह किसी भी प्रकार से इस अवस्था से वह निवृत्त नहीं हो पाता। अन्तःस्थिति में प्रकृति के कुछ ऐसे विकार होते हैं जिनके कारण वह व्याकुलता से बच नहीं पाता। काम क्रोध आदि विकारों को ही इस व्याकुल अवस्था का कारण कहा गया हो इनमें मोह की स्थिति सबसे अधिक जटिल गम्भीर और सूक्ष्म है। यहाँ तक कहा गया कि:—"मोहं सकल व्याधिन कर मूला" यदि समस्त विकारों के मूल में मोह की प्रधानता है तो इसकी पूर्णतः निवृत्ति हो जाने पर अन्य सभी विकारों की निवृत्ति हो सकती है। इस प्रसंग में यह विचार करना है कि जब मोह ही की निवृत्ति से शान्ति प्राप्त हो सकती है तो सभी साधन इसी के लिए होने चाहिए परन्तु देखा यह जाता है कि मोह की अवस्था को जानते हुए भी हम उससे छूट नहीं पाते और किसी न किसी रूप में वह अपना स्थान बनाये रखता है।

मोह अन्तर की एक ऐसी अवस्था है जिसके पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। जिन लोगों का भौतिक प्रयोजन होना है उनके लिए मोह से छूट जाना प्रायः कठिन है क्योंकि भौतिक पदार्थों का लगाव व्यक्ति के साथ स्थूल रूप में रहता है। यह स्थूल लगाव उनके प्रयोजन को भी सिद्ध करता है इसके अतिरिक्त मोह के मूल में कामना की पूर्ति भी छिपी रहती है जब हम जानते हैं कि मोह की अवस्था से हमें दुःख की प्राप्ति होती है फिर भी हम उससे सहज ही नहीं छूट पाते तो इसका तात्पर्य है कि मोह के कारण से प्राप्त दुःख की अपेक्षा प्रयोजन अथवा कामना की पूर्ति का सुख अधिक है। कोई पदार्थ सहज ही तभी छोड़ा जा सकता है जबकि उससे अधिक मूल्यवान की प्राप्ति का अनुमान हो यह समस्या उस समय और भी जटिल हो जाती है जब कि भौतिक मूल्यों का आध्यात्मिक मूल्यों से ठीक प्रकार समन्वय नहीं हो पाता। जब तक अधिक मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति का निश्चय नहीं होगा तब तक हाथ की कम मूल्यवान वस्तु भी छोड़ी नहीं जाती। भौतिक मूल्य तो स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, परन्तु आध्यात्मिक मूल्यों का स्पष्ट दर्शन नहीं हो पाता। मोह भी इसीलिए बना रहता है कि जिससे हम हटना चाहते हैं। उससे अधिक उपयोगी वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। मोह के रहते हुए अन्य विकार सहज ही आ जाते हैं। ज्ञान आदि साधनों का भी यही तात्पर्य है कि किसी प्रकार से भौतिक पदार्थों से लगाव कम हो। यहाँ पर लगाव न होने का यह तात्पर्य नहीं कि वह वस्तु ही मिट जाय अथवा हट जाय। वस्तुतः इसका तात्पर्य है कि पदार्थों का बाह्य सम्बन्ध कितना ही हो परन्तु अन्तर में उसके प्रति किसी प्रकार की कोई कामना न हो। जिस समय कोई कामना न होगी उस समय पदार्थ के रहते हुए भी उनके प्रति लगाव या मोह नहीं होगा। इस प्रकार यदि मोह की इस छाया से कोई बचना चाहता है तो स्वयं स्थान से कहीं भागने की आवश्यकता नहीं अपितु ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता है। ज्ञान दीपक की इस ज्योति से मोह की छाया स्वतः मिट जायगी और सभी प्रकार के भ्रम दूर हो कर आत्म-स्थिति प्राप्त होगी।

★

एक प्रवचन

ज्ञान की महिमा

वेदान्तवारिधि श्री हरिगिरि जी महाराज, बकलोह (हिमाचल प्रदेश)

ज्ञान और कर्म का सम्मेलन नहीं होता है। ज्ञान तो (जन्म मरण के) भ्रम को दूर करता है। यह न कुछ करता है न विगाड़ता है। वेदान्त को सुनकर भी यदि कर्मों में प्रवृत्ति किसी को रही हो तो समझो उसने वेदान्त के मर्म को अभी नहीं जाना है। वास्तव में वेदान्त श्रवण कर्म सन्यास होने पर ही अपना फल लाता है। यदि पहले कर्मों में उपरामता (कर्म सन्यास) नहीं हुई होगी तो वेदान्त श्रवण चाहे सारी आयु करते रहो कोई विशेष लाभ नहीं होगा! यदि वेदान्त सुनकर भी बाद में कर्मों में प्रवृत्ति रही तो वेदान्त का ऐसा श्रवण चाहे चालीस वर्ष कोई करता रहे उसको क्या विशेष लाभ होगा। इस लिए जो व्यावहारिक वेदान्त (ज्ञान जान कर मुक्ति नहीं, बल्कि कर्म में प्रयोग करके मुक्ति) गाते हैं, वे क्या वेदान्त समझे हैं। खाक समझे हैं। वे वेदान्त से अज्ञान में हैं वे वेदान्त की महत्ता नहीं समझे। वेदान्त तो कर्म का, कर्मों की जड़ काटता है। आप लोग भी वेदान्त के प्रभुत्व को नहीं समझे हैं। यही कारण है कि वेदान्त आप लोगों को फलदायक नहीं होता क्योंकि आपकी कर्मों में अभी प्रवृत्ति है, कर्म सन्यास नहीं हुआ है।

प्रत्येक प्राणी की वास्तविक आन्तरिक अभिलाषा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति' है। प्राणी इस अभिलाषा की पूर्ति वह बिना कुछ किए ही चाहता है। वह चाहता है कि मुझे करना कुछ भी न पड़े और यह आन्तरिक अभिलाषा मुफ्त में प्राप्त हो जाए। वास्तव में उसकी यह अभिलाषा अनुचित और कृत्रिम नहीं है बल्कि यथोचित और स्वाभाविक है। वास्तव में कर्म ही दुःख का हेतु है और कर्म न करना ही सुख है। कर्म न करना ही मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम सभी चाहते हैं कि हमें ब्रह्म प्राप्ति मुफ्त में बिना कर्म किए ही हो जाये करना कुछ न पड़े। यदि कर्म करते भी हैं तो कर्म कर्म के लिए नहीं बल्कि सुख के लिए करते हैं ताकि सुख प्राप्त हो जाय। यदि कर्म करके दुःख प्राप्त होता है तो हमारी इच्छा तो दुख प्राप्त करने की नहीं होती बल्कि सुख प्राप्त करने की होती है। परन्तु सुख की खोज में दुःख आ जाता है क्योंकि कर्म करना ही दुःख है। कर्म न करना ही सुख है। अक्रिय रहना ही सुख है। यही कारण है कि आत्मा ब्रह्म अक्रिय है। ब्रह्म का अर्थ बृहद् बड़ा होता है। और बड़ा वही होता है जो अक्रिय होता है (करता कुछ नहीं हैं)। देख भी लो अमीर बड़ा कहलाता है क्योंकि वह करता कुछ भी नहीं है। इसलिये वह ज्यादा सुखी और बड़ा है। परन्तु इसके विपरीत मजदूर कर्म करता है। इसलिए अमीर की अपेक्षा छोटा और कम सुखी है। देख लो सभी प्राणियों में राजा सबसे बड़ा और सुखी होता है क्योंकि वह करता कुछ नहीं हैं अक्रिय है। समाधिस्थ महात्मा राजा से भी बढ़कर सुखी है क्यों कि वह उससे भी बढ़कर अक्रिय है। नियम यह निकला कि जितना ज्यादा अक्रिय उतना बड़ा सुखी होता है। और ब्रह्म इसीलिए ब्रह्म (बड़ा) कहलाता है क्योंकि वह तो कुछ भी नहीं करता है और जो दूसरे हैं उनको कुछ न कुछ क्रिया करनी ही पड़ती है, इसलिये ब्रह्म के नीचे उससे कम सुखी हैं। क्योंकि आत्मा ब्रह्म ही है। इसलिए वह भी कुछ नहीं करना चाहता है और भ्रम के कारण अपने इस ब्रह्मपद को भूला हुआ है और इस ब्रह्मपद को बिना कुछ किये हुए ही मुफ्त में चाहता है।

देख लो दो महात्मा हैं। वह आप को कहते हैं कि हम आपको ब्रह्मपद देते हैं। एक कहता है कि मैं आपको

ब्रह्मपद देता हूँ पर एक शर्त है कि आप सारा दिन अपनी उंगली हिलाते रहो। दूसरा महात्मा कहता है कि मैं भी आपको ब्रह्मपद देता हूं पर एक शर्त है कि आप करो कुछ भी न। देखो, सोचो आप दोनों में से किसीकी बात मानोगे। स्पष्ट है कि आप दूसरे महात्मा की बात मानोगे। क्योंकि आप मुफ्त में ब्रह्मपद चाहते हैं। वास्तव में मुफ्त क्यों चाहते हैं क्योंकि वह ब्रह्मपद पहले ही आपको प्राप्त है, प्राप्त करना नहीं है। सीधे शब्दों में तुम ब्रह्म ही हो। ब्रह्म करके नहीं बनता है आप किए बिना ही ब्रह्म हैं। परन्तु भ्रम का भूत आप पर सवार हो गया है कि ब्रह्म कर्म करने पर प्राप्त होगा। ऐसा भूत आपको कब चिमड़ा, मैं आपको बुताता हूं। सुनो।

आप सभी की आन्तरिक अभिलाषा 'दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है और यह अभिलाषा आप बिना कुछ किए ही प्राप्त करना चाहते हैं यानी आप चाहते हैं कि ऐसे ही (मुफ्त में) पूर्ण हो जाये। यह अभिलाषा आपकी स्वाभाविक ही है। जब बच्चा जन्मता है तब भी देख लो उसकी यही अभिलाषा होती है। जब वह कुछ बड़ा होता है तो भी देख लो वह क्या चाहता है, यही चाहता है। उस समय वह न भक्ति करता होता है न कर्म करता है, यानी बिल्कुल कुछ नहीं करता तभी तो कहा कि बच्चे जैसे सुख होने चाहिए। बच्चा सब से अधिक सुखी होता है क्योंकि वह करता कुछ नहीं और न ही उसे कुछ करने की चिन्ता होती है। इसलिए वह प्रसन्न रहता हैं। परन्तु ज्योंही युवक होने पर वह समाज के समक्ष आता है और समाज में वातावरण ऐसा है कि वह बतलाता है कि ब्रह्म कर्म करने, यज्ञ करने, दान देने, तप करने भक्ति करने आदि आदि से प्राप्त होता है क्यों कि आप भी समाज के सम्पर्क में होते हैं इसलिए आप को भी समाज ऐसा करना सिखाते हैं। इस प्रकार के कर्म करना आप समाज से सीखते हैं। यह कर्म उसके बच्चे के स्वाभाविक अभिलाषा के नहीं हैं बल्कि उस पर लादे गये हैं। वह अपने आप तो करता नहीं (क्योंकिवह ब्रह्म तो उसे सदा, सब देश काल में बिना कुछ किये ही प्राप्त है और वह ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं) और न ही कुछ करना चाहता है परन्तु समाज से देखा देखी वह करने में प्रवृत्त होता है। राम की, कृष्ण की भक्ति करनी, भोग लगाना, यहाँ तक कि सभी मत जो जो कुछ बतलाते हैं यह आप जन्म से ही नहीं करते हैं आप का ऐसा स्वभाव नहीं है बल्कि बड़े होकर समाज से देख कर करते हैं यानी कर्म करना आप का स्वभाव नहीं है। बल्कि क्योंकि आप की प्रवृत्ति क्रिया करने की तरफ हो गई है और आप को देखा देखी विश्वास हो गया है कि वह ब्रह्म पद (जो कि तुम स्वयं हो) बिना कुछ किए नहीं मिलता। इसलिए आप की ऐसी रुचि, (प्रवृत्ति) को देख कर, विवश होकर ही शास्त्र और गुरुजन आप से सहमत हो जाते हैं और आप की ऐसी प्रवृत्ति के अनुसार आपको क्रिया करने का उपदेश देते हैं। वास्तव में उनका अभिप्राय कर्म कराने में नहीं होता निवृत्ति में ही होता है। वह तो ऐसा आप की प्रवृत्ति देखकर कहते हैं।

कर्म करने का जो उपदेश है उसमें कर्म न करने का ही उद्देश्य निहित है। शास्त्र में जितने भी प्रवृत्ति प्रधान वाक्य हैं उनका झुकाव सदा निवृति की ओर ही है। आप कहते हैं कि कर्म करना चाहिए कर्म किए बिना गुजारा नहीं होता। इसलिए शास्त्र भी कहता है कि कर्म करो, परन्तु सभी कर्म न करो बल्कि वह कर्म करो जो शास्त्र विहित हैं शास्त्र निषिद्ध कर्म न करो। यहां आप शास्त्र निषिद्ध कर्म एकदम छोड़ना भी नहीं चाहते हैं इस लिए शास्त्र और गुरुजन आप की ऐसी प्रवृत्ति देखकर (कि कहीं हमसे विमुख न हो जायें भाग न जायें) आप से इनको छुड़ाने का धीरे-धीरे प्रयत्न करते हैं ताकि आपको अनुभव न हो। देख लो आप माँस खाना नहीं छोड़ते इसलिए शास्त्र (वेद) आपको कहता है कि मांस खाओ परन्तु अमुक अमुक दिन, अमुक अमुक त्योहार पर मत खाओं। फिर कहते हैं सभी जानवरों का मत खाओ परन्तु अमुक अमुक जानवर और पशु का खाओ। फिर कहते हैं मांस बना कर आप ही मत खा लेना परन्तु पहले दुर्गा को भोग लगा लेना। फिर कहते हैं कि अकेला आप ही न खा लेना यज्ञ करके खाना (यहाँ तक कि उसका काफी धन, समय लगेगा और पीछे से एक प्लेट खाने को मिलेगी

...दिया करने पर वह थक जायेगा और मांस खाना छोड़ने पर विवश हो जाएगा और फिर छोड़ देगा । तो देखा यहाँ अभिप्राय माँस खिलाना नहीं बल्कि मांस छुड़ाना है। अतः शास्त्र पहले आपको निषिद्ध कर्म करने से छुड़ाता है और विहित कर्म करने की आज्ञा प्रदान करता है। फिर विहित कर्म भी सकाम भावना से न करने का उपदेश देता है वल्कि निष्काम भावना से कर्म करने को कहता है और जब आदमी निष्काम भाव से कर्म करता है तो अन्त में उसको पता लग जाता है कि निष्काम भाव से भी कर्म करने मुझे में क्या लाभहै इसलिए वह कर्म करने से अन्त में निवृत्त हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति करता है।, इसलिए शास्त्र का उपदेश कर्म करने के कर्म के लिए नहीं बल्कि कर्म से निवृत्ति के लिए है। क्योंकि कर्म न करना ही सुख है।

जितने भी कर्म किये जाते हैं वे पाँच हेतुओं से किये जाते हैं (१) उत्पत्तिः—किसी वस्तु को पैदा करने के या बनाने के लिए कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। जैसे पैदा करना हो तो उसके लिए बैलों से खेत को योग्य बनाना पड़ेगा। फिर बीज बोना पड़ेगा। मकान बनाना हो तो उसके लिए सामग्री जुटाने के लिए पहले कर्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा। (२) नाश-किसी पदार्थ को नष्ट करने के लिए भी कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। जैसे घड़ा तोडने के लिए डंडा उठाकर मारना पड़ेगा। (३) प्राप्तिः—किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए भी कर्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा। जैसे अमृतसर पहुंचने के लिए स्टेशन पर जाना और गाड़ी पकड़नी होगी। (४) विकारः—किसी वस्तु को विकृत करने के लिए भी कर्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा। जैसे दही बनाने के लिए, दूध में खट्टा लगाना पड़ेगा तब जाकर दूध विकृत (दही बनेगा) होगा (५) संस्कारः—किसी वस्तु को संस्कृत करने के लिए भी कर्म करना पड़ता है। जैसे सोने को शुद्ध करने के लिए आग में डालना पड़ेगा। कपड़े को साफ करने के लिए धोना पड़ेगा। परन्तु आत्मा की प्राप्ति के लिए इन पाँचों में से कोई भी कर्म नहीं करना पड़ेगा। (१) क्योंकि यदि वह पहले न हो तभी उसको उत्पन्न करना पड़ेगा। परन्तु वह तो नित्य है। श्रुति स्मृति भी कहती है कि वह जन्म से रहित है। फिर उसका उत्पन्न करना कैसे बन सकता है। जब उसका उत्पन्न करना ही नहीं बनता तो कर्म में प्रवृत्त होना भी नहीं बनता है। (२) वह अविनाशी है उसका नाश कभी भी नहीं होता। श्रुति, स्मृति, सन्त सभी कह रहे हैं। इस लिए उसकी प्राप्ति के लिए किसी वस्तु का नाश करना भी नहीं बनता। अतः कर्म में प्रवृत्त होना भी नहीं बनता (३) वह नित्य प्राप्त है। इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए भी कर्म करना नहीं बनता (४) वह अविकारी है। इस-लिए उसकी प्राप्ति के लिए विकार करने रूपी कर्म भी नहीं करना पड़ता। (५) श्रुति स्मृति कह रही है कि आत्मा शुद्ध है इसलिए इसकी प्राप्ति के लिए संस्कार रूपी कर्म भी नहीं करना पड़ता। अतः आत्मा की प्राप्ति के लिए कर्म में प्रवृत्त नहीं होना पड़ता। क्योंकि वह तो कर्म किये बिना पहले ही प्राप्त है। अतः कर्म में प्रवृत्ति का उपदेश वास्तव में कर्मों से उपरामता के लिए है और इसका कोई लाभ नहीं है। क्योंकि समाज में सारे कर्म तो सुख प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। और जब कि अपना स्वरूप सुखस्वरूप ही है फिर कर्म करना भी नहीं बनता है।

बहुत सारे लोगों का विचार है कि आत्म प्राप्ति के लिए कर्म करना पड़ता है। वे कहते हैं कि जीव पर-मात्मा से अलग हो गया है और इसलिए दुःखी है और कर्म भक्ति करके वह उससे मिल जाता है और फिर सुखी होता है। यानी मोक्ष हो जाता है। उन लोगों से पूछा जाये कि यदि वह (जीव) परमात्मा से अलग हो गया है और कर्म भक्ति करके फिर मिल जाता है तो फिर क्या गारन्टी है कि वह उससे मिला रहे जुदा न हो क्योंकि वह जुदा हो जाया करता है। प्रमाण आपके कहने अनुसार अब जो उससे जुदा हो गया है और फिर यदि जुदा हो गया तो वह कैसी मुक्ति हुई उसका तो परिश्रम व्यर्थ गया। कर्म भक्ति निष्फल हुए। और यदि भगवान से जीव अलग होते हैं तो वह भगवान अखण्ड न हुआ बल्कि खण्डित हुआ और सर्वव्यापक न हुआ तथा सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान न हुआ क्योंकि जीव उससे अलग हो जाता है। तो वह भगवान न हुआ क्योंकि श्रुति तो उसे अखण्ड, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वसमर्थ वर्णन करती है।

अतः सिद्ध हुआ कि लोगों का यह विचार कि जीव उससे अलग हो गया है और फिर मिलने के लिये कर्म भक्ति परम आवश्यक हैं बिल्कुल सरासर-सफेद झूठ है और जो ऐसा उपदेश करते हैं उन्हें तो समझो अभी भगवदसाक्षात्कार या ज्ञान ही नहीं हुआ है। इसलिए ब्रह्म प्राप्ति के लिये कोई भी कर्म नहीं करना पड़ता क्योंकि वह तो अजन्मा, अविनाशी, नित्य-प्राप्त अविकारी और शुद्ध निरंजन है।

और कर्म करने से दो प्रकार का फल प्राप्त होता है। दृष्टफल और अदृष्टफल। यज्ञ आदि कर्म करने से उसका फल उसी समय नहीं मिलता बल्कि कर्म करके नष्ट हो जाता है और पीछे अपना धर्म अधर्म का संस्कार छोड़ जाता है। जिनका फल मरने पर स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है जहाँ से फिर वापिस जन्म लेना पड़ता है। ऐसे कर्म अदृष्ट फल वाले होते हैं। ऐसे कर्मों का फल कर्मों के करने से ही मिलता है जानने से नहीं। देखो यज्ञ कराने का यदि ज्ञान तो हो परन्तु यज्ञ न किया जाये तो उसका कोई फल नहीं मिलेगा। अतः सिद्ध हुआ कि कर्म का फल कर्म के जानने से नहीं बल्कि कर्म करने से प्राप्त होता है। परन्तु दूसरेप्रकार का दृष्ट फल वाला कर्म इसके विपरीत है। ब्रह्मविद्या (वेदान्त) का फल दृष्टफल है। जिस समय ब्रह्मविद्या का ज्ञान होता है उसी समय उसका फल प्राप्त हो जाता है। इसलिए तो ब्रह्मज्ञा दृष्टफल वाला बतलाया गया है। देखो श्रुति भी पुका पुकार करती है कि आत्मा को जानो। जिस समय आ ज्ञान होता है उसके दूसरे क्षण ही इसका फल प्राप्त जाता है यानी जिस समय आत्मज्ञान होता है उसी सम मुक्ति प्राप्त हो जाती है। अतः सिद्ध हुआ कि कर्म क फल अदृष्ट फल होता है और नश्वर होता है। पर ज्ञान का फल दृष्ट होता है और अनश्वर होता है। अ सिद्ध हुआ कि आत्मा की प्राप्ति (प्राप्त की प्राप्ति) क से नहीं होती बल्कि (आत्म) ज्ञान से होती है। औ वेदान्त से उस ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए लोग ऐसा कहते हैं कि ज्ञान होने से मुक्ति नहीं होती झूठे हैं अज्ञानी हैं, वह ज्ञान (वेदान्त) की महिमा आत्मज्ञान से अनभिज्ञ हैं।

वे सब झूठे हैं जो व्यावहारिक वेदान्त गाते हैं औ कहते हैं कि आत्मज्ञान जानने से मुक्ति नहीं होती बल्कि उसका कर्म में प्रयोग करने से मुक्ति होती है। अतः अग कोई कर्म में प्रवृत्त रहना भी चाहता है और वेदान्त श्रवण ज्ञान का फल भी चाहता है तो यह असंभव है उसे ज्ञान का कोई फल विशेष प्राप्त न होगा। इसलि कर्म सन्यास (कर्मों से उपरामता) होने पर ही वेदान्त श्रवण का, या ज्ञान का कहलो, फल प्राप्त होता है।

★

लेखक के प्रति—

मैं श्री १०८ स्वामी हरिगिरि जी महराज के आश्रम ककीरा हिमांचल प्रदेश गया। लेखों के लिए प्रार्थना की, स्वामी जी ने उत्तर में कहा मैं लिखता नहीं हू। एक बार आधी पुस्तक लिखी थी किन्तु बीच ही में विचार आया हमारे ऋषियों ने सब कुछ लिख दिया है उससे अधिक हम लिख सकते नहीं। वह कापी भी ले आया आया हूँ जो क्रमशः प्रकाशित की जायगी, किन्तु अभी टेपरिकार्ड द्वारा लिए गए प्रवचन ही प्रकाशित किए जा रहे हैं। स्वामी जी के एक-एक शब्द नपे तुले होते हैं। आप वेदान्त के बड़े ही मर्मज्ञ हैं। आत्म-साक्षात्कार के लिए ऐसे महापुरुषों की वाणी का स्वाध्याय परमावश्यक है। आप वेदान्त के स्वरूप ही हैं। आप साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से मुक्त हैं। बस मैं इतना ही कहना अधिक उचित समझता हूँ कि आप सही माने में सन्त हैं। इनके लेखों द्वारा समाज को अपने सही स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है, यदि पाठक उनके सही उद्देश्य को समझें।

—स्वामी परमानन्द

'दुःख'

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द
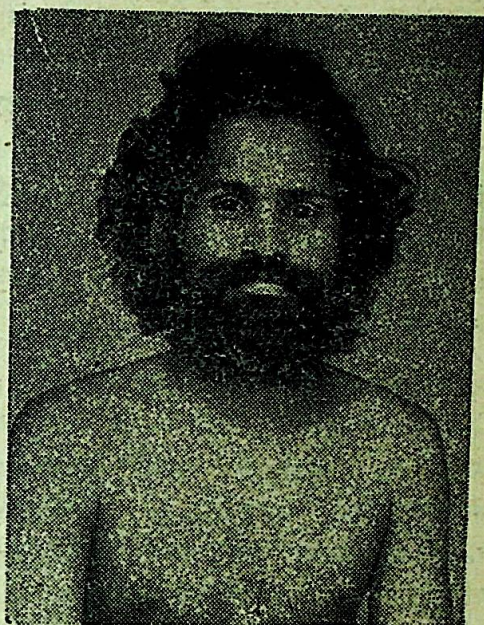
जिससे सब डरते हैं उस दुःख में होता क्या है यदि पर आज हम विशेषकर के ध्यान दें तो संभव है एक ही बात मिलेगी । हमारे मन में मस्तिष्क में शरीर इन्द्रियों में दुःख की अनुभूति के समय होता क्या ……एक नया नजारा पेश आता है जिसे यदि हम ठीक समझ लें तो वड़ी वड़ी सभी समस्यायें हल हो जी ।

शरीर का दुःख क्या है ?……शरीर की चलती में उसके सभी पुर्जें (अन्तर बाहर के) सभी धातुएं ड़ी नाड़ियों में जब उनकी किसी भी प्रक्रिया में कुछ असुविधा आती है तो उसे निवृत्त करने के लिए शरीर स्वामी की ओर सन्देश भेजना उसका ध्यान अपनी खींचना अपनी शिकायत सुनाना और उस असुविधा वाले कारण के प्रति जो एक बगावत उसका नाम है ।

इन्द्रियों का दुःख क्या है ?……अपने अपने देव-ओं का उनके प्रति रुठजाना जिनसे उनकी खुराक की जीवनी जो कठिन हो रही है उसके लिए मस्तिष्क इनक्वायरी (inquiry) और उनके पूर्ति के लिए मांग उसकी शीघ्रता न होने से एक प्रकार की तिलमिलाहट।

मन का दुःख क्या है ? बाहर से आए आगन्तुकों जिनके लिए उनका अभी कोई कमरा न हो-और जो वहाँ रह रहे हों उनको उनका आना स्वीकार न हो बाहर वाले नवीन (संस्कार) को बैठाना मुश्किल हो और उनकी इस समस्या को–किस के निकालने के कहाँ बैठाने से सुलझाया जाय इसकी उधेड़ बुन । मन के स्वामी बुद्धि से निर्णय के लिए आज्ञा माँगने अधीरता । और इतना भी न हो तो सब काम छोड़कर इस्तीफा (resign) (बेहोशी) देने की धमकी बार बार देना । शीघ्रता की माँग, और अनन्त संस्कारों की भीड़ से अपने को मुक्त कर अकेला निर्बोझ देखने की पराकष्टा ।

प्राण का दुःख प्रण की माँग है जो उसे शरीर मशीनरी को सर्वत्र पहुँचाना होता है उसे पहुँचाने वाली 'gas pipes' ठीक न हों, जाम हो गई हों, या कटी फटी हों, जीर्ण हों या हों ही नहीं तो उसके लिए परिपूर्ति की माँग और शीघ्र हो इसकी पूर्ति न हो तो हड़ताल करने की धमकी । या स्वतन्त्रता से चाहे जहाँ से पूर्ति करने के लिए मुख या नाँक से प्रयत्न । और अपने समष्टि पिता प्राण वायु जो व्यापक आकाश में विस्तृत है–मिलने की छटपटाहट, यही दुःख का चित्रण है प्राण का ।

बुद्धि का दुःख है……अपने आश्रित इस पुर को एवं इसकी प्रजा-शरीर, नाड़ियाँ-प्राण, इन्द्रियाँ मन को सञ्चालित, सम्बंद्धित व सुरक्षित रखने के लिए विचारों की माँग को पूर्ण करने के लिए पुर के स्वामी-साक्षी से व्याकुल हो कर प्रार्थना करना-एक दम प्रार्थना में तल्लीन होकर सर्व स्वार्पण होकर-अर्थात् पुर के ओर से बेफिक्र हो कर अन्तर डूब जाना और अधीरता के मारे अधिक देर तक न डूबने से आवश्यक सामग्री के प्राप्त होने से फिर संमुख हुई अव्यवस्था को देख कर अपनी असमर्थता के

मान से इधर उधर होना ही बुद्धि का दुःख है । राज्य में हुई अराजकता देख कर अर्थात् सज्जन व सहायक साथियों को भी जब दुःख होना है–प्राण व मन को भी दुःख होना है तो इन्द्रिय चौकीदारों का बाहर के शत्रु-लोगों से मिलने से फैली अव्यवस्था-आतंक किला नष्ट होने का भय व यदि किला नहीं ही बचेगा तो गुप्त द्वारों से अमृत मार्ग से योग मार्ग से सबको बचाकर भाग जाने की तैयारी-यही बुद्धि का दुःख है ।

जरा गहराई से देखें जिस दुःख को अज्ञान से, भय से, ईश्वर की अकृपा से, किसी के श्राप से अपने पाप से समझते हैं वहां होना क्या है ? यह दुःख तो एक अजीब सिनेमा दिखा रहा है । बाहर की दृष्टि को अन्तर करने वाला, और वर्तमान को भूत में लाकर वर्तमान के दुःख का कारण बताकर वर्तमान को ठीक करके योग्य भविष्य लाने वाला यह दुःख तो एक अजीब रास्ता योग्य भविष्य बनाने का नुस्खा मिला । हुई पूर्व गल्तियों का स्मरण करके ही भविष्य निर्दोष होता है । अर्थात अपनी ही गल्तियों को अन्तर अन्तर ही बताकर उसके लिए क्षमा मंगवाकर अब न करने का प्रण दिलवाकर सुन्दर सुव्यवस्थित निर्दोष भविष्य का बनाने वाला यह दुःख एक गाईड ही तो हुआ ?

हमें जो हम देह, प्राण, इन्द्रिय और भोग विषय की ओर देख कर इनके सिनेमा को देख कर तन्मय होने के नाते स्वतः सुरक्षित रहते हुए भी दूसरों के दुःखों से अपने को दुखी मान कर जो रोने हँसने लगे, दुःख ने हमें एक दम हममें ला पटका । हमें अपना तन मन बुद्धि इन्द्रियां प्राण सब याद आते आते सब की नजर किधर है इसका ज्ञान कराया । किधर ? अपनी ओर । क्योंकि उस समय हमें सिवा अपनी मुक्ति के और कोई नहीं याद रहता ।

हम चाहते हैं हम मुक्त हो जायें । परन्तु हमतो स्वतः इस सब के द्रष्टा ही तो थे ? फिर मुक्त होना क्या ?

पर फिर भी दुःख के समय उलझे और हमारी ओर दीन नेत्रों से देखने वाले इन सबकी जो अपनी उलझन को सुलझाने की एक आशा जब देखते हैं । तो यही ज्ञान होता है कि ये हमारी दृष्टि ठीक-ठीक अपने ऊपर डालने की ही हम से अभिलाषा करते हैं । अर्थात् हम इनमें सब में घुस कर इनका पूर्ण रहस्य जानें यही चाहते हैं । क्योंकि हमारे बिना देखे न इन का कोई रक्षण ही होगा । क्योंकि सबका भरण पोषण, रक्षण, उत्पादन और विलय हम ही से होता है । ये कहते हैं या तो ठीक करो हमे सुलझा दो हमारी खुराक दो हमें फिर से ऐसे न उलझाओ और हमें यदि न सुलझते देखो तो एक दम अपने में मिला लो । बस यही दुःख में खास रहस्य है जो मिला है ।

यदि अपने दुःख में बाहर न देख कर हरेक अन्तर लौट कर देखे तो यह दुःख एक डॉक्टर गुरु गाईड व हितैषी व अन्तर लौटाने वाला साधन, व संकेत से मुक्त करने वाली युक्ति दिखाई देगा । दुख न देगा । वास्तव में दुःख आया नहीं, बुलाया गया है । तन्मयता में देह भाव में या इन्द्रिय मन बुद्धि प्राण जिसके साथ एकता मानली वहीं जहाँ चित्र केन्द्रित हो गया वहां का कार्य स्थगित होने से अव्यवस्था आ गई । अथवा जहाँ हमारा वजन अधिक आ गया केन्दित चित्र होने से अपना ही परिवार वजन के मारे डूबने लगा । यही इनका एकदम 'विनाश' ही और विनाश न होने का संकल्प tug of war रस्सा कसी-अर्थात उभय प्रकार की वृत्ति जो कर देता है और इसमें इस पार या उस पार, जो होने की छटपटाहट है इसी का नाम दुःख है । तो चाहे जिधर जायें जा सकते हैं। अपने आप के अविनाशी स्वरूप को समझ कर भी चैन है और इधर यदि शरीरादि के तरफ भी ध्यान दें तो भी इनके बिगाड़ का पूर्ण पता लग सकता है और दुःख निवृत्त हो सकता है ।

दुःख ने यह सिखाया है । वहाँ दुःख तो था ही नहीं । यदि होता तो देखने के अनुभव करने के लिए वहां द्रष्टा रहता ही नहीं-भाग जाता । तो दुःख एक पुस्तक थी जिसे पढ़ पर यह ज्ञान हुआ है । जो भी आंधी आती है कई बातें लाती हैं । दुःख भी जब आता है हमें कई चीजें भेंट करतां हैं जैसे एनसायक्लोपीडिया पुस्तक शब्द कोश में विश्व की बातों का ज्ञान है वैसे ही इस दुःख में सारा विश्व उसको उत्पादन, रक्षण, व विनाश का सारा ज्ञान और उसमें दुःख का सारा का सारा अपना आप भी

...पर भी ज्यों का त्यों सुरक्षित द्रष्टा बना रहता है यह ... हुआ।

ऐसा है यह दुःख । जिसने इसे नहीं जाना उनके लिए ही हमें दुःख है । और क्या दुःख ?

...ने हमें यही सिखाया—द्रष्टा एक अमर है,
...में रहना सभी विश्व और सब का ही वह घर है।
...समझने वाला देखो क्षण में बनता हर है,
...समझने वाले कितने लटके इसमें सर हैं।

विद्यालय यह महाविश्व में इसका बड़ा असर है,
इससे पढ़-पढ़ कर निकला स्नातक बनता अजर अमर है।
हुआ प्रकाश हृदय में जब से दुख की टूटी कमर है,
अब यह हुआ बली, बली में निर्भय मेरी सफर है।

साधना पथ के पथिक से

श्री हरीश 'मधुर', कोटा

आदर्शों की ज्वाला में तप, मन सोना यह कंचन होगा ।
प्रतिदिन कंटक की राहों चल, मनसुमन स्वयं विकसित होगा ।।
रे चेत मूढ़ ! मतिमन्द अरे, सोता क्यों भरी जवानी में ।
अवसर है, साधना करले तू, नहीं अन्त समय रोना होगा ।।
युग युग से कहता इतिहास यही, हिमगिरि स्वयं दुहराता है।
जो प्रभू की सेवा करता है, अक्षय पद वह ही पाता है ।।
उसको ही मृदुल समीरण ने, अपनी गोदी बिठलाया है ।
उल्काओं ने, तूफानों ने, साहस ने उसे दुलारा है ।।
वह ही युग की ज्वालाओं का, हँस हँस विषपान किया करता ।
सब रोते अन्त समय लखकर, हँस हँस वह पयान किया करता।।
वह ही अपने सद् प्रयासों से, सतयुग की गंगालाता है।
सब, गाते जब हैं 'मृत्युगीत' वह 'जीवनगीत' दुहराता है ।।
जो साधनापथ का पथिक हुआ, भय नहीं किसी से खाता है ।
सत्कर्मों की आभा से वह, पापों को धोता जाता है ।।
भौतिकता तो केवल भ्रम हैं, तृष्णा है मिथ्या माया है ।
इस जन्म मरण के बन्धनमें, नर तू क्यों यों भरमाया है ।।
अवसर की गति को देख चेत, नवयुगकी लाली है छाई ।
साधना की ज्योति जगमग है, फट रही मोह की है काई ।।

★

जीव-जगत का स्वरूप
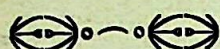
श्री शोभनाथ पाठक, ए.० ए० साहित्यरत्न

जीव जगत में नाना योनियों को प्राप्त करता हुआ भ्रमण करता है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक इन तीन प्रकार के दुखों से परितापित भव बंधन से मुक्ति पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। परन्तु अज्ञानता वशात उसे शाँति नहीं मिलती। अतः हम नीचे जीव के विषय में विचार करते हैं।

"चैतन्यलक्षणों जीवः" (षण्डर्शन समुच्चय कारिका ४९) प्रत्येक जीव नैसर्गिक रुप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है, परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मो का उदय नहीं हुआ करता। दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विपुल तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा कर्म फलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। जीव की सत्ता जगत के प्रत्येक भाग में मानी जाती है। जीव ही ज्ञाता, सुख, दुःख, भोक्ता व नित्य परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है।

जीव शरीरावच्छिन्न होता है। वह दीपक की भाँति अपने निवासभूत शरीर को प्रकाशित करता है। यह स्वयं अभूर्त है। निस्कंप प्रदीप की भाँति जीव भी संकोच विकास शाली होता है "प्रदेश संहारविसर्गाम्या प्रदीपवत" (त० सू ५।१६) जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है ही परन्तु, सृष्टि काल में भगवान् की तिरोधान शक्ति जीव के विभुत्वं, सर्वशक्तिमत्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है जिससे जीव क्रमशः अणु किंचित्कर तथा किंचिज्ज्ञ बन जाता है।

जीव भव चक्र में निरन्तर घूमता रहता है। जीव के क्लेशों को देख कर भगवान के हृदय में कृपा का स्वतः आविर्भाव होता है। इसी का नाम 'अनुग्रहात्मिका शक्ति" जिसे आगम में "शक्तिपात" कहते हैं।

जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संचरण शील होते है। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते है। प्रथम मुक्ति योग्य के अधिकारी जीव, देव, ऋषि पितृ तथा चक्रवर्ती व उत्तम मनुष्य रूप से पाँच प्रकार के होते है। द्वितीयः-नित्य संसारी जीव सदा सुख दुःख के साथ मिश्रित रहता है। तृतीयः-तमोमय जीव ४ प्रकार के होते हैं। दैत्य, राक्षस, पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना होती है। मुक्तावस्था में जीव परमसांघ्य को प्राप्त कर लेता है। "निरंजनः" परमं साम्यमुपैति" (मुण्डक उप ३।१।३)

रामानुज के अनुसार ३ तत्व होते हैं। चित, अचित, और ईश्वर। चित-का अर्थ है जीव, अचित का अर्थ है प्रकृत या जड़ तथा सबके अंतर्यामी तत्व ईश्वर है। जीवों और जगत दोनों नित्य पदार्थ हैं। ब्रह्म इन सूक्ष्म जीवों तथा जगत से, चित तथा अचित से विशिष्ट बिना ही रहता है। वह देहेन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से विलक्षण अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड़ है।

मुण्डक व श्वेता० के आधार पर जीव "अणु" है। जीव ईश्वर के द्वारा नियमित किया जाता है तथा उसमें एक विशेष गुण 'शेषत्व" होता है। अद्वैत में जीव स्वभावतः एक है परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। परन्तु रामानुज के मत में जीव अनन्त है एक दूसरे से नितान्त पृथक है। जीव दुखत्रय से नितरां पीड़ित है। रामानुज कहते है कि जैसे चिनगारी अग्नि का रूप है वैसे ही जीव ब्रह्म का अंश है। अभेद श्रुतियों का

यही तात्पर्य है कि जीव ब्रह्म व्याप्य है।

जीव है अंश और ईश्वर है अंशी जीव है नियम्य ईश्वर है नियामक, जीव है आधेय और ईश्वर है आधार। प्रपत्ति (शरणागति) ही जीव की आध्यात्मिक उन्नति का सर्व श्रेष्ठ साधन है।

भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तब वे अपने आनन्दादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से व समस्त विपत्तियों का पात्र होता है। ज्ञान के तिरोधान से देहादिकों में आत्म-बुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख प्राप्त करता है।

वल्लभ मत में भी जीव, ज्ञाता, ज्ञान स्वरूप तथा अणु रूप है। जीव नित्य है। जीव अनेक प्रकार के होते हैं शुद्ध, मुक्त, और संसारी। शैवतन्त्र जीव को शिवांश ही मानता है। शिव से आविर्भूत-शिवांश रूप जीवो में तथा शिव में आत्यान्तिक न तो भेद है और न तो अभेद।

विद्यारण्यक स्वामी के शब्दों में जीव और ईश्वर एक माया रूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं। अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य को जीव कहते हैं। शंकर के मत में शरीर और इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं। जीव की वृत्तियां उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती है और जब वे अन्तर्मुखी होती है तो वे कर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। जीव की उपमा एक नृत्यशाला के दीपक से दी जा सकती है। उसी तरह आत्मा भी अहंकार, बुद्धि और विषय को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रद्योतित होता है।

बुद्धि में चाँचल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने पर जीव चञ्चल सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शान्त है। जीव सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं बद्ध (संसारी) तथा निर्मुक्त (मुक्त) जो जीव उद्देश्य पूर्वक किसी स्थान से दूसरे स्थान पर जानें की शक्ति रखते है वे "त्रसं" कहलाते है। तथा जो जीव ऐसी शक्ति से विहीन रहते है उन्हें स्थावर कहते हैं। संसारी जीव के अन्य प्रकार विस्तार में "तत्वार्थाधिगम" सूत्र" में दिया गया है।

जीव के प्रकार इस रूप में वर्णित किए गए है। नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च, तथा देव। अर्थात् क्रमशः नरक में निवास करने वाले जीव, मानव, पशु पक्षी आदि लघु-काय जीव व ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले जीव। मानव, पशु पंक्षी आदि लघुकाय जीव व ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले जीव। तथा अजीव ४ प्रकार के होते हैं पुद्गल, आकाश, धर्म व अधर्म।

चेतन द्रव्य जीव को कहते हैं। प्रत्येक जीव नैस-र्गिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता व कर्मफलों का भोक्ता है। जगत के प्रत्येक भाग में उसकी सत्ता स्वीकृत है। जीव परिणामशील है तथा शरीरावच्छिन्न होता है वह दीपक की भाँति अपने निवास भूत शरीर को प्रकाशित करता है।

जब तक मानव को आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह उच्च चरित्रवान भवबंधन से मुक्त नहीं हो सकता। इन तत्वों के ज्ञान से मानव मन निर्मल होकर निष्कंप प्रदीप की भाँति जगत को अपनें चारित्रिक गुणों से आलोकित करेगा। क्योंकि मनुष्य का मूल उसके चरित्र में है।

★

अखण्ड-चिन्तनधारा

बालक स्वयं घूमता है तो उसे जमीन घूमती हुई नजर आती है, और बैठने पर स्थिर हो जाती है। ऐसे ही अन्तःकरण के घूमने से अस्थिरता प्रतीत होती है। परन्तु जल के हिलने से क्या सूरज हिलता है? नहीं। इसी प्रकार अन्तःरकण के डिगने से चिदाभास से डिगता सा प्रतीत होता है। मेघों के दौड़ने से चन्द्रमा दौड़ता सा प्रतीत होता है।

भौतिक जगत् की समस्त वस्तुओं के दो रूप होते हैं। एक स्थिर और दूसरा गतिमान। स्थिर और गतिमान दोनों रूपों में दृष्टिगत बाह्य भेद तो प्रतीत होता है, परन्तु मूलगत भेद नहीं है। इस भेद की बाहरी अवस्था को देख कर ही किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है और इसकी निवृत्ति के लिए यदि प्रयास किया जाय तो बाहरी दृष्टि से हट कर मूल रूप पर ध्यान देना पड़ेगा। वस्तुतः बालक अपनी स्थिति को भलीभाँति नहीं समझ पाता इसीलिए उसे इस प्रकार का भ्रम होता है। यदि वह अपने इन्द्रिय-ज्ञान के स्तर से ऊपर उठकर विचार करने की क्षमता रखता तो वह इस प्रकार का निर्णय न करता। लेकिन ऐसा करने में वह असमर्थ है। इसका एक कारण यह भी है कि वह सहज ही अपनी वर्तमान स्थिति से परे नहीं जा सकता। जिस समय वह अपने घूम परने पृथ्वी के घूमने की बात करता है उस समय स्थिर पक्ष का गतिमान पक्ष से विरोध दिखायी पड़ता है। जैसे बालक को यह भ्रम होता है उसी प्रकार की दशा उस व्यक्ति की होती है जो अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता। गीता का भी 'स्थित प्रज्ञ' आदर्श है। जिसकी प्रज्ञा स्थित नहीं है वह विक्षिप्त अन्तःकरण वाला कहलाता है। इस विक्षिप्त
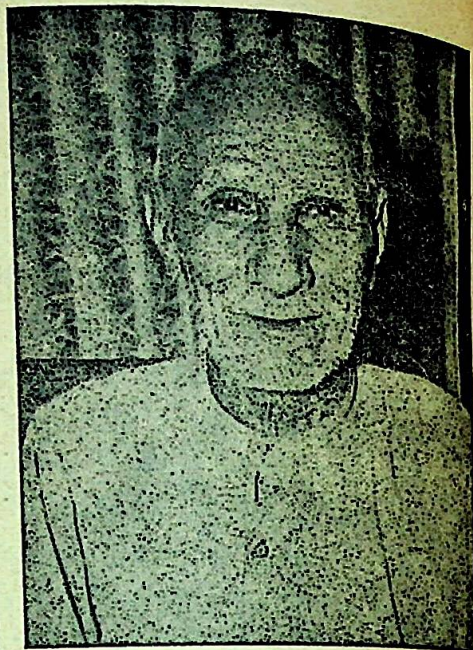
दशा का प्रभाव उसके चित्त में ऐसा रहता है कि [illegible] की वास्तविक दशा उसे ज्ञात नहीं हो पाती, बल्कि [illegible] करण की स्थिति के अनुसार ही उसे जगत् की प्रतीति [illegible] है। विक्षिप्त अन्तःकरण वास्तविक तथ्य को देख[illegible] असमर्थ होता है।

भौतिक दृष्टि में तो चाहे किसी प्रकार का [illegible] होता रहे लेकिन जीवन में उसका विशेष अन्तर नहीं [illegible] परन्तु यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जा[illegible] इस अन्तःकरण के डिगने से सारी आन्तरिक दशा ही [illegible] जाती है। वस्तुतः अन्तःकरण की स्थिति ही किसी [illegible] जीवन है। बाहर से कोई कितना सुख-वैभव के [illegible] उपलब्ध कर ले, परन्तु अन्तःकरण स्थित न होने के [illegible] उसकी सभी सुख की दशायें दुःख रूप हो जाती हैं। जब तक अन्तःकरण की स्थिति के अनुकूल न प्राप्त [illegible] तब तक वह महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। आध्या[illegible] साधन में अपनी अन्तः स्थिति न बिगड़ने दे इस पर [illegible] ध्यान रखना चाहिये। हिलते हुए जल में जैसे प्रति[illegible] स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार अन्तःकरण वि[illegible] होने पर वास्तविक तथ्य सामने प्रकट नहीं होता।

★

धर्म का रहस्य

श्री प्रेमचन्द्र मिश्र, एम० ए० इटावा

(गत फरवरी अंक से आगे)

धर्म के दो प्रकार:— (१) परधर्म (२) अपर धर्म

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(भागवत १-२-६)

अर्थात् भगवान् में भक्ति होने पर धर्म है इसका फल परमानन्द-प्राप्ति है किन्तु दूसरा जो अपर धर्म है वह ईश्वर भक्ति को छोड़कर केवल वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् पालन करना मात्र ही है। जिसके पालन के लिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को स्वधर्म पालन से च्युत होते समय धिक्कारते हुए कहा है कि।

"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।"

अर्थात् अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है। दूसरे का धर्म भयकारक है। अत: युद्धकर्म से जो तू उपहत हो रहा है यह तेरी हृदय की तुच्छ दुर्बलता है जिसको त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो।

"क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोतिष्ठ परंतप।"

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

"अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
तत: स्वधर्म कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यीस॥
गीता २,३३

यदि तू युद्ध कर्म से भागेगा तो सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति को भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिए मरण से भी अधिक बुरी होती है।

"अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चकीर्ति मरणादतिरिच्यते॥ (गी० २,३४)

और हे अर्जुन अपने धर्म को देख कर भी भय करने के योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याण कारक कर्तव्य क्षत्रिय को नहीं।

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
गी० २,३१

वर्णाश्रम धर्म की विशद् विवेचना:—

वर्ण का अर्थ साधारणतया आभूषणों (गहनों) से तथा रंग से भी लगाते हैं। भगवान ने लोक धर्म व्यवस्था बनाए रखने के लिए चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनाए हैं। यथा।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागश:।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्॥

इन वर्णों का विभक्तीकरण गुण या कर्म स्वभाव से ही हुआ है यथा—

ब्राह्मणक्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैगुणै:॥
गीता १८।४१

कुछ लोग जाति प्रथा के जटिल बंधन को संकुचित मस्तिष्क के कारण जन्मत: स्वीकार करते हैं जब कि यह गुण और योग्यता के आधार खड़ी की गई थी। मनुस्मृति में कहा गया है कि जन्म से सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं संस्कार द्वारा ही ब्राह्मण आदि होते हैं यथा—

"जन्मत: जायते शूद्रा संस्कारात् द्विजोत्तम:"॥

वेद का प्रमाण:—

"ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्वाहू राजन्य: कृत:।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य: पभ्द्यां शूद्रो अजायत॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वाँ मन्त्र है इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य उरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसी वेद मत को सही रूप में जनसमाज के समक्ष रखने के लिए स्वामी दयानन्द, गाँधी, आदि ने भरसक चेष्टा की थी और उन्हीं के अहर्निश प्रयास के कारण हमारे संविधान में सार्वजनिक महत्व की चीजों के लिये वर्ण, धर्म, जाति, लिङ्ग जन्मस्थान आदि का भेद हटाकर सबको समान अवसर प्रदान कर रामराज्य का आदर्श सामने रखा है।

आज विश्व की मानवता मष्तिक की संकुचित एवं तंग भावनाओं जैसे जातीयता, प्रांतीयता, साँप्रदायिकता राष्ट्रीयता आदि की जटिल बेड़ियों को तोड़ कर कन्धे से कन्धा मिलाकर सब एक साथ चलने को तत्पर हैं एवं वसुधैव कुटुम्बकम्" के नारे को बुलन्द कर वेदों के परम आदर्श–

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
के अनुसार चलने की अपील कर रही है।

"अर्थात् मनुष्यों को एक साथ चलना चाहिए, एक साथ बोलना चाहिए और एक दूसरे के मन को अच्छी तरह समझना चाहिये।" गणतन्त्र या लोक तन्त्र (Demoec-racy) तभी पूर्व सफ़ल होगा जब वह इस वेद आदर्श को साँङ्गोपाँग जीवन में उतार लेगी।

पाश्चात्य दार्शनिक अफलातून (pleto) ने भी अपने महान ग्रंथ रिपब्लिक (Republi) में सोना, चाँदी, रजत आदि के द्वारा गुण कर्मानुसार जातीयता पर स्वमन्तव्य दिया ही है।

प्राचीन इतिहास का प्रमाण यह सिद्ध करता है कि समय भी जातीयता का बंधन आज की तरह जटिल नहीं था। विश्वामित्र के क्षत्रिय होते हुए ब्राह्मण होने की बात महाभारत में आती है और वशिष्ठ जी उन्हें राजर्षि से ब्रह्मर्षि घोषित करते हैं।

(१) ब्राह्मण के कर्म–

"शमो, दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञान मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥"
गी० १८।४२

अर्थात् अंतःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रिय और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्व का अनुभव भीं, ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

(२) अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रीतग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।"
(मनुस्मृति १।१८)

अर्थात् ब्राह्मण को पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, दान देना, लेना ये छः कर्म हैं परन्तु "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" मनु० अर्थात् (प्रतिग्रह) लेना नीच कर्म है।

(२) क्षत्रिय के कर्मः–

(१)"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्
(गी० १८।४३)

अर्थात् शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव अर्थात् निःस्वार्थ भाव से सब का हित सोच कर, शास्त्राज्ञानुसार, शासन द्वारा प्रेम के सहित पुत्रतुल्य प्रजा को पालन करने का भाव-ये सब क्षत्रिव के स्वाभाविक कर्म हैं।

(२)–प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
(मनु १।८९)

अर्थात् न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात् छोड़कर, श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सबका पालन (दान) विद्याधर्म की प्रबृत्ति और सुपातों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना व कराना (अध्ययन) वेदेदादि शास्त्रों का पढ़ना व पढ़वाना, और (विषयों में न फंस कर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान रहना।

(३) **वैश्य के कर्म—**

(१) "कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्"
गी० (१८।४४)

अर्थात् खेती, गौपालन और क्रयविक्रयरूप सत्य व्यवहार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म है।

(२) पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वाणिक्यपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृशिमेव च॥
मनु (१।९०)

अर्थात् (पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन वर्द्धन करना (दान) विद्याधर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (वाणिज्य पथ) सब प्रकार के व्यापार करना कृसीद) एक सैकड़े में चार, छः आठ, सोलह वा बीस आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपए से अधिक न लेना और देना (कृषि) खेती करना ये वैश्य के गुण कर्म हैं।

(४) **शूद्र के कर्म—**

(१) "परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥"

अर्थात् सब वर्णों की सेवा करना, यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

(२) एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
मनु (१।९१)

अर्थात् शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन यापन करना यही शूद्र का गुण कर्म है।

वर्णाश्रम विहित धर्म के पालन का फलः—

(१) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

अर्थात् युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है; क्योंकि या तो मरकर स्वर्ग प्राप्त करेगा अथवा जीतकर पृथ्वी भोगेगा यानी "दोनों ही हाथ लड्डू।"

(२) "यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमवावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥"
(गी० २।३२)

अर्थात् हे पार्थ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिम लोग ही पाते हैं।

इस प्रकार निर्णय हुआ कि वर्णाश्रम धर्म के पालन का परिणाम स्वर्गादिक लोक की प्राप्ति है एक बात और विचारणीय है, वह यह कि अपर धर्म अर्थात् वर्णाश्रम धर्म परिवर्तनशील है लेकिन पर-धर्म सदा एक रस एवं स्वाभाविक है जैसे ब्राह्मण के लिए दूसरा धर्म, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए पृथक्-पृथक् धर्म हैं।

आश्रम धर्म—

पुनश्च आश्रम धर्म को देखिये। ब्रह्मचारी के लिए कहा गया है कि स्त्री आदि से बचो किन्तु २५ वर्ष बाद उससे कहा गया कि किसी स्त्री से विवाह कर लो एवं सन्तान न पैदा करो तब पितृ ऋण से उऋण हो सकोगे। पुनः ५० वर्ष की आयु में गुरु महाराज ने कहा अब बाल बच्चे एवं ग्रहस्थ के काम धाम सब परित्याग कर दो और स्त्री पुरुष दोनों जंगल चले जाओ। पुनः ७५ वर्ष की आयु में यह आज्ञा दी गई कि कौन तुम्हारी स्त्री; कौन तुम्हारा पति, यह सब शारीरिक सम्बन्ध हैं. एतएव तुम दोनों एक दूसरे से पृथक हो जाओ अर्थात् जैसे ब्रह्मचर्याश्रम में अकेले थे वहीं फिर पहुँच जाओ। यह बार-बार परिवर्तन हो रहा है।

वस्तु तस्तु वर्णाश्रम धर्म का विधवत् पालन स्वर्ग प्राप्ति करा सकता है यज्ञ-यागादिक श्रुतिस्मृति विहित सभीं प्रकार के वर्णाश्रमोचित कर्म स्वर्ग ही प्राप्त करा सकते हैं जिसका परिणाम-स्वर्ग से पुण्यक्षीण होने पर पतित होना है। यथा—

(१) "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥ (९।२१) गीता

अर्थात् वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर;

पुण्यक्षीण होने पर, मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं और पुनः ८४ योनियों का चक्कर प्रारम्भ होता है।

रामायण भी स्वर्ग सुख की भर्त्सना करती है। जैसे:—

"स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदायी"

वेदों में इन यज्ञ—यागादिक कर्मों को घटिया किस्म का कर्म समझा गया है और कहा गया है कि यज्ञ रूपी नौकायें बहुत ही क्षुद्र कमजोर (अदृढ़) हैं। जिससे इस संसार सागर से पार नहीं हुआ जा सकता। यथा—

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा।
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म॥
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा।
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥ (मुण्डक उपनिषद्)

अर्थः—ये यागादिक कर्म छुद्र नौकाओं के समान हैं जिनके द्वारा भवसागर को पार नहीं किया जा सकता जो अज्ञानी इन्हें ही सर्वोच्च समझकर इनका अवलम्बन करते हैं वे पुनः जरा—मृत्यु के पाश में फँस जाते हैं।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किन्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥

यह मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद, वेदान्त सूत्र और महाभारत में भी आया है जिसका अर्थ यह है कि—इस लोक में जो यज्ञ याग आदि पुण्य कर्म किये जाते हैं उनका फल स्वर्गीय उपभोग से समाप्त हो जाता है और तब यज्ञ करने वाले कर्मकाण्डी मनुष्य को स्वर्गलोक से इस कर्मलोक अर्थात् भूलोक में फिर भी आना पड़ता है। अतः आत्म-ज्ञान परा विद्या है और सभी विद्यायें अपराविद्या (न्यून-कोटिक) हैं।

(क्रमशः)

●

परमात्मतत्व

आचार्य रामप्रताप शास्त्री, करहिया, बाँदा

अविनाशी परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वी से ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत् की उत्पत्ति होती है। पार्थिव शरीर के बाद प्राणियों का जल में लय होता है। फिर वे जल से अग्नि में अग्नि से वायु में और वायु से आकाश में लीन होते हैं परन्तु जो ज्ञानी हैं, वे मोक्ष स्वरूप परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं। वे जन्म नहीं ग्रहण करते।

यह मनुष्य जिस—जिस शरीर से जो—जो कार्य करता है, उस—उस शरीर से उसी—उसी कर्म का फल भोगता है। जैसे भूमि में एक ही रस होता है तो भी उसमें जैसा बीज बोया जाता है, उसी के अनुसार वह उसमें रस की उत्पत्ति करती है, उसी प्रकार अन्तरात्मा से ही प्रकाशित बुद्धि पूर्व—जन्मों के कर्मों के अनुसार ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होती है। मनुष्य को तो पहले विषय का ज्ञान होता है, फिर उसके मन में उसे पाने की इच्छा पैदा होती है। उसके बाद 'इस कार्य को सिद्ध करूँ' यह निश्चय और प्रयत्न प्रारम्भ होता है फिर कार्य सम्पन्न होता है और उसका फल मिलता है। इस प्रकार फल कर्म—स्वरूप, कर्म ज्ञेय—स्वरूप, ज्ञेय ज्ञान—स्वरूप और ज्ञान का स्वरूप कार्य—कारण भाव समझना चाहिए। ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इनका अन्त होने पर जो प्राप्तव्य फल—रूप से शेष रहता है, उसको ही ज्ञेय मात्र में व्याप्त

होकर स्थित हुआ ज्ञान-स्वरूप-परमात्मा जानना चाहिए। उस परम महान् तत्त्व को योगी-जन ही देख सकते हैं। विषयों में आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर स्थित उस परमात्मा को नहीं देख सकते।

इस जगत् में पृथ्वी के रूप से जल का रूप महान् है, जल से तेज अति महान् है, तेज से वायु महान् है, वायु से आकाश महान् है आकाश से मन महान् है—अर्थात् श्रेष्ठ है, सूक्ष्म है। मन स बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से काल अर्थात् प्रकृति महान् है और काल (प्रकृति) से भगवान्-विष्णु-अनन्त, सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् हैं। यह सारा जगत् उन्हीं की सृष्टि है। उन भगवान् विष्णु का न कोई आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है। वे आदि, मध्य और अन्त से रहित होने के कारण ही अविनाशी हैं; अतएव सम्पूर्ण दुःखों से परे हैं; क्योंकि विनाशशील वस्तु ही दुःख रूप हुआ करती है। अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वही परमधाम और परमपद हैं। उन्हें प्राप्त कर लेने पर जीवकाल के राज्य से मुक्त हो मोक्ष-धाम में स्थित हो जाते हैं। यह बध्य जीव गुणों में अर्थात् गुणों के कार्य रूप शरीर आदि के सम्बन्ध से व्यक्त हो रहे हैं, परन्तु परमात्मा निर्गुण होने के कारण उनसे अत्यन्त परे हैं। जो निवृत्ति-रूपधर्म (निष्काम कर्म) है, वह ही अक्षय-पद (मोक्ष) की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

परन्तु दुर्भाग्य से साधन-हीनता और कर्म-फल विषयक आसक्ति के कारण मनुष्य उस मार्ग का दर्शन ही नहीं कर पाते हैं, जिससे परमात्मा की प्राप्ति होती है, मनुष्यों की विषयों में आसक्ति होती है क्योंकि विषय सुख सदा रहने वाले हैं, ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने मन से सांसारिक पदार्थों के पाने की तीव्र इच्छा रखते हैं। संसारी मनुष्य इस संसार में जिन-जिन विषयों को देखते हैं, उन्हीं को पाना चाहते हैं। सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म-परमात्मा हैं, उन्हें पाने के लिए उनके मन में इच्छा ही नहीं होती है; क्योंकि वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमात्मा निर्गुण (गुणातीत) हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों को दिखाने वाला मन जब पहले से ही विषयों की ओर अग्रसर हो जाता है तब वह भला! विषय-रूप गुणों की अपेक्षा रखने वाला मन निर्गुण-तत्त्व के दर्शन कराने में कैसे समर्थ हो सकता है। जो इन तुच्छ विषयों में फँसा हुआ है, वह परम दिव्य गुणों को कैसे जान सकता है? जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होना है, उसी प्रकार नित्यत्व आदि स्वरूप-भूत दिव्य-गुणों द्वारा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन हो सकता है। यद्यपि उस अव्यक्त ब्रह्म का बोध कराने के लिए इस संसार में कोई दृष्टान्त उपयुक्त ही नहीं है, जहाँ वाणी का व्यापार ही नहीं है, उस वस्तु को कौन वर्णन का विषय बना सकता है? तथापि तप से, अनुमान से, शम, दम आदि गुणों से, जातिगत धर्मों के पालन से तथा शास्त्रों के स्वाध्याय से अन्तःकरण की विशुद्धि के द्वारा परब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए। जिस प्रकार गुणों के क्षय होने पर पञ्च-महाभूत निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार बुद्धि समस्त इन्द्रियों को लेकर हृदय में स्थित हो जाती है। जब निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदय में स्थित होती है, तब मन विशुद्ध हो जाता है।

हम ध्यान द्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मन से परमात्मा के स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं, परन्तु वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि मन के द्वारा ही मानसिक विषय का ग्रहण हो सकता है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय को जाना जा सकता है। इसलिए ज्ञान के द्वारा बुद्धि को, बुद्धि के द्वारा मन को तथा मन के द्वारा इन्द्रिय-समुदाय को निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। बुद्धि में प्रवीण अर्थात् विशुद्ध और सूक्ष्म-बुद्धि से सम्पन्न एवं मानसिक बल से भरपूर पुरुष समस्त इच्छाओं से अतीत निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। जैसे वायु काष्ठ में रहने वाले अदृश्य अग्नि को बिना प्रज्ज्वलित किये ही छोड़ देता है, वैसे ही कामनाओं से विकल पुरुष भी अपने शरीर के भीतर स्थित परमात्मा का त्याग कर देते हैं, उसे जानने और पाने की इच्छा नहीं करते। जब साधक साधन-रूप गुणों को धारण कर लेता है, तब उसका मन बुद्धि जन्य अच्छे-बुरे भावों से रहित होकर निरन्तर निर्मल रहता है। इस प्रकार साधन में लगा हुआ साधक जब गुणों से अतीत हो जाता है, तब ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

पुरुष का आत्मा (वास्तविक स्वरूप) अव्यक्त है

और उसके कर्म शरीर-रूप में व्यक्त हैं। अतः वह अन्तकाल में अव्यक्त भाव को प्राप्त हो जाता है; परन्तु कामनाओं से तद्रूप हुआ जीव विषय-प्रबल इन्द्रियों से युक्त होकर पुनः संसार में आ जाता है। वह ज्ञान, उपासना आदि के बिना केवल कर्मों द्वारा परमात्मा को नहीं पाता। यद्यपि इस पृथ्वी का अन्त नहीं, तो भी कहीं न कहीं इसका अन्त अवश्य है, जैसे समुद्र में लहरों द्वारा ऊपर नीचे होते हुए जहाज को प्रवाह के अनुकूल बहती हुई हवा तट पर लगा देती है, उसी प्रकार संसार-सागर में गोता लगाते हुए मनुष्य का यथाविहित अनुकूल वातावरण संसार-सागर से अवश्य पार कर देता है। सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक सूर्य प्रकाश रूप गुणों को पाकर भी अस्ताचल को जाते समय अपने किरण-समूह को समेट कर जैसे निर्गुण हो जाता है। उसी प्रकार भेद-भाव से रहित हुआ साधक अविनाशी, निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश पा लेता है।

जो कहीं से आया हुआ नहीं है, नित्य विद्यमान है, पुण्यवानों की परम गति है, स्वयं-भू है, सबकी उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है; अविनाशी एवं सनातन है, अमृत, अविकारी एवं अचल है, उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परम मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

कहानी

पुकार का प्रत्युत्तर

जगदीश पाण्ड्या, पाण्डिचेरी-२

मन्दिर में घण्टनाद हो रहे थे। समस्त सृष्टि जैसे टन-टन आवाज से भर गई थी। मन्दिर के आस-पास की पहाड़ियों में यह ध्वनि रह-रह कर और अहरह प्रतिध्वनित हो रही थी। न जाने कहाँ तक यह ध्वनि जाती थी—दूर-दूर से भी सुनाई देती थी।

मन्दिर भगवान् शिव का था। उस मन्दिर की शोभा अनोखी थी। पहाड़ियों से आच्छादित प्रदेश में होने के फलस्वरूप उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी। न जाने कितने ही मुसाफिरों का वह निवास स्थान बना होगा। यह कहने में भी भूल न होगी कि उसकी उपयोगिता भी इतनी ही थी जितनी कि एक छोटे झरण की मरुभूमि में होती है।

उस मन्दिर का पुजारी बड़ा कर्मचारी, भावुक, श्रद्धालु और दयालु था। उस मन्दिर व्यवस्थापक केवल वह अकेला ही था। उस मन्दिर को सफाई करना, शिवलिंग की पूजा करना और यहाँ तक कि शाम-सवेरे घण्ट बजाना भी उसका ही कार्य होता था। घण्ट अन्यथा बजता नहीं था सिवाय कि कोई भूला-भटका पथिक वहाँ आ पहुँचा और उसने भावुकता से प्रेरित होकर घण्ट बजा दिया।

पुजारी का नाम भी सुन्दर था—श्यामल किन्तु, जिस पहाड़ियों से आच्छादित प्रदेश में वह रहता था उस प्रदेश का नाम ही नहीं था। हाँ, उस प्रदेश में एक छोटा गाँव था जहाँ वह रहता था उस गाँव का नाम ऋध था ऋध बहुत छोटा गाँव था और उस गाँव की बस्ती भी दो सौ-तीन सौ से अधिक नहीं थी। निःसन्देह पुजारी श्यामल की प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी उस गाँव में। केवल भगवान् शिव में मग्न रहने के अतिरिक्त उसको कुछ करना ही नहीं होता था। भोजन और पैसे उसको दक्षिणा या दान के रूप में हमेशा गाँववालों से मिलते रहते थे।

अन्यथा उसने कभी लोभ या लालच का अंश भी अपने भीतर पैदा नहीं होने दिया। श्यामल बचपन से ही सशक्त और तन्दुरुस्त था। वह सुन्दर भी था। उसको केवल अपने शिव से ही प्रेम था। गाँव की किसी भी मादक मुस्कान उसका दिल चुराने के लिये बेकार थी। ऐसी एक भी ललना या ऐसी एक भी हसीन नहीं थी जो उसको अपना बना ले या क्षण भर के लिये मोहित कर दे। फलस्वरूप चालीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उसकी जवानी बनी रही थी।

सूर्यास्त के पश्चात् काफी देर तक श्यामल घण्ट बजाता रहा। उस घण्ट की ध्वनि में, जैसे वह महसूस करता था, एक अनोखे शिव–शंखनाद का आभास। शाम को लम्बे, वक्र और झाड़ी–झाँखर वाले मार्ग से गुजर कर जब वह अपने गाँव ऋध पहुँचा तब आकाश में तारे दृष्टिगोचर होने लगे थे। रात को वह घर के बाहर नहीं निकलता था। घर में चारपाई में सोये–सोये या बैठे–बैठे शिव······शिव का नाम रटन करते हुये वह सो जाता था। हररोज के भाँति वह सो गया। उस दिन उसको अच्छी नींद आ गई।

आधी रात के पश्चात् एका–एक घोड़ों के दाव की आवाज से वातावरण भर गया। सारा गाँव जागृत हो गया। श्यामल भी शिव······करता हुआ घर से बाहर निकला। कितने ही लोग बाहर निकल चुके थे। श्यामल ने एक–दो व्यक्ति को पूछने पर ही यह ताड़ लिया कि पलटन आई है। किन्तु श्यामल यह अनुमान नहीं कर पाया कि पलटन किसी चोर–लूटेरों की है या मुसाफिरों की है या किसी सम्राट के सैन्य का एक भाग है। उनको यह पलटन जो भी हो कुछ चिन्ता की बात न थी, न वह उस पलटन के विषय में कुछ अधिक जानना भी चाहता था। शिव·····शिव का मादक आलाप करते हुए वह घर में जाकर चारपाई में सो गया।

रात गुजरने लगी।

आधी रात के पश्चात् जब टक······टक·····टक करके किसी ने उसका द्वार खटखटाया तो वह जाग उठा।

उसने द्वार खोला तब देखा सामने दो–तीन आदमी खड़े थे। वे उसके गाँव वाले ही थे।

"क्यों इस तरह! क्या हुआ है?"

"पूज्य! गाँव पर किसी अज्ञात लोगों का पड़ाव है। वे लोग बहुत दुष्ट महसूस होते हैं। वे गाँव का सब धन ले जाना चाहते हैं। हमें इस विषय में उन लोगों से कुछ कहने का सामर्थ्य नहीं है। जब उन लोगों ने पूछा इस गाँव का मुखिया कौन है? तब हमने आपका नाम बता दिया। आप ही हैं जो हमें सहायता कर सकते हैं। वह पलटन का सरदार आप को मिलना चाहता है।"

श्यामल के मुख से प्रथम क्षण तो यही उद्गार निकल पड़े–हे शिव, आप ही हमारी रक्षा करेंगे। "चलो मैं आता हूँ"–कहते हुए श्यामल उन गाँव वालों के साथ अग्रसर हुआ। अग्रसर होते हुए उसने शिव–मन्दिर की ओर एक बार देखा और नमन् किया।

लम्बा चलकर जब वे लोग उस छावनी में पहुँचे जहाँ पलटन ने पड़ाव डाला था, काफी रात बीत चुकी थी। श्यामल के जीवन में यह प्रथम दिन था, उसको गाँव वालों का मुखिया बनकर सहायता के लिये जाना पड़ा।

उसने कभी गाँव के छोटे–बड़े उत्सव में या कार्य में भाग नहीं लिया न उसने अपने को गाँव का बड़ा व्यक्ति भी माना। उसको किसी बात का डर न था। उसका अनुमान था कि वह शिव की आराधना करता है, अपने जीवन में एक दिन भी मन्दिर में जाकर महादेव की पूजा करना और घण्ट बजाकर समस्त प्रदेश में मादक घण्ट-स्वर फैलाना नहीं भूला, शिव उसको अच्छी तरह जानते हैं और शिव का त्रिशूल हमेशा उसके चारों ओर घूमता–फिरता है और उसकी रक्षा करता है।

पलटन में यह खबर फैल चुकी थी कि गाँव का मुखिया आया है।

जब उसको छावनी के भीतर जहाँ पलटन का सरदार बैठा था, ले जाया गया तब श्यामल ने महसूस किया जैसे वह किसी नरक में आ गया है। उसके मुख से वही उद्गार निकल पड़े।

–हे शिव······शिव, हे शिव······

उस पलटन में अधिष्ठाता के बावजूद एक अधिष्ठात्री थी या यों कहिये उस पलटन का सरदार एक औरत थी। बुरखा पहने हुई उस स्त्री सरदार के सामने जब उसको खड़ा रहना पड़ा जब उसको आश्चर्य हुआ। उसने एक गांव वाले से पूछा –"कौन है यह औरत ?"

"पूज्य, यह औरत ही इस पलटन की सरदार हैं।

"स्त्री का कार्य तो दीपक जलाना, नृत्य करके शिव को पसंद करना और अपनी कोयल तथा मधुर कंठ स्वर लहरी से वातावरण को आनन्दमय बना देने का होता है, इस तरह सरदारी करना क्या औरत को शोभा देता है शिव ···शिव ···

उस स्त्री ने अपना बुरखा निकाल कर श्यामल की ओर देखा। श्यामल ने भी भावविहीन दृष्टि से उस स्त्री की ओर देखा।

श्यामल का श्वेत, गठीला, सुन्दर और भव्य शरीर तथा शिव–भक्ति से तेजस्वी बना मुख–मण्डल और आँखों से निकलती एक अनोखी चमक देख कर क्षण भर के लिए उस स्त्री के नयन स्थिर हो गये। वह उसको चकाचौंध देखती रही।

उसके जीवन में यह भी एक पहला ही प्रसंग था कोई स्त्री आँखें गड़ाये उसके सामने देखती रही। श्यामल को यह बिलकुल अच्छा न लगा।

जिस भव्य शरीर और भव्य लोचन ने एक स्त्री को मोहित कर दिया था उस भव्य शरीर और लोचन के विषय में स्वयं श्यामल ही अवगत था।

"हां ? तो तुम इस गाँव के मुखिया हो। बड़े सुन्दर हो ! तुम्हारी आज्ञा का पालन गाँव के लोग करेंगे इसमें मुझे तनिक भी अविश्वास नहीं। मैं इस पलटन की अधिष्ठात्री हूँ और मेरे साथी मुझे तृषा कह कर पुकारते हैं। मैं जो चाहूँ कर सकती हूँ। किन्तु प्रथम मैं याचना करती हूँ और यदि याचना पूर्ण न हुई तो मार-पीट यहाँ तक कि कत्लेआम करके भी याचना पूर्ण करवाती हूँ। तुम्हें याचना की जायगी, याचना का अनुकरण करना तुम्हारा कार्य होगा" —उस स्त्री ने कहा।

श्यामल यह सुनकर बेधड़क बोला —"तुम जो भी हो–अधिष्ठात्री या अधिदेवी या दुनियाँ की महारानी, इससे न मुझे मतलब है न मेरे गाँव वालों को। यह गाँव भगवान् शिव से स्थापित है, यहाँ उनका मन्दिर है जिसका मैं पुजारी हूँ। उस मन्दिर में उनका निवास है। हम उनकी छत्र-छाया में हैं। दुनियाँ में कोई ऐसा प्राणी नहीं या शक्ति नहीं जो हमारा बाल भी बाँका कर सके।"

तृषा ने श्यामल की वाणी सुनकर अट्टहास किया अपितु, उसके शब्दों से वह प्रभावित जरूर हुई। उसने गाँव वालों की ओर देखकर आज्ञा की–"यदि कल शाम तक मुझे, गाँववालों ने अपनी मिलकत का आधा हिस्सा न दे दिया तो कत्लेआम कर दी जायगी।"

फिर श्यामल से उसने कहा–"तुमसे मैं एकान्त में बात करूँगी। तुम्हें अभी कैद में रख दिया जायगा।"

"अनुचर, उसे मेरे बिलकुल समीपस्थ एक छावनी में कैद रक्खो।"

श्यामल तृषा का एकान्त में बात करने का मर्म समझ न पाया।

उसको एक छावनी में कैद रक्खा गया। श्यामल ने कभी ऐसा सोचा ही नहीं था कि उसको इस तरह कैदी बनना पड़ेगा। "सवेरे मन्दिर में जाना होगा, शिव की पूजा करनी होगी, घण्ट बजाना होगा, मुझे छोड़ देना चाहिये इस कैद से, यदि मैं शिव की पूजा नहीं करूंगा तो शिव कोपायमान हो जायेंगे। नहीं, कुछ भी हो जाय मैं सवेरे जाऊँगा या मृत्यु को प्राप्त होऊँगा"–उसने इस तरह दृढ़ निश्चय किया।

सूर्यागमन के दो घण्टे पूर्व, तृषा ने नये-नये पाशाक और आभूषण से सज्जित होकर किसी कामना से प्रेरित हुए उस छावनी में प्रवेश किया जहाँ श्यामल को कैद में रक्खा गया गया था। श्यामल आंखें बन्द किये शिव······ शिव······का उच्चारण कर रहा था। तृषा उसको विस्फारित नेत्रों से देखती रही। तृषा ने जोर से ताली बजाई। श्यामल की आँखें खुल गयीं।

"मैं यहाँ क्यों आई हूं पता है तुम्हें" तृषा ने पूछा। श्यामल ऐसी सुन्दरता या सुन्दर वाणी से मोहित

होने वाला व्यक्ति नहीं था। शिव के सिवा उसको और कौन मोहित कर सकता था।

उसने कहा—"मुझे यह सब जानने की आवश्यकता नहीं।"

"मैं न तो तुम्हारा धन छीनने वाली हूं न तुम्हारे गाँव के लोगों का धन। मैं केवल तुम्हें ही छीनने वाली हूं। तुम्हें पता नहीं तुम कितने भाग्यशाली हो कि तुम पर मैं मोहित हो चुकी हूं। मान लेना मेरा मोहित होना माने तुम्हारा जीवन सार्थक होना है।" श्यामल को आश्चर्य हुआ। एक स्त्री उस पर मोहित हो जाय यह कैसी अजायब बात है। शिव……शिव……

इतने में तृषा उसके बिल्कुल समीप पहुंच गई। उसका मुंह श्यामल के मुख के एकदम समीप था। श्यामल उसकी गर्म श्वासों का अनुभव कर सकता था और उसके शरीर से निकलती स्त्री-गंध को भी आज प्रथम बार वह महसूस कर रहा था। वह स्तब्ध था। तृषा ने जब उसका हाथ पकड़ा तब उसने आँखें बन्द कर दीं और मन ही मन शिव……शिव का स्मरण करने लगा। फिर न जाने तृषा न क्या-क्या किया, उसको कुछ भान नहीं था। जब उसने आँखें खोलीं तब तृषा वहाँ नहीं थी, पर अब भी जैसे वह उसकी गर्म श्वासों का आवाज सुन रहा था और जैसे उसके शरीर की गन्ध अब भी उस जगह भरी-भरी थी और उसको बेचैन बना रही थी।

"यह सब क्या हो गया शिव……यह सब किस प्रकार की गन्ध और आवाज…भगवान्, मैं यहाँ नहीं ठहर सकता।"

श्यामल किसी अज्ञात प्रेरणा से छावनी के बाहर निकला और चुपके से अपने गाँव ऋध में पहुंच गया। छावनी के पहरगीर श्यामल को कुछ न कर पाए क्योंकि तृषा की आज्ञा थी श्यामल को कुछ न कियाजाय, न कुछ कहा भी जाय।

और कुछ नहीं अपितु, श्यामल से मोहित तृषा ने कुछ सोचने के सिवा ही श्यामल पर रक्खा पहरा उठा लिया था। रात को तृषा ने उसके साथ जो व्यवहार किया था इसके लिए श्यामल ने कुछ बाँधा नही उठाया था इससे वह यह समझ गई थी कि श्यामल अपना बन गया है। अब नहीं जा सकता यहाँ से। किन्तु, यहाँ सब कुछ विपरीत हो गया।

श्यामल अपने गाँव में पहुंचा तब सूर्यागमन हो चुका था। गाँव के लोग श्यामल को आए देखकर आनन्दित हो गए और विस्मित भी हुए। श्यामल गर्जना करते हुए बोला—"चलो, चलो बंधुओ, चलो शिव-मन्दिर में, वहाँ भगवान् शिव का वास है वहाँ हमें न कोई लूटने वाला है न कोई परेशान करने वाला है। आओ……हम मन्दिर की ओर चलें।"

एक के बाद एक ग्राम-जन श्यामल के पीछे-पीछे उस शिव मन्दिर की ओर चल पड़े। श्यामल की आवाज न जानें किस तरह उन लोगों को प्रेरित कर गयी। कुछ ही काल में सारा गाँव उस मन्दिर के आस-पास इकट्ठा हो गया। घण्टनाद होने लगे। हरेक घन्टनाद में जैसे एक अनोखी पुकार थी, आर्तनाद था। आकाश में काले बादल न जाने कहां से एकाएक घिर कर आने लगे थे। सूर्य ढक गया था।

"बोलो! शिव……श्यामल ने एक गर्जना की।

"शिव……ग्राम जनों ने एक साथ पुकार दी।

शिव………

शिव………

पहाड़ी प्रदेश शिव की पुकार से गूंज उठा जैसे वर्षा के दिन मेघा-डंबर से अवनि-आकाश गूंज उठते हैं।

श्यामल शिवलिंग के सामने आँखें बन्द किए बैठ गया। शिव……शिव की पुकार के साथ, घन्ट के आन्दोलन और स्फूर्ति भर देने वाले तथा मादक कंपन फैलाने वाले ध्वनि में अपने को ध्यानस्थ करने लगा।

० ० ०

तृषा को यह बात का पता चला कि श्यामल छावनी को त्याग कर भाग निकला है तब वह अपने दल के साथ गाँव में आ पहुंची। किन्तु गाँव में जाकर जब उसने देखा कि गाँव के घर-बार सब खुले है और गाँव में जानवरों के सिवा और कुछ नहीं है तब उसको आश्चर्य

"शिव……एकाएक उसने एक भयानक आवाज सुनी। वह आवाज की दिशा में दल के साथ मुड़ी।

शिव……शिव की पुकार आती ही रही। तृषा का आश्चर्य और भी बढ़ता गया।

जब वह समझ पाई कि गांव के लोग इकट्ठे होकर शिव……शिव की पुकार कर रहे हैं तब उसने एक अट्ट हास किया।

वह दल के साथ रास्ता काटती हुई मन्दिर के बिलकुल समीप पहुंच गई। लोगों ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। वे केवल शिव……शिव की पुकार करने में ही मग्न बने रहे।

तृषा लोगों के इस बर्ताव पर आग बबूली हो उठी। वह मन्दिर में गई। श्यामल को ध्यान-मग्न निहार कर वह उसके समीप गई। अपने दोनों हाथों से उसने उसे झकझोरा। श्यामल ने न तो अपनी आँखें खोलीं न कुछ बोला। वह तो ऐसे ही ध्यानमग्न बना रहा।

आखिर तृषा ने कहा—"श्यामल! मैं तुम्हारे पर मोहित हुई, इसका तुमने दुरुपयोग किया। तुमने छावनी से भाग कर मेरी कृपा का इस तरह बदला चुकाया। तुम्हें पता है, एक बार जिस व्यक्ति को तृषा ने पसंद कर लिया वह व्यक्ति उसके हाथ से कभी नहीं छूट सकता। उसके लिए केवल दो ही रास्ते होते हैं—तृषा का बन जाना या मौत! अब तो ऐसा लगता है कि तुम्हें अपना गाँव ही जलाना है और अपने को मौत के मुंह में घुसाना है। मैं तुम्हें समय दूंगी और केवल कुछ क्षणों का मेरा एक घुड़सवार छावनी में जाकर वापस आयगा, उसके पूर्व यदि तुम यहाँ से न उठे और अपने लोगों को वापस ने भेज दिया तो तुह्मारा गाँव जलाकर भस्म कर दिया जायगा और तुम्हारा वध।"

एक घुड़सवार को इशारा किया गया। वह छावनी में जाकर वापस आया। किन्तु, न लोगों ने शिव…शिव की पुकार करना छोडा न श्यामल ने अपना ध्यान भंग किया।

तब ऋध गाँव को जलाकर भस्म कर देने की आज्ञा हो गई।

तृषा का दल गाँव की ओर चला गया।

आकाश काले बादलों से भरपूर हो गया था जब गाँव को जलाने के लिए मशालें जलायी गईं।

गांव को जलाना शुरू ही हुआ था कि एक-एक इतनी भयंकर मेघ गर्जना हुई कि तृषा का दल भयभीत बन गया। तृषा भी स्तब्ध और भयभीत बन गई। एक के बाद एक मेघगर्जना होने लगी। फिर वर्षा होना आरम्भ हो गया। इतनी बड़ी-बड़ी बूंदें गिरने लगीं जैसे आकाश से कमल सदृश फूल गिरने लगे, बिलकुल जोर से। पवन भी इतना ही जोर से बहने लगा।

मशालें बुझ गईं। जैसे एक दिव्य-शक्ति काम कर गई, सारी सृष्टि वर्षा से भिजने लगी।

तृषा को जैसे श्यामल की वह ध्वनि सुनाई देने लगी……'यह गाँव भगवान् शिव से स्थापित है, यहां, शिव का मन्दिर है, मैं उसका पुजारी हूं। शिव हमारी रक्षा कर रहे हैं। यह शिव की शक्ति काम कर रही है। यहाँ से चली जाओ अन्यथा तुम्हारी जान खतरे में है।" बारम्बार सुनाई देने लगी।

शिव गर्जना लोगों के मुख से अब भी निकल रही थी। घंटनाद अब भी हो रहे थे। आकाश काले बादलों से बिल्कुल काला बन चुका था।

तब तृषा उस प्रदेश से अपने दल के साथ न जाने कहाँ गायब हो गई थी। केवल उसकी छावनी वर्षा से भिजती हुई और पवन के झोंकों से अस्त-व्यस्त होती हुई पड़ी थी।

श्यामल का ध्यान टूटा तब लोगों ने शिव-पुकार करना बन्द किया। श्यामल के आदेश से सब लोग गाँव में वापस चले गये। केवल श्यामल घन्ट बजाता हुआ शिव मन्दिर में खड़ा रहा।

शाम बीत गई, रात आई। श्यामल मन्दिर में ही था। वर्षा अब तक हो रही थी।

एका-एक काले बादल बिखर गए और चन्द्र निकल आया आकाश में, वर्षा करता हुआ-अपनी मोहक तथा शीतल चन्द्रिका की।……

★

जीवन का नृत्य

किसी ने मृत्यु की ओर जाने वाले राही से पूछ लिया – 'जीवन क्या है ? राही थोड़ी देर के लिए रुका और हल्की सी मुसकान बिखेरते हुये उसने कहा जीवन एक नर्तकी है जो मृत्यु के दरवाजे पर खड़ी नाचती थिरकती काल के सम पर अपनी थाप मारती है। काल की गति में कभी व्यतिक्रम नहीं आता परन्तु जीवन की नर्तकी अपनी अज्ञान–दशा में सम को छोड़ बैठती है और संगीत के मधुर आनन्द का मजा किरकिरा हो जाता है। जीवन की कुशल नर्तकी यदि काल के सम को न छोड़े तो वह सच्चा सुख प्राप्त कर सकती है।'

राही क्षण भर के लिए रुका और पुनः मन्थर गति से अपने मार्ग की ओर चल दिया। उसे ज्ञात था यदि एक बार भी काल का यह सम छूट गया तो फिर उसका पकड़ना कठिन है।

—चिन्मय

थका राही नहीं हूँ

(कवि हृदय, पूर्व प्रोफेसर श्री स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती, एम० ए० अध्यक्ष विरक्त आश्रम वेरका (अमृतसर) को एक बार किसी ने अश्रुपूरित नयनों से रोकने का आग्रह किया कि एक दिन और रुक जाइये– तो उन्होंने न रुकते हुए इस कविता की रचना करके उसे सान्त्वना दी। हम पाठकों के लिये इस मर्म स्पर्शी कविता को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।– संपादक)

मत मुझे रोको अभी तो – मैं थका राही नहीं हूँ।
मैं तुम्हारे प्यार का — आंचल कभी भी थाम लेता।
मैं तुम्हारे आंसुओं की — अर्चना का साथ देता।।
पर अभी मजबूरियों के बन्ध का चाही नहीं हूँ।
मत मुझे रोको अभी तो — मैं थका राही नहीं हूँ।।
आज कोई साथ देगा – मन तुम्हारी साधना है।
क्योंकि मेरी जिन्दगी में – मुस्कराना भी मना है।
बीच में ही छोड़ जाते – पूर्णता पथ की नहीं हूँ।
मत मुझे रोको अभी तो – मैं थका राही नहीं हूँ।
सच मुझे भयभीत होने की सजा मिलती रही है।
तुम न समझो पर मुझे तो मौत ही मिलती रही है।
जल रहा है, जो बुझा सा दीप क्या ऐसा नही हूँ।
मत मुझे रोको अभी तो– मैं थका रही नहीं हूँ।

●

केन्द्र के विविध समाचार

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज के विभिन्न स्थानों में सत्सङ्ग आयोजन हुए। दुलारा, सुवासा, बंगरा, बसवारी, (हमीरपुर) पूरे औनदसिंह (रायबरेली) में सत्सङ्ग आयोजनों में जन समाज ने विशिष्ट लाभ प्राप्त किया। सत्सङ्ग प्रेमी श्री रामसिंह सेंगर के सद्प्रयास से पूरे औदान सिंह का कार्यक्रम महत्वपूर्ण रहा।

दिनाङ्क ३० मई से ४ जून, १९६५ तक श्री स्वामी जी का कार्यक्रम श्री महाबीर प्रसाद जैन के सद्प्रयास से हिसार (पंजाब) में व्यवस्थित रूप से सम्पन्न हुआ। श्री स्वामी जी का वहाँ पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात् श्रीस्वामी लक्ष्मणानन्द जी की अध्यक्षता में आयोजित छोटा कछार में श्री स्वामी जी ने दिनाङ्क ५ और ६ जून को भाग लिया। इस आयोजन में कानपुर के अनेक सत्सङ्गी प्रेमियों से भी भाग लिया। दिनाङ्क ७ से ८ बम्हौरी (हमीरपुर) तथा ९ से १० चिकासी (हमीरपुर) के आयोजनों में भी भाग लिया। श्री स्वामी जी का अगला कार्यक्रम निम्न प्रकार से है :—

जून ११ से १४ — चिरगाँव (झाँसी) यज्ञ आयोजन

जून १५ से १७ — करियारी (हमीरपुर)

जून २० से जुलाई १४ — सत्सङ्ग भवन, गौशाला रोड सहारनपुर

सितम्बर १ से ५ — श्री १०८ स्वामी आनन्द गिरि जी की अध्यक्षता में आयोजित कपूरथला (पंजाब) में महान् वेदान्त सम्मेल।

विशेषाङ्क के लिए आवश्यक सूचना

अभी तक प्रकाशित 'अखण्डप्रभा' के विशेशाङ्क प्रेमी पाठकों के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इस वर्ष भी सितम्बर, १९६५ (वर्ष ७ का प्रथम अङ्क) का अङ्क विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित करने का आयोजन है। यह अंक सभी प्रकार से प्रेमी पाठकों के लिए सुरुचिपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

लेखक बन्धुओं से नम्र निवेदन है कि सदैव की भाँति विशेशाङ्क के लिए 'अखण्डप्रभा' प्रकाशन के अनुरूप अपनी रचनाओं का सहयोग देने की कृपा करेंगे। विशेषाङ्क का मुद्रण प्रारम्भ हो गया है। अतः लेखक बन्धु अपनी रचनायें शीघ्र ही प्रेषित करने की कृपा करें।

विशेषाङ्क का प्रकाशन आध्यात्मिक क्षेत्र के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे अपना वार्षिक चन्दा अभी से भेजकर अपनी प्रति सुरक्षित करा लें। विशेषाङ्क, उन्हीं प्रेमी पाठकों की सेवा में भेजा जा सकेगा जिनका वार्षिक चन्दा प्राप्त हो जायगा अथवा ग्राहक बने रहने की सूचना प्राप्त हो जायगी।

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र — अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

Govt. Regd. No.
R. N. 6873/59

अखण्डप्रभा
जून, १९६५

रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक १०

निराशा से दूर रहो !

कुछ लोगों के विषय में सर्वदा ही ऐसा होता है कि जिस चीज की वे कामना करते हैं या अभीप्सा करते हैं अथवा जिसे वे अपने लिए अच्छा समझते हैं ठीक उससे उलटी चीज ही घटित होती है। वे प्रायः ही इस कारण निरुत्साहित हो जाते हैं। क्या उनकी उन्नति के लिए यह आवश्यक होता है ?

निराशा कभी उन्नति के लिए आवश्यक नहीं होती, वह सर्वदा ही दुर्बलता और तमस् का एक लक्षण होती है वह बहुधा यह सूचित करती है कि कोई विरोधी शक्ति उपस्थित हो गयी है, अर्थात् ऐसी शक्ति आ गयी है जो जानबूझकर साधना के विरुद्ध कार्य करती है।

अतएव जीवन की चाहे जो भी परिस्थितियाँ क्यों न हों, तुम्हें बराबर निराशा से दूर रहने के लिए सावधान रहना चाहिए। इसके अलावा, उदास, खिन्न, निराश होने की यह आदत वास्तव में परिस्थितियों पर नहीं, बल्कि स्वभाव में विद्यमान विश्वास की कमी पर निर्भर करती है। यदि किसी में विश्वास हो, केवल अपने ऊपर ही विश्वास हो तो वह सभी कठिनाइयों, सभी परिस्थितियों का, यहाँ तक कि अत्यंत विरोधी परिस्थितियों का मुकाबला निरुत्साहित या निराश हुए बिना कर सकता है, वह बहादुरी के साथ अंत तक लड़ सकता है। सच पूछा जाए तो जिन स्वभावों में विश्वास का अभाव होता है उनमें ही धैर्य और साहस का भी भी अभाव होता है।

श्री अरविन्द हमें बताते हैं कि जितने अंश में व्यक्ति की भौतिक प्रकृति तथा विश्व की भौतिक प्रकृति के बीच सामंजस्य होता है उतने ही अंश में मनुष्य के भौतिक जीवन में सफलता भी आती है। कुछ लोगों में स्वभावतः ही एक इच्छा-शक्ति होती है जो प्रकृति माता की इच्छा शक्ति के साथ मेल खाती है, और ऐसे ही लोग जो कोई काम अपने हाथ में लेते हैं उसमें ही सफल होते हैं; दूसरे लोगों में, इसके विपरीत, ऐसी इच्छा-शक्ति होती है जो विश्व-प्रकृति की इच्छा शक्ति के साथ प्रायः पूर्ण रूप से बेमेल होती है और वे लोग जो कुछ करने का प्रयास करते हैं उसमें असफल होते हैं।

अब प्रगति के लिए आवश्यकता का जहाँ तक प्रश्न है, विकसनशील जगत् में प्रत्येक वस्तु ही निश्चित रूप में प्रगति में सहायक होती हैं, परन्तु व्यक्तिगत प्रगति बहुत अधिक जन्मों में प्रसारित होती है और असंख्य अनुभूतियों में से गुजरती है। तुम उसका विचार जन्म-मृत्यु के बीच विद्यमान केवल एक जीवन को देख कर नहीं कर सकते। मोटे तौर पर देखा जाय तो यह निश्चित है कि असफलताओं और हारों का जीवन भी अन्तरात्मा के विकास के लिए उतना ही उपयोगी होता है जितना कि सफलताओं और जीतों के जीवन का अनुभव, निस्संदेह मध्यम स्थिति के उस जीवन के अनुभव से तो बहुत ही अधिक उपयोगी होता है जैसा कि मनुष्यों का सामान्य जीवन होता है जिसमें सफलता और विफलता, तुष्टि और प्रतारणा, सुख और दुःख बारी-बारी से आते हैं और एक साथ मिले जुले-जुले होते हैं, जो एक ऐसा जीवन होता है जो बीच का, दोनों अवस्थाओं से रहित प्रतीत होता है और उसके लिए बहुत बड़े प्रयासों की आवश्यकता नहीं होती।

—श्री माता जी

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक
मासिक पत्रिका

ज्ञाता अज्ञ और अज्ञ ज्ञानी

ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता; क्योंकि वह जानने वालों का बिना जाना हुआ है और न जानने वालों का जाना हुआ है, क्योंकि अन्य वस्तुओं के समान दृश्य न होने से वह विषयरूप से नहीं जाना जा सकता।

जुलाई, १९६५
वर्ष ६ अङ्क ११

संस्थापक

ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

संरक्षक

वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द

सञ्चालक

स्वामी परमानन्द

प्रकाशक

भूपरानी भार्गव

★

कार्यालय

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२

चन्दा

आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति [साधारण] ३७ पै०
एक प्रति [सम्मेलनांक] ७५ पै०
एक प्रति [विशेषांक] १.००

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

*

आवश्यक सूचना

जिन प्रेमी ग्राहकों ने वर्ष ६ (१९६४-६५) का अपना वार्षिक शुल्क ४) अभी तक नहीं भेजा है वे आगामी वर्ष के साथ ही इस वर्ष का शुल्क भी शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

आगामी वर्ष ७ का प्रथम अंक (सितम्बर १९६५ का विशेषाङ्क) उन्हीं पाठकों की सेवा में भेजा जायगा जिनका वार्षिक शुल्क प्राप्त हो जयगा अथवा जिनके ग्राहक बने रहने की पूर्व सूचना प्राप्त हो जायगी।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

आगामी अंक में

दिल का दिल में —स्वामी प्रकाशानन्द

शरीर के कोषाणुओं में भागवत

संकल्प के स्पन्दनों की क्रिया —श्री माता जी

मैं कौन हूँ ? —स्वामी चेतनानन्द

धर्म का रहस्य —प्रेमचन्द्र मिश्र

मौत की आवाज —स्वामी निजानन्द

अन्य रचनायें

कहानी, लघुकथा, अखण्ड-चिन्तनधारा आदि

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'

सम्पादक :—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम. ए., सा.रत्न

वर्ष ६ | कानपुर, जुलाई, १९६५ | अङ्क ११

नियमों का विश्व

जो कुछ विषमता है, उसे मृत्यु आत्मसात् कर लेती है। आत्मा एकात्मक तत्व है, वह किसी न्य वस्तु से बनी हुई नहीं है। और इसलिए वह मर नहीं सकती। अपने स्वभाव से ही आत्मा मर है। शरीर, मन और आत्मा नियमों के चक्र पर घूम रहे हैं। कोई बच नहीं सकता। हम उसी रह से इन नियमों से अलग नहीं हो सकते। उनसे ऊपर उठ सकते, जैसे ग्रह-नक्षत्र या सूर्य यह ब एक नियमों का विश्व है। कर्म का नियम यह है कि प्रत्येक कार्य का आज नहीं तो कल, र—सबेर परिणाम होता ही है। वह मिस्र का बीज जो कि एक मृत 'ममी' के हाथ से लिया ौर ५,००० वर्षों बाद बोने से फिर अंकुरित हुआ, वैसे ही मानवीय कर्मों का अनन्त प्रभाव होता है। कर्म कर्म को उत्पन्न किए बिना मर नहीं सकता।

—स्वामी विवेकानन्द

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

ईश्वरार्पण

व्यक्ति के अपने व्यावहारिक जीवन में किए हुए समस्त कार्यों में कोई भी कार्य चाहे अपने लिए हो अथवा दूसरों के लिए हो, उसमें स्वार्थ हो या परार्थ हो जब तक वह ईश्वरार्पण बुद्धि से नहीं किया जाता तब तक लाभ या हानि दोनों ही अवस्थाओं में विक्षेप बना रहता है। कर्तृत्व का अभिमान उस समय तक कदापि नहीं जा सकता जब तक कार्य ईश्वरार्पण भाव से नहीं किया जाता। इस अभिमान के रहते हुए राग-द्वेष तो बने ही रहेंगे। यह तो स्वाभाविक प्रतीत होता है कि अपने हाथ स लगाए हुए पौधे को भलीभाँति पालन पोषण कर बड़ा किया और किसी जरा सी चूक होने पर कोई अनजान पशु उसे चर गया। ऐसा लगता है कि पशु ने उस पौधे को ही नहीं खा डाला, अपितु किए हुए इतने पुरुषार्थ को खा लिया। किसी भी पुरुषार्थ का मूल्य यही लगता है कि उसका फल इच्छानुसार सुरक्षित रहे। परन्तु कितना ही कोई प्रयास करे। काल-प्रेरित ये अनजान पशु उसका विनाश कर ही डालते हैं। बहुत सँभालकर रखे हुए पदार्थ भी जब अचानक विनाश को प्राप्त होते हैं तब भी एक ती धक्का लगता है और व्यक्ति की स्थिरता डिगने लगती है। पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश होता है, परन्तु उनके साथ-साथ ऐसा लगता है कि पुरुषार्थ किया गया और उसका नाश हो गया। वस्तुतः इस प्रकार मानना ही अस्वाभाविक है। यहीं पर व्यक्ति के विचारों की पहचान है। वैज्ञानिक न्यूटन के बीस वर्षों के अथक परिश्रम से तैयार की गयी हस्तलिखित नयी खोज जब उसके कुत्ते द्वारा गिरायी गयी जलती मोमबत्ती से नष्ट हो गयी तो उसने बड़े शान्त और गम्भीर स्वर में कहा—"टामी, तुम नहीं जानते कि आज तुमने कितना बड़ा नुकसान किया है।" इतना कह कर वह पहले की भाँति पुनः शान्त हो गया। किया भी क्या जा सकता है? उसी स्थान पर एक दूसरा उदाहरण है—कोई किसान अपना एक बैल बेचकर पाँच सौ रुपए अपनी पगड़ी में बांधकर रास्ते में एक पेड़ के नीचे विश्राम करते करते सो गया। उसका दूसरा बैल [illegible] था। उसने रुपये समेत पगड़ी खा ली। जागने पर किसान को बड़ा क्रोध आया कि इसने मेरी कमायी खा ली। क्रोध में उसने बैल की जान ले ली। पाँच सौ रुपये तो बैल ने चबा लिए और उतनी ही कीमत का दूसरा बैल उसके क्रोध ने खा लिया।" इसी प्रकार जब किसी का पुरुषार्थ खाया हुआ लगता है तो व्यक्ति उसे ही खा डालने को प्रेरित हो जाता है उसे यह नहीं पता रहता कि यह सब कुछ दिव्य-विधान की सहज-स्वाभाविक प्रेरणा से हो रहा है। यहीं पर इस बात की परख हो जाती है कि कोई यह कार्य किस निष्ठा से कर रहा है।

आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से इस बात का बहुत महत्व है कि कोई किस प्रकार की बुद्धि से कार्य कर रहा है। यहाँ तक कि साधना में भी कर्तृत्व का अभिमान व्यक्ति को ऊपर नहीं उठने देता। किसी को यह भले लगता हो कि किया तो मैंने और उसका फल ईश्वर को कैसे सौंप दें यदि कोई इस प्रकार सौंपने को तैयार नहीं है तो जिस बुद्धि से उसने किया ही उसी बुद्धि से उसका फल भोगने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। यहीं पर व्यक्ति चाहता है कि शुभ फल तो उसका हो जाय और अशुभ ईश्वरार्पण हो जाय। इस प्रकार की बुद्धि में ही विक्षेप उठता है और व्यक्ति अपनी साधना से गिर जाता है। इसलिए अपने सभी कार्य ईश्वरार्पण बुद्धि से ही करने चाहिए।

सृष्टि

वेदान्तवारिधि श्री स्वामी हरिगिरि जी महाराज, बकलोह (हिमांचल प्रदेश)

सभी लोगों का यही प्रश्न होता है कि सृष्टि कब हुई। किसने पैदा की ? कब यह लय (नाश) होती ? क्यों होती है। उनके मन में सृष्टि के विषय में ऐसी शंकायें (भ्रम) ऐसे घुस चुकी हैं कि यदि कोई कहता है कि सृष्टि तो पैदा ही नहीं हुई और चूंकि पैदा ही नहीं हुई इसलिए यह प्रश्न भी कि किसने की और कब की, नहीं उठता तो वे समझते हैं कि कहने वाले का मस्तिष्क काम नहीं करता। वह हो गया है। यह तो अन्धे, मूर्ख भी (सृष्टि की त्ति कभी हुई होगी और अवश्य किसी ने की है तभी दिखाई देती है) जानते हैं। उन लोगों को इस बात विश्वास कदाचित् नहीं आता कि न यह सृष्टि उत्पन्न है और न ही इसका नाश होता है। उनको तो विश्वास नहीं होता कि एक मूल तत्व (ब्रह्म) ही ज्यों का त्यों न कुछ बना है न कुछ बिगड़ा।

स्वर्ण है। अगर गहने बना लिए तो क्या कोई नया पैदा हो गया फिर भी तो वह सोना ही है। यदि बन कर फिर डली बना ली तो क्या स्वर्ण का नाश गया, नहीं हुआ। फिर भी वह सोना ही है। यहाँ तो ने से भिन्न न कुछ उत्पन्न हुआ न नाश। फिर भी यदि कहें कि सोना नाश हो गया तो यह अज्ञानता ही कहलायेगी। सोने से गहने बनाए तो सोना नाश हो गया। अन्तकर डली बना ली सोना पैदा हो गया ऐसा यह समझना अज्ञानता नहीं तो और क्या है।

एक तोला सोना लेकर उसकी एक अंगूठी बनवा। सोना १२० रु० तोला लिया। जब अंगूठी बनकर तो उसका फिर वजन किया तो वह भी एक तोला निकला और सर्राफ के पास उसको बेचने के लिए गए उसने कहा यह एक तोला है इसके ११२ रु० मिलेंगे। तो बताओ ली भी ११२ रु० में अब मिलते भी ११२ रु० और वजन पहले भी एक तोला था अब भी एक तोला है तो जरा बताओ क्या कोई नई वस्तु पैदा हुई या सोना नाश हो गया। यदि कोई नयी वस्तु पैदा होती तो उसके वजन व कीमत में कमी व बढ़ोतरी होती है, परन्तु यहाँ तो कीमत और वजन जितना पहले था उतना ही अब है। यदि सोना अंगूठी बनाने पर नाश होता तो अंगूठी की कीमत व वजन वही न होता जो पहले सोने का था। इससे विदित हुआ कि सोना न नाश हुआ न उत्पन्न। वह तो अंगूठी बनने पर भी ज्यों का त्यों है। अर्थात् अंगूठी कोई अलग वस्तु नहीं है वह भी सोना ही है। मालूम भी है कि अगर कोई अंगूठी लेकर बाजार में बेचने जाये और अंगूठी की कीमत अलग माँगे और सोने की अलग, तो लोग उसकी हसी उड़ायेंगे। अलग-अलग कीमत कोई नहीं देगा उल्टे उसकी हंसी उड़ायेंगे और उसे अज्ञानी समझेंगे। ऐसी ही हालत इन लोगों की है। यह कहते हैं कि सृष्टि अलग है भगवान अलग है। उनका ऐसा समझना तो अंगूठी को अलग और सोने को अलग समझने जैसा है। यही कारण है कि वे महात्माओं (वेदान्तियों) की बात पर विश्वास नहीं करते कि सृष्टि नाम की कोई भी बला नहीं है केवल ब्रह्म ही है। यह उनका केवल भ्रम ही है। उनका ऐसा कहना कि सृष्टि उत्पन्न हुई है केवल कथन मात्र ही है वास्तविक नहीं। जैसे कोई कहे कि बन्ध्यापुत्र (या आकाश का फूल या गन्धर्व नगर) तो यह केवल वाणी का ही विलास है। वन्ध्या के पुत्र कहां। यदि उसके पुत्र हो तो उसको बन्ध्या क्यों कहा जाये। वास्तव में मूल तत्त्व तो ज्यों का त्यों ही है। वह न तो पैदा होता है न नाश। उत्पत्ति नाश तो केवल कथन मात्र, वाणी का विलास है अज्ञानता है और क्या कहें।

यही कारण है कि वेदान्ती लोग ऐसा कहते हैं कि

सृष्टि नाम की तो कोई बला भी नहीं है अगर है तो वह कथन मात्र ही है। एक ब्रह्म ही सर्वत्र व्यापक, सर्वरूप है।

एक जिज्ञासु किसी महात्मा के पास गया और पूछने लगा कि महाराज मुझे बतलायें कि यह सृष्टि कब पैदा हुई और किसने पैदा की। महात्मा ने कहा कि सृष्टि न कभी पैदा हुई और न किसी ने पैदा की। यह कभी भी पैदा नहीं हुई। सृष्टि तो है ही नहीं। हमें तो सृष्टि नाम की कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देती। जिज्ञासु ने समझा कि महात्मा जी को शायद कम दिखाई देता है। इसलिए इसको सृष्टि दिखाई नहीं देती है यद्यपि मुझे और इसके अतिरिक्त दूसरों सभी को दिखाई दे रही है। उसने क्या किया कि अपनी मुट्ठी बन्द की और एक उंगली खोल कर उसकी आँख के पास समीप से समीप ले जाता गया, महात्मा ने कहा कि अरे! यह क्या करते हो। उसने कहा महाराज आप तो कहते थे कि मुझे सृष्टि नाम की कोई वस्तु दिखाई नहीं देती (तो मैंने समझा कि शायद आपको कम दिखाई देता हो) परन्तु आपको तो दिखाई देती है प्रमाण आपको उँगली जो दिखाई दी। यह तो हो नहीं सकता कि आपको उँगली दिखाई दे और सृष्टि न दिखाई दे। महात्मा ने कहा कि मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि मुझे दिखाई नहीं देता। मुझे दिखाई सब कुछ देता है परन्तु आपको भेद दृष्टि से सृष्टि दिखाई देती है परन्तु मैं एक तत्व ब्रह्म ही देखता हूं। जिस प्रकार सोना हर हालत में (गहने के रूप में डली के रूप में) सोना ही है उसी प्रकार (सृष्टि साकार) के रूप में निराकार रूप में) केवल एक मूल तत्व ब्रह्म ही है।

जैसे एक मनुष्य ने अपनी लड़की के दहेज में २०० तोले सोने के गहने दिए। अब यदि ससुराल में या कहीं और जगह कोई उस लड़की से पूछे कि आप के पिता ने आपको दहेज में क्या दिया तो वह बतलायेगी कि अमुक अमुक गहने दिये हैं। यदि उसके पति का मित्र उसके पति से दहेज के विषय में पूछे तो वह कहेगा कि २०० तोले सोना दिया। स्त्री की दृष्टि में गहने हैं सोना नहीं। सोना उसकी दृष्टि में छुप गया। परन्तु पति की दृष्टि में सोना ही है यद्यपि उसको गहने दिखाई देते भी हैं इस प्रकार पति की स्वर्ण दृष्टि ब्रह्म दृष्टि है और पत्नी की गहनों वाली दृष्टि भ्रम दृष्टि (भेद दृष्टि) सृष्टि दृष्टि है पत्नी की जो गहनों वाली दृष्टि है ठीक उसी भाँति हम लोगों की सृष्टि दृष्टि है और जो पति की सोने वाली दृष्टि है ठीक उसी भाँति महात्माओं (ब्रह्म ज्ञानी यानी वेदान्ती) की ब्रह्म दृष्टि है। गुरवाँणी में इसके प्रमाण हैः-

बाजीगर जैसे बाजी पाई। नाना रूप भेष दिखलाई।
स्वाँग उतार थम्यों पसारा। तब एको एक ओंकारा।
कवन रूप दृष्ट्यो कवन वन्सायो। कहाँ गयो कत ते आयो।
जल ते उपज अनेक तरंगा। कनक भूषण कीने बहु रंगा।
बीजो बीज देखियो बहु प्रकारा। फल पाके तो एको ओंकारा।
सहस घटा में एको अकाश। घट फूटे तो एको प्रकाश।
भ्रम मोह माया विकार। भ्रम छूटे तो एको ओंकार।
ओह अविनाशी विन्सत नाहीं। ना को आवे ना को जाहीं।
गुर पूरे हों मैं मल खोई। कहो नानक मेरी परम गत होई।

जब मूल तत्व (ब्रह्म) को छोड़ कर सृष्टि नाम की कोई बला ही नहीं फिर सृष्टि के विषय में जो प्रश्न है (कि किसने पैदा की, कब की नाश होती है इत्यादि-इत्यादि) नहीं उठते। देख लो मैं एक सन्त आपके सामने बैठा हूं। मैं जब खड़ा होता हूं या बैठता हूं या सोता हूं या चलता हूं तो मैं एक वही सन्त होता हूँ कोई दूसरा नहीं बन जाता हूं। आकार के बदलने से मैं नहीं बदलता हूं मेरे में न कोई कमी आती है न बढ़ोतरी यानी हर हालत में मैं ही एक हूं। इसी भाँति साँप को देख लो। कुंडली मारे बैठा हुआ या चलता हुआ वह हर हालत में सांप ही है कोई दूसरा जन्तु नहीं बन जाता है। इसी भाँति ब्रह्म भी साकार निराकार सब अवस्थाओं में एक ही है। ब्रह्म है कोई भी दूसरी वस्तु नहीं होनी है न ही बनती है।

और फिर ब्रह्म सत है यानी उत्पत्ति नाश से रहित है तो उससे उत्पत्ति नाश वाली सृष्टि कैसे पैदा हो सकती है। क्योंकि नियम है। सत से असत पैदा नहीं होता। असत से सत नहीं होता। सत से सत ही पैदा होगा। असत से असत ही होगा। आकाश में फूल नहीं पैदा होते असत है।

दो तरह के पदार्थ होते हैं एक द्रव्य दूसरा गुण ! गुण वह होता है जो किसी के आश्रय रहता हो और द्रव्य वह होता है जिसके आश्रय गुण रहता है और गुण के आश्रय वह नहीं होता। परन्तु प्रकृति न तो द्रव्य है न गुण है। पंजाब में मातायें बच्चों को वालो कह कर डराया करती हैं। हालांकि बालो नाम की कोई भी वस्तु बला नहीं होती है। असत ही है परन्तु बच्चे को कोई सत प्रतीत होती है और वह भ्रम वश डरता है। न वह सत है न असत परन्तु बच्चे को भ्रम होता है और वह डर जाता है। क्योंकि उसको न होते हुए भी मालूम होती है।

यही हाल प्रकृति का है जिससे आप सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। वह न तो सत है न असत, न सत असत है।

प्रकृति न तो भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्न अभिन्न है। प्रकृतिने तो सावयव है, न निरवयव औरन सावयव निरवयव है। इन नौ में से नहीं है बल्कि विलक्षण ही है तभी तो इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। यही कारण है कि भिन्न भिन्न शास्त्रों, मतों व महात्माओं के इसकी उत्पत्ति के बारे में भिन्न भिन्न मत हैं। एक सन्त सृष्टि की उत्पत्ति एक भाँति बतलाता है तो दूसरा दूसरी भांति। उनको इतना झूठ बोलने में डर भी नहीं लगा। वास्तव में यदि यह सत होती तो डर भी लगता। जब यह सत होती तो सभी का एक ही मत होता। देखलो दो दो चार होते हैं हर जगह चार ही होते हैं चाहे भारत हो चाहे जापान चाहे अमेरिका चाहे पिछले साल का समय होता चाहे भविष्य-काल हो यह तो हर देश और हर काल में दो और दो चार ही होंगे। क्योंकि सचाई एक ही होती है और झूठ अनेक होते हैं जैसे कहलो २+२ = ९ २+२ = ४½ २+२ = ६, २+२ = ३½ यही कारण है कि सृष्टि के बारे में भी भिन्न भिन्न मत है वास्तव में सन्तों और शास्त्रों का अभिप्राय सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में नहीं है। वह तो समझाने केलिए भिन्न विचार हैं कि जिज्ञासु जो ऐसे प्रश्न (सृष्टि की उत्पत्ति नाश के) करता है। उसकी दृष्टि में जो उत्पत्ति नाश है। सन्तों, शास्त्रों को भी उसके अनुसार चलना पड़ता है। (क्योंकि जैसे को वैसा बन कर ही समझाया जा सकता है। पानी में डूबे हुए को पानी में डूब कर (डुबकी लगाकर) ही निकाला जा सकता है।) उनको भी सृष्टि की उत्पत्ति, नाश की कल्पना करनी पड़ती है। क्योंकि तुम (श्रोतागण) लोग जो ऐसी शंकायें मन में लिए बैठे हो। इसलिए गुरुजनों के पास जैसे जिज्ञासु आये उन्होंने अधिकारी जानकर उनके अनुसार वैसा-वैसा उत्तर देकर उसे समझाकर कृतार्थ किया। तब उनको विदित हुआ कि सृष्टि नाम की कोई बला नहीं है एक ब्रह्म ही ब्रह्म है।

छान्दोग्योपनिषद में तीन तत्वों से तैत्तिरीयोपनिषद में पाँच तत्वों से, पुराणों में मनु और शतरूपा से सृष्टि की उत्पति बताई गई है क्यों कि यह सत तो है नहीं केवल कथन मात्र ही है। सत तो एक ब्रह्म ही है। न कोई सृष्टि है न स्रष्टा। आप लोग भी शांत होकर विचार कर लो अभी तो तुम्हारे दिमाग में चक्कर है अशांत हो। शांत होकर विचार करो तब भ्रम मिटेगा। अच्छी तरह अपनी होश में आओ फिर विचार लो। क्योंकि आप लोगों पर भी ऐसा ही उत्पत्ति नाश का भूत सवार है। यह भूत तो वेदान्त ही हटायेगा, और मत तो इसको पालते हैं। सोच लो।

निठल्ला

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द
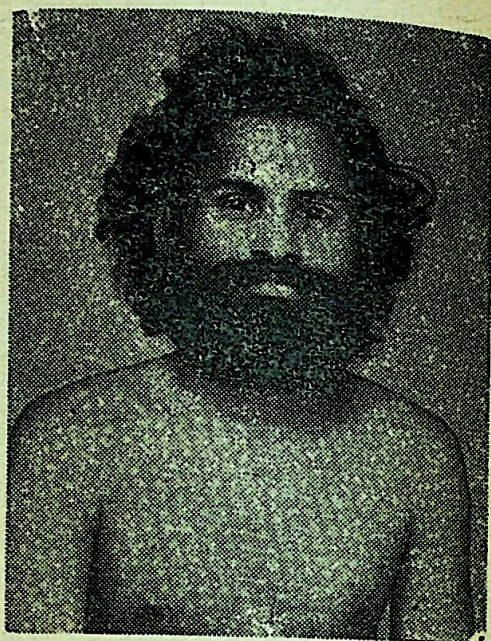
चारों ओर से दुःख, दर्द भरी चीत्कारें, करुण-क्रन्दन, असहाय अनाथों की पुकारें, असफल होने वालों की प्रार्थनायें, कुछ-कुछ सफल होते हुए पूर्ण होने की अभिलाषा में पूर्ण कराने के लिए दीन भाषायें और कहीं चोरों की अपनी-अपनी कल्पना पूर्ण हो जाय इसीलिए तो कहीं इन डाकू, चोरों से, गुन्डों से बचे रहने की आवाजें परमात्मा के लिए सुनाई दे रही हैं। कहीं विद्यार्थी तो कहीं अध्यापक कहीं चोर तो कहीं उसे पकड़ने वाले कहीं गुनहगार तो कहीं उसे पकड़ने वाले कहीं एक कुकर्मी तो कहीं सतकर्मी अपनी-अपनी बचत वृद्धि, अस्तित्व टिकाने की मांग करता हुआ दिखाई दे रहा है। और जिसके ऊपर इन सब की दारो-मदार है वह खून, मार काट, अन्याय होते हुए भी मानों नींद में हो या बेपरवाह हो या आवें या न आवें की सोचता हुआ सा न जाने क्यों कहीं भी आजतक आता नहीं दिखाई देता। यदि कहीं भी यह जिसने यह संसार बनाया-आने की सूचना मिल जाये तो भला उसे अपने आजतक के दुख दर्द—पीड़न व जिस जिस को जिन जिन से दुःख दबाव या शिकायत रही है सब की शिकायतों की व दुःखों की चलती फिरती शिकायत की पुस्तकों से ही अपने को घिरा हुआ पाना था।

क्यों न ही वह आता ? कहीं ऐसा तो नहीं सोचता कि आज तक ये जो सारे ही दुखी हैं मेरे ही कारण तो हैं। न मैं यह संसार बनाता और न ये कोई भी आपस में रगड़ते-घुटते पिसते मरते। इन सबको दुखी करने का कारण तो मैं ही हूं। कुछ करने भी चला था यह सोचकर कि सभी आनन्द मनायेंगे, सब कुछ ठीक ही होगा परन्तु हुआ उलटा कि चारों ओर कमी की, मांग, बिगाड़ ही बिगाड़, घर्षण, रगड़ारगड़ी हो गई सारे कोर्टों न्यायालयों में जितने बार इन गुनहगारों की पुकार हो कर उन पर जिरहें होती हैं—यदि मैं चला जाऊं तो सब से ज्यादा, नहीं पूरी सबकी तारीखें मुझपर ही पड़ जायेंगी। क्योंकि एक तो जब जिसने पुकारा उस समय न पहुंच सकने के कारण जो जिसे कष्ट हुआ उसके फर्यादी व एक यह कि संसार का उत्पादक होने के नाते सब को दुःख का कारण तो मैं ही हूं अतः सब की शिकायतें मेरी ही हैं यह सोच कर आने की सोचते ही यह सब अपनी करनी का ध्यान आ आ जाता होगा। और आऊँ की न आऊँ इसी के निर्णय में सोचता अब तक कहीं वह नहीं आता हो। क्योंकि वह, केवल चाहे जो कुछ होता रहे—ताकता ही रहता है। ताकता तो है-अपना खुद आनन्द रूप कहाता भी है अर्थात् या तो अपने आनन्द रूपता के मोह में या बेपरवाह बैठा हुआ-मस्त-होकर बिना रखवारी के चाहे जो कुछ हो-यह सब कुछ होने देने के लिए छुट्टा करके ताकता रहता हो। क्यों ताकता हुआ भी किसी का सहयोगी नहीं बनता ?

या तो उसने एकेक के सहयोगी, एकेक बना दिये होंगे वे ठीक-ठीक काम न करते होंगे या उन-उन का सह-योग कोई लेता न होगा। परन्तु यह मान भी लें कि सह-योगी पूरक ही हैं परन्तु फिर भी कहीं ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ शिकायत भरी आवाजें न आती हों। सब की कमी कमी की प्रसन्नता तो मुर्दघाट के उस नौकर की सी है जो उसी के बल पर रोटी खाता हो पेट भरता हो परन्तु हर

(शेष पृष्ठ २३ पर)

रहे 'साक्षित्व'। क्योंकि करने का जोश तभी तक रहता है जब या तो कुछ वाकी रह गया हो, या किये में सफलता होती जाती हो। उसमें यह दोनों ही नहीं रहे।

सारा संसार एकबार संकल्प करके वना दिया। अब करना कुछ शेष नहीं रह गया। कुछ करने को रहे तब और सब कर-कर के थक जाये तब दोनों समय यही अवस्था होती है कि अब क्या करना ? करें या न करें ? अर्थात् यह वह अवस्था है जो सब कुछ होने के पूर्व और पश्चात करने वाला सदा ही रहता है उसकी ही एक सी रहने वाले स्वभाव की द्योतक है। इसमें अब करने का जोश नहीं है किये की निशानी नहीं है। करूं क्या ? करूं या नहीं ? ऐसी स्तब्ध अवस्था अपने ही समझे कि भूत भविष्य के सभी कर्म समाप्त हैं। द्रष्टा जो नित्य वर्तमान रहता सवका जो स्फूर्ति केन्द्र रह गया।

'क्या करूँ, जो किया उसमें से कुछ भी न रहा, देख कर सारे किये हुए का और आगे करने का अभिमान व जोश हृदय से काफूर हो जाता है।

'क्या करें ?' यह सोचते ही जितना किया है और जो बाकी है, वह सब ज्ञाता में परेड करने लग जाता है, परन्तु रहा कुछ नहीं, रहता भी नहीं, एक दो वार नहीं हजारों बार के अनुभवों प्रयोगों के आधार पर निश्चय हो गया कि रहेगा नहीं तो अपने की हिम्मत हार जाती है। करने वाला जो हो रहा है उसे तो मिटाता नहीं परन्तु उसकी ओर से मुंह मोड़कर केवल ताकता ही रह जाता है। वस यही उसकी हालत है अब।

और जब उसकी यह हालत है तो हम भला किस बल बूते पर करने का जोश रख सकेंगे ? हमारा करने का सारादम पंचर हो गया है। एक तो अपने दुखों की समाप्ति न होती देख कर हजारों उपाय कर करके आज से नहीं जाने कब से हम भी करोड़ों बार सब कुछ होकर वहाँ तक मरजी की मरजी करते हुए हार गए। हमारा भी किया कुछ होता नहीं-रहता नहीं और सुख शान्ति करने में है नहीं, यह अनुभव एक लक्ष्य रूप से हाथ आ गया है।

अब, क्योंकि मरना आता नहीं कई बार मरके देख लिया इसलिए कुछ न कुछ करना ही होगा इसलिए अनिश्चित होती हुई भी ये शरीर उसी प्रकार कर्म में लगे रहें जैसे थकी फौज, कमान्डर किसी से बातें करता हो तो भी आज्ञा दूसरी न होने के कारण चलती ही जा रही होती है। या कमान्डर कहीं गाफिल हो जाय, या जान चुका हो कि यह मृत्यु से घिर गई हैं एक दम अवाक रह कर अपनी बचत की चिन्ता में या खुद तो बच ही गया इस खुशी में ताकता रह गया हो—बस ऐसी ही हमारी भी हालत हो गई है।

सब कर करके वह, और सब कर कर के हम दोनों ही चुप्प हैं।

सारी यह दुनियाँ या हमारी की हुई कर्मों की दुनियाँ कवायत करती दिखाई देती रहे, हमें कुछ करना शेष नहीं रह गया हम कुछ बाकी करना भूले नहीं हैं, कुछ नई बात नहीं सीखना, यह हमें पूर्ण ज्ञात है सारे कर्मों का हृदय से प्रभाव उतर गया है यह कोई न कहे कि करते क्यों नहीं भले ही यह बताने के लिए करते रहें कि देखो result वही है—कुछ रहेगा नहीं। दिल में करने का महत्व नहीं रहा।

यह देखकर कि कुछ भी करें, न करें हम तो रहेंगे ही—हमारी 'आसी' में करने न करने से कुछ फर्क नहीं पड़ता-कर्म का जोश नहीं रहा। और अपने आपके प्रति ही मोह हो गया है अर्थात् अपने ही प्रति प्रीति हो गई है।

न हमें न उसे दोनों ही को 'क्या बाकी रह गया है' इसका खटका है। इस समय हम दोनों की अवस्था एक सम है। जोश तो पूरा है परन्तु जोश को जोश नहीं रह गया है कुछ करने को।

अतः जैसे सब कुछ करके कुछ बना रहता नहीं और कर कर के करने को बाकी कुछ रहा नहीं यह दोनों देख कर परमात्मा के बल निठल्ला बना ताकता रहता है हम भी अपने अनुभव से निठल्ले हो गये हैं।

अब ऐसी अवस्था में हम और कैसे हैं—क्या हैं-किन लक्षणों वाले हैं उनमें हममें क्या फर्क है-अब यह भी

सोचने की फुरसत व इच्छा नहीं है। समझ जरूर गये हैं कि एकेक है क्या ? दो हैं कि एक या एक जैसे ? जैसे एक हों जैसे एक ताकत स्वरूप परन्तु केवल जो अब ताकता ही रहता है वही-हम हैं। केवल निठल्ले, जो कुछ भी करने को कहा जाय अपने आप में ही रहते हैं कुछ नहीं करते ये निठल्लों की बातों, बातों मजें निठल्ला हुवे बिना कोई नहीं समझता। निश्चय तो यही है कि उसके समान सबको एक दिन निठल्ला बनना ही पड़ेगा। इसके सिवा और कोई गति ही नहीं है सबकी। तो भाई जिसे निठल्ला बनना हो वह तैयार हो कर आ जाए।

अरे हार ही गया सभी कर अल्ला।
अपना जो था सब झार दिया है पल्ला॥
अब देखो वह भी चुप्प कर गया गल्ला।
उसका कैसा भी कहीं नहीं अब हल्ला॥

कर्ता मन का अब उतर गया है छल्ला।
भोग योग का सिर से उतरा झल्ला॥
ये जन्म मृत्यु का सभी जोरा अब टल्ला।
अल्ला ही कहता फिरता खैर सल्ला॥

इच्छा बिच्छा का संभव नहीं अब कल्ला, (अंकुर)
अच्छी ही तरह से उतर गया खल्ला (खाल)॥

जो कोई समझे न रम्ज यह झल्ला (पागल मूर्ख)
खा गए, आत्म में यही भंग का डल्ला॥

न रहा रहा था, कोई सिवा मैं कल्ला। (अकेला)
जो समझे मेरी बात नहीं है मल्ला॥
करने धरने का जोश उतारो लल्ला।
हो रहो उसीके सदृश जान कर अल्ला॥

बड़ी मस्ती है हमतो हुए निठल्ला। (आलसी)
मस्ती चाहो तुम भी बनो निठल्ला॥
यह प्रकाश ने पिटा ढिंढ़ोरा—हल्ला।
श्रोता होगा भगवान ब्रह्म या अल्ला॥"

अरे इन्सान जाग !

श्री स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती, एम० ए०

पल-पल करके युग बीत गया। एक छोटी सी पंक्ति है। परन्तु इसके अन्तराल में विषाद वेदना की गहरी छाया छुपी हुई है। कौन समझ कर चलता है। 'कालो न याति वयमेव यातः॥' और तमाम आयु व्यतीत हो जाती है, मानव कुछ भी नहीं कर पाता। जब मैं दिल्ली में हिन्दी अध्यापक था मेरे एक मित्र की नवीन कोठी बन रही थी। मुझे भी वह कोठी का निर्मित भाग दिखलाने के लिए ले गए। तब तक कोठी अधूरी थी। पूर्ण होने में कुछ विलम्ब था। जब कोठी पूर्ण विराम पहुंच गई, तो वह मेरे बाल सखा मेरे समीप आए, और कहने लगे कल गृह प्रवेश उत्सव है, आप अवश्य ही आइएगा। मैं नियत समय पर उत्सव में सम्मिलित होने के लिए गया। परन्तु यह क्या ! अरे वहाँ तो रोने चीखने की अवाजें आ रही हैं। कोई मेरे अन्तर से कह उठा—

माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूली-फूली चुन लई, कालिह हमारो वार॥

मैंने एक चित्र देखा। चित्र क्या था, आज तक रोंमाँच छोड़ माया है एवं नव विवाहित पत्नी, अपने पति को रोगशैया पर दवा पिला रही है। उसके हाथ हरिद्रारंग से रंजित हैं। दवा मुंह के अन्दर नहीं जा रही है। पति की अन्तिम साँस चल रही है नीचे अंकित था-कल तो कहते थे कि बिस्तर से उठा जाता नहीं—आज दुनियाँ से

चले जाने की ताकत आ गई। ऐसे ही अनेक मौन-मुखर चल-चित्र हमारी नजरों से गुजर जाते हैं। और हम सोचने समझने की आवश्यकता नहीं समझते।

काल का ज्ञात और अज्ञात रूप हमें मुंह फाड़े निगल रहा है और सभी नासमझ बनकर बेरहम दुनियां की वस्तुओं से प्रेम का नाटक खेल रहे हैं, मैंने एकबार अपने एक साहित्यकार साथी से कहा-भाई तुम आज इतने परेशान क्यों दिखाई देते हो। उसने उत्तर दिया जीवन संगिनी के निर्वाचन में घरबार छोड़ चुका हूं । क्योंकि वह जीवन और मृत्यु में भी मेरा साथ निभायेगी संसार की कोई शक्ति मेरे समीप आने में उसे नहीं रोक सकेगी। मैं क्षणिक मुस्करा दिया। कुछ दिनों के बाद मेरे भावुक कलाकार पागल खाने में ही भगवान को प्यारे हो गए। क्योंकि जीवन संगिनी ने अपना घर उनके लिए नहीं छोड़ा। इसीलिये बुद्ध ने सम्पूर्ण सत्य के लिए घर छोड़ा यशोधरा और राहुल को छोड़ दिया। यह कहते-कहते था क्षण भंगुर भव राम-राम। भर्तृहरि ने राज्य सिंहासन छोडा इसी सत्य अन्वेषण के लिए कि प्रेम का अमर सन्देश कहाँ है। और वह अन्त में मिला आत्म-साक्षात् में। भला इस संसार के इस स्वार्थ भरे कण कण में भी राहत है? नहीं। कोमलता है? नहीं। सत्यता है? नहीं। यह जानते हुए भी मोह पाश में मानव की महा काया क्यों समाहित है! आवद्ध है! इसका एक ही कारण है, मनुष्य अपने चिर सनातन विचार रूपी धन को भूल बैठा है। इस संसार में अभाव भी बिना बिचार के मृत्यु है और वैभव भी मौत की ही निशानी है। इस बात का सत्य निर्णय इन दो घटनाओं से प्रस्तुत है। एक अत्यन्त निर्धन व्यक्ति था। धनाभाव से बेचैन था। सौभाग्य से इसे एक लाख रुपये की लाटरी आगई। उसे बताया गया। सुनते ही बेचारे के प्राण-पखेरू उड़ गये। एक और भी व्यक्ति था-वह करोड़पति था। दुर्भाग्य से सट्टे के व्यवसाय में सर्वस्व हार बैठा। रुपयों के हारने की बात फोन पर सुन ही रहा था कि चोगा हाथ में ही रह गया। बेचारे की आँखें सदैव के लिए वन्द हो गई। इस प्रकार अभाव और वैभव दोनों ही तत्व ज्ञान के बिना मौत का निमंत्रण हैं कहने का भाव यह है कि मानव बिना आत्म बोध के संसार में इसके प्रत्येक कण-कण में, मौत को बुलावा दे रहा है। फिर जीवन क्या है। इसे समझना होगा। कीर्तिर्यस्य स जीवति। अर्थात् जिसकी संसार में शुभ कर्म से कीर्ति है, वही सदैव जीवित रहता है। शारीरिक परिवर्तन (मृत्यु) कभी भी हो सकती है। लेकिन जिन्हों ने महामानव बनकर मृत्यु के बाद अपनी मानवता से सबको रुला दिया है। वही तो मानव है, और मानव का ऋत-सत्य जीवन है!

हजारों वर्ष नर्गिस अपनी बेनूरी पै रोती है।
बड़ी मुश्किल से दीदावर चमन में होता है पैदा।

कौन कहता है कि आज गाँधी जीवित नहीं। कौन कहता है कि आज जवाहरलाल जीवित नहीं! दयानन्द विष पीकर भी अमर है। सुकरात, ईसा, बुद्ध क्या आज जीवित नहीं हैं। अवश्य जीवित हैं। जो मानव विष पीकर भी अमृत देता है काँटों पर चलकर फूलकी पंखुड़ियाँ बिछाता है। स्वयं भूखा मरकर भी दूसरों की भूख मिटाता है। वही तो चिर शाश्वत जीवन पाता है। मृत्यु में अमर है।

बीज गलकर मिट्टी में मिल जाता है। वही अंकुरित होकर पुष्पित एवं फलित होता है। दीपक जलता है, दूसरों को प्रकाशित करने के लिए। अपने लिए पशु प्रवृत्ति अपना कर सांसे गिनना जिन्दगी नहीं है। ऐसे व्यक्ति तो हजारों वर्ष जिन्दा रह कर भी एक क्षण जिन्दा नहीं रहे। अतः आयु का एक-एक पल शुभ कर्म और मानवता में ही व्यतीत होना चाहिए। एक क्षण व्यर्थ न चला जाये इसका ध्यान बहुत आवश्यक है। आज समाज और राष्ट्र अपनी अधोगति की सीमा पर खड़ा हमें पुकार रहा है। अर्थवाही मनोवृत्ति में जीवन बेचने वालो! समाज और राष्ट्र की हत्या करने वालो आज उठो जागो और आगे बढ़ो। आज इस पवित्र धरती की लाज तुम्हारे हाथों में है। आज तुम्हें दधीचि बनना है भगवान राम और कृष्ण की मातृभूमि को सतयुग में बदलना है। शिवा और प्रताप की पवित्र धरोहर बलिदान से सुरक्षित करनी है। हमारे प्रत्येक बालक को वीर हकीकत, भगतसिंह राजगुरु और सुखदेव बनना है। तब इस मिट्टी का कण कण जाग उठेगा। और मानव जीवन की सफलता हमारा पथ आलोकित करेगी।

एक प्रवचन

ध्यान

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी निर्मल जी, अमृतसर

स्वर्णकार की दृष्टि स्वर्ण पर होती है वह आभूषणों को गिनती नहीं करता। इसी प्रकार गुरुभक्त सब कुछ गुरु चरणों में आवासित कर देता है।

नी मैं पाया महरम यार,
उसदे हुस्न दी अजब बहार।

मन के सभी संकल्प-विकल्पों को ईश्वर में आवासित कर देना ही ईश्वर भक्त का काम है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ। संसार में दो बड़ी भूलें हैं एक तो हम सुख में दुःख को भूल जाते हैं।

बदल कर इस तरह रख दिया नाकामियों ने,
कि अपनी शक्ल को पहचानों लो पहिचानी नहीं जाती।

राजा भर्तृहरि कहते हैं, कि मैंने भोग नहीं भोगे भोगों ने मुझे भोग लिया, समय ने मुझे काट लिया है। बीमारी का इलाज तो हो सकता है परन्तु वृद्धावस्था आने से कोई भी नहीं रोक सकता। सारा दिन निराकार से ही लेन देन है। सुख भी निराकार है और दुःख भी निराकार है। कच्चे क्षणिक वैराग्य से तो कल्याण नहीं हो सकता जैसे अधकच्ची चीजें खाने से कष्ट होता है। आग जलानी है तो फूंकने वाली जला सेकने वाली न जला।

ऐ थे आपने आप नू गालना-ए,
नहीं खेडने चरख ते वांज बच्चा।
राग नफ़ी-इसबात दा गावना-ए,
करके कुर्म-कलबूत दा साज़ बच्चा।
वहर फ़क़र विच तुला तव्वक़ले दा,
वारिस हिरस दा रोड़ जहाज बच्चा।

*

कच्चे घड़े न यार मिलावन,
कच्चे घड़े न पार लंघावन,
सुन ले मथों सोहनिए मैं,
इश्क दी आवी नहीं चढ़िया।

घड़ा सोहनी को कह रहा है, मैं अग्नि में पका नहीं हूँ इसलिए तेरा महिवाल को मिलना कठिन है।

उठा दो आगे से मेरे सागर,
हटा दो आगे से मेरे मीना,
सरूर किस्मत में जब नहीं है,
तो मैं और पीकर के क्या कहूंगा।

जब तक खुदी नहीं जाती तब तक खुदा का भी पता नहीं लगता। मै ब्रह्मवेत्ता नहीं, मै तो ब्रह्म स्वरूप हू। आत्मा तो हम स्वस्वरूप से हो सकते हैं परन्तु रूप करके ज्ञान नहीं होता। "सोई जाने जिन तो ही समाई"। "है देखना यही कि न देखा करे कोई"। स्वामी राम को उसकी आत्मा की लगन खींच रही थी उसने अनारकली के भरे बाजार में अपने बच्चों के हाथों से उंगलियां खेंच लीं और आत्मतत्व की मस्ती में मस्त हो गये।

"फ़नाह के बगैर बक़ा का पता नहीं चलता"

जो गुरु के भेद को जान गये हैं कि हम सब सुख चाहते हैं जो सुख हमें स्वाभाविक नहीं मिलता तो हम 'incomplete' हैं अधूरे हैं। पदार्थों से मेरी प्राकृतिक इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थ आप अधूरे हैं, जब स्वाभाविक सुख प्राप्त नहीं होता तो बच्चों की तरह बिल्डिगों की ओर लग जाता है। जब झूठ कपट छल से धन कमाकर टकराकर बिल्कुल थक जाता है तो आराम चाहता है काम से थकान और थकान से आराम चाहता, यही जगत है।

एक युवक जिसका नाम 'कण्व सौभिर' था। वह नित्यप्रति सत्संग करता, उसे वैराग्य हो गया उसके पिता ने उसके विवाह की बहुत तैयारी की। परन्तु वह वैराग्यवान उदासीन भगवत्भक्त का हृदय न माना।

नाम जपा जियो ऐसे ऐसे ध्रुव प्रह्लाद जपयो हरि जैसे।'

वैराग्य अपनी ओर खींच रहा है और जगत अपनी ओर खींच रहा है। विचार हो रहा कि राजकुमारियां शहज़ादे सभी परमेश्वर के भक्त हुए हैं, मुझे भी अपनी राह नहीं छोड़नी चाहिए।

खिज़्र मिल जाते हैं जिनको रास्ता मिलता नहीं।

महर्षि ने फैसला किया कि मुझे शास्त्र की ही माननी चाहिए।

जाके हृदय नहीं राम स्नेही,
तजयो तांहि कोटि वैरी सम,
यद्यपि परम स्नेही।

*

"नुक्सां नहीं जन्नू से सौदा करे कोई"

सौभिरी ऋषि जगंल में चले गये और फैसला किया कि यहाँ तप करूंगा। निर्मल और शीतल जल की नदी में स्नान करके ध्यान मे आरूढ हो गया। संसार की असारता को विचार कर ऋषि थक कर बैठ गया। रूप आँखों को खा जाते हैं, मिठाईयां तरह-तरह के जायके जीभ को खा जाते हैं। शब्द कानों को खा जाते हैं यह मन आराम तब करता है। नदी में मछलियों के झुण्ड के झुण्ड, मीनराज के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। एक मीनराज के साथ कई मछलियां प्रेम और कलोल कर रही थीं उसके पीछे-पीछे जा रही थीं। ऋषि का ध्यान विक्षिप्त हुआ

"बुझी इश्क दी अग नू हवा लगी"।

ख्याल आया कि गृहस्थ कितना मीठा है सुप्त वासना जागृत हो गई। लोग तो प्रातः फूल पत्ते लेकर ऋषि की पूजा करने आते थे, परन्तु उसे गृहिणी के ख्याल ने दबाया हुआ है सोचता है औरत तो घर की दीपिका है। ऋषि वहाँ से निकल पड़ा सीधा त्रिदस्यु राजा के भरे दरबार में आ गया। राजा ने सन्मान सहित बैठाया और आज्ञा पूछी। ऋषि में कन्या से विवाह करने का प्रस्ताव रक्खा। राजा के आश्चर्य की सीमा न रही, सोचा कि यह जाने वाला इधर कैसे आ गया। कच्चे बीच फिर अंकुर ले आते हैं। राजा कुछ कह नहीं सका कि यह वृद्ध है, जाने वाला है। राजा ने कहा ऋषि! हम क्षत्रियों की कन्याएं वर स्वयं तलाश करती हैं। आप राज महलों में चलिए जो भी कन्या आप के साथ चले ले जाईये।

यह बहारे नक्शे पां है
ऐ न्याजे आशकी! लुत्फ सर रखने में क्या?

ऋषि ने अपने योग बल से वृद्ध काया को यौवन तथा सौंदर्य से परिपूर्ण बना लिया। राजा का ऋषि को महलों में ले जाने की देर थी कि पचास कन्याएं उसके पीछे पीछे जाने लग पड़ीं यज्ञ मण्डल बनाया गया, राजा ने हीरे मणि मानिक देकर सबकी शादी उसके साथ कर दी। जब वह तमाम ऐश्वर्य सुख वैभव का सामान लेकर वापिस जा रहा था तो रास्ते में इन्द्र मिला। ऋषि ने इन्द्र की स्तुति की इन्द्र ने कहा 'वरं ब्रूहि'। कहा इन्द्र इन कन्याओं के लिए बल दे, कुबेर को कह कि इन सब के लिए महल तैयार करवादे। सब कुछ हो गया। यह सुख यह पदार्थों में रमणीयता तब ही होती है जब जब आकर्षण टूटा, ऋषि का हृदय उदास हो दूर होती है जब नशा टूटा—

"जब होश में हम आए तो उजड़ा हुआ घर देखा"
ऐ मुहब्बत! तेरे अन्जाम पै रोना आया,
जो मुझे तूने दिया, वह मेरे हाथों से गिरा,
साकिया आज उसी जाम पै रोना आया,

जब आकर्षण टूटा, ऋषि का हृदय उदास हो गया-वैराग्य ने झटका दिया। तमाम चमकती सूरतें हीरे मणि-माणिक महल छोड़ कर उसी नदी के किनारे तप करने चला गया। पच्चासों रानियों ने वहाँ जाकर उसे समाधिस्थ हुए देखा सोचा, ठीक है इसका वास्तविक प्रभु से प्रेम है। वे भी यज्ञादि करवाने लग पड़ीं। संग का रंग चढ़ गया। उस एक ने पच्चासों का उद्धार कर दिया। यह जागने का मार्ग है। गुरु के दर पर झुक जाओ और अन्तर्मुख होओ। फकीर तो नुक्ता बताते हैं कि संसार का शहन्शाह होने का नुक्ता है कि अनिष्ट को स्वीकार कर ले। विचार करके अगर परिस्थिति नहीं सम्भलती तो अनिष्ट होना ही है। जो मुस्करा सकता है वह अमीर है जो रोता है वह गरीब है। बाहर कमरा तो airconditioned है पर दिल चिन्तातुर है। तुमने तो airconditioned में अंगीठी सुलगाई हुई है। परमेश्वर की जात तू तो रूहानी नूर है। शुक्र कर तू है। तू है तो जहान है और अभी मौत के वारन्ट जारी नहीं हुए। मिट्टी के दीपक में तेल जल रहा है और तेल में बत्ती है तू फटे पुराने कपड़ों ने भी परमेश्वर की ओर भाग सकता है। जिनकी टाँगे टूटी हुई हैं हाथ टूटे हुए है उन्होंने भी इष्ट अनिष्ट स्वीकार कर लिया है। चिन्ता परिस्थिति के अधीन नहीं चिन्ता आदत है।

या कोई दीवाना हसे
या जिसे तू तौफीक दे,
वरना इस दुनियाँ में रहके
मुस्करा सकता है कौन

तूने तो यूं ही ख्यालों का बोझा सिर पर उठाया हुआ है जैसे गाड़ी पर बैठे आदमी ने सिर पर वोझा रक्खा हो। इसलिए अन्तर से शून्य होकर आत्मा का ध्यान चिन्तन कर तेरा भला हो।

राग-द्वेष की जलन

श्री चिन्मय

राग-द्वेष की सुलगती भट्ठी में
व्यक्ति के अपने कर्म
फल की कामना-सहित
अचानक ही जब गिरते हैं
लगता है जैसे
किया कराया सब
पुरुषार्थ ही राख हो गया
उसकी कमाई का सारा धन
विक्षेप की लपटों में खो गया
बड़े यत्न से, युक्ति से
कामना के बीज को
किसी शुभ-फल की आशा में
पाल-पोषकर पनपाया था
काल-प्रेरित विधान की गति
कैसी निराली, अनोखी यह
आशा को निराशा में
अचानक बदल देती है।
निराशा के घेरे में
राग-द्वेष की भट्ठी फिर
अपना जौहर दिखाती है।
भीषण जलन जब अखरती है
एक ईश्वरार्पण बुद्धि ही
व्यक्ति की साधना को
राग-द्वेष की जलन से बचाती है।

अखण्ड-चिन्तनधारा

हम बार-बार राम कहते है और निरन्तर ध्यान रखते हैं, पर राम के स्वरूप का ज्ञ.न करना है और अपने स्वरूप का जानने वाला भी राम ही है । अपनी गवाही आप ही दे रहा है । ऐसे ही वासुदेव परम पुरुष है । पूर्णरूप करके जो भगवान् को मानता है । जानता है, वह आस्तिक है । नास्तिक वह है जिसने पूर्ण भगवान् को जुदा कर दिया, परिच्छिन्न कर दिया ।

साधक के लिए बाहरी और आन्तरिक दोनों स्थितियों पर ध्यान रखने की आवश्यकता है । इन्द्रियगत बाह्य-ज्ञान का उस स्थिति में कोई महत्त्व नहीं होता जब कि आन्तरिक रूप में वही स्थिति न हो । बाहर से कोई कितना ही नाम-जप करता रहे, परन्तु यदि 'राम' का ज्ञान नहीं है तो वह केवल शब्दों की आवृत्ति-मात्र ही होगी । जिस शब्द का ज्ञान नहीं है अथवा जिसका तत्त्व ज्ञात नहीं उसकी बार-बार अवृत्ति करना निरर्थक होता है। 'राम' का इष्ट रूप में निरन्तर ध्यान रखना एक बात है और उसे तत्त्व के रूप में भलीभाँति जान लेना यह दूसरी बात है । इसीलिए यहाँ पर यह संकेत किया गया है कि स्वरुप से 'राम' को जानना है । बाह्य इन्द्रियों के सहयोग से प्राप्त ज्ञान 'स्वरूप'-ज्ञान अथवा 'तत्व-ज्ञान' नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें केवल भौतिक दृष्टि ही रहती है । भौतिक रूप तात्विक रूप नहीं होता ।

अब यहाँ पर यह विचार करना है कि इस स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति कौन कर सकता है । वस्तुतः जो जिस जाति अथवा स्थिति का होता है उने वैसा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है । इसीलिए यहाँ पर यह संकेत है कि 'राम' के स्वरूप और तुम्हारे स्वरूप में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है । जहाँ पर भेद होता है वहाँ तत्व-ज्ञान नहीं हो सकता । अन्तर-स्थित 'राम' ही राम की गवाही दे रहा है । जब इसका ज्ञान हो जायगा तो वाह्य रूप में 'राम' का कहना भी सार्थक है ।

इस जानने में भी इस बात पर ध्यान रहे कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि ज्ञान अपूर्ण रूप में हो रहा है । अपूर्ण दृष्टि का यहाँ पर भाव है भेद-दृष्टि से भेद रूप में चाहे कैसा ही ज्ञान हो वह कदापि पूर्ण नहीं हो सकता । आस्तिक और नास्तिक को भी इसी प्रकार समझना चाहिए । सामान्य रूप में आस्तिक उसे कहते हैं जो भगवान् को मानता हो । परन्तु केवल मानने से ही काम नहीं चलता । यहाँ पर जानने की बात है और वह भी पूर्ण रूप से । जो अपूर्ण रूप में जानता है उसके लिए यही कहना चाहिए कि वह कुछ भी नहीं जानता । इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि वास्तव में सच्चा आस्तिक वही है जो भगवान् को पूर्ण रूप से जानता है। आस्तिक वही जो भगवान को नहीं जानता । लोक में प्रचलित आस्तिक-नास्तिक की भावना का कोई भी महत्व नहीं हैं क्योंकि वह तो केवल बाहरी दिखावा-मात्र है । इस दिखावेपन में कोई कितना ही कुशल हो, परन्तु सचाई तो अन्दर की होती है । सर्वदेशीय को परिच्छिन्न और पूर्ण को अपूर्ण अथवा भेदरूप में देखने वाले को नास्तिक कहना चाहिए । इस प्रकार साधक के लिए यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अन्तर-स्थिति में रहकर 'राम' को तात्विक रूप में जानने में प्रयत्नशील हो तथा किसी भी प्रकार भेद दृष्टि से न देखे । भेद-दृष्टि सदैव ही आंशिक होती है और अंश के रुप में रहकर पूर्ण का बोध होना असम्भव हैं । यद्यपि इस प्रकार के साधक में अनेक कठिनाइयाँ हो सकती हैं, परन्तु अभ्यास और निरन्तर प्रयास से यह कठिनाई भी दूर हो सकती है । साधन का अर्थ ही है कि जब तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय तब तक अनवरत रूप से अपने साधन में लगा रहे ।
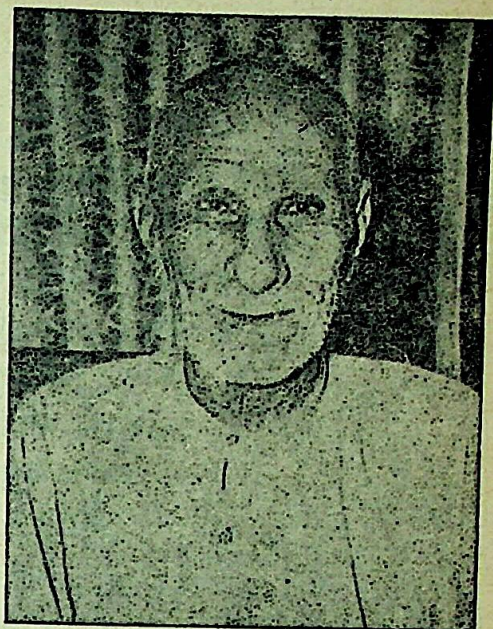
प्रश्न ?

श्री रामजी दास कपूर

कौन है कलेवर में क्रान्ति करता जो घोर,
कौन है विभोर इस कान्ति कमनीया में ।
कौन प्रतिभासित है वात के बवंडर में,
किसका प्रकाश हुआ चन्द्रमा द्वितीया में ।
कौन है विलोचनों में वारि भरता जो नित्य,
किसकी समाई शान्ति मानस–मदीया में ।
बाँधना किसे मैं चाहता हूँ ध्यान—साधना में,
जाग्रत में स्वप्न में सुषुप्ति में तुरीया में ।।

●

मन्मना भव

आचार्य रामप्रताप शास्त्री, करहिया (बाँदा)

इस मानव देह की बड़ी महिमा है, देवता भी इसकी स्पर्धा करते हैं वह इसीलिए कि इस देह में तत्व-ज्ञान और धर्म की प्राप्ति हो सकती है। इसे पाकर भी जो लोग भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते वे वस्तुत: प्रकृति से, माया से ही मोहित हैं। यह मानव-योनि ज्ञान का मूल-स्रोत है जो इसे प्राप्त करके भी अपने आत्म स्वरूप परमात्मा को नहीं जान लेता, उसे कहीं किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिल सकती। यह जीव अपने कर्मों के कारण विवश होकर अनेक योनियों में भटकता रहता है, जब कभी प्रभु की कृपा से ही यह मानव-देह पाता है। यह शरीर इस प्रकार बहुत ही दुर्लभ है। इसी शरीर में तत्व-ज्ञान और निष्ठा-रूप विज्ञान की प्राप्ति संभव है, इसीलिए बुद्धिमान्-पुरुषों को उचित हैं कि वे मन को प्रकृति के गुणों से हटाकर परमात्मा में लगाएं।

जगत् के सभी स्त्री-पुरुष केवल इसीलिए कर्म करते हैं कि उन्हें सुख मिले और उनका दुख से पिण्ड छूटे, परन्तु

न कर्मों से न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुख की ही प्राप्ति होती है। जीव सुख की अभिलाषा से जिस-जिस वस्तु को बड़े परिश्रम से जुटाता है, उसी-उसी को भगवान काल विनष्ट कर देते हैं–उसके लिये यह जीव बड़ा ही शोक करता है। इसका यही कारण है कि यह मन्दमति जीव अपने नाशवान् इस शरीर तथा उसके सम्बन्धियों, घर, खेत और धन आदि को मोह-वश नित्य मान लेता है। यहाँ यह जीव जिस–जिस योनि में जन्म धारण करता है, उसी-उसी में आनन्द मनाने लगता है और उससे विरक्त नहीं होता। यह प्रकृति-नटी से ऐसा मोहित है कि कर्म-वश नारकीय-योनियों में जन्म लेने पर भी वहाँ के विष्ठा आदि भोगों में ही सुख मानने के कारण उसे भी नहीं छोड़ना चाहता। यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मनोरथों की कल्पना करता हुआ अपने को बड़ा ही भाग्यशाली समझता है।

आत्मजायासुतागारं पशु द्रविण बन्धुषु।
आरूढ़मूल हृदयं आत्मानं बहु मन्यते॥

परन्तु संसार के सब के सब प्रियविषय एक मनुष्य की कामनाओं को भी पूर्ण करने में समर्थ नहीं हैं यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला पूर्ण संतोषी न हो।

यदृच्छयोपपन्नेन संतुष्टो वर्तते सुखम्।
नासंतुष्ट स्त्रिभिर्लोकै रजितात्मोप सादितैः॥

जो कुछ प्रारब्ध से मिल जाय उसी से संतुष्ट रहने वाला पुरुप अपना जीवन सुख से व्यतीत करता है परन्तु अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने वाला त्रैलोक्य का राज्य पाने पर भी दुखी ही रहता है, क्योंकि उसके हृदय में असन्तोष की जो अग्नि धधकती रहती है। धन और भोगों से संतोष न होना ही जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ने का कारण है। अतः जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी से देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि प्राणियों को उनका भाग देकर और इस प्रकार यज्ञावशिष्ट को ही ग्रहण करने में पूर्ण संतोष मानना चाहिए। इसी में मुक्ति है। मनुष्य देह मिलने पर यदि कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप विद्या, ऐश्वर्य और धन आदि के कारण अहंकार न हो जाय तो समझना चाहिए कि यह भगवान् की बड़ी ही कृपा है। कुलीनता आदि बहुत से ऐसे कारण हैं जो कि अभिमान उत्पन्न करके मनुष्य को उसके श्रेय-साधन से वञ्चित कर देते हैं और वह इन समस्त प्राणियों में स्थित उन परमात्मा से ही इस प्रकार द्वेष करने लग जाता है जिसे कभी उसके मन को शान्ति नहीं मिल पाती।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्न दर्शिनः :।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥

जब निरन्तर सभी नर-नारियों में परमात्मा की भावना की जाती है तब थोड़े ही समय में चित्त से स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर होकर यह निश्चय हो जाता है कि समस्त देह धारियों की आत्मा एक ही हैं और कार्य-कारण-भाव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और उस परमात्मा में ही पहले यह जगत् लीन था, मध्य में भी यह उसी में स्थित है और अन्त में भी यह पुनः परमात्मा में लीन हो जायगा। वे परमात्मा ही इस जगत् के आदि, अन्त और मध्य हैं वैसे ही जैसे घड़े का आदि, मध्य, और अन्त मिट्टी ही है और वह ज्यों का त्यों अपना-आप है अर्थात् पूर्ण है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

जो लोग भगवान् की माया से मोहित होकर देह को आत्मा माने बैठे हैं उन्हीं को ऐसा आत्ममोह होता है कि यह मित्र है, यह शत्रु है और वह उदासीन है।

आत्म मोहो नृणामेष कल्प्यते देव मायया।
सुहृद् दुहृदुदासीन इति देहात्म मानिनाम्॥

भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं:-अर्जुन ! यह अत्यद्भुत मेरी योग माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो पुरुष मुझ-परमात्मा में मन लगाकर मुझे निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को सहज ही पार कर जाते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेवये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

जैसा सोया हुआ मनुष्य स्वप्न में किसी पदार्थ के न रहने पर भी भोक्ता, भोग्य और भोगरूप फलों का अनुभव करता है उसी प्रकार उपज्ञानी मनुष्य ही इस संसार–माया का अनुभव करते हैं। समस्त प्राणियों का आत्मा अपने हित और अहित का गुरु है, क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष-अनुभव और अनुमान के द्वारा अपने हित और अहित का निर्णय करने में स्वयं पूर्णतः समर्थ है।

हमारे समक्ष तराजू के दो पलड़ों की भांति विचार की दो कोटियाँ हैं एक कोटि में जिसमें यह जीव निरन्तर सुख मान रहा है, वे समस्त सांसारिक सुख हैं, और दूसरी कोटि में श्रीपति भगवान् हैं। अब ! युक्ति और अनुभव से भलीभांति हम विचार करें कि इन दोनों में विश्रान्ति अर्थात् सुख और शान्ति किसमें है ? जिसमें ये वस्तुयें मिलें, उसी का समाश्रयण करें। भगवान् श्री कृष्ण तो उद्धव से यही कहते हैं:–

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥

गृहस्थ पुरुष कुटुम्ब में आसक्त न हो और न प्रमाद करे। बुद्धिमान् पुरुष को यह बात समझ लेनी चाहिए कि जैसे इस लोक की सभी वस्तुयें नाशवान् हैं वैसे ही स्वर्गादि के भोग भी नाशवान् ही हैं। यह सुख का अत्यन्ताभाव है, अर्थात् यहाँ न कभी सुख था और न रहेगा। जहाँ जन्ममृत्यु की परम्परा चलती हो, वहां सुख की गन्ध कहाँ ? यह जो स्त्री–पुरुष, पिता–पुत्र, बन्धु बान्धवों और गुरुजनों का मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे कि प्याऊ पर कुछ बटोही इकट्ठा हो गए हों। सबको अलग अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटने तक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलने वालों का सम्बन्ध भी बस ! शरीर के रहने तक ही रहता है। फिर कौन किसको पूछता है ?

पुत्र दाराप्त बंधूना संगमः पान्थ संगम :।
उपनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नों निद्रानुगो यथा ॥

लोग सोचते ही रहते हैं कि हाय ! हाय ! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गए, पत्नी के बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहने पर ये अनाथ दीन और दुखी हो जायेंगे, फिर इनके जीवन का क्या होगा ? इस प्रकार घर-गृहस्थी की वासनाओं में जिनका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वे मूढ़ बुद्धि-पुरुष विषय–भोगों से कभी तृप्त नहीं होते, उन्हीं में उलझ कर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं और मृत्यु होने पर घोर तमोमय नरक में जाते हैं। इससे छुटकारा पाने का उपाय एक ही है, जिसे भगवान् स्वयं बतलाते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

केवल मुझ सच्चिदानन्द घन वासुदेव में ही अनन्य-भाव से मन लगाओ और मुझे ही हर तरह से भजो, इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त कर सकोगे। उद्धव से उन्होंने स्पष्ट ही कहा:–

'धर्मो मद्भक्ति कृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्य दर्शनम्।'

उद्धव ! जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है। जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है। यद्यपि यह मानव-शरीर है तो मृत्यु-ग्रस्त ही, परन्तु इसके द्वारा परामार्थ सत्य–वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि यह बात जान कर वह मृत्यु से पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले जिससे वह जन्म-मृत्यु की परम्परा से मुक्त हो जाय। इन्द्रियों और प्राणों को अपने वश में रखे और मन को एक क्षण के लिए भी स्वतन्त्र न छोड़। उसकी एक एक हरकत को देखता रहे। इस प्रकार सत्व-सम्पन्न बुद्धि द्वारा धीरे-धीरे मन को अपने वश में कर ले।

सत्वसम्पन्नया बुद्धया मन आत्मवशं नयेत।

और भी–जब तक समस्त प्राणियों में भगवद्भावना परमात्मानुभव न होने लगे तब तक इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के सभी संकल्पों और कर्मों द्वारा मेरी, भगवद्भावना-आत्मानुभव की उपासना करे।

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोप जायते।
तावदेव मुपासीत् वाङ्मनः कायवृत्तिभिः ॥

मृत्यु

सन्त श्री अजीत राय, आगरा

मरणासन्न, मानव अन्तिम समय में क्या देखता, सुनता और अनुभव करता है तथा शरीर त्याग कर कहाँ जाता है? ये दो प्रश्न मानव हृदय को सदा ही झकझोरते रहते हैं। किन्तु अब 'योग' तथा 'विज्ञान' के पारस्परिक समन्वय से आत्म-ज्ञान इस सीमा तक पहुँच गया है कि अब वह इन कठिन प्रश्नों का भी बहुत कुछ सन्तोषजनक उत्तर दे सकता है। मानव अब कम से कम इतना अवश्य समझ गया है कि मृत्यु उसके लिये भयावह वस्तु नहीं है। और जो यत्किंचित मृत्यु भय अवशिष्ट भी है वह निराधार एवं काल्पनिक है तथा जीवन के प्रति आसक्ति एवं मोहके कारण है। उसमें वास्तविकता नहीं है। मृत्योपरान्त मानव आत्मा कहाँ जाती है, वह अज्ञात देश जिसे 'परलोक' कहते हैं, क्या और कैसा है, नर्क और स्वर्ग क्या वस्तुयें हैं तथा अन्तिम काल में प्राणी को क्या अनुभव होता है। इत्यादि प्रश्नों पर यथा बुद्धि विचार प्रस्तुत करता हूँ।

मनुष्य की चेतना शनैः शनैः बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने लगती है तथा पैरों की ओर से सिमटती हुई क्रमशः ऊर्ध्वगामी होने लगती है। मस्तिष्क में पहुँच कर वहाँ से आगे प्राण और शरीर को त्यागने से पूर्व यह मस्तिष्क के आन्तरिक भागों से होकर गुजरती है जहाँ सम्पूर्ण जीवन की समस्त घटनाओं और विचारों का लेखा जोखा रहता है। उसकी स्मरण शक्ति में एक बार पुनः बीती हुई जीवन की सारी घटनाएं तथा अनुभव चित्रवत् प्रत्यक्ष दिखाई देने लगते हैं। जीवन नाटक को आदि से अन्त तक के समस्त दृश्य सुव्यवस्थित एवं क्रम-युक्त रूप से स्वच्छ चित्र के समान दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जीवन-नाटक की न कोई घटना छूटती है और न आगे पीछे अव्यवस्थित ही होती है जिस प्रकार के रिकार्डों में संग्रहीत गीन, कविता या भाषण ठीक उसी प्रकार, व्यक्त होती है जिस प्रकार उसमें भरी जाती हैं।

अन्तिम समय आने पर द्वितीय घटना यह होती है कि मरणासन्न मानव कुछ काल के लिए अपने अतीत के लौकिक व्यक्तित्व को भूल जाता है तथा जीवन की विगत घटनाओं को निष्पक्ष द्रष्टा होकर देखा करता है। अपने जीवन-काल में वह अपने सगे-सम्बन्धियों के केवल बाह्य रूप को ही देख पाया था उसका आन्तरिक स्वरूप उसकी स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं बन सका था। इसका ज्ञान तो उसे अन्तिम समय में ही हुआ। इसी समय उसे अपने वास्तविक शुभ-मित्र का पता चलता है। यदि इन क्षणों में उसकी इन्द्रियां उसका साथ दे पातीं तो जिसको अभी तक वह अपना परम हितैषी समझे हुआ था उन्हें गोली मार देता तथा जिन्हें कट्टर शत्रु समझे हुए था उन्हें गले से लगा लेता किन्तु यह सब चित्र-पट पर दर्शित चल-चित्र के तुल्य होता है। इस सिनेमा के प्रदर्शन के समाप्त होते ही वह पुनः उसी सांसारिकता की भँवर में फंस जाता है।

जिस प्रकार शिशु-जन्म से पूर्व उसकी माँ तथा परिवार के अन्य व्यक्ति आगन्तुक लघु-शिशु-अतिथि की प्रतीक्षा में घड़ियाँ गिनते रहते हैं और उसके स्वागतार्थ तैयारियाँ करते हैं उसी प्रकार शरीर को त्यागकर जाने वाली आत्मा की भी परलोक में प्रतीक्षा होती है और वहाँ उसका स्वागत होता है, गन्तुक आत्मा अपने को अकेला नहीं पाती। साँसारिक जीव आगन्तुक शिशु के विषय में यह नहीं जान पाते कि कौन इसके यहाँ शिशु रूप में आ रहा है क्योंकि जीव की इन्द्रियाँ स्थूल होती हैं, किन्तु परलोक में आत्मा का स्वागत करने वाले पूर्ण परिचित होते हैं कि कौन आ रहा है, क्योंकि उनकी दृष्टि दिव्य होती है। परलोक इहलोक की भाँति स्थूल नहीं है अपितु सूक्ष्म होता है जिसका दर्शक हमारी भौतिक इन्द्रियाँ नहीं कर सकतीं।

मरणासन्न मानव की दृष्टि जब दिव्य होने लगती है तब उसे परलोक की कुछ झाँकियाँ और आत्मा का स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। दृष्टि के दिव्य या अन्तर्मुखी होने का यह कार्य-क्रम मृत्यु से कई दो घंटे पूर्व या दिनों पूर्वभी प्रारम्भ हो जाता है।दृष्टिका अन्तर्मुखी होना हमारे भौतिक संसार से सम्बद्ध है और मोहात्मक बन्धन की न्यूनाधिकता पर निर्भर है। जिस वस्तु के प्रति मोह जितना अधिक होता है उस वस्तु का त्यागना भी उतना ही कठिन होता है। जिन प्राणियों की दृष्टि किसी सीमा तक अन्तर्मुखी हो चुकी होती है, उनको जीवन-काल में भी सूक्ष्म अनुभव होते रहते हैं तथा ऐसे प्राणियों की दृष्टि मृत्यु के समय भी शीघ्र ही छुटकारा पा लेती है। ऐसे व्यक्ति यदि उनका स्वास्थ्य अच्छा हो तो, शान्ति पूर्वक शरीर-त्याग कर सकते हैं।

कई बार चेतना की शरीर को त्यागने की गति अत्यन्त मन्द होती है तथा शरीर के पूर्ण निर्जीव और शीतल हो जाने के पश्चात् भी मस्तिष्क की आन्तरिक स्नायुओं में यही चल—चित्र चलता रहता है । जीव के लिए यह क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं वास्तविक शिक्षा ग्रहण करने योग्य होते हैं । इस समय वह न केवल भूत—दृश्यों के द्रष्टा-रूप से अतीत के दृश्यों को देख रहा होता है, अपितु प्राप्त अनुभव और स्मरण किए हुए पाठों को शान्ति-पूर्वक दुहराता है और उनके सारगर्भित अंशों को आत्मसात करके अपने सूक्ष्म और साथ जाने वाले जीवांश (लिंग शरीर) का अंग बना रहा होता है ।

मरते समय प्राणी के लिङ्ग शरीर को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए । इसीलिए कहा गया है कि शव के पास बैठकर रोना या तेजी से बात करना अत्यन्त अनुचित है । यहाँ तक कि जिस कमरे में शव रखा हो वहाँ बड़ी ही शान्ति के साथ पैर रखकर चलना चाहिए । उसे रंज गम और अफ़सोस की दृष्टि से नहीं वरन् प्रेम और सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए । यदि हो सके तो अपने शुभ कर्मों का फल भी दिल ही दिल में उसे अर्पित करना चाहिए । यह स्मरणीय है कि शुभ कर्मों का फल किसी को दे देने से क्षीण नहीं होता, अपितु द्विगुणित होता हैं । इसलिए इसमें कंजूसी करना घाटे का सौदा है ।

मृत्यु के समय दुःख केवल आसक्ति अथवा शरीर के रोगी होने के कारण ही होता है, अन्यथा मृत्यु एक ऐसी ही क्रिया है जैसे कोई जागते जागते सो जाय । इस संसार में ऐसे भी व्यक्ति जीवित हैं जिनकी दृष्टि इस शरीर पूर्णरूपेण या कुछ सीमा तक सूक्ष्म हो चुकी हैं और उनके आन्तरिक चक्षु परलोक की अनेकों घटनायें और दृश्य इसी प्रकार देख सकती हैं जिस प्रकार सांसारिक प्राणी इहलोक की स्थूल वस्तुओं को । मृत्यु के पश्चात् की जितनी सूचनाएँ आज मानवीय विद्या में प्रवेश कर चुकी हैं और प्रामाणिक मान्यताएँ बन चुकी हैं उनकी उत्पत्ति में अधिक भाग ऐसे ही व्यक्तियों का है । यद्यपि ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि हर समय उसी दशामें नहीं रहती इसलिए उनकी क्रिया और प्रतिक्रियाओं का प्रतिपादन होता रहता है । लेकिन जब उनके विचारों को एक सामूहिक रूप दिया जाय तो विदित होता है कि वे एक ही हैं जिनको हम सत्य कह सकते हैं । ऐसी ही दृष्टि रखने वाले एक मनुष्य के मित्र को फाँसी का दण्ड मिला था । फाँसी लगने से पूर्व वह अपराधी बार-बार हाथ मलकर यह कहता हुआ सुना गया कि क्या मुझे मरना पड़ेगा ? फाँसी के समय उसकी चेतना अन्तर्मुखी हो गई वह मूर्छित जैसा हो गया । क्योंकि उसके योगी मित्र का कहना है कि उसने अपने दोस्त की आत्मा को मरने के बाद इसी दशा में हाथ मलते और अफसोस करते देखा । ऐसा प्रतीत ही नहीं होता था कि वह मर चुका है । ऐसा लगता था जैसे मरने के बाद भी मृत्यु के पूर्व की घड़ियों का स्वप्न ही देख रहा था ।

मरने वाले का स्वागत करने के लिए कौन आता है ? कुछ तो उसके सम्बन्धी और मित्रों की आत्मायें आती हैं जो उससे पहले मर चुके होते हैं तथा जिनके साथ उनका प्रेम होता है । आत्मा को आत्मा की ओर आर्कषित करने के लिए प्रेम सबसे महान् बन्धन और साधन है । प्रेम का सम्बन्ध इतना दृढ़ और अमर है कि इसको मृत्यु भी नहीं तोड़ सकती । यही कारण है कि जिन लोगों के साथ हमारा प्रेम सम्बन्ध होता है वह चाहे जीवित हो वा मृत, हम प्रायः उनको स्वप्नों में देखा करते हैं । अन्त समय में प्राणी को अपने दिवंगत सम्बन्धियों और मित्रों के मुख भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं । वह स्वाप्निल, काल्पनिक या मूर्छा की अवस्था नहीं होतीं वरन् वे वास्तविक दृश्य होते हैं जो उसे दृष्टिगत होते हैं । दोनों लोकों के बीच का आवरण अन्तिम समय में हट जाता है अथवा वैज्ञानिक भाषा में कह सकते हैं कि कि दृष्टि अन्तर्मुखी एवं केन्द्रित हो जाने से उसका Rate of violation बढ़ जाता है । तभी उसे वे सूक्ष्म वस्तुएँ भी दृष्टिगत होने लगती हैं जो Rate of violation की गति मन्द होने पर उसे दिखाई नहीं पड़ती थीं । एक आँखों देखी सच्ची घटना इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सन १९४१ में मैं इटली के एक सैनिक चिकित्सालय में था । मेरे पलंग के सम्मुख एक आयरिश सैनिक अधिकारी बिस्तरे पर पड़ा हुआ था जो युद्ध में घायल हो गया था । तथा उसके गम्भीर चोटें आयीं थीं । एक दिन अचानक वह नर्स से पूछने लगा कि इस कमरे में छत की

ौर ये कौन-कौन व्यक्ति हैं। नर्स ने अत्यन्त नम्र और हानुभूतिपूर्ण शब्दों में स्वयं पहिचानने के लिए कहा। ब उसने उत्तर दिया कि---"मेरी दृष्टि कमजोर हो गई अतः मुखाकृतियाँ स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रही हैं परन्तु तना कह सकता हूं कि उनमें मेरी एक पुत्री 'जूलिश' । इतना कहकर कुछ काल के लिए वह शान्त हो गया, ड़ी ही देर पश्चात पुनः बोला---"वह तो शैशव काल में ही मर गई थी, शायद मैं स्वप्न देख रहा हूं।" फिर वह चुप हो गया। लेकिन कुछ ही क्षणों के पश्चात वह जोर से चीख उठा---"जूलिश ! ठहरो--ठहरो, मैं आ रहा हूं।" और उसी समय उसकी आत्मा उसके शरीर को त्याग कर अपनी प्यारी पुत्री 'जूलिश' के पास पहुँच गयी। उसकी भुजाएँ खुली की खुली रह गयीं मानों अपनी लाड़ली जूलिश का आलिंगन करने के लिए फैली हुई हों।

ना की कुंजी

सद्गुरु शरणागतिः

(गुरु--पूर्णिमा के दिन विशेष मनन के लिए)

—प्रो० हंसराज अग्रवाल, प्रधान संस्कृत विश्व परिषद्

सब सफलता चाहते हैं, ऐहलौकिक और पार--किक। पारलौकिक की अपेक्षा भी ऐहलौकिक अधिक, कि यह व्यक्त है, रोचक है, लुभावनी है। श्रेय की प्रेय हमें अधिक पसन्द है परन्तु जिन पर सद्गुरु कृपा हो जाती है वे श्रेय के लिए प्रेय को सहज में वर कर देते हैं। भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण र्जुन ने वारम्बार यही प्रार्थना की है कि "मैं तीनों कों का राज्य भी न्योछावर करने को तैयार हूँ परन्तु मुझे ऐसा ज्ञान देने की कृपा करें जिससे मैं श्रेय को त कर सकूं। पारलौकिक अनन्त सुख अथवा मोक्ष अधिकारी बन सकूं। भगवान कृष्ण अर्जुन के परम थे अर्जुन की भगवान् में दृढ भक्ति थी। परन्तु की प्राप्ति तो सखा को नहीं कराई जा सकती। तो कोई विरला गुरु अपने किसी बिरले अधिकारी को कराता है। अतः अर्जुन ने विनीत और विनम्र में शिष्यत्व स्वीकार करके जगद्गुरु भगवान् कृष्ण अनन्य शरणागति ग्रहण की और कहा :--

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।"

मैं आपका शिष्य हूं। एक मात्र आपकी शरण में आया हूं। आप मुझे उपदेश दें।

उपदेश किस वस्तु का ?

अर्जुन ने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट कर दिया--

यत् श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रुहि तत् मे।

जो श्रेय हो, आप मुझे निश्चित रूप से उसी का ज्ञान कराइये।

तब भगवान् ने अर्जुन को वह अमृत पान कराया जिससे उसे इस संसार की भी सफलता मिली और पर--लोक की भी। न केवल अर्जुन का ही कल्याण हुआ, अपितु सदा के लिए सभी मुमुक्षुओं का।

सच्ची सफलता के लिए चाहिए अर्जुन जैसी अनन्य शरणागति और जगद्गुरु भगवान् कृष्ण जैसा उपदेष्टा। जहां कृष्ण और अर्जुन का मेल हो जाए वहां पर संसार की सभी विभूतियाँ स्वयं एकत्रित हो जाती हैं।

गीता के अन्तिम श्लोक में संजय ने धृतराष्ट्र को कहा था।

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थः धनुर्धरः।
तत्रश्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिः मम॥

हे राजन्—विशेष क्या कहूँ जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है ऐसा मेरा मत है। जैसे बी० ए० पास करने वाला मैट्रिक पहले पास कर लेता है वैसे ही श्रेय का अधिकारी प्रेय को पहले प्राप्त कर लेते हैं परन्तु जो मैट्रिक तक भी बड़ी कठिनाई से पहुंचता है बी० ए० तक तो पहुंचने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी प्रकार साँसारिक सफलता को ही जब हम अपना लक्ष्य बना लेते हैं तो साँसारिक सफलता भी कठिनाई से मिलती है और पारलौकिक सफलता की तो बात ही अलग है।

किसी मुमुक्षु सन्त ने क्या सुन्दर कहा है—

Alas ! we have but foolishly shut the doors of our heart to the lord by wanting His Countless Blassing and never wanting Him.

हमें भगवान की चाह नहीं होती, भगवान् के पदार्थों की चाह होती है अतः भगवान् से हम वंचित ही रहते हैं।

सद् गुरु अनन्य भक्ति और सच्ची श्रद्धा के भूखे होते हैं धन और सम्पत्ति के नहीं। जो शिष्य गुरु को धन से रिझाना चाहते हैं अथवा जो लोभी गुरु शिष्यों से धन की आशा रखते हैं और उसको प्राप्त कर के रीझ जाते हैं वे दोनों ही भ्रम में हैं। ऐसे गुरु शिष्यों की संसार में कमी नहीं है वे अन्यः पतन को प्राप्त होते हैं।

सन्त कबीर ने क्या सुन्दर कहा है:—

साधू भूखा भाव का धन का भूखा नाहिं
धन का भूखा जो फिरे सो तो साधू नाहिं॥

शास्त्रों ने सद्‌गुरु को प्रभू से भी ऊंचा पद प्रदान किया है

गोविन्द गुरु दोऊ खड़े काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो दिखाय॥

गुरु की कृपा से ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।

भगवान रूठ जाए तो गुरु रक्षक है, परन्तु गुरु रूठ जाए तो परमात्मा भी रक्षा नहीं करता। अतः शिष्य को बड़ी सावधानी से बर्ताव करना चाहिए और कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे सद्‌गुरु रूठ जाए।

जो गुरु रूठे होय तो तुरन्त मनाइये।
हुइए दीन अधीन चूक बकसाइये॥

यदि किसी कारण गुरु रूठ जाय तो शिष्य को लापरवाही नही बरतनी चाहिये, अपितु तुरन्त उन्हें मनाना चाहिए और बड़ी नम्रता पूर्वक अनुनय विनय करके अपनी भूल के के लिये क्षमा याचना करनी चाहिये।

कबीर ते नर अंध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर।

वास्तव में स्थिति यही है कि जिसका गुरु रूठ जाता है उसका इस लोक में और कोई सहारा नहीं रहता। जब तक गुरु पथ-प्रदर्शन नहीं करता तब तक उसके आगे अँधेरा ही अँधेरा है। किसी काम में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती परन्तु जब गुरु प्रकाश दिखा देता है तो बेड़ा पार हो जाता है। कहा भी है—

ताकि पूरी क्यों परै गुरु न लखाई बाट।
ताको बेड़ा बूड़िहै फिर फिर अत्र घट घाट॥
पीछे लगा जाइ था लोक वेद के साथ।
आगे थे सतगुर किला दीवा दीन्हा हाथ॥

जैसे धोबी पत्थर की शिला पर कूट कूट कर साबुन की सहायता से कपड़े के मल को दूर करके उसे स्वच्छ बना देता है वैसे ही गुरु सुरति का अभ्यास करा २ के प्रभु नाम की सहायता से शिष्य के मल दोष को दूर करके उसके अज्ञान और मोह का नाश कर देता है और अन्तर्ज्योति को प्रकाशित कर देता है —

गुरु धोबी सिष कपड़ा साबुन सिरजन हार।
सुरति मिला पर धोइये निकसे जोति अपार॥

सद्‌गुरु अपने शिष्य का पुनः पुनः निरीक्षण करके उसके पशुत्व को मनुष्यत्व में और उसके मनुष्यत्व को देवत्व में परिवर्तित कर देता है। ऐसे गुरु के बारम्बार बलिहार जाइए।

बलिहारी गुरु आपने घढ़ि घढ़ि सौ बार ।
मानुष से देवन किया करत न लागी बार ॥

एक और दृष्टान्त में बताया है कि गुरु कुम्हार की भांति शिष्य रूपी पात्र का सुधार करता है । यद्यपि वह ऊपर से चोट लगाता प्रतीत होता है परन्तु अन्दर हाथ का सहारा भी दे लेता है । यद्यपि बाहर से गुरु कठोर भी प्रतीत हो, परन्तु वास्तव में उसका हृदय बड़ा कोमल होता है । उसके सभी प्रयास शिष्य के कल्याण के लिए होते हैं । वैद्य की भांति यदि वह कड़वी दवाई भी देता है तो उसका उद्देश्य स्थायी स्वास्थ्य प्रदान करा रोगी का हित करना होता है । सद्गुरु से बढ़कर मानव का और हितू नहीं हो सकता ।

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ हैं गढ़ गढ़ काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सहारदे बाहर दे बाहर वाहै चोट ॥

ऐसा सद्गुरु जिसे मिल जाय वह धन्य है । उसके जीवन का परम लक्ष्य पूरा हो जाता है । परम गुरु जी की अपार कृपा होते ही शिष्य का हृदय मिल जाता है, उसका अज्ञान और मोह नष्ट हो जाता है और ज्ञान रूपी प्रकाश का साक्षात्कार हो जाता है–

गुरु कृपाल कृपा जब कीन्हीं हिरदे कमल बिगासा ।
भागा भ्रम दसो दिस सूझ्या परम ज्योति परगासा ।।

ऐसे सदगुरु की प्राप्ति के लिए हमें भगवान से सदा इन शब्दों में प्रार्थना करनी चाहिए –

सो दिन कैसा हेयगा गुरु गहेंगे बाँह ।
अपना करि बैठाहिगें चरण कमल की छांह ॥

यदि हमारी प्रार्थनाके अन्दर सचाई है, यदि वह भगवान् से युक्त है, तो वह शीघ्र ही फलीभूत हो जायेगी और सदगुरु से भेंट हो जायेगी । हमारी प्रार्थना में तड़प होनी चाहिए । ऐसा न हो कि मुख से प्रार्थना हो और मनुआ कहीं और हो । प्रार्थना में अतुल शक्ति होती है – एक अंग्रेज ने कहा है–

"More things are wrought by prayer than this world dreams of".

प्रार्थना के द्वारा अचिन्त्य वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है । यद्यपि सदगुरु का उपदेश सब शिष्यों के लिए समान होता है तो भी अधिकारी शिष्य पर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है । जैसे सूर्य की समान किरणों का भी सूर्यकान्त मणि पर विशेष प्रभाव पड़ता है । परन्तु मिट्टी के ढेलों पर नहीं ।

अधिकारी शिष्य में तीन गुण नितान्त आवश्यक हैं–
१–विनम्र भाव–गुरु में परा भक्ति, गुरु में प्रभू की सी भावना । जैसे कहा भी है –

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।

२–प्रार्थना और आचरण–शंका का बारम्बार समाधान कराना और उस पर आचरण करना
३–निश्चल सेवा भाव

इन तीनों गुणों से भी रीझ कर सदगुरु अपने ज्ञान का भण्डार अधिकारी शिष्य पर स्वयं न्योछावर कर देता है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्व दर्शिनः ।।

उपरिलिखित इन तीन गुणों का शिष्य के अन्दर समावेश हो जाने से उसकी स्थिति निम्न प्रकार की हो जाती है–

ध्यान मूलं गुरोः मूर्तिः पूजा मूलं गुरोः पदम ।
मंत्रमूलं गुरोः वाक्यं मोक्ष मूलंगुरोः कृपा ।।

उसके हृदय मन्दिर में सदा गुरु की मूर्ति का निवास हो जाता है और वह सदा उसी में लीन रहता है । पूजा के योग्य पदार्थों में वह गुरु के चरण कमल को पूज्यतम मानता है । गुरु के द्वारा कहे गए वचन में उसकी उतनी ही होती है जितनी मंत्र में ।

उसे संसार में एक वस्तु की चाह होती है और वह है गुरु की कृपा । बस इतना हमने करना है शेष सब उत्तरदायित्व सदगुरु का है । उसकी कृपा से मूक वाचाल हो जाते हैं और पंगु पर्वतों को पार कर जाते हैं । गुरु की कृपा से असम्भव भी संभव हो जाता है मानव परम पद, मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है और तो क्या । गुरु की कृपा का एक मात्र उपाय है गुरु की अनन्य शरणागतिः यदि हम इसे अपना सकें तो बस फिर बेड़ा पार है ।

छिपा है !

श्री 'सैलानी'

ले अमूल्य उपहार प्रकृतियाँ, —
ये काली नित श्वेत निराली,
जग जीवन के चरण अर्पतीं
निज निज निधि की भर भर थाली ।
यहाँ प्रणय की रंग भूमि में "मैं - तू" का भ्रम-जाल छिपा है !

काम, क्रोध मद, लोभ, निदयता,
भय, कटुता, अभिमान, अनयता
हिंसा, शोक, मोह, आलसता,
ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, तृष्णादी ।
इस आसुरी जवाहरात में नाशक जग विकराल छिपा है !

शम, दम, क्षमा, विवेक, त्याग, व्रत,
शील, दया, करुणा, विराग, तप,
प्रेम, तितिक्षा, मृदुता, श्रद्धा,
सत्य, अहिंसा, पुण्य, दान, जप,
इस दैवी धन के अणु-अणु में सर्व - व्यापी राम छिपा है !

भू—जीवन का चरण चूमने —
आज गगन भू —ओर झुका है,
अरे मनुज, तेरे निजत्व को
अपनाने में स्वर्ग तुला है !
क्योंकि तुम्हारी मधुर सतह में अन्तर्यामी - धाम छिपा है !

जग जीवन के महा गर्व तुम,
महा मर्म, ऐश्वर्यवान हो !
धनाधिकार तुम्हें सब अर्पित
सतोपभोग तुम्हारे आश्रित !
देव बनो या दनुज, तुम्हीं में - सृजन और संहार छिपा है !

युग-युग की अज्ञान —रात्रि में
नर—जीवन पथ भुला रहा है;
जीवन-मरण — अनन्त पास का —
राग निरन्तर रुला रहा है !
इसके परे परम प्रकाश में सुख का सिन्धु अपार छिपा है !

(पृष्ठ ६ का शेषांश)

आये मुर्दे के समय विचारे को हंसना एक प्रकार से मना हो।

क्यों नहीं वह आता ? क्यों अब युगों से अनुभव करते हुए भी नई सृष्टि नहीं बनाता जिसमें कोई दुःख कमी, व विरोध न हो ? क्या इतना ही ज्ञान था या इतनी ही सृष्टि थी ? या कर-कर के थक गया है, या दुखी सब कों देखने में मजा आता है ? या कुछ और ही राज है ? या गल्ती हो गई है इसलिए मुंह दिखाने लायक नहीं रह गया है ? या बेहोश है या सामाधि में है ? या अपनी करनी पर पछतावा कर रहा है ? या अब जो कुछ करना था जितना ज्ञान था उतने से काम कर लिया है अब ज्ञान युक्तियों का खात्मा हो गया है ? जब स्वयम् ज्ञान स्वरूप ही है, स्वयं आनन्द स्वरूप ही है स्वयम् निर्भय निश्चिन्त अमर है [तो अपने से उल्टे स्वभाव की सृष्टि क्यों बनाई या कैसे बनगई या बनने की गल्ती हो गई ?

एक भी चीज तो अपने समान नमूने के लिए अमर आनन्द रूप अखण्ड और नित्य बनाता ? इतने बड़े अजा-व घर में एक तो कोई सदा के लिए रहने वाली अपने जैसी चीज बनाए रखता ?

या ऐसा तो नहीं है कि जो करना था वह कर लिया है–जितना भी था एकबारगी संकल्प करके सब कुछ कर लिया-अब कोई संकल्प न रहा हो–या जितना भी बनाया उनमें कोई भी बचता नहीं यह अनेक बार बना बना कर देख लिया फिर भी बचा नहीं यह देख कर जो यहीं समाप्त हो गया हो ? क्या है ?

बड़ी विचित्र गंभीर परिस्थिति हो गई है इधर सब दुष्ट सुष्ट अज्ञानी, ज्ञानी, भक्त और विभक्त सभी की अपने अपने लिए पुकार हो और सब का होते हुए भी सबजगहों में होते हुए भी जिस एक के आधार पर सब का जीवन है-वह आ न रहा हो। बड़ी अराजकता, अव्यवस्था आतंक व अनाचार हो रहा है पर क्यों ? इसलिए कि व्यवस्थापक ही राज्य में नहीं देखता।

यह क्यों हो रहा है ? सर्वत्र कहीं अज्ञान, कहीं अपनी ही करनी का फल, कहीं किसी पर कहीं किसी पर दोष का बहाना किया जा रहा है परन्तु खास कारण जिसने यह सब कुछ बनाया है वह स्वयं गायब होंगे तो फिर ऐसा हो ही जायेगा ! वह क्यों ताकता ही रहता है। ताकत क्यों हैं ? ताकत कहाँ चली गई अब कुछ करने की ? सर्वशक्तिमान, दुर्बल, सर्वज्ञ, भुलक्कड़ व्यापक एक जगह तो नहीं बंट गया है जो सब जगह की हालत देख ही नहीं पाता ? या ऐसा भी तो नहीं है कि वह सर्वत्र स्वयम् ही बंट कर अपनी ही अपने से अपनी शिका-यत करता हुआ दुखी के रूप में दिखाई दे रहा है और अपनी ही करनी का फल भुगत रहा है ? या अपनी ही करनी की अपना ही अपने से शिकायत कर रहा है। कहते हैं वही एक का अनेक हो गया तो इसका मतलब वही इस तरह यदि हो गया है जो अपनी ही शिकायत सब जगह से कर रहा है-तो बताओ यह शिकायत भरा संसार जिसने बनाकर जो खुद ही अपनी शिकायत कर रहा हो उससे यह कैसे शिकायत मिटे ? या शिकायत सुनने के लिए बाकी अन्यत्र है ही कहाँ जो सुनाई जाय ? कैसा क्या है ? चोर स्वयम् ही चोर चोर तो नहीं चिल्ला रहा ?

क्यों नहीं वह यदि ताकता है-सर्वज्ञ है तो अपनी इस सृष्टि को सुधार ले और सबको सुखी बना दे ?

जरा मुझे तो यह लगने लगा है संभव है उसने देख लिया है कि आजतक एक दो बार नहीं अगणित बार, एक दो प्रकार से नहीं अगणित प्रकार से एक दो जगह नहीं सब जगहों में, एक काल नहीं अगणित काल से, अपनी सारी बुद्धिमानी खर्च कर दी परन्तु बुद्धि का दीवाला होने पर भी एक भी चीज ऐसी न बनी जो सदा टिक जाय। पस्त है, थक गया है, अपनी बुद्धिमानी सर्वज्ञता की फजीहत हो गई है जो देख चुका कि कोई भी नहीं बनी रहती। फिर बनाने में Experiments के मारे सबको नाके दम आगया और वह भी अब रुंबासा हो गया होगा यह देखकर कि अब क्या करूं ? वह सोच में पड़ गया है कि अब क्या करूं ? ताकता तो है परन्तु अब उस ताकने में क्रियाशक्ति इच्छा शक्ति बुद्धि शक्ति संका या भावना विचार भाषा स्फुरण आदि कुछ नहीं केवल ताकना ही भर रह गया है। केवल ताकना साक्षित्व-जो भी होता

(शेष पृष्ठ ७ पर)

राष्ट्र की एकता और आध्यात्मिक चेतना की जागृति
के लिए अयोजित

तृतीय अखिल-भारतीय अखण्ड-वेदान्त-सम्मेलन

'अखण्डप्रभा' के समस्त प्रेमी पाठकों को यह सूचित करते हुए परम हर्ष है कि श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज की अध्यक्षता तथा 'अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र' के तत्वावधान में तृतीय-अखिल-भारतीय अखण्ड-वेदान्त-सम्मेलन का आयोजन २८ अक्टूबर से ३१ अक्टूबर, १९६५ तक किया गया है। इस विशाल समारोह में गत वर्षों की भाँति देश के विभिन्न भागों के उच्चकोटि के सन्त एवं विद्वान् भाग लेकर जनता जनार्दन में आध्यात्मिक प्रेरणा का संचार कर उसे कृतार्थ करेंगे। उत्तर-प्रदेश के प्रमुख औद्योगिक नगर कानपुर में आध्यात्मिक-चेतना की जागृति के लिए यह एक अनुपम आयोजन है।

समस्त प्रेमी बन्धुओं एवं देवियों से निवेदन है कि इस महान आयोजन के लिए तन, मन धन से अपना हार्दिक सहयोग देकर तथा समस्त कार्यक्रमों में अपने इष्ट-मित्रों सहित भाग लेकर इस कार्यक्रम को सफल बनाने की कृपा करें।

विशेष:— (१) सम्मेलन के विस्तृत कार्यक्रम का प्रकाशन 'अखण्डप्रभा' के आगामी अङ्कों में किया जायगा।

(२) कानपुर नगर से बाहर के प्रेमी भक्तों के लिए यहाँ पर ठहरने की समुचित व्यवस्था की गयी है। अतः समस्त आने वाले प्रेमीजनों से निवेदन है कि अपने आने की पूर्व सूचना देने की कृपा करें।

(३) समस्त सूचना तथा धनराशि के सहयोग के लिए पता — ११२/२३४ स्वरूप-नगर, कानपुर — २।

— संयोजक 'अखण्ड वेदान्तसम्मेलन'

केन्द्र के विविध समाचार

केन्द्र के अध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज के पूर्व कार्यक्रमानुसार विभिन्न स्थानों पर सत्सङ्ग आयोजन हुए। दिनाङ्क २१ जून, १९६५ से श्री स्वामी जी का प्रवचन नित्यप्रति सत्सङ्ग भवन, गौशाला रोड, सहारनपुर में हो रहा है। वहाँ के समस्त प्रेमीजन श्री स्वामी जी की ओजस्वी वाणी और सुरुचिपूर्ण शैली से विशेष रूप से प्रभावित हैं। श्री स्वामीजी का वहाँ पर प्रवचन १४-७-१९६५ तक होगा। चतुर्मास व्यतीत करने के लिए श्री स्वामी जी से विभिन्न स्थानों से प्रेमीजनों का आग्रह हो रहा है। सभी प्रेमीजन इस सम्बन्ध में श्री स्वामी जी से उपर्युक्त पते पर पत्र व्यवहार करने की कृपा करें।

१-९-६५ से श्री १०८ स्वामी आनन्दगिरि जी द्वारा आयोजित महान वेदान्त सम्मेलन, कपूरथला (पंजाब) में भी श्री स्वामी जी भाग लेंगे। जो प्रेमीजन अपने यहाँ श्री स्वामी जी से सत्सङ्ग-लाभ प्राप्त करना चाहते हैं वह उनसे पत्र-व्यवहार कर पूर्व ही इस सम्बन्ध में स्वीकृति प्राप्त करने की कृपा करें। पूर्व निश्चय न होने पर किसी कार्यक्रम के लिए विशेष आग्रह को भी श्री स्वामी जी को टालना पड़ता है।

Govt. Regd. No.
R. N. 6873/59

अखण्डप्रभा
जून, १९६५

रजिस्टर्ड नं० एल-१४००
वर्ष ६, अंक १०

Swami Himmatsingh
G. 6. ald P.
one Registered letter
H.G.P.Co. 500

अहङ्कार

जीव का अहंकार ही माया है। यही अहङ्कार कुल आवरणों का कारण है। 'मैं' मरा कि बला टली। यदि ईश्वर की कृपा से 'मैं अकर्ता हूँ,' यह ज्ञान हो गया तो वह मनुष्य तो जीवन्मुक्त हो गया। फिर उसे कोई भय नहीं।

"यह माया या 'अहं' मेघ की तरह है। मेघ का एक छोटा सा ही टुकड़ा क्यों न हो, पर उसके कारण सूर्य नहीं दीख पड़ते। उसके हट जाने से ही सूर्य दीख पड़ते हैं। यदि श्रीगुरु की कृपा से एकबार अहंबुद्धि दूर हो जाय तो फिर ईश्वर–दर्शन होते हैं।

सिर्फ ढाई हाथ की दूरी पर श्री रामचन्द्र हैं, जो साक्षात् ईश्वर हैं। बीच में सीता-रूपिणी माया का पर्दा पड़ा हुआ है, जिसके कारण लक्ष्मणरूपी जीव को ईश्वर के दर्शन नहीं होते। यह देखो, तुम्हारे मुँह के आगे मैं इस अंगौछे की ओट करता हूँ। अब तुम मुझे नहीं देख सकते। पर हूँ मैं तुम्हारे बिलकुल निकट। उसी तरह औरों की अपेक्षा भगवान् निकट हैं, परन्तु इस मायावरण के कारण तुम उनके दर्शन नहीं पाते।

'जीव तो स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, परन्तु इसी माया या अहङ्कार से वे नाना उपाधियों में पड़ हुए अपने स्वरूप को भूल गये हैं।

रुपया भी एक विचित्र उपाधि है। रुपया होते ही मनुष्य एक दूसरी तरह का हो जाता है। वह पहले जैसा नहीं रह जाता। यहाँ एक ब्राह्मण आया जाया करता था। बाहर से वह बड़ा विनयी था। कुछ दिन बाद हम लोग कोन्नगर गये, हृदय साथ था। हम लोग नाव पर से उतरे तो देखा, वही ब्राह्मण गङ्गा के किनारे बैठा हुआ है। शायद हवा-खोरी के लिए आया था। हम लोगों को देखकर बोला, 'क्यों महाराज, कहो कैसे हो? उसकी आवाज सुनकर मैंने हृदय से कहा—'हृदय, सुना, इसके धन हो गया है, इसी से 'आवाज किरकिराने लगी।' हृदय हँसने लगा।

"किसी मेढक के पास एक रुपया था। वह एक बिल में रखा रहता था। एक हाथी उस बिल को लाँघ गया। तब मेढक बिल से निकल कर बड़े गुस्से में आकर लगा हाथी को लात दिखाने! और बोला, 'तुझे इतनी हिम्मत कि मुझे लाँघ जाय!' रुपये का इतना अहंकार होता है।

ज्ञानलाभ होने से अहंकार दूर हो सकता है। ज्ञानलाभ होने से समाधि होती है, तभी अहंकार जाता है। ऐसा ज्ञानलाभ बड़ा कठिन है।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

अगस्त १९६५

वर्ष ६ अंक १२

सर्वप्रकाशक आत्मा

वहां (उस आत्मालोक में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता; चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न विद्युत हो चमचमाती है; फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है।

संस्थापक

ब्रह्मलीन श्री ११०८ स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज परमहंस

संरक्षक

वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द

सञ्चालक

स्वामी परमानन्द

प्रकाशक

सूपरानी भार्गव

कार्यालय

११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२

चन्दा

आजीवन १००), वार्षिक ४)
एक प्रति [साधारण] ३७ पै०
एक प्रति [सम्मेलनांक] ७५ पै०
एक प्रति [विशेषांक] १.००

अखण्डप्रभा

अध्यात्मविषयक मासिक पत्रिका

-: आवश्यक सूचना :-

समस्त प्रेमी पाठकों को यह सूचित करते हुए परम हर्ष है कि इस अंक के बाद 'अखण्डप्रभा' का सातवां वर्ष प्रारम्भ होगा। नए वर्ष के प्रारम्भ सितम्बर मास में 'अखण्डप्रभा विशेषांक' का प्रकाशन होगा। विशेषांक में अनेक प्रकार की उपयोगी, सुरुचिपूर्ण रचनाओं का समावेश होगा।

विशेषांक की अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिए समस्त प्रेमी पाठक अपना वार्षिक चन्दा ४) शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। जिन प्रेमी ग्राहकों ने वर्ष ६ (१९६४-६५) का वार्षिक चन्दा अभी तक नहीं भेजा है वे नये वर्ष के चन्दे के साथ ही अपना पूरा चन्दा भेजने की कृपा करें। आगामी वर्ष ७ का प्रथम अङ्क (सितम्बर १९६५ का विशेषाङ्क) उन्हीं पाठकों की सेवा में भेजा जायगा जिनका वार्षिक शुल्क प्राप्त हो जायगा अथवा ग्राहक बने रहने की स्वीकृति प्राप्त हो जायगी।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।'

सम्पादकः—लक्ष्मी कान्त मिश्र, एम०ए०,सा०रत्न

वर्ष ६ } कानपुर, अगस्त, १९६५ { अंक १२

ईश्वर के साथ बातचीत

जीव पहले अज्ञानी बना रहता है। ईश्वरबुद्धि नहीं रहती वरन् नाना वस्तुओं की बुद्धि, अनेक चीजों का बोध रहता है। जब ज्ञान होता है, तब उसकी समझ में आता है कि ईश्वर सभी भूतों में है। जिस प्रकार पैर में काँटा चुभता है तो एक और काँटा ढूंढ़कर उससे वह काँटा निकाला जाता है, अर्थात् ज्ञानरूपी काँटे के द्वारा अज्ञानरूपी काँटे को निकाल बाहर करना।

फिर विज्ञान होने पर अज्ञान–काँटा और ज्ञान–काँटा दोनों को फेंक देना। उस समय केवल दर्शन ही नहीं वरन् ईश्वर के साथ रातदिन बातचीत चलती रहती है। जिसने केवल दूध की बात सुनी है उसे अज्ञान है, जिसने दूध देखा है उसे ज्ञान है और जो दूध पीकर मोटा-ताजा हुआ है उसे विज्ञान प्राप्त हुआ है।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उद्बोधन

महानतम शक्ति

The greatest force is born out of the greatest difficulty. —Sri Aurobindo

"सबसे बड़ी कठिनाई से ही महानतम शक्ति उत्पन्न होती है।" यह वाक्य प्रगतिशील व्यक्ति के लिए सिद्ध-मन्त्र सा ही है। आज तक के प्रगतिशील व्यक्तियों और समाज के इतिहास का अवलोकन करने से इसके तथ्य की पुष्टि होती है। परन्तु साधारण व्यक्तियों के लिए यह बात सहज ही समझ में आने योग्य नहीं है, क्योंकि वे चाहते हैं कि हम यथासम्भव कम से कम कठिनाइयों का सामना करते हुए आगे बढ़ें। इसी को दूसरे रूप में विचार करें कि जिनके सामने अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ता है वे जीवन की सभी रुकावटों को पार कर अबाध गति से आगे बढ़ते चलते हैं। कोई भी शक्ति उन्हें बीच में ही रोकने में समर्थ नहीं हो पाती।

इन रुकावटों को अपने लक्ष्य के प्रति निर्बल साधक अभिशाप समझते हैं, परन्तु दृढ-साधकों के लिए ये वरदान के रूप में प्रकट होती हैं। कठिनाइयों पर विजय पाना ही जिन साधकों का कार्य बन गया हो वे सहज ही कह उठते हैं–"हमें तो हर चोट पर चमकने की आदत होती जाती है।" ऐसे 'हीरा'-साधकों के लिए मुसीबतें ऐसे हथौड़े का कार्य करती हैं जिसके संस्पर्श से उनका व्यक्तित्व निखर उठता है, जिनके अन्दर की शक्ति प्रबल वेग से प्रकट होती है। यदि किसी को भी अपने अन्दर की शक्ति को जाँचकर देखना है तो वह मुसीबतों से संघर्ष करने के लिए तत्पर हो जाय। जितना अधिक किसी वस्तु पर दबाव पड़ता है उतना ही उसकी ऊपर की ओर उछलने की शक्ति बढ़ती जाती है। ऐसे ही समय दुर्बल पदार्थ टूट जाते हैं और सहन कर सकने वाले पदार्थ और अधिक पक्के हो जाते हैं। इस प्रकार कोई भी साधक यदि आगे बढ़ना चाहता है तो हर कठिनाई का सामना करने के लिए वह तत्पर रहे। जीवन में कोई कितना ही बड़ा बन जाय यदि इन मुसीबतों के सामने अडिग नहीं खड़ा रह सकता तो कभी भी वह अपने पथ से गिर सकता है।

कभी-कभी रुकावटें राग-द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा के कारण भी सामने आती हैं। स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा तो हर दृष्टि से विकास के लिए सहयोगी ही है। प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति के लिए उसका प्रतिद्वन्द्वी सौभाग्य बनकर सामने आता है। इससे स्वयं कोई छोटा बड़ा नहीं बन जाता, बल्कि अपनी वर्तमान स्थिति में ही आगे बढ़ने के लिए एक प्रेरणा प्राप्त होती है। किसी को बिगाड़कर ऊपर उठने की, आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्द्धा स्वस्थ नहीं होती, बल्कि यह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक सिद्ध होती है। यदि कोई अपने पौरुष के बल पर आगे बढ़ सकता है तो दूसरे अनजाने में ही उससे छोटे होते जायेंगे। साधक को किसी भी प्रकार इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। उसे तो अपना लक्ष्य ही सामने रख कर चलना चाहिए। यदि अपने लक्ष्य की प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य है तो हर प्रकार की मुसीबतें, राग-द्वेष पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा उसकी शक्ति को बढ़ाने वाली ही होंगी।

दिल का दिल में

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी प्रकाशानन्द
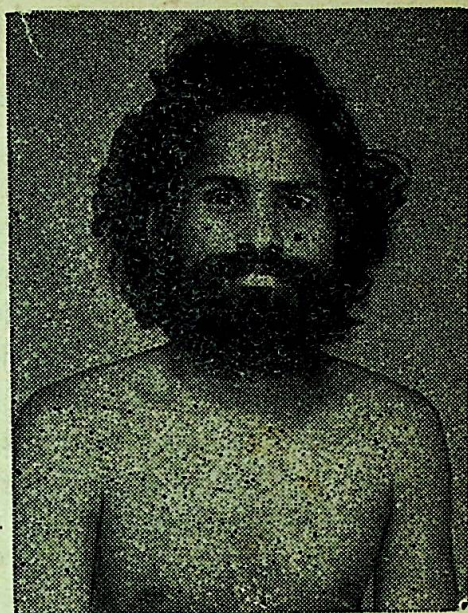
संसार दिल्लगी है । हाँ दिल से लगी दिल में लगी और दिल की दिल ही में लगी का संसार है । दिल देने और दिल लेने से बढ़ कर इसमें कोई बहादुरी नहीं, आकर्षक खेल नहीं, बुद्धिमानी नहीं । हमारा दिल आपका है, हमें अपने दिल में जगह दीजिए, दिल फाड़कर दिखा दें कहिए, आपके सिवा दिल में और कोई नहीं है इस प्रकार की भाषाओं से ही यह भरा है और जो जिसपर दिल वार चुका है उसके लिए अपना सबकुछ उसके लिए खर्च होने मिट जाने में बेपरवाह सा होने या दिखाने में आतुर है।

वृक्षों में अपना दिल सम्पूर्ण प्राणी मात्र को दे दिया है उनकी यही हालत हो गई । एक बार दिल दिया कि फिर भेद रहता ही नहीं । देव मानव में, मानव, देव में, पशु मानव पर मानव पशु पर आदि आदि जिधर देखो सब सब में क्यों घुटने को उत्सुक हैं ? ज्ञात होता है कि सबने अपना-अपना दिल वार दिया है ।

हम तो कहते हैं जन्म मृत्यु के स्केल से अपनी अनन्त जीवनी को नापने के लिए हमने भी काल को सब कुछ वार दिया है । और जन्म मृत्यु ने भी अपना सारा दिल हमें देकर अपने द्वारा हमारी महिमा हमारी अमर जिन्दगी बना दी । सब सब में छुटे हुए ही जी रहे हैं । यहाँ तक राग द्वेष इर्ष्या आदि व प्रेमादि विकार, गुणों के द्वारा भी बड़े प्रेम से एकेक में एकेक अपना विकट प्रेम ही दर्शाने में पूरा दिल दिए हुये दिखाई देते हैं ।

साधनों को हमने अपना दिल दिया है और साधन भी अपना दिल दे चुके हैं जो अपना सब कुछ रहस्य-सिद्धियाँ, हमें सौंप चुके हैं । और डॉक्टर को दिल के आपरेशन के लिए मरीज ने अपना दिल और जलाने के लिए उसके भरोसे अपने दिल (हृदय) को डॉक्टर के दिल में उडेल दिया होता है । और उसके बदले डॉक्टर भी अपने दिल को दिल के आपरेशन के समय दिल लगाकर सांसको भी साधकर-अपने दिल के समान ही थामकर फिर मरीज को दिल वापस करता है । यदि कहीं मरीज का दिल मर जाय तो मानो डॉक्टर का ही दिल टूट जाता है ।

मूर्तिकार—कारीगर अपना दिल जब किसी पत्थर को दे देता है तो दिल के वारने से पत्थर भी संग-दिली छोड कर कारीगर को अपना दिल यह कह कर सौंप देता है कि तुम चाहो जो इसमें से ले लो । और दिल में फिर क्या नहीं है जो कारीगर न पा सके ? अर्थात् सब कुछ उसे वहां मिल जाता है । यह बड़ा मुश्किल है जब ऐसे दो दिल एक होते हैं तब यह बताना कि दरअसल किस एक दिल से कुछ हो रहा है ?

यह भक्त क्यों इतना गाफिल है ? किसी चीज की परवाह क्यों नहीं करता ? कहते हैं वह प्रभु को दिल दे चुका है । और यह क्या कि भोजन छोड़ कर प्रभु चल पड़े हैं । क्यों ? यों कि वे किसी पर अपना दिल दे चुके हैं । दिल देने पर मुर्दा भी सिर पर टाँगने में खुशी हो गई शंकर को । और दिल देकर मुर्दा होना भी पसंद किया सती ने !

यह दिल दिल ही में आता दिल ही में जाता दिल से ही दिल में जाता और दिल्लगी करे या लड़ाई सब कुछ दिल लगे बिना होता ही नहीं । सब कुछ दिल में रहता है । दिल, जिसमें सब कुछ रहता है । वह कहां रहता है

कैसे बतायें किससे बतायें ? क्योंकि जिससे बतायें वह तो दिल ही में रहता है।

परन्तु दिल में रहने वाले का पता खाली दिल वाला इसके सिवा और क्या है ? और दिल वाला ही दिल से मिल सकता है। चाहे कितनी भी बड़ी कोई चीज हो, चाहे कितनी कड़ी नरम सर्द गरम हो, दूर पास हो अपनी परायी कही जाने वाली हो यह दिल में ही रहेगी, दिल की ही है। मगर एक ऐसी बात है कि दिल ही अपनी चीजों को आँखों में जब देखना चाहता है तो खुद बेचैन हो जाता है। जब आंखों में वह नहीं आती तब उनकी जगह, नाप तौल, स्वभाव कहाँ और कितना है ? दिल में ही तो है। तो आंखों में आयेगा कहाँ से ? दिल से ही।

एक दम्पति को जिसे संतान न होती हो और बड़ी अधीर हो, जब तक वह न आया हो, तब उस सन्तान का क्या स्वरूप है ? कहाँ है वह ? अभी तो वह चारों ओर वैद्य, डाक्टर हकीम योगी भोगी, ध्यानी, ईश्वर देवताओं के पास सब जगह समझती है। परन्तु जो सब जगह है उसका स्वभाव, रंग, आकार रूप, आयु, (अर्थात् चाहे जिस उमर का हो उसे चाहिए) स्वभाव आदि का हो, उसी का है। तो जिसका कोई पता नहीं उसके पते, सब पते हैं।

परन्तु वह सब पते वाले के रूप में नहीं चाहता वह। वह उसे एक ही रूप में चाहती है। आंखें तरस रही हैं देखने, पेट तरसता है पालने, हाथ तरसते हैं छूने मुंह तरसता है चूमने किसे ? वही जो सब जगह हो। और खास करके दिल में। दिलवाला कभी पेट में कृपा-कर आया, आया फिर भी चैन नहीं क्यों ? आँखें तरसनी हैं। एक दिन आँखें खुश हुईं : हाथ मुंह खुश हुआ-खास कौन खुश हुआ ? दिल। क्योंकि दिलवाला ही आँखों में हाथ पैरों में पेट में आया था। अब जब आँखों में वह आगया तो सब जगह दिखाई देने लगा। कौन ? वही जो दिलवाला था। तो इसका मतलब दिलवाला ही सब जगह दिखता है परन्तु खास करके सब जगह दिखाई देने पर भी दिल में ही रहता है।

आँखों में आने के बाद वही दिलवाला, रोगी दुःखी घबराहट में भरा, भागता हुआ नजर आया। ज्यों ज्यों दूर हुआ पेट से बाहर हुआ दूर ही होता गया दिल से नहीं।

परन्तु दूर कहाँ जा रहा है ? जितना दूर होता है उतना ही आंखों के ओझल होते होते दिल में झांकने लगता है। बाहर आने पर डरना क्यों है ? क्योंकि अब वह दिल नहीं मिलता। चाहता है उसी जगह पहुँचे जहाँ जहाँ मर कर भी मरना नहीं आता। यहाँ तो जीते हुये भी जीना नहीं आता न आयेगा—वहीं चलो। यह सोचकर उधर ही जा रहा है।

और एक दिन यह आँखों के लिए सदा को दिखना बन्द होकर फिर वहीं तो पहुँच जाता है। कहां ? दिलमें। तो दिल का दिल में ही पहुँच रहा है। फर्क इतना ही कि दिलवाले को (दिलवर को ही) ही पुत्र पिता भाई बहन सगा दुश्मन दूर पास अपना पराया बनाया गया। और सर्व रूपों में होने पर भी अज्ञानी खास एक रूप के लिए वह व्याकुल होता रहा जहाँ पहुंच कर उसे तो सदा के लिए आराम और उन्हें जो आँखों में देखने के हठी थे दुःख हुआ। दिलवाले को अन्य किसी रूप में अपने को देखना पसन्द नहीं।

मेरा प्यारा दिली संसार दिल का दिल ही में आता जाता और रहता है। और दिल का दिलवर भी दिल में दुनियाँ भी दिल में और दिल भी वहीं पर है। किसे हम खोज रहे हैं यही एक पहेली मचा दी है।

यह जो आँखों में आता है वह वही तो है। परन्तु वही को वही न कहकर पिता पुत्रादि रूप में देखते ही रूठ कर वह फिर उसी जगह जाने को उतावला हो जाता है। यदि यह रम्ज समझ में आ जाय कि दिल का दिल में ही है और वह और कोई नहीं आपही हैं तो क्या बेचैनी ? यदि यह राज समझ में न आया तो जिस किसी को देखा है कि उनकी 'दिल की-दिल में ही' रह गई।

दिल का दिल ही में तो था ये मुझे मालूम न था।
दिल से लगा हुवा मैं था मुझे मालूम न था।

यह तो कहता ही रहा 'मुझे मालूम न था,'
और कब कहता ये रहा मुझे मालूम न था।

दिल की दुनिया ये दिल व वो दिलवर।
सब मुझसे ही मिला था मुझे मालूम न था।

अब तो यह हाल हुआ है कि कुछ याद नहीं,
कि मैंने यह भी कहा था-मुझे मालूम न था।

कभी ये था कि दिल का दिल ही में है मिलता नहीं,
पर अब बिछुड़ता नहीं, कब कहा मालूम न था?

ये दिल तो था कि बात ये किसी से कहें।
ये दिल की दिल में रही, दिल हुआ मालूम न था।

शरीर के कोषाणुओं में भागवत संकल्प के स्पन्दनों की क्रिया

(श्रीमां, श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी-२)

"भगवान् के परम आलिंगन का अनुभव हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब हम कामनाओं का पूर्णतः परित्याग कर दें अथवा उन्हें पूर्णतः तुष्ट कर लें, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में पहली आवश्यक शर्त पूरी हो जाती है-कामना का अन्त हो जाता है।"-श्री अरविन्द।

कामनाओं को पूर्णतः तुष्ट करना असंभव है-यह असंभव कार्य है। और कामना का पूर्ण त्याग भी वैसा ही असंभव है। हम एक कामना का परित्याग करते हैं और दूसरी उपस्थित हो जाती है। अतः ये दोनों ही अपेक्षाकृत असंभव हैं। जो संभव है वह यह कि हम एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर जायं जहां कामना है ही नहीं।

खेद की बात है कि मैं उन सभी अनुभूतियों को लिपिबद्ध नहीं कर पाती जो मुझे हुआ करती हैं। ठीक इन दिनों ही और दीर्घ काल तक उस सच्ची क्रिया का एक अत्यंत स्पष्ट बोध हुआ था जो परम संकल्प की अभिव्यक्ति है, और सहज स्फूर्त भाव से आप ही आप व्यक्तिगत करण के माध्यम से अपने को प्रकट करती है, ऐसा भी कह सकते हैं (क्योंकि मन शान्त होता है और शान्त बना रहता है) कि शरीर के माध्यम से अपने को प्रकट करती है और उस क्षणका भी बोध हुआ था जब सर्वोच्च संकल्प की वह अभिव्यक्ति कामना के प्रवेश करने से, कामना के, जिसका कि अपना एक अलग ही गुण-धर्म होता है, स्पंदन-विशेष से क्षुब्ध, विकृत हो जाती है। कामना का यह स्पंदन कई प्रत्यक्ष कारणों से सृष्ट होता है। वह केवल किसी वस्तु की प्यास, किसी वस्तु की आवश्यकता या किसी वस्तु के प्रति आसक्ति ही नहीं है। उदाहरणार्थ, उस स्पंदन के सृष्ट होने का कारण यह भी हो सकता है कि जिस संकल्प की अभिव्यक्ति हुई वह प्रतीत हुआ या किसी भी तरह समझ लिया गया कि सर्वोच्च संकल्प की ही अभिव्यक्ति है, किन्तु उस संकल्प की, जो कि निश्चय ही सर्वोच्च संकल्प था, तात्कालिक क्रिया और उसके वास्तविक परिणाम का अन्तर समझने में गड़बड़ी हुई-यह भूल लोग प्रायः ही किया करते हैं। लोग समझते हैं कि जब वे किसी वस्तु विशेषको चाहते हैं तो उन्हें मिलना भी वही चाहिए। ऐसा सोचने का

कारण यह है कि उनकी दृष्टि बड़ी संकुचित होती है-बड़ी संकुचित और बड़ी सीमित। उन्हें वह समग्र-दृष्टि नहीं होती जिससे वे देख पावें कि वह तात्कालिक स्पंदन आवश्यक था, जिसमें कि वह और भी कई स्पंदनों को सृष्ट करे और सब मिलकर वास्तविक परिणाम ले आवें, जो कि तात्कालिक परिणाम से भिन्न है। मैं नहीं जानती तुमने इसे स्पष्ट समझा था या नहीं, पर यह अनुभूति मुझे बराबर हो रही है।

और इसी काल में मैंने इस तथ्य का अध्ययन और अन्वीक्षण किया कि नित्य की छोटी-छोटी क्रियाओं में कामना का स्पंदन सर्वोच्च संकल्प द्वारा निस्सृत स्पंदन के साथ कैसे जुड़ जाता है। और उच्चस्थ दृष्टि से (यदि हम इस उच्चस्थ दृष्टि की चेतना बनाये रखने में सावधानी बरतें) हम देख पाते हैं किस प्रकार वह स्पंदन जो निस्सृत हुआ था, ठीक सर्वोच्च संकल्प से निस्सृत स्पंदन ही था, किन्तु हमारी सामान्य चेतना जिस परिणाम की तत्काल प्रतीक्षा कर रही थी, परिणाम वह न होकर उसकी क्रिया हुई बहुत से स्पंदनों को उत्पन्न करने की और अन्य परिणाम प्राप्त करने की, जो अधिक दूर की है और अधिक पूर्ण है। मैं यहां महान वस्तुओं की चर्चा नहीं कर रही हूँ और न जागतिक क्रियाओं की, मैं केवल जीवन की छोटी-छोटी क्रियाओं की बात कर रही हूँ, जैसे कि किसी से कहना: "मुझे वह देना तो," और जिससे यह कहा गया उसने समझा नहीं और कोई और ही वस्तु उठा लाया। अब यदि तुम समग्र-दृष्टि बनाये रखने में सावधान नहीं रहे हो तो वह एक विशेष प्रकार का स्पंदन उत्पन्न कर सकता है, जैसे मानलो कि अधीरता या संतोष के अभाव का, और उसके साथ-साथ यह भावना रह सकती है कि भगवान का स्पंदन समझा नहीं गया और न ग्रहण किया गया। तो यह अधैर्य का, अथवा वास्तव में, घटित वस्तु की नासमझी का जो छोटा-सा स्पंदन जुड़ गया, यह ग्रहणशीलता अथवा प्रत्युत्तर के अभाव की धारणा जो बन गयी, यह कामना के जैसी ही लगती है-इसे हम कामना नहीं कह सकते, किन्तु इसका स्पंदन कामना की कोटिका ही है-यही स्पंदन सब कुछ गड़बड़ कर देता है। यदि हमें पूर्ण दृष्टि है; यथार्थ दृष्टि है, तो हम समझेंगे कि यह "मुझे वह देना तो" कोई और ही वस्तु सृष्ट करेगा और वह और वस्तु कोई अन्य ही वस्तु लायगी जो कि ठीक वही वस्तु है जो होनी चाहिए थी। मैं नहीं जानती तुम ठीक-ठीक समझ रहे हो या नहीं यह जरा जटिल वस्तु है! किन्तु, इससे मुझे भागवत संकल्प के स्पंदन और कामना के स्पंदन का अन्तर समझने की कुंजी मिल गयी। साथ ही साथ, अधिक विशाल और सर्वांगीण दृष्टि-अधिक विशाल और सर्वांगीण और दूर दृष्टि कहने का मतलब कि बृहत्तर समग्रता की दृष्टि द्वारा इस कामना के स्पंदन को दूर करने की संभावना की कुंजी भी मुझे प्राप्त हो गयी।

और इस पर मैं आग्रह करती हूँ क्योंकि यह सारे नैतिक तत्वों को निष्काषित कर देती है। यह कामना संबंधी अपकर्षक धारणा को निकाल फेंकती है। यह दृष्टि उत्तरोत्तर अच्छे और बुरे, शुभ और अशुभ, उच्च और निम्न आदि की सारी धारणाओं को दूर करती जाती है। ये सारे अन्तर केवल वह वस्तु हैं जिसे हम प्राय: स्पंदन के गुण-धर्म का अन्तर कह सकते हैं-"गुण-धर्म" से भी उच्चता और निम्नता का आभास होता है, यह गुण-धर्म भी नहीं है, तीव्रता भी नहीं है! मुझे पता नहीं कि कोई ऐसा वैज्ञानिक शब्द है या नहीं जो एक प्रकार के स्पंदन का दूसरे प्रकार के स्पंदन से पार्थक्य बतलाने के लिये व्यवहृत होता है, किन्तु है यह वही।

और लक्षणीय बात तो यह है कि वह स्पंदन, जिसे हम भगवान् के पास से आने वाले स्पंदन का गुण-धर्म कह सकते हैं, रचनात्मक होता है-वह निर्माण करता है और ज्योतिर्मय होता है, और वह दूसरा स्पंदन जो कामना इत्यादिका होता है, वस्तुओं को जटिल बनाता, नष्ट-भ्रष्ट करता और तोड़-मरोड़ डालता है-उन्हें भ्रष्ट, विकृत और वक्र कर देता है-और इससे ज्योति हट जाती है और एक धूसरपन छा जाता है, जो उग्रता के कारण अधिकाधिक गाढ़ा होता अत्यंत गहरे अंधकार का रूप धारण कर ले सकता है। किन्तु जहाँ उग्र कामनायें नहीं हैं, जहाँ उग्र कामना हस्तक्षेप नहीं करती वहां भी यही बात है। सचमुच में भौतिक सत्य केवल एक दूसरे में मिलते रहने वाले

और दुर्भाग्यवश परस्पर विरोधी एवं एक दूसरे से टकराते रहने वाले स्पंदनों का क्षेत्र बन गया है। और यह संघर्ष, यह विरोध एक इस प्रकार के उपद्रव, अव्यवस्था और गड़-बड़ी का दौरा है जो एक विशेष प्रकार के स्पंदन सृष्ट करता है। ये स्पंदन वास्तव में अज्ञान के स्पंदन हैं, क्योंकि हम इन्हें जानते नहीं, और ये बड़े ही क्षुद्र, बड़े ही संकीर्ण और बड़े ही सीमित होते हैं–बड़े ही सीमित ! प्रश्न पर यहां मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा जा रहा है। यह केवल स्पंदनों का दृष्टिकोण है।

यदि इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें…मन के स्तर पर यह बड़ा ही सरल है। प्राण के स्तरपर भी यह बहुत कठिन नहीं। शरीर के स्तर पर यह जरा भारी पड़ जाता है, क्योंकि वहां यह आवश्यकताओं का रूप धर लेता है। किन्तु इन दिनों इस क्षेत्र में भी बहुत सी अनुभूतियाँ हुई हैं: शरीर की रचना-सम्बन्धी भौतिक वैज्ञानिक और चिकित्सा वैज्ञानिक धारणाओं का अध्ययन, उसकी आव-श्यकताओं और उसके लिए क्या भला है और क्या बुरा है, इसका अध्ययन। और इनका भी यदि सार निचोड़कर देखा जाय तो फिर वही स्पंदनों की समस्या आ जाती है। एक मजेदार घटना सुनो : ऐसा प्रतीत हुआ (सामान्य चेतना द्वारा वस्तुयें जिस प्रकार दिखलाई पड़ती हैं वे विशुद्ध रूप से प्रतीतियाँ ही होती हैं) कि जो भोजन किया गया था वह अन्दर विषका प्रभाव ला रहा है। तब यह पता लगाने के लिए कि विषका यह प्रभाव अपने-आप हो रहा है अथवा वह कुछ अन्य वस्तुओं पर आश्रित है अर्थात् अज्ञान और बुरी प्रतिक्रिया एवं सच्चे स्पंदन के अभाव पर आधारित है, इसका विशेष रूप से अध्ययन किया गया। और निष्कर्ष यह निकला कि यह भगवान् से आने वाले स्पंदनों और उन स्पंदनों, जो कि अभी तक अज्ञान में हैं, के योग की संख्या के अनुपात पर निर्भर करता है। और इसी अनुपात के अनुसार वह किसी ठोस और यथार्थ वस्तु का रूप हो सकता है अथवा किसी ऐसी वस्तु का जिसे दूर किया जा सकता है, अर्थात् जो सत्य के स्पंदनों के प्रभाव में ठहर नहीं सकता। यह बड़ी मजेदार बात थी, क्योंकि ज्योंही चेतना शरीर की क्रिया की गड़-बड़ी के कारण के प्रति जागरूक हो गयी (चेतना ने देख लिया कि वह कहाँ से आ रही है और क्या है), तत्काल ही इस विचार को दृष्टि में रखकर निरीक्षण आरम्भ हो गया: 'देखें क्या हो रहा है।" सबसे पहले शरीर को पूरे आराम के साथ लिटा दिया जाता है, इस निश्चय के साथ जो कि वहाँ सदा वर्तमान है–कि बिना भगवान की इच्छा के कुछ भी नहीं होता, कि प्रभाव भी उन्हीं की इच्छा है और सारे परिणाम भी उन्हीं की इच्छा है, और इसलिए बिलकुल शान्त रहना चाहिए। और तब शरीर बिलकुल शान्त हो जाता है: कोई विक्षोभ नहीं है, वह उत्तेजित नहीं होता, काँपता नहीं-बिलकुल शान्त है। अब यह विचारा जाता है कि किस हदतक परिणाम अनिवार्य हैं ? क्योंकि कुछ परिणाम में ऐसे पदार्थ शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो गए थे जिनका तत्व शरीर के तत्व तथा शरीर के जीवन के तत्व के प्रतिकूल था, अनुकूल और प्रतिकूल तत्वों के स्पंदनों के अंतर का अनुपात क्या है ? और तब मैंने बड़ा स्पष्ट देखा : शरीर के वे कोषाणु जो सीधे पर-मोच्च स्पंदन के प्रभाव में हैं और केवल उसी का प्रत्युत्तर देते हैं और वे कोषाणु जो अन्य कोषाणु जो अभी तक सामान्य तौर पर ही स्पंदित होते हैं, इन दोनों के परिणाम के अनुसार अनुपात में भिन्नता होती है। और यह बड़ा स्पष्ट था, क्योंकि सभी संभावनायें दिखलायी पड़ रही थीं–कोषाणुओं के सामान्य पुंज से लेकर, जो कि इस घुस पैठ से बिलकुल अस्तव्यस्त हो गया है और जिसे अवाँछ-नीय तत्व से उबारने के लिए सभी प्रकार के सामान्य साधनों द्वारा लड़ना है, उस स्थिति तक जहां सभी कोषाणु केवल सर्वोच्च शक्ति का प्रत्युत्तर देते हैं, जिससे कि किसी अवांछनीय तत्व का उनपर प्रभाव नहीं पड़ सकता। किन्तु यह अभी तक अनागत कलका स्वप्न है–हम उसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। और अब वह अनुपात काफी अनुकूल हो गया है–मैं इसे सर्व-शक्तिमत् नहीं कह सकती, उससे यह अभी बड़ी दूर है-किन्तु काफी अनुकूल जिसका परिणाम यह हुआ कि संक्षोभ का परिणाम बहुत अधिक कालतक नहीं टिका और, कहा जा सकता है कि, क्षति भी क्रम से कम ही हुई।

किन्तु इस क्षण सभी अनुभूतियाँ, एक के बाद एक सारी भौतिक अनुभूतियाँ, शारीरिक अनुभूतियाँ–इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं : सब कुछ निर्भर करता है उन तत्वों के जो कि केवल सर्वोच्च सत्ता के प्रभाव का ही

प्रत्युत्तर देते हैं, वे तत्व जो अभी आधे इधर आधे उधर हैं—रूपान्तर के रास्ते पर हैं, तथा वे तत्व जो अभी तक जड़ के पुराने स्पंदनों की प्रतिक्रिया के भीतर हैं, उनके अनुपात पर । इन पिछले प्रकार के तत्वों की संख्या कम होती प्रतीत होनी है, काफी कम होती प्रतीत होती है, पर अभी भी इनकी संख्या इतनी काफी है कि ये अरुचिकर प्रभाव या प्रतिक्रिया में उत्पन्न कर सकें । ये ऐसी वस्तुयें हैं जो रूपांतरित नहीं हुई हैं, जो अभीतक सामान्य जीवन के अन्तर्गत हैं। किन्तु सभी समस्यायें—चाहे वे मनोवैज्ञानिक समस्यायें हों, विशुद्ध भौतिक समस्यायें हों या रासायनिक सभी की सभी इसी एक बिन्दुपर पहुँचती हैं कि वे स्पंदनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं । और बोध होता है उन स्पंदनों के संपुञ्ज का और उस अन्तर का भी जिसे हम अत्यन्त स्थूल और अत्यंत निकट अर्थ व्यक्त करने वाली भाषा में रचनात्मक और विनाशात्मक स्पंदनों का अन्तर कहेंगे । हम कह सकते हैं (यह कहने का केवल एक ढंग है) कि वे सभी स्पंदन जो "एकमेव" से आते हैं और "एकत्व" को प्रकट करते हैं, रचनात्मक हैं, एवं सामान्य और विभाजक चेतना की सभी जटिलतायें विनाश की ओर ले जाती हैं ।

ऐसा सदा कहा जाता है कि कामना ही कठिनाइयों की सृष्टि करती है, और बात भी यही है । कामना संकल्प के साथ जुड़ी हुई कोई वस्तु मात्र हो सकती है । संकल्प—जब वह 'एकमेव अद्वितीय' संकल्प होता है—तो अपने को सीधा और तत्काल अभिव्यक्त करता है, वहाँ अवरोध की कोई संभावना नहीं। अतः जो कुछ भी विलंब, रुकावट या जटिलता अथवा विफलता तक ले आता है वह निश्चय ही कामना की मिलावट होता है ।

सर्वत्र हम यही देखते हैं । उदाहरणार्थ, एक बाह्य जगत् की और बाह्य वस्तुओं की (वास्तव में यह कहना कि वह "बाह्य" है, अपने को एक मिथ्या स्थिति में रखना है),—जैसे कि हम एक ऐसे व्यक्ति को जो कि उच्चतम चेतना में, सत्य की चेतना में निवास करता है कहते हैः" जाओ (मैं यहाँ लाखों में से एक दृष्टांत दे रही हूँ) जाओ और उस व्यक्ति से मिलो, और उससे यह प्राप्त करने के लिए यह कहो ।" यदि वह व्यक्ति ग्रहणशील है भीतर से, शान्त है और समर्पित है, तो वह जाता है, उस व्यक्ति से मिलता है, उससे वह कहता है, और इस प्रकार सारा काम हो जाता है-बिना कोई भी झंझट के । किन्तु यदि उस व्यक्ति की चेतना सक्रिय मानसिक है, उसमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है और उसमें अहंकार और अज्ञान की सभी मिलावटें हैं तो वह कठिनाइयों को देखता है, समस्याओं को देखता है जिसे उसे हल करना होगा, सारी जटिलताओं पर उसकी दृष्टि जाती है—ये सारी वस्तुएं स्वभावतः ही उपस्थित हो जाती हैं । और तब अनुपात के अनुसार (सदा सर्वत्र अनुपात का ही प्रश्न रहता है). वह कुछ जटिलताओं को सृष्ट करता है, उसमें समय लगता है, कार्य में विलम्ब हो जाता है, अथवा इससे भी बुरा, वह विकृत हो जाता है, वह ठीक वही परिणाम नहीं लाता जो उसे लाना चाहिए । वह बदल जाता है न्यून हो जाता है, विकृत हो जाता है अथवा अन्ततः वह काम होता ही नहीं इसमें बहुत, बहुत सी कोटियाँ हैं, किन्तु वे सभी जटिलताओं के क्षेत्र की वस्तुऐं हैं (मानसिक जटिलताओं के), और कामना के क्षेत्र की । जबकि दूसरी विधि तत्काल फल लाती है । इन विधियों के अगणित उदाहरण हैं (सभी विधियों के) और तत्काल फल लाने वाली विधि के भी । और तब लोग तुमसे कहते हैं: "वाह ! तुमने तो चमत्कार कर दिया !" पर कोई चमत्कार हुआ नहीं है । बर बर ऐसा ही होना चाहिए । यदि ऐसा होता नहीं तो वह इसलिए कि कर्ता क्रिया के साथ युक्त नहीं हैं ।

मैं नहीं जानती तुमने इसे स्पष्ट समझा या नहीं, किन्तु फिर भी……

यही बात छोटी से छोटी वस्तु से लेकर सारे जगत् में घटित होने वाले कार्य के साथ घटित हो सकती है । जागतिक क्रिया के ऐसे उदाहरण हैं जिसमें वस्तुएं इस प्रकार हुई हैं, यदि करण ठीक रहा । कोई भी नहीं समझ सका कि कैसे वह हो गया, क्यों हो गया । इस प्रकार अत्यंत सरल, अत्यन्त ही सरल तरीके से सब कुछ व्यवस्थित हो गया । और दूसरी अवस्था में एक "विजा" या 'परमिट' प्राप्त करने के लिए पहाड़ उठाना पड़ता है । अतः अत्यंत छोटी से छोटी वस्तु, अत्यंत क्षुद्र शारीरिक व्याधि से लेकर बृहत्तर जागतिक क्रियातक, सबकुछ के लिए एक ही सिद्धान्त है । सबकुछ इस एक सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आ जाता है ।

फकीर होना पाप नहीं !

वेदान्तकेशरी श्री स्वामी निर्मल जी, अमृतसर

मानव का अपनी मञ्जिल की ओर उठना और अनात्म पदार्थों का पीछे की ओर खींचना, यह कोई नया कदम नहीं है अनादि काल से चला आ रहा है। जबकि वृक्ष फलों से लदे थे और ऋषियों की कालोनी थी वेद की आज्ञा का पालन करते थे। मानव हृदय इतना सूक्ष्म था कि कैमरे की तरह तमाम रंग रूप पकड़ लेता था। पदार्थ तो तब भी थे परन्तु वैराग्य से पदार्थों को दूर धकेला हुआ था और अभ्यास से आगे बढ़े हुए थे।

हमारी जो स्वाभाविक पूर्ण सुख की इच्छा किसी बाह्य परिस्थिति पर निर्धारित नहीं। यह मन और इन्द्रियां सब शरीर पर हैं, आत्मा शरीर के अन्दर इस तरह है जैसे छिलके के अन्दर बादाम की गिरी है। जिस शरीर मे आत्मरूपी लाल निकल गया है वह शरीर तो मुर्दा ही है चाहे वह सेठ दस लाख का मालिक क्यों न हो उससे तो कासा लेकर माँगने वाली हजार गुना अच्छी है।

मानव नियमों का पालन तब तक करता है जब तक मौका नहीं मिलता है। परम त्यागी होकर भी जब वक्त नहीं सँभाला जाता तो मन की भावना कुण्ठित हो कर रह जाती है, मन धोखा दे जाता है।

"दे मर के सबूते जिन्दगी"

मर कर वही प्रमाण देते हैं, जिनके चित्त लटक गए, विषयों की इच्छा वासना जिनकी समाप्त हो चुकी हैं उनका क्या मरना कठिन है ? जगत का मिथ्यात्व निश्चय हो जाने पर भी चोटें लगती हैं, सुख भी प्रतीत होता है। स्वप्न का सुख दुःख भी झूठा नहीं, स्वप्न चाहे झूठा है हमारी साधना तो दृष्टि को विशाल करने की है।

बड़ी भारी नुमाईश में दश लाख रुपये का माल व्यापारी ने फेंका हुआ था, एक तरफ पाखाना भी पड़ा हुआ था, परन्तु बहुत से लोगों की दृष्टि तो नुमाइश को छोड़ कर उधर ही जाती। मक्खी तो उधर ही बैठेगी
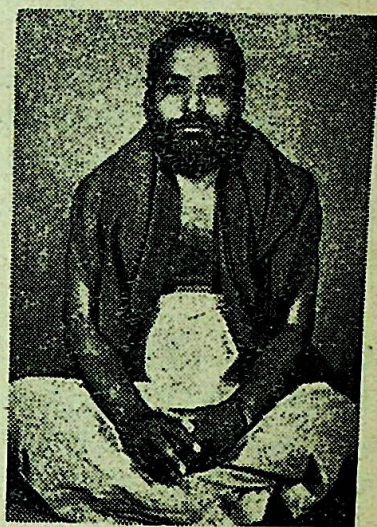
जहाँ जख्म होता है। नजर नजर का फैसला है। सत्य को जानने वाला जब तक सत्य को अपना न बना ले तब तक नजर को पवित्र करे।

अठ सठ तीर्थ सकल पुञ्ज
जी दया प्रवान।

सारा जोर लगाकर तुम एक च्यूंटी नहीं बना सकते बहुत वैराग्यवान हृदय से नियम पालन की प्रतिज्ञा कर जितनी डिग्री इञ्जन में भाप चाहिए उतनी डिग्री हो तो इञ्जन चलेगा नहीं तो फक फक कर रह जायेगा।

गुरु कामिल होना चाहिए और शिष्य जिज्ञासा से पूर्ण हो तब मार्ग में बहुत कठिनाई नहीं रहती। कामिल राहनुमाँ की जरूरत क्यों पड़ गई यदि यह मार्ग कठिन नहीं तो इस भगवत्प्राप्ति के मार्ग को बलपूर्वक तय करना है। सारा दिन दौड़-धूप इसलिए है "सुखम् भूयात् दुःख मा भूयात्" तू ऐसे सुख की तलब करता है जिसमें दुःख नहीं। ऐसा सुख सुख नहीं, तो सुख में मोह का होना है। इन्द्रियों का भी कोई विषय ऐसा नहीं जो हमेशा हमें सुखी रक्खे। एक घोड़ा मर गया, मरे हुए हुए घोड़े को कई पशु पक्षी झपट झपट कर खा रहे हैं और प्रसन्नता पूर्वक 'जशन' मना रहे हैं। सुख कहाँ है ? मरे हुए घोड़े में। "ऐश का खात्मा हसरत पै ही हो के देखा, रोकर ही उठते हैं इस बजम में जाने वाले।" कोई

ऐसा विषय नहीं जो तुम्हें सुखी कर दे और निश्चिन्त कर दे। सारी सृष्टि में वही चीजे हैं जिन्हें सब चाहते हैं। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, अभ्यास और ज्ञान। धर्म अर्थ काम मोक्ष भी चार पदार्थ हैं। धर्म की राह पर फेंका हुआ धन ऊपर चला जाता है। आज का संसार तो श्री के पीछे ही लगा हुआ है। पुत्र धन और दौलत दो चीजे हैं। स्त्री पुत्र गौ तो धन है और दौलत और चीज है।

जहाँगीर नूरजहां से कहता है, ऐ मालिका! मैंने तुझे जान दी है इमान नहीं दिया। धर्म मानव चाहता है कि मेरी कीर्ति का डंका चारो ओर बज जाए। अपमान को सहन करना बड़ी बात नहीं परन्तु मान का घूंट भरना बड़ी बात है। गीता ने जोर दिया है कि:-

'निमार्न मोहाः जित संग दोषः।
अध्यात्मनित्या विनिवृत्यकामाः

इस मिट्टी के मूसल का मान और मोह न कर।
इश्क पर नाज करे कोई,
तो कुछ बात भी है,
हुस्न का नाज है क्या,
हुस्न तो ढल जाता है।

केवल आत्मा ही मान के योग्य है। स्त्री के नैनों के तीरों से जो हृदय बिन्ध जाते हैं वे प्रभु प्राप्ति के लिए सीधे नहीं होते।

एक न एक ऐब हसीनों में हुआ करता है," जिसको सूरत अच्छी मिली उसे 'सीरत न मिली।" काम की चीजें दो ही हैं, एक अभ्यास और वैराग्य, दूसरा ज्ञान। यह ऋषियों का ज्ञान तुझे जीना सिखाता है निवृत्ति मेरी स्वभाविक ही है प्रवृत्ति बनावट है। थक कर निवृत्ति होते हैं और फिर निवृत्ति से प्रवृत्ति में आते हैं। इसको ठहराव कहते हैं पीछे को आओ दौड़ में तो अशान्ति ही अशान्ति है प्रवृत्ति में थकान है, थकान के बाद निवृत्ति है उसमें आराम है। प्रवृत्ति निवृत्ति से ही होती है।

एक विषय काम है जो कि सब जन्मों में ही रहता है "विषय भयानक विष है" विचार सागर में कहा है "लखि विष सम विषयन ते भागे" यह भाव तो (पिरहेज) संयम का है नफरत का नहीं। कोई भी सुख ऐसा नहीं जो त्याग और वैराग्य में न प्राप्त हो। तू लोटा खाली कर हवा स्वयं ही भर जायगी। अपनी ही खाल में मस्त हैं हम शेरों की तरह। देने जैसा कोई सुख नहीं लेने जैसा कोई दुःख नहीं। मांगने से तो भगवान भी कम हो जाते हैं। भगवान अर्जुन से कहते हैं कि जो सब आशा छोड़ कर सब कामना वासना तोडकर प्रीतिपूर्वक मुझे भजता है ऐसा मेरा भक्त कभी नाश नहीं होता। इस सृष्टि में मानव की कीमत की कोई चीज नहीं परन्तु यह अपने आपको दीन हीन विषय वासना में झुलसा हुआ समझता है। चाहे कोई सम्राट हो या चक्रवर्ती उसकी भी दो ही आँखें है और एक चारपाई पर सोता है। पुण्य जब नाचता है तो हृदय विशाल हो जाता है। राजा की लाख रुपये की हानि हो जाए उसे परवाह नहीं।

बच्चों का यह खेल नहीं बेदाने, मुहब्बत
आए जो यहाँ सर पै कफन बांध के आए

मानव जन्म का कोई मूल्य नहीं स्वयं ही उन्नत है।

मक्सदे-जिन्दगी समझ कीमते-जिन्दगी न खो

धन को नहीं खरीदा जा सकता, धन से चीजें खरीदनी हैं। कानों की वजह से रेडियो ग्रामोफोन हैं, आँखो के कारण रंग रूप है। इसलिए-

"कहीं जम न जाए नजर तेरी इन्हीं चन्द नक्शोनिगार" परमेश्वर की इबादत कर वह ऐन चैतन्य है जड़ नहीं। पर चट्टान में चेतन आ जाए तो वह भी चैतन्य है। हम लोग रूप पर ख्याल को टिकाते हैं। हमारा उद्देश्य बाहर की दौड़ नहीं अन्तर्मुख होना है।

बुल्ले शाह हकीकी अन्दर
आप मस्जिद आये मन्दिर
खोल दरवाजा ताकीदा
पी जाम प्याला साकीदा
क्यों ओले वह वह झाकीदा
ओ पर्दा किस दी राखी दा।

इस दर पै वजद हाल सिजदे की जरूरत है,
अगर दिल नहीं झुकता तो गर्दन ही झुकादे।

वे शाखायें झुक जाती हैं, जिनको फल लग जाता है। आँखें इसलिए बन्द की जाती हैं कि परमेश्वर को अच्छी तरह देख लिया जाए। खिड़कियां इसलिए बन्द की जाती हैं कि दीपक की लौ सीधी रहे।

एक बार उसका सामना होके फिर कभी सामना नहीं होता। तमाम खिड़कियां बन्द करके दर्पण में अपने को अच्छी तरह देख ले, आँख खुलने पर कोई तो लिबास पहनना ही है। कोई भी ख्याल का लिबास तुझमें आएगा। ख्याल को एकाग्र करके उसे प्रसन्नता में भी न भूल और मृत्यु के समय में भी न भूल। उसका चाँद को भी लज्जित कर देने वाला सौंदर्य है।

गुल को है नाज नजाकत चमन में ऐ जौक,
तूने देखे ही नहीं नाज़ो नजाकत वाले।

हाथों की इबादत है कि प्यारे के नाम पर कुछ दे। आँखों की इबादत है प्रभु के दर्शन कर। कानों की इबादत परमेश्वर का गुणगान सुन। पावों की इबादत है परमेश्वर के तीर्थ स्थानों पर जाना। मुझे मुफ्त में ही यह सब पूंजी मिली है।

भई प्राप्त मानुष देहुरिया
गोविन्द मिलन की ऐ तेरी वेरिया

परमेश्वर की जात ला शरीक है। गुरुदेव को भी हम परमेश्वर मानते हैं इसलिए ला शरीक कैसे हुआ ?

कहो नानक प्रभ ऐहो जनाई
बिन गुरु मुक्त न पाइये भाई।

जिस तरफ दिल दिमाग चलता है मृत्यु के समय भी उधर को ही जाएगा। यह आध्यात्मिक धन का वैभव तो गुरुभक्तों के ही लिए है। वे इबादत में शान्ति से बैठेंगे। उनके लिए धन का उपयोग भी सार्थक है अगर सूम है तो यह वैभव और भी उसकी दुर्दशा करेगा। धन बड़ा हो गया तो क्या फायदा। राम नाम के जप से जितने भी मानव में पुर्जे हैं पलटते हैं।

दिल गनी हो तो रंज भी राहत का सांमा है
जेन मुफलिस हो तो,

फकीर होना पाप नहीं, दीन होना पाप है। संसार में दो ही बड़े डॉक्टर हैं एक संयम नियम दूसरा प्रसन्नता। चौरासी लाख योनि में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं जो हँस सकता हो इसलिए अपनी महानता को पहचानो।

(पृष्ठ १३ का शेषांश)

तो सदा इन पर राज्य करना होता है। उसकी सत्ता पाकर ही तो यह सब कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यदि इस मन को अपने नियन्त्रण में रखें तो यह आपका ही दास बनकर प्रत्येक कार्यसिद्धि में सहायक होता है। इसके बिना भी तो कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

तुम तो इस मन के स्वामी हो। स्वामी को कौन दबाकर विक्षुब्ध कर सकता है ? सो किसी ने तुमको नहीं दबाया। जरा हिम्मत करो और सजग होकर पूरे विश्वास के साथ सिंहनाद करो कि सर्वत्र मेरी ही सत्ता पूर्ण है। यह सब जगत के कार्य कलाप मेरी ही सत्ता द्वारा पूर्ण हो रहे हैं। श्रुति भगवती कहती है:—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

उस स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप परब्रह्म के प्रकाशित होने पर ही सूर्य, चन्द्रादि सब लोक प्रकाशित होते हैं और उसी की ज्योति से यह सम्पूर्ण जगत आलोकित है। उस ज्योति का मूल स्रोत वास्तव में मेरा ही स्वरूप है जिसका हस्तामलकवत् दर्शन कर आज मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ। इसप्रकार महापुरुषों की कृपा अनुकम्पा से इस आनन्दमय प्रकाश और विश्वास प्राप्तकर जिज्ञासु महा आनन्द का अनुभव करके जयजयकार का उद्घोष करता हुआ कहता है कि धन्य हैं मेरे गुरुदेव और उनकी आत्म-दर्शन करने वाली शक्तिरूप वाणी जिसके प्रताप से मुझे आत्मअनुभव निरावरण रूप से सहज ही हो रहा है।

अखण्ड चिन्तन-धारा

आनन्द यदि अपने में नहीं तो स्वप्न में भी नहीं। जब तक मन स्थिर न होगा तब तक शान्ति न होगी। जब तक कामना है तब तक शान्ति नहीं। हम स्वप्न के भी आधार, अधिष्ठान, द्रष्टा हैं। बाहरी पदार्थों में आनन्द नहीं है। जैसे बिजली जहां लय हुयी तो अंधेरा है। अंधेरे का ज्ञान भी उजाले से है। ज्ञान से अज्ञान जाना जाता है। अपनी अस्ति मानकर कहता है "मैं अज्ञानी हूं," परअज्ञानी मैं नहीं हूं। अज्ञान में मैं हूं, इसलिए अज्ञान को जानता हूं। यह सरल तरीका जानने का, भगवत्-प्राप्ति का है। पर तुमने सीधे को टेढ़ा बनाया है।

वास्तव में जो व्यक्ति आनन्द को पाने के लिए संसारी किसी साधन को अपनाते हैं उन्हें आनन्द तो मिल नहीं पाता, उल्टे वे बाहरी बातों के फेर में जकड़ जाते हैं। विषय को आधार मानकर उनसे सुख पाने की आशा रखना निरर्थक है। विषय जब स्वयं स्थिर नहीं रहते तो उनके ऊपर टिकने वाली कोई भी चीज स्थिर नहीं रह सकती। इसीलिए विषयों पर आधारित सुख भी थोड़ीदेर के लिए प्रतीत होता है। विषय थोड़ी देर के लिए स्थिर प्रतीत होते हैं और इसके बाद बदल जाते हैं। जिसे शाश्वत सुख, परम आनन्द को पाने की लालसा है वह विषयों पर आधारित सुख का त्याग कर दे। भगवान् भी गीता में इसका उल्लेख करते हैं—"अपनी सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर आत्मा में ही सन्तुष्ट रहो।" आत्म-सन्तुष्ट को ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है। आत्म-सन्तुष्ट व्यक्ति का ही मन स्थिर रह सकता है। और यह सब कामना के कारण से हो रहा है। कामना ही सब अनर्थों का मूल है।

आत्मा ही सर्व का अधिष्ठान, साक्षी है। यह साक्षी रूप आत्म-तत्त्व एकरस हुआ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यहाँ तक कि 'ज्ञान-अज्ञान' दोनों को यह प्रकाशित करने वाला है। जिस समय व्यक्ति अपने अज्ञान को जानता है तो वहाँ पर भी उसकी अज्ञान्-दशा को प्रकाशित करने वाला साक्षी उसका अपना आप ही है। अज्ञानी बनकर कोई भले अपने ऊपर अज्ञान-दशा का आरोपण कर ले, परन्तु वास्तव में वह अज्ञान को जानने, समझने वाला है। इसी विचार को लेकर यहाँ यह कहा गया है कि मैं अज्ञानी नहीं हूँ बल्कि अज्ञान को भी देखने जानने वाला हूँ। जिस समय इस प्रकार का साधन चलेगा उस समय किसी प्रकार की कठिनाई न होगी। भगवत्-प्राप्ति का इससे अच्छा और सरल उपाय क्या हो सकता है? परन्तु लोग अपनी नासमझी के कारण इसे उल्टा मार्ग समझ बैठे हैं और सीधे को टेढ़ा बना देते हैं। साधन वक्र हो जाय तो अपने निश्चित मार्ग तक पहुचने में समय लग जाता है। कुछ लोग तो इस परिस्थिति को जानते भी हैं परन्तु अपने किसी हठ के कारण छोड़ने को तैयार नहीं होते। जो अन्दर-बाहर समान रूप से सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है उसको पाने के लिए तो सीधा और सरल मार्ग ही हो सकता है। यदि अपने अज्ञान के कारण कोई इस बात पर ध्यान न दे तो वह फिर भटकता ही रहता है।
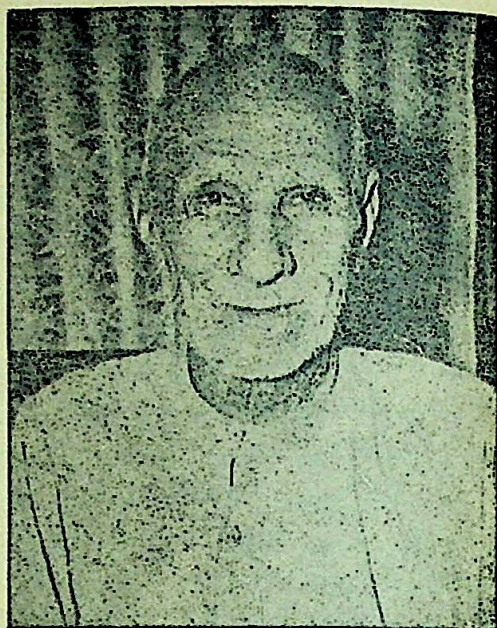
इससे यह स्पष्ट होता है कि शाश्वत सुख पाने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं। भगवान् को कहीं बाहर जाकर पाना नहीं। सब कुछ अपने भीतर ही है, कोई पाने का सच्चा जिज्ञासु झांककर देखे तो। ●

मैं कौन हूँ ?

* वेदान्ताचार्य श्री स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी, दिल्ली

प्रश्न— मै कौन हूं ?

यह प्रश्न इतना गम्भीर है कि शब्दों के अन्तर्गत इसको नहीं तोला जा सकता। केवल वाणी द्वारा अपने आप का अनुभव होना दुष्कर है। मनसो जवीय: अर्थात् जहाँ मन वाणी का अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता। मन-वाणी से परे, समस्त इन्द्रियों का अविषय पर जिसकी प्रेरणा से सबमें क्रियाशक्ति का संचार होता है, वह चेतन स्वरूप शक्ति ही मैं हूं। जिस प्रकार विशाल वृक्ष के तने वा टहनियों को आम का रस ग्रहण करने के लिए त्यागना पड़ता है। आम के रस के सिवाय छिलके, गुठली आदि किसी से भी हमारा प्रयोजन नहीं रहता। केवल आम के रस की इच्छा होती है। परन्तु वास्तव में देखा जाए तो इन सब के विना रस की प्राप्ति असम्भव है और जब रस ले लेते हैं तो यह सभी वस्तुएँ महज ही त्याज्य हो जाती हैं। वैसे ही जिज्ञासुओं की बुद्धि में सार का निश्चय कराने लिए शब्दातीत अवस्था के अनुभवार्थ प्रथम थोड़ा बहुत शब्दों का आसरा लेना पड़ता है। फिर शब्दों के द्वारा ही अशब्द अवस्था का अनुभव होता है। अत: समझाने के लिए गुरुदेव कहते हैं कि तू सच्चिदानन्द स्वरूप है, सबको सत्ता देने वाला है, सबका प्रकाशक, सबका अधिष्ठान, सुखरूप, त्रिकालाबाध, सबका स्वामी पर स्वयं सबसे असंग, चेतनामात्र वा परमानन्द रूप तू ही है। इस प्रकार तत्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा इसको अपने आप का ज्ञान कराया जाता है।

शंका— हे भगवन्, स्वयं सुख स्वरूप होते हुए भी मैं इतना विक्षुब्ध क्यों रहता हूँ ?

ससांर में किसी ने तुम्हें विक्षुब्ध नहीं किया, यह सब तुम्हारे अपने मन की छाया है। अज्ञान के कारण तुम्हारे मन में संदेह पैदा हो गया है। जैसे स्वप्न में किसी ने देखा कि मुझे अमुक व्यक्ति मार रहा है और जाग्रत में उसी का चिन्तन करने लगा कि इसने मुझे क्यों मारा ? इसका मेरा पिछला सम्बन्ध तो नहीं आदि मनचाही अपने ही मनौत द्वारा कल्पित कल्पनाओं को रच कर दुःख का अनुभव करने लगा। वास्तव में यह है ज्यों का त्यों, किसी ने उसे असल में कुछ नहीं किया; किसी ने उसे मारा नहीं। अब उसे क्या कहें ? उसको इतना ही समझाना कि उस व्यक्ति का मारना स्वप्न में होने के कारण मिथ्या ही है। मन से संशय निकल जाय। यही साधन उसको उस संशय से मुक्त कर सकता है।

शरीर को तो किसी ने बांधा नहीं जो इसे मुक्त करना है। यह तो उन बाह्य पदार्थों की आसक्ति में जुड़ा है जिनके साथ वास्तव में स्वरूप से इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं। पर मन से मनौत कर कि यह मेरा घर, मेरा धन, सम्बन्धी, और शरीर है। इन्हीं में सत्य-बुद्धि और इन्हें ही अपने सुख का आधार मान कर फंस गया। इनमें से जरा भी कोई चीज इधर उधर हुई तो इसका चित्त सिकुड़ गया। अन्तर के भाव झट चेहरे पर भी प्रकट हो गये और यह नीला पीला होकर शोकातुर रहने लगा। अब बाहर से तो इसे किसी ने नहीं बांधा या दुःखी किया परन्तु जब चित्त में जकड़ होती है तो उस पकड़ से मनुष्य छूटे नहीं छूटता। यह पकड़ तभी दूर हो सकती है जब कोई परोपकारी महापुरुष अपने ज्ञान भरे शब्दों द्वारा इस संशय रूप मिथ्या भ्रम को निकाल कर मुक्त कर दें तब यह अपने आप को सब नाम, वर्ण, आश्रम तथा देह-गेह से न्यारा, ज्ञान स्वरूप, असंग निर्भय समझकर आनन्द पूर्वक विचरने में समर्थ हो सकता है। चित्त की यह आनन्द रूप अवस्था ही जीवन-मुक्ति है। शेष यह मन और इन्द्रियां तो आपके दास हैं जो निरन्तर आपकी सेवा करते हैं। मालिक का काम

(शेष पृष्ठ ११ पर)

उपकार का बदला

श्री जगदीश पाण्ड्या, पाण्डिचेरी–२

रात थी। समुद्र किनारे पर शान्त था। केवल तरंगों की घूंधवाट के अतिरिक्त और कुछ न सुनाई देता था। समुद्र किनारे पर स्थित कितनी ही नौकाएं वीरान पड़ी थीं हिले-डुले बिना। आकाश तारों से भरपूर था जिसकी शोभा अनोखी लग रही थी। समुद्र किनारे से काफी दूरी पर कितनी ही झोपड़ियाँ थीं। एक-दो झोपड़ियों में टिमटिमाती बत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हो रही थीं।

आधी रात के पश्चात् चन्द्रमा, पूर्व दिशा में उग निकला तब निस्तब्ध वातावरण की शोभा में एक अनोखी बहार खिल उठी। सूना-सा वातावरण भरा-भरा सा हो गया। तरंगों में नयी स्फूर्ति आ गई। समुद्र किनारे पर पथराई बालु भी चन्द्रमा के प्रकाश में चमकने लगी।

उसी समुद्र किनारे पर चलते हुए एक ऋषिकुमार आ रहे थे। शान्त और शीतल वातावरण में, समुद्र में उठती तरंगों को ध्यान से निहारते हुए वे मन्द गति से चल रहे थे। वे श्वेताम्बर धारण किये हुए थे। उनके एक हाथ में कमण्डल था। उनके तेजोमय मुख-मंडल से चाँदनी सी आभा बरस रही थी।

वे चलते ही रहे। वे झोपड़ियाँ और उनमें टिमटिमाती दो–तीन बत्तियाँ भी आँखों से ओझल हो गई तब तक वे चलते रहे। पाँच-दस कोस की दूरी पर स्थित अपने निवास-स्थान को छोड़ कर वे इस चाँदनी के मधुर सौंदर्य का उपभोग करते समुद्र को देखने और उसकी गर्जना को सुनने के लिए आतुर बन कर आये थे। कितने दिनों की कामना को उन्होंने पूर्ण करके ही छोड़ी।

वे इस समुद्र किनारे से बिलकुल अज्ञात थे। अपने जीवन में एक स्थान में बैठ कर तपस्या करने के सिवा उन्होंने कुछ न किया था। तपस्या के द्वारा ही उन्होंने पूर्ण–ज्ञान प्राप्त किया था। ईश्वरान्वेषण ही उनका ध्येय था।

उनकी दृष्टि समुद्र क्षितिज की ओर ही गड़ी थी। वे उसी में, चलते-चलते भी ध्यानस्थ थे। "ईश्वर की बनाई इस सृष्टि की सुन्दरता कितनी अद्भुत है! आहा! अद्भुत! अद्भुत!"– ऋषिकुमार के मुख से उद्गार निकल पड़े। एक ओर संसार और उसका मायावी जाल, एक ओर परमानन्द प्रदान करने वाली सृष्टि और उसमें से हनन कर बरसता अखंड-दिव्य प्रेम प्रवाह, कितना भेद!

ठक......एक ठेस लगी ऋषिकुमार को और गिर पड़े। एक बडे खड्डे में जिसमें बहुत से पत्थर और कितने दिनों का गंदा पानी इकट्ठा हुआ था। निशा-सौंदर्य को देखने में मग्न ऋषिकुमार अपने सामने आते विशाल खड्डे को देख न पाये। फलस्वरूप गिरे। दोष न तो खड्डा का था, न सृष्टि का। उनके मुख से उद्गार निकल पडे–"हे भगवान्!"

ऋषिकुमार के पैर में लग गया था। उठना और खड्डे से बाहर निकलना उनके लिए अशक्य था। उन्होंने बाहर निकलने का प्रयत्न तो अवश्य किया पर निकल न पाए।

चाँद उपर चढ़ चुका था। ऋषिकुमार चाँद को गौर से देख रहे थे। अब चाँद के सौंदर्य की अलौकिकता अद्भुत थी।

काफी समय बीतने के पश्चात एका-एक एक छोटा वहाण क्षितिज पर दिखाई दिया। वहाण को किनारे पर आते देर न लगी। कुछ ही काल में वह किनारे पर आ गया। वहाण के लोग और कोई नहीं, दरियाई लूटेरे थे। वहाण से निकल कर वे लूटेरे यत्र-तत्र घूमने लगे। उन लोगों का अधिपति छोटी दाढ़ी वाला, तगड़ा और देखने में भयंकर था। शराब पीने के फलस्वरूप उसकी आँखें हमेशा लाल बनी रहती थीं। उन लोगों ने अपना कुछ लूटा हुआ सामान बाहर निकाला और कुछ दूरी पर स्थित अपने एक गुप्त स्थान में छुपा दिया। अपना कार्य शेष होने के पश्चात् वे लोग अपने वहाण में चढ़ने लगे। दो–तीन लूटेरे अभी वहाण में चढ़ने के लिए आ रहे थे। उनमें से एक लूटेरा उसी खड्डे में गिरा जिसमें ऋषिकुमार गिरे थे। उसके गिरने के फलस्वरूप ऋषिकुमार को बहुत आघात लगा। फिर भी उन्होंने वेदना की एक भी आह तक मुंह से न निकाली। उसके अतिरिक्त उन्होंने उस लूटेरे से पूछा–"वत्स: तुम्हें चोट लगी मुझे क्षमा करना।"

उस लूटेरे को बाहर निकाला गया और उसके साथ उस ऋषिकुमार को भी बाहर निकाल दिया। किन्तु उन लुटेरों ने ऋषिकुमार को कैद कर लिया और वहाण पर चढ़ा दिया। उन लूटेरों का अधिपति जिसका नाम आदिगुप्त था इस बात से अज्ञात था। जब ऋषिकुमार को आदिगुप्त के सामने लाया गया तब वह आश्चर्यचकित रह गया। ऋषिकुमार का तेजस्वी मुख-मण्डल, आँखों से बहती शाँत और दिव्य तथा शीतल रोशनी, ऐसा सुन्दर और तेजस्वी पुरुष उसने पहले कभी न देखा था। उसने जब अपने साथियों से ऋषिकुमार के विषय में पूछा तब उसके साथियों ने वर्णन करते हुए सब कुछ बता दिया। इसे क्रोधी और नीच आदिगुप्त को भी ऋषिकुमार की इस भव्यता और स्थिति पर दया आ गई। किन्तु वह कुछ कहे उसके पूर्व ही उसके साथियों ने कहा—"सरदार! यह युवक देखने में भव्य है, उसकी वाणी भी मीठी और मधुर है, लगता है कोई बतीश-लक्ष युवक हो। यदि इस युवक की बलि हमारे इष्ट-देव समुद्र को चढ़ायी जाए तो इष्ट-देव की हमारे पर अधिक कृपा हो सकती है। सरदार! तुम्हें यह करवाना ही होगा।" अपने उच्छृंखल साथियों के शब्द सुनकर आदिगुप्त चौंका। वह तो कह नहीं सकता था। उसने "हां" कह दिया, यह समझ कर कि उसके साथी नाराज न हो जायं और उसको छोड़ कर चले न जायं। आदिगुप्त का हृदय आज प्रथम बार ग्लानि से भर उठा। रात की शोभा अब भी ऐसे ही छाई हुई थी। चन्द्र अब भी सारी सृष्टि पर चन्द्रिका की वर्षा करता हुआ मलक-मलक हंस रहा था। वहाण ऋषिकुमार को लिए दूर-दूर समुद्र में चला गया। लूटेरों के भय से ऋषिकुमार डरे नहीं, वे ऐसे ही शान्त और स्थिर बने रहे।

समुद्र को ऋषिकुमार का बलिदान करने के लिए लूटेरों ने एक दिन तय कर लिया। सरदार आदिगुप्त इस बात पर चुप था। ऋषिकुमार भी चुप थे।

कितने ही दिन बीते। अब केवल एक ही दिन बाकी था। उस रात ऋषिकुमार एक कोठरी में शान्ति से बैठे थे। वहाण में शान्ति थी। लूटेरे भर नींद में सो गए थे। तब आदिगुप्त चुपके से उठा। उसके दिल में ऋषिकुमार के लिए प्यार उद्भुत हो चुका था। उनकी भव्यता से वह आकृष्ट था। दया के अंकुर ऋषिकुमार के प्रभाव से उसके सारे तन-मन में फूट चुके थे। वह सीधा उस कोठरी में पहुँचा जहाँ ऋषिकुमार शान्ति में बैठे थे।

कोठरी का दरवाजा खुलते ही ऋषिकुमार ने दरवाजे की ओर देखा। एक व्यक्ति खड़ा था। व्यक्ति उन्हें गौर से देख रहा था। ऋषिकुमार को, उस व्यक्ति के हाव-भाव देख कर उसमें उद्भूत विचार और आन्तरिक भावना को समझते देर न लगी। उन्होंने उसके सामने स्मित किया। उस व्यक्ति ने भी स्मित किया।

"वत्स: तुम क्या चाहते हो?"—रस-फुहार उड़ेलता ऋषिकुमार का स्वर सुनकर आदिगुप्त ने चारों ओर देखा। उसने इंगित करके ऋषिकुमार को उसके पीछे-पीछे आने को कहा।

ऋषिकुमार उठकर उसके पीछे जाने लगे। एक छोटी-सी नौका वहाण के बाहर निकाल कर रख दी गई थी जो पानी में डोल रही थी। ऋषिकुमार को लिए वह उसी स्थान में पहुँचा। पवन जोर से बह रहा था। कुछ काले बादल घिर कर आ गए थे। तरंग हिलोरें ले रही थीं।

"मैं इस वहाण का कप्तान हूँ। मैं नहीं चाहता कि तुम जैसे सुन्दर और तेजस्वी युवक का वध हो। मैं तुम्हें बचाना चाहता हूँ। तुम इस छोटी सी नौका में बैठ कर दूर-दूर चले जाओ। मैंने तुम्हें जीवनदान दिया है, जीवित रहना तुम्हारा काम है। जाओ दोस्त"—आदिगुप्त ने अत्यन्त धीमे स्वर में ऋषिकुमार के कान में कहा। फिर ऋषिकुमार को तरणी में उतार दिया। तरणी में उतरने के पश्चात् ऋषिकुमार ने आदिगुप्त के सामने कितने ही क्षणों तक देखा। फिर ऋषिकुमार हलेसा लगाते हुए दूर-दूर निकल गये। आदिगुप्त उनको कितनी ही देर तक देखता रहा। उसका हृदय आनन्द से भर गया था। अर्द्धचन्द्र से बरसती चाँदनी में अब उसको एक अनोखी बयार महसूस हो रही थी।

दिन बीतते देर नहीं लगती । एकके बाद एक दिन बीतने लगे महीने बीते । वर्ष-बीते ।

एक दिन वह ऋषिकुमार जो लूटेरे के पंजे से कितने वर्ष पहले छूट गये थे, उसी समुद्र किनारे पर बसे एक राज्य में घूमने फिरने आ निकले । वह राज्य राजा शंतकुमार के आधिपत्य में था । शंतकुमार चतुर, ज्ञानी, दयालु न्यायी और दानवीर थे । अपने घर आये किसी अतिथि को या भिक्षु को वह निराश होकर नहीं जाने देता था ।

ऋषिकुमार उसके राज्य में, एक ब्राह्मण के घर अतिथि बन कर रहे ।-

उसी ब्राह्मण के घर उनके सुनने में आया कि राजा शंतकुमार ने छुपके-छुपके और करामत से कितने ही दरियाई लूटेरों को हरा दिये हैं और कितने को कैद कर लिया है । परसों उन सबों को फाँसी दी जायगी ।

ऋषिकुमार को, ऐसी बातें सुन कर उन दिनों की याद आ गई जब वे लूटेरे के हाथ में फंस न गये थे और आदिगुप्त नाम के एक लूटेरा ने उनकी जान बचाई थी ।

एक उपकार किया था उस लूटेरे ने उनके ऊप । वे उसी रात उठे और जबकि सारा राज्य भर नींद में था, वे राजा शंतकुमार के पास पहुँचे । शंतकुमार भी मीठी नींद में था । "महाराज ! महाराज ! किसी ने उस को पुकारा । उसकी आँखें खुल गई । "कौन"-उसने प्रश्न किया । "महाराज ! एक तेजोमय मुख-मण्डल वाले ऋषिकुमार आप से इसी समय मिलना चाहते है ।" "निश्चय ! उन्हें ससम्मान शंतकुमार के सामने उपस्थित करो ।" ऋषिकुमार को ससम्मान शंतकुमार के सामने लाया गया ।

"राजन् ! मैं आपके द्वार पर भिक्षुक बन कर आया हूँ"-ऋषिकुमार ने अत्यंत गंभीर होते हुए कहा ।

ऋषिकुमार के तप से प्रकाशित नेत्र और ईश्वरी तेज की आभा से रोशन मुख-मण्डल देख कर प्रभावित हुए शंतकुमार ने कहा-"देव ! मेरा अहो भाग्य कि आप मेरे द्वार पर भिक्षुक बन कर आवें । मैं आप से प्रभावित हूँ । आपकी इच्छापूर्ण करना और किसी भी प्रकार की सेवा करना मैं अपना धन्य भाग्य समझूंगा ।"

"वत्स आपने अपने कौशल से कितने ही दरियाई लूटेरों को कैदी बना दिया है, मै उन सब कैदियों को देखना चाहता हूँ ।"

शंतकुमार को ऋषिकुमार की ऐसी इच्छा सुनकर आश्चर्य हुआ अपितु, उसने तुरन्त स्वीकार कर लिया । उसी रात शंतकुमार उन ऋषिकुमार को ले कर कैद खाने में गया जहाँ दरियाई लूटेरों को कैद में रखा गया था ।

ऋषिकुमार ने हरेक लूटेरे को देखा । उनमें से केवल एक लूटेरे को पसंद करते हुए कहा-"राजन् ! इस लूटेरे का दान कर सकोगे ! मैं उसको अपने साथ रखना चाहता हूँ । एक दिन मैं उसे एक व्यक्ति में परिणत कर दूंगा ।"

"अवश्य, अतिथि देव ।"

शंतकुमार ने उस कैदी को दान दिया ।

ऋषिकुमार उस कैदी को लेकर उसी रात उस नगर से निकल पड़े । वह कैदी और कोई नहीं आदिगुप्त था । ऋषिकुमार और आदिगुप्त एक दूसरे को पहचान गये थे ।

आदिगुप्त ने अपने को ऋषिकुमार के चरणों में समर्पित कर दिया ।

अर्धाकार चन्द्र आकाश में उग निकला ।

आदिगुप्त को वह चन्द्र एकदम नया सा लगा ।

एक अनोखी मादकता और शीतलता उसको महसूस हुई चन्द्र से बरसती चन्द्रिका में······

मौत की आवाज

श्री स्वामी निजानन्द 'त्यागी,' पुखरायां,कानपुर

(स्वनाम धन्य 'भारत' ऐसी पवित्र मेदनी ने सदैव से तत्वज्ञ मर्मज्ञ एवं पथ प्रदर्शक विभूतियों का जन्म देकर मानव मात्र को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का स्वरूप प्रदान कर प्राणिमात्र का कल्याण किया है। इसी पुण्य पुञ्ज वसुन्धरा पर भगवान बुद्ध, ईसा, महावीर तथा जगदगुरु भगवान शंकराचार्य ने अवतार लेकर सत्य सनातन धर्म की पताका फहराई। उन्नीसवीं सदी में स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द तथा महात्मा गान्धी ऐसी विभूतियों ने जन्म लिया और भारत (भा+रत) ('ब्रह्मरत') ऐसे नाम को अपनी अलौकिक प्रतिभा से सम्पूर्ण विश्व में अग्रगण्य रक्खा।

आज हमारे बीच से एक महान् विभूति स्वनाम धन्य श्री स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज, एम० ए० का अचानक कार दुर्घटना के कारण देहावसान हो गया। अस्तु पूज्य स्वामी जी की श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए 'मानव जाग सोसायटी' को समर्पण करते हुए अखिल ब्रह्माण्ड नायक परम पिता परमेश्वर से निवेदन है कि पूज्य स्वामी ने जो कार्य किये तथा समाज के कल्याणकारी पहलुओं को अपनाया था उसको वह पूर्ण करें। ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमानन्द ने ३४ वर्ष की अल्पायु में जो कार्य किए हैं उसके लिये हम सभी चिरकाल तक ऋणी रहेंगे। स्वामी राम की भाँति आप ने भी भौतिकता की गोद में सोने वाले अमेरिका इंगलैण्ड ऐसे देशों को वेदान्त की टंकार से अनेक वार जगा चुके थे। उन्होंने सम्पूर्ण भारत में घूम घूम कर अध्यात्म ज्ञान का प्रचार किया। अनेक सम्प्रदायवाद को मिटाने के लिये आपने वेदान्त का ही ढिंढोरा पीटा जिससे कि सम्पूर्ण धर्मों की एकता हो सके। अस्तु ऐसे ब्रह्मलीन सन्त के श्रद्धांजलि स्वरूप 'वाद मरने के पैगाम आया" शीर्षक नामक लेख अपने प्रेमी पाठकों के प्रति प्रस्तुत करता हूँ।)

संसार में सबसे भयावह तथा सशंकित करने वाली थी केवल एक ही आवाज और वह है 'मृत्यु'। सचमुच यह इतनी क्रूर कठोर तथा निर्दयी है कि बाल, युवा, वृद्ध ज्ञानी, अज्ञानी तथा और भी जितनी चौरासी लाख योनियाँ है किसी पर इसको रहम नहीं आता है। इससे यही सिद्ध होता है कि दुनियां में यदि कोई महान् शक्ति है तो केवल मृत्यु ही है। अब हमें यह भी विचार करना है कि मृत्यु नाम की महान शक्ति का कोई उद्‌गम स्थान है या नहीं। क्योंकि बिना शक्तिमान केशक्ति का प्रादु-र्भाव होना असम्भव होगा। हर कार्य के पीछे कारण अज्ञात अथवा ज्ञात रूप से छिपा रहता है। इसी प्रकार मौत का अधिष्ठान् (अमरता) कारण रूप हैं, जिसको कि हम अपरिवर्तनशील सत्ता कह सकते हैं, अथवा ब्रह्म या अनन्त पुरुष कह सकते हैं। मौत परिवर्तनशील सत्ता है (कार्यरूप) अथवा माया या अनादिसान्त प्रकृति कह सकते हैं। उपरोक्त दोनों सत्ताओं का परस्पर इतना अधिक गाढ़ा सम्बन्ध है कि यह बिना एक दूसरे के पूर्ति से किसी का नामकरण ही नहीं हो सकता है।

जन्म-मृत्यु का अज्ञान भी तो कारण हो सकता है। अज्ञान भी अनुत्पन्न और अनादि है, अस्तु इन सभी से किसी प्रकार के कर्म करने से छुटकारा नहीं मिल सकता है। क्योंकि ब्रह्म, जगत, ईश्वर और माया का भेद भी अनादि है। इन अनादि वस्तुओं के भी भेद हैं। एक तो वह है जो अब अनुत्पन्न अनादि और अनन्त है। दूसरी सत्य सत्ता में प्रतीत होने वाली अनादि सान्त माया और उसका कार्य सृष्टि (जन्म मरणादि है। इस परिवर्तन-शील सत्ता का स्वतन्त्र अस्तित्व किंचित मात्र भी नहीं है परन्तु फिर भी अपरिवर्तनशील सत्ता के साथ प्रतीत होती रहती है : इस असत् प्रतीति में सत् का कुछ नहीं बिगड़ता। जिस प्रकार असत् आभूषणों के टूट जाने पर सोना अपने सत् रूप में ज्यों का त्यों है।

इसी प्रकार ज्ञानी सन्त महात्माओं का शरीर नष्ट होता है परन्तु अपने को फिर भी अमर मानते हैं। यही कारण है कि यती का शरीर जलाया नहीं जाता है भू समाधि अथा बजल प्रवाह करते हैं। कारण कि ज्ञान अग्नि के द्वारा वह अपनेशरीर को जला कर सत सत्ता में विलय हो जाता है। इसीलिये महापुरुषों को मरने के बाद ब्रह्मलीन ही लिखा जाता है। केवल मौत और जिन्दगी में इतना ही फर्क हैं जैसे ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमानन्द जी कहा करते थे :— मौत को मौत आ जावेगी यदि वह हमारे पास आने का विचार करेगी।

सर फट गया है गम का, खा खा के मुझसे टक्कर
अब गाड़ने को इसके तुर्वत बना रहा हूँ ॥

यह है ज्ञानियों की स्थिति, वह जानते हैं कि जीवन क्या हैं और मृत्यु क्या है।

कुछ तत्त्वों का मिलना ही जन्म है, और उन्हीं का पृथकत्त्व मृत्यु है। महापुरुष सदैव जो कहा करते हैं वही किया भी करते हैं। क्योंकि यदि आप से कहा जाय कि हम कभी नहीं मरते तो विश्वास न होगा। इसलिये जान कर ही मौत से टकराते हैं। मौत तो एक खूंख्वार विषधर की तरह है।जिसप्रकार सर्प कभी कभी मनुष्य को खदेड़ता है तो जो होशियार पुरुष होते हैं वह अपना कपड़ा डाल देते हैं। बस सर्प उसी कपडे में उलझ जाता है और वह व्यक्ति नौ दो ग्यारह होता है। इसी को गीता शास्त्र में भी कहा है :—

वाँसांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति
नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय, जीर्णा
न्यन्यानि नवानि देही ॥"

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का परित्याग कर नूतन वस्त्रों को ग्रहण करता है। उसी पकार यह जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर नवीन शरीर में प्रवेश करता है। अस्तु इस आत्मा को न अस्त्र काट सकते हैं। न वायु ही सुखा सकता है, न जल गीला कर सकता है। और न पावक ही जला सकता है। इसलिए जो कोई आत्मा को जन्मने और मरने वाला समझता है वह अज्ञानी है।

मृत्यु तो सदैव अज्ञानी को ही आती है परन्तु ज्ञानी को मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती, हैं। जल में डूबे हुए को देख कर लोग समझते है कि अमुक व्यक्ति डूब गया, परन्तु नहीं वह डूबा नहीं है जानकर पानी में गोता लगाया है। डूबना तो उसको सम्भव है जो तैरना नहीं जानता। तभी तो किसी को मरने का हर्ष होता है किसी को दुःख।

"जा मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द।
मरने ही से पाइए पूरण परमानन्द ॥"
"तुलसी इस संसार में मरे परे हैं झार।
मरे मरे को ले चले मर गये रोवन हार ॥"

इसीलिए कहा है कि ज्ञान के समान कोई पवित्र नहीं है। इस ज्ञान में विनाशता में सदैव निर्माण जागता है। मृत्यु में अमरत्व प्राप्त होता है।

जब से समझा की मौत का नाम जिन्दगी है।
कातिल को ढूँढ़ते हैं सर पे कफन बाँधे ॥"

माया का कार्य जन्म मृत्यु अज्ञानता है। यदि कोई चाहे कि इसकी प्रतीति समाप्त हो जाय तो ऐसा होना असम्भव है क्योंकि माया को अनिर्वचनीय कहा है अर्थात जिसका वर्णन न हो उसका नाम माया है। अस्तु यही जान लेना है कि हम कभी भी मरे और जन्मे नहीं। यदि हम एक भी बार मर जाते तो दुबारा जीना न होता। यों तो हम सब मरे हुये ही हैं परन्तु कमाल यह है कि मरे हुये भी संसार रूपी तमाशे को देख रहे हैं। जिस प्रकार किसी को फाँसी की सजा सुना दी जाती है और वह मौत की तारीख तक खाता पीता रहता है तो अब आप सोचो कि वह व्यक्ति जिन्दा खाता पीता तमाशा है कि मुर्दा ? इसी प्रकार इस संसार में जो कुछ बना है एक दिन जरूर बिगड़ेगा। इसलिए 'मैं' यह हूँ वह हूँ वह कुछ मत बनो और जब कुछ नहीं बनोगे तो सब कुछ होगे यहाँ तक कि हमारे परम गुरु का कहना है :—

सब कुछ भी बन के देखा कुछ भी न बन सका मैं।
जब बनना हमने छोड़ा भगवान् हो गया हूँ ॥
"जाना है निज को तो जाना कहाँ है।"
यही ज्ञान अमरता प्रदान करेगा ॥

★

मन बना सपेरा !

श्री "सैलानी", घाटमपुर (कानपुर)

जीवन के झोले में
दुनियाँ है सर्पिणी
अन्तर कर व्यथित अधिक देनी है फेरा ।
सँभल सँभल खेल रे
विष भरी भयंकरी ।
अन्दर-बाहर सभी उसका ही डेरा ।
मौहर है राग–द्वेष
उस स्वर तक के प्रदेश
भर भर फुफकारियाँ, कर दिया अँधेरा
काम का न खेल खिला
मोह का न दूध पिला
विष न उतरा इसके मारे फन—फेरा ।
यदि उसको छूट दी,
छाया कर धूप दी !
अग-जग जल-भुन रहे, अब तक की बेरा ।
गल–जल, युग–नखत झिरें
उड़-उड़ प्राण फिरें
शान्ति के निलय में उस क्रान्ति का बसेरा ।
सत स्वप्निल लोक लिए
सुबह लिये, शाम लिये
अम्बर के बीच ब्रह्म—बन गया नचेरा ।
देख ले न दृष्टि भर,
फैला कितना जहर
युग–युग तक के प्रहर, जन्म मृत्यु की लहर ?
माया मंत्र पढ़े
उससे विष और बढे
राम मंत्र जप-बच रे काल यह डसेरा ।
साध कर अकाम शस्त्र, विष—घड़ियाँ फोड़ दे,
ज्ञान—तार से नाथे, प्रेम—रस निचोड़ दे,
दाँत तोड़ फिर तोड़ो बन्धन का फेरा ?

धर्म का रहस्य

श्री प्रेमचन्द्र मिश्र, एम० ए०, इटावा

(गत जून अंक से आगे)

समन्वयात्मक दृष्टिकोण:-एक बात और विचारणीय है कि शास्त्रों ने प्रत्येक वर्ग एवं प्रत्येक आश्रम-धारी अपर-धर्मावलम्बियों को यह प्रमुख आदेश दिया है कि साथ साथ पर-धर्म का पालन सदा होता है। ब्रह्मचारी को ईश्वरोपासना का आदेश, गृहस्थ को भी, वानप्रस्थी को भी और सन्यासी को एकमात्र यह करना ही है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण को ईश्वर-भक्ति का आदेश दिया गया है। बस यही तो कर्मयोग वास्तविक धर्म है। यदि यही कर्म भक्ति रहित किये जायें तो लौकिक धर्म होगा। यदि ईश्वर भक्ति युक्त हो तो पर धर्म होगा। भावार्थ यह कि अपर धर्म स्वरूप वर्णाश्रम-धर्म में पर-धर्म स्वरूप ईश्वर-भक्ति संयुक्त (+) कर देने से पर-धर्म का ही परिणाम प्राप्त होता है केवल अपर या अगंतुक प्राकृतधर्म से ईश्वर प्राप्ति या माया-निवृत्ति की समस्या नहीं हल हो सकती। वर्णाश्रम विहित कर्म करते हुए ईश्वर प्राप्ति कैसे हो इसके लिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि-

(१) "करते कर्म करहु जग नाना॥
मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥

भागवत भी कहती है कि गोपियों का आदर्श पालन कर लौकिक कर्म करो जो गृहस्थी का सब कर्म करती हुई श्यामसुन्दर से निरन्तर प्रेम कर रही हैं।

(२) "या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेंखें-
खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठ्यो,
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥"

जैसे-विदेह (जनक) परमहंस राज्य-कार्य कर रहे हैं। जिनके संबन्ध में कहा जाता है कि एक हाथ नग्न स्त्री के स्तन पर किया तथा दूसरा आग में रखा है पर आप कहीं हैं। ध्रुव प्रहलाद ने भी इसी आदर्श को आत्मसात किया और अर्जुन भी इसी प्रकार युद्ध कर रहा है-

(३) "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धचच" (गीता)

अर्थात् प्रतिक्षण हमारा स्मरण करो और युद्ध करो। गीता में यही आदेश कई जगह आया है।

(४) "यो मां स्मरति नित्यशः"
(५) "तेषां नित्याभियुक्तानाम् "
(६) "एवं सततयुक्ता ये"
(७) "तेषां सतत्युक्तानाम्"

इत्यादि उपरोक्त वाक्यों से यही विदित होता है कि स्मरण निरन्तर करते हुए वर्णाश्रम-धर्म के साथ साथ पर-धर्म परमावश्यक है किन्तु कर्मसन्यासी तो वर्णाश्रम-धर्म का स्वरूपतः परित्याग कर देता है जो सर्वथा अनुचित-सा दीखता है क्योंकि भगवान् ने कहा है-

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः॥

अर्थात् मेरी वैदिक आज्ञा वर्णाश्रम-धर्म को जो नहीं मानता वह मेरा शत्रु है वह मुझे कैसे प्रिय हो सकता है, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर वेदव्यास ने भगवान् के मुख से ही दिला दिया है-

"आज्ञायैवं गुणान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥
(भा० ११-११-३२)

अर्थात् यद्यपि वर्णाश्रम-धर्म मेरी ही आज्ञा है एवं उसके उल्लंघन से दण्ड मिलता है तथापि जो उसका परित्याग कर मेरी भक्ति करता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भावार्थ यह कि ईश्वर-भक्ति युक्ति-युक्त व्यक्ति के लिए धर्म पालन का बंधन नहीं रह जाता जैसा कि श्रुति ने बताया है कि-

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।"
(कठ० १-२-१५)

अर्थात् वेद की सभी ऋचायें केवल ईश्वर की ओर ही प्रेरित करती हैं। शाण्डिल्य ऋषि भी कहते हैं–

(१) न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् ॥

अर्थात् जैसे ज्ञानमार्गी को कर्म की अपेक्षा नहीं है ऐसे ही भक्तिमार्गी के लिए कर्म अनिवार्य नहीं है। उसकी इच्छा पर निर्भर है कर्म करे या न करे। इसी कारण तो भक्ति को स्वतन्त्र बताया गया है। व्यास जी कहते हैं–

(२) "अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे"।
(भागवत ३-२९-१२)

अर्थात् भक्ति के ऊपर कर्म ज्ञान आदि किसी का आवरण नहीं रह सकता। रामायण के अनुसार–

(३) "भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख खानी।"
रूप गोस्वामी आदि रसिकों के मतानुसार–

(४) "अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्"।

अर्थात् ज्ञान, कर्म, तपश्चर्यादि से भक्ति अनाच्छन्न रहती ही है वह स्वतन्त्र ही एक प्रश्न आता है व्यास जी के अनुसार-

"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ व श्रद्धा यावन्न जायते॥
(भाग० ११-२०-९)

अर्थात् जब तक वैराग्य न हो जाय वर्णाश्रम का पालन करना चाहिए। इसका उत्तर भी व्यास जी ने दिया है कि भक्ति योग के अनुरूप वैराग्य प्रायः सभी को होता है–

"न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः–

अर्थात् भक्तियोग का विरक्त अधिकारी वही है जो अत्यन्त आसक्त हो न अत्यन्त विरक्त हो। चूंकि संसार में किसी को सुख मिल ही नहीं सकता अतएव सभी नातिसक्त नातिविरक्त हैं।

प्रश्न–यदि सभी नातिसक्त नातिविरक्त हैं तो कर्म का प्रतिपादन किसके लिए है?

उत्तर–इसके उत्तर में व्यास जी कहते हैं कि–
"मत्कथाश्रवणादौ व श्रद्धा यावन्न जायते"

अर्थात् जब तक भगवान् की कथा आदि में श्रद्धा न हो जाय तब तक कर्म किया जा सकता है अथवा केवल स्वर्ग प्राप्ति अभीष्ट हो तो वह कर्म कर सकता है अथवा जो इनेगिने घोर-संसारासक्त हों वे कर्म के अधिकारी हो सकते हैं।

एक प्रश्न यह भी आता है कि गीता कहती है कि

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"

अर्थात् अर्जुन! तुझे क्या करना है क्या नहीं करना है, इसका निर्णय शास्त्र देगा। भावार्थ यह कि तुझे शास्त्र की देशना का परिपालन करना चाहिए, पुनः गीता कहती है–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गी० १६-२३)

अर्थात् जो शास्त्र की बात नहीं मानता वह न इस लोक में सुख पाता है न परलोक में ही सुख पाता है और न परागति ही प्राप्त कर सकता है तो शास्त्र-विहित कर्म का परित्याग कैसे होगा?

इसका उत्तर तो इसी श्लोक में भगवान् ने दे दिया है कि जो 'कामकारतः" अर्थात् उच्छृंखलतावश विषयासक्ति के कारण शास्त्रोक्त-धर्म का उल्लंघन करता है वह निन्दनीय है किन्तु शास्त्रों के एक मात्र ज्ञेय, ध्येय प्रतिपाद्य ईश्वर की भक्ति करने वाले के लिए यह नियम नहीं लागू होगा। इसी आशय से व्यास जी भागवत में कहते हैं–

"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्"
(भा० १०-४६-४)

अर्थात गोपियों ने अलौकिक वैदिक दोनों धर्मों का परित्याग किया, पतियों की आज्ञा का भी उल्लंघन किया किन्तु चूंकि मेरे लिए किया है अतएव वे प्राणप्रिय हैं।

"गुरु बलि तज्यो कंत ब्रज बनितन,
भे सब मंगल कारी।"

सिद्धान्त यह है कि–

"मन्निमित्तं कृतं पापं मद्धर्माय च कल्पते।
मामनाहत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः॥"

अर्थात् मेरे निमित्त किया हुआ पाप भी धर्म हो जाता है किन्तु मुझको छोड़कर किया धर्म भी पाप हो जाता है। अब इससे अधिक स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है। नारद भक्ति सूत्र में नारद ने भी अपनी लेखनी से अंकित किया है कि लोकवेद का कर्म भक्ति में विक्षेप-रूप है। जिसे निरोध शब्द से स्पष्ट किया है कि–

"निरोधस्तु लोकवेदव्यापारत्यागः।
तस्मै अनन्यता। तद्विरोधिषूदासीनता च॥"

अर्थात् ईश्वर भक्ति में एक तो लौकिक-वैदिक का रोग नहीं होना चाहिए, दूसरे ईश्वर में अनन्यता होनी चाहिए, तीसरे ईश्वर के अतिरिक्त समस्त पदार्थों से उदासीनता होनी चाहिए। उदासीनता का भाव है कि न राग हो न द्वेष हो।

एक स्वाभाविक प्रश्न यह भी होता है कि जब वेद कहता है कि–

"धर्मेण पापमपानुदति"

अर्थात् धर्म से पाप नष्ट हो जाता है। तो फिर क्या धर्म से मुक्ति नहीं हो सकती? इसका उत्तर व्यास ने बड़ा ही सुन्दर दिया है। उन्होंने कहा कि–

"धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनातिहि॥"
(भा० ११-१४-२२)

अर्थात् सत्य एवं दया से युक्त धर्म तथा तपश्चर्या से युक्त विद्याभी अंतःकरण की शुद्धि नहीं कर सकती। पुनश्च–

"तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशांघ्रिसेवया।"
(भा० ६-२-१७)

अर्थात् दान, यज्ञ, तप, व्रतादि वैदिक-धर्मों से पाप तो नष्ट होता है किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती। आप लोग कहेंगे जब पाप नष्ट होता है तब अंतःकरण की शुद्धि तो स्वयमेव हो ही जायगी। किन्तु ऐसा नहीं है, जैसे आपने एक गोहत्या का पाप किया, अब उसके लिए लिखे हुए धर्मानुकूल प्रायश्चित भी किया जिससे गोहत्या का पाप तो नष्ट हो गया किंतु पाप करने की चित्तवृत्ति का नाश नहीं हुआ। आप पुनः पाप करेंगे और इसी प्रकार सदा पाप करते रहेंगे एवं उसके लिए प्रायश्चित कर्म धर्म का पालन करते रहेंगे। इस प्रकार चितशुद्धि कभी न हो सकेगी। अस्तु अंतःकरण की शुद्धि के लिए भक्ति करनी हीं पड़ेगी। आदि शंकराचार्य तक कहते हैं कि–

"शुद्धयति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते"

अर्थात् श्रीकृष्ण भक्ति के बिना अंतःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती और अंतःकरण की शुद्धि के बिना बहिरङ्ग पाप के प्रायश्चित से भविष्य में पाप न होने की कोई गारंटी नहीं है। तात्पर्य यह कि भक्ति के बिना धर्मपालन से मक्ति तो दूर की बात है, अंतःकरण शुद्धि तक ही नहीं हो सकती।

यही कारण हैं कि हम धर्म करते हुए भी ईश्वर फल से वंचित रहते हैं। इसलिए ईश्वर भक्ति से रहित केवल कर्म से मुक्ति सर्वथा असंभव है। तुलसी के शब्दों में–

वारि मथे वरु होय घृत, सिकता ते वरु तेल।
बिनु हरिभजन न भवतरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

पुनः रामायण कहती है–

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भांति कोइ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति विहाई॥

(क्रमशः)

अखण्डप्रभा विशेषांक

प्रेमी पाठकों से नम्र निवेदन

प्रियात्मन्,

परम हर्ष का विषय है कि इस अङ्क के बाद 'अखण्डप्रभा' अपने सातवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। अपने छः वर्षों के समय में 'अखण्डप्रभा' ने अपनी प्रगति के लिए अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं और आज भी इसके समक्ष सर्वतोमुखी विकास के लिए एक निश्चित कार्यक्रम है। अध्यात्म-पथ के साधकों के लिए यह किस प्रकार उपयोगी और महत्वपूर्ण बन सके और साथ ही यह अपने उद्देश्यों को लेकर जन समाज में किस प्रकार व्यापक रूप से अपना प्रभाव जमा सके, इसी के लिए हम सतत् प्रयत्नशील हैं। यह महत् कार्य बिना प्रेमी पाठकों के सहयोग के सम्भव नहीं है। हमें आशा है कि समस्त प्रेमी पाठक इसे अपना ही कार्य समझकर इसकी प्रगति के लिए हर प्रकार से अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करने की कृपा करेंगे।

'अखण्डप्रभा' के इस विशेषाङ्क से इसके प्रकाशन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा रहे हैं जिससे प्रेमी पाठकों को अधिकाधिक उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सके। 'अखण्डप्रभा' का आकार पहले की अपेक्षा कुछ छोटा हो रहा है, परन्तु पृष्ठ संख्या लगभग दूनी हो रही है तथा आध्यात्मिक रुचि रखने वाले साधकों के लिए इसमें विभिन्न प्रकार की नवीन सामग्री का भी समावेश किया जा रहा है। आध्यात्मिक साहित्य में जिनकी थोड़ी भी रुचि है वे इससे अधिक उपयोगी, सुरुचिपूर्ण और महत्त्व की सामग्री कदाचित् ही कहीं पा सकें! थोड़े से ही समय में 'अखण्डप्रभा' का जनसमाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विशेषाङ्क में विभिन्न रङ्गों से सुसज्जित आवरण पृष्ठ, चित्रयुक्त निबन्ध एवं कविताओं आदि का समावेश रहेगा। सभी पाठकों की अपनी रुचि के अनुसार कुछ न कुछ सामग्री अवश्य प्राप्त होगी और वे इससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

'अखण्डप्रभा' अपने उद्देश्यों में सफल हो सके इसके लिए समस्त प्रेमी ग्राहक समय पर अपना वार्षिक शुल्क भेजने की कृपा करें जिससे उनका 'विशेषाङ्क' सुरक्षित हो सके। हमें यह सूचित करते हुए खेद है कि कुछ ग्राहकों ने वर्ष ६ (१९६४–६५) का अभी तक अपना वार्षिक चन्दा नहीं भेजा है। इस वर्ष का यह अन्तिम अङ्क समस्त प्रेमी पाठकों की सेवा में भेजा जा रहा है। हमें आशा है कि समस्त प्रेमी पाठक नए वर्ष का वार्षिक चन्दा ४) शीघ्र ही भेजने की कृपा करेंगे। जिन ग्राहकों ने अभी तक वर्ष ६ का चन्दा नहीं भेजा है वे भी नए वर्ष के चन्दे के साथ ही इस वर्ष का चन्दा भी भेजने कृपा करें।

'अखण्डप्रभा विशेषाङ्क' उन्हीं प्रेमी पाठकों की सेवा में भेजा जायगा जिनका नए वर्ष का चन्दा यथासमय प्राप्त हो जायगा। यदि कोई ग्राहक किसी कारणवश चन्दा अभी न भेज सकें तो अपने ग्राहक बने रहने की सूचना अवश्य भेज दें जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित किया जा सके। प्रेमी पाठक अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिए अपना वार्षिक चन्दा अथवा ग्राहक बने रहने की स्वीकृति शीघ्र ही भेजने की कृपा करें अन्यथा विशेषाङ्क समाप्त होने पर निराश होना पड़ेगा।

'अखण्डप्रभा' आपकी पत्रिका है। इसके सर्वतोमुखी विकास के लिए आपका सभी प्रकार से हार्दिक सहयोग वांछनीय है।

—स्वामी परमानन्द
संचालक 'अखण्डप्रभा'

'अखण्डप्रभा' विशेषांक के प्रमुख आकर्षण

आत्मज्ञान से ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति
—स्वामी हरिगिरि

दुःख भगवान् !
—स्वामी प्रकाशानन्द

आत्म दर्शन
—स्वामी मनोहरदास

आत्म-समर्पण
—ऋषभचन्द

हृदय का बोझ उतारो !
—स्वामी निर्मल

जीव का लक्ष्य-अर्थ
—स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी

आग में फाग
—शिवसहाय त्रिवेदी

लुटेरे का हृदय परिवर्तन (कहानी)
—जगदीश पाण्डेया

आत्मज्ञान क्यों और कैसे ?
(धारावाहिक आत्मकथा)
—'चिन्मय'

थका मुसाफिर लम्बा रास्ता
(धारावाहिक लघु उपन्यास)
—जगदीश पाण्डेया

आनन्द ब्रह्म
—स्वामी निजानन्द

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक उद्बोधक निबन्ध, कहानियाँ, लघु-कथायें, कवितायें, वार्ता, साधन के लिए मनोवैज्ञानिक सुझाव, आध्यात्मिक अनुभव आदि रचनाओं का भी विशेषाङ्क में समावेश रहेगा। उपयोगी और सुरुचिपूर्ण रचनाओं की दृष्टि से यह विशेषाङ्क अपने ढंग का अनोखा होगा।

समस्त प्रेमी पाठक अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिए शीघ्र ही वार्षिक शुल्क अथवा आदेश-पत्र भर कर भेजने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक 'अखण्डप्रभा'

केन्द्र के विविध समाचार—

'अखण्डप्रभा अध्यात्म केन्द्र' के परमाध्यक्ष श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज के गत २१ जून से १४ जुलाई तक सत्सङ्ग भवन, सहारनपुर में माण्डूक्योपनिषद् पर सारगर्भित प्रवचन हुए। श्री स्वामी जी की विशद् विवेचना और गम्भीर शैली का वहां के सत्सङ्गियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। श्री स्वामी जी को और अधिक रोकने का वहां की जनता ने विशेष आग्रह किया। अन्य कार्यक्रमों के कारण रुकना सम्भव न हो सका। अब पुनः ८-८-६५ से ३०-८-६५ तक वहां के सत्सङ्गियों और प्रबंधकों के विशेष आग्रह पर श्री स्वामी जी महाराज ने समय दिया है। १-९-६५ से श्री स्वामी जी कपूरथला के वेदान्त सम्मेलन में भाग लेंगे।

१५-७-६५ से २३-७-६५ तक कानपुर के विभिन्न स्थानों और आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में भी श्री स्वामी जी के प्रवचन हुए। १६-७-६५ को श्रीमती भूपरानी के निवास-स्थान पर शुक्रवार के साप्ताहिक सत्संग में वेदान्तकेशरी स्वामी प्रकाशानन्द जी, श्री स्वामी जी तथा अन्य सन्तों के महत्त्व-पूर्ण प्रवचन हुए। २२-७-६५ तथा ३०-७-६५ के साप्ताहिक सत्सङ्ग में भी श्री स्वामी जी के सारगर्भित प्रवचन हुए।

केन्द्र की नवीन शाखा—

श्री स्वामी जी ने २४-७-६५ को उरई महिला आश्रम (ज़िला जालौन) में केन्द्र की नवीन शाखा 'अध्यात्म सत्सङ्ग मण्डल' का उद्घाटन किया। शाखा के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक समिति का भी निर्माण किया गया। श्री स्वामी जी ने स्वाध्याय के लिए अध्यात्म-पुस्तकालय और वाचनालय का भी उद्घाटन किया। अपने चार दिनों के प्रवचन में केन्द्र के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए श्री स्वामी जी ने विशेष जोर दिया जिसका सभी प्रेमी सत्संगियों ने हार्दिक स्वागत किया। ●

प्रकाशक—श्रीमती भूपरानी भार्गव, ११२/२३४, स्वरूपनगर, कानपुर-२;
मुद्रक—लक्ष्मी कान्त मिश्र – अखण्डप्रभा प्रेस, स्वरूपनगर, कानपुर-२

R. N. 6873/52 अगस्त, १९६५ वर्ष ६ अङ्क १२

जीवन और मृत्यु

प्रकृति में सभी व्यापार नियमानुसार होते हैं। कोई अपवाद नहीं है। मन और बाह्य प्रकृति की प्रत्येक वस्तु नियम से नियंत्रित और शासित है।

आन्तरिक और बाह्य प्रकृति, मन और जड़ द्रव्य देश काल में हैं और कार्य-कारण के नियम से बँधे हैं। मन की स्वतंत्रता एक भ्रम है। जब मन कर्म–नियम से बँधा है, तो वह मुक्त कैसे हो सकता है? कर्म का नियम कार्य–कारण का नियम है।

हमें मुक्त होना चाहिए। हम मुक्त हैं, उसे जानना हमारा काम है। हमें सारी दासता छोड़ देनी चाहिए, सब प्रकार के सारे बन्धन छोड़ देने चाहिए। हमें न केवल इस पृथ्वी से और पृथ्वी की हर वस्तु और हर जीव से अपना बन्धन छोड़ना चाहिए वरन स्वर्ग और सुख की कल्पनायें भी छोड़ देनी चाहिए।

हम पृथ्वी से बँधे हैं वासना से, और ईश्वर, स्वर्ग और देवदूतों से भी बँधे हैं। दास तो दास ही रहता है। चाहे वह मनुष्य का हो, ईश्वर या देवदूतों का हो।

स्वर्ग की कल्पना नष्ट होनी चाहिए। मरण के बाद ऐसे स्वर्ग की कल्पना, जहाँ अच्छे लोग अनन्त सुख का जीवन व्यतीत करते हैं, एक खोखला स्वप्न है, उसमें किंचित भी तत्व या अर्थ नहीं है। जहाँ भी सुख है, वहाँ दुःख कभी न कभी आता ही है। जहाँ–जहाँ भोग है, वहाँ पीड़ा भी है यह बिल्कुल निश्चित है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया भी किसी न किसी प्रकार होती ही है।

स्वतंत्रता की कल्पना ही मुक्ति की सच्ची कल्पना है- हर वस्तु से स्वतंत्रता; संवेदनाओं से स्वतंत्रता, चाहे वे सुख की हों या दुःख की, शुभ से और अशुभ से भी। बल्कि इससे भी अधिक। हमें मृत्यु से मुक्त होना चाहिए और मृत्यु से मुक्त होने के लिए हमें जीवन से मुक्त होना चाहिए। जीवन केवल मृत्यु का सपना है। जहाँ जीवन है, वहां मृत्यु है, इसलिए मृत्यु से मुक्त होना हो तो जीवन से दूर होना चाहिए।

हम सदा मुक्त हैं, यदि हम केवल इस पर विश्वास भर करें, केवल पर्याप्त श्रद्धा। तुम आत्मा हो, मुक्त और शाश्वत, चिर मुक्त, चिर पवित्र। अभीष्ट श्रद्धा रखो और क्षण भर में तुम मुक्त हो जाओगे।

—स्वामी विवेकानन्द